राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधानसम्पादक-फतहसिंह, एम. ए., डी. लिट.,
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान]
जोधपुर

•

ग्रन्थाङ्क ८८

•

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतम्

आगमरहस्यम्

(पूर्वार्द्धम्)

•

प्रकाशक
राजस्थानराज्यसंस्थापित
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR
जोधपुर (राजस्थान)
१९६८ ई०

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थानराज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

•

प्रधानसम्पादक

फतहसिंह, एम. ए., डी. लिट.

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
जोधपुर

•

ग्रन्थाङ्क ८८

•

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतम्

आगमरहस्यम्

(पूर्वार्द्धम्)

•

प्रकाशक

राजस्थानराज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतम्

आगमरहस्यम्

(पूर्वार्द्धम्)

•

सम्पादक

पं० श्रीगंगाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य, व्याकरणतीर्थ, विद्यारत्न

प्रधानाचार्य, राजकीय संस्कृत कालेज,

अलवर

•

प्रकाशनकर्त्ता

राजस्थानराज्यसंस्थापित

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

•

विक्रमाब्द २०२४	भारतराष्ट्रिय शकाब्द	ख्रिस्ताब्द १९६७
प्रथमावृत्ति १०००	१८८९	मूल्य – १५.००

मुद्रक:—श्रीराधेश्याम शर्मा, श्रीशंकर आर्ट प्रिण्टर्स, जयपुर।

विषयानुक्रमणिका

संचालकीय वक्तव्य

जैसा कि संपादक महोदय ने कहा है, आगमों का पठन-पाठन निरंतर उपेक्षित हो रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि बहुतों को तो आगम एक शब्दमात्र रह गया है; वे यह भी नहीं जानते कि आगम कहते किसे हैं ? महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज की कृपा से अवश्य आगमशास्त्र पर कुछ चर्चा हिन्दी में प्रारंभ हुई और उनके लेखों और ग्रन्थों से प्रभावित होकर कुछ लोगों में इस विषय के प्रति जिज्ञासा जागृत हुई। स्वामी वाग्भवाचार्य ने भी कुछ मौलिक संस्कृत रचनाओं के माध्यम से उत्तरी शैवागम की पुनः प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है। परन्तु आगम के महत्त्व को देखते हुये, इस विषय पर अत्यधिक विचार-विमर्श एवं पठन-पाठन की आवश्यकता है।

आगम वस्तुतः भारतीय संस्कृति की कुंजी है। वेदों को समस्त विद्याओं का मूल माना जाता है और पुराण उसका उपबृंहण करने वाले हैं, परन्तु मेरा अपना अनुभव यह है कि वेद और पुराण को आगम के ज्ञान विना समझना असंभव है। अनेक पारिभाषिक शब्द आगमों में वेदों से ज्यों के त्यों आये हैं और वे ही पुराणों में यत्र-तत्र इतिहास का कलेवर धारण करके खड़े हो जाते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ आगमरहस्य इस दृष्टि से बड़े महत्त्व का है और इसके संपादन के लिए पं० श्रीगंगाधरजी द्विवेदी धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें शैव, वैष्णव एवं शाक्त संप्रदायों के प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर न केवल सृष्टि, प्रलय आदि शुद्ध दार्शनिक तत्त्वों का समावेश है, अपि तु इसमें षट्कर्मसाधन तथा ध्यान-योगचतुष्टय-प्रभृति व्यावहारिक विषयों का भी स्पष्ट निरूपण किया गया है।

आगम-दर्शन को लेकर आधुनिक विद्वानों ने कुछ भ्रांतियां उत्पन्न कर दी हैं। आगम प्रायः शिवमुख से आया हुआ बताया जाता है। मोहंजोदरो की खुदाई के पश्चात् स्वर्गीय फादर हेरास तथा उनके भारतीय शिष्यों ने शिव के साथ-साथ, शिव से संबन्धित समस्त ज्ञान-विज्ञान को अवैदिक कहना प्रारंभ कर दिया है और इसी के साथ वे जैन एवं बौद्ध दर्शन को भी ले लेते हैं, परन्तु वे भूल जाते हैं कि शिवसूत्रों पर आधारित पूर्वपाणिनीय एवं पाणिनीय-व्याकरण में छान्दस-व्याकरण का स्पष्ट अस्तित्त्व है, और इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि इस व्याकरण का आधारभूत वैयाकरण दर्शन शुद्धरूपेण वैदिक है और उसके भीतर जैन एवं बौद्ध दर्शन के तत्त्वों

का समावेश सुगमता से हो जाता है। यही कारण है कि आगमशास्त्र का भी प्रचार तंत्ररूप में न केवल शैवों एवं शाक्तों में हुआ, अपि तु वैष्णवों, बौद्धों एवं जैनों में भी इसकी लोकप्रियता हुई। परन्तु खेद का विषय यह है कि कालान्तर में आगम की शुद्ध वैदिक साधना–पद्धति विस्मृत कर दी गई और उसके स्थान पर आसुरी-तंत्र का अधिक प्रचार हुआ। आवश्यकता इस बात की है कि आगम के शुद्ध सिद्धान्तपक्ष को समझ कर उसके द्वारा वैदिकतत्त्व को हृदयंगम किया जाय जिससे पूर्वपाणिनीयम् के निम्नलिखित मर्म को समझ सकें:—

शब्दो धर्मः, धर्मात् अर्थकामापवर्गाः।

इस प्रसङ्ग में पाठकों की एक कठिनाई की ओर सङ्केत करना आवश्यक प्रतीत होता है। आगम-ग्रन्थों में अनेक पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनको उनके साधारण लौकिक अर्थ में ग्रहण करने में अर्थ का अनर्थ हो सकता है। उदाहरण के लिये पञ्चमकार तथा नर-नारी–सम्बन्ध से शक्तिपूजन के प्रसङ्ग में प्रयुक्त मैथुनादि शब्द साधारण पाठक के लिये भ्रम पैदा करने वाले हो सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार की शक्ति-साधना का उद्देश्य व्यभिचार कदापि नहीं है। इसी ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शक्ति-संगमतन्त्र को उद्धृत करते हुए लेखक ने इस साधना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है—

सत्यमेतद्विना योषित्सङ्गान् मन्त्रो न सिद्धयति।
सङ्ग एव हि कर्त्तव्य कर्त्तव्यं न च मैथुनम्॥
पूजनीया सदा योषा मद्भावकृतनिश्चया।
तस्मान्न मैथुनं देव कर्तव्यं मम साधकैः॥

वस्तुतः नारी नर की शक्ति है, परन्तु पुरुष अपने अविवेकपूर्ण उपयोग द्वारा उसको अपनी अशक्ति में परिवर्तित कर डालता है। विवेकपूर्ण तथा संयममय व्यवहार द्वारा पुरुष अपने वैवाहिक जीवन को ऐसी गरिमा प्रदान कर सकता है जिसके द्वारा वह नारी-सम्मान के उस भारतीय आदर्श को स्थापित कर सकता है, जिसकी घोषणा आगमग्रन्थों में इस प्रकार की गई है—

न च नारीसमं सौख्यं न च नारीसमा गतिः।
न नारीसदृशं भाग्यं न नारीसदृशो जयः॥
न नारीसदृशं तीर्थं न नारीसदृशो लयः।
न नारीसदृशो यागो न नारीसदृशं यशः॥
न नारीसदृशं मित्रं न भूतं न भविष्यति।

जब तक आगम–ग्रन्थों के ऐसे प्रसङ्गों की सुस्पष्ट और सुबोध व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों के अवाञ्छित तथा अश्लील अभिधेयार्थ से

पाठकों का मन हटाया नहीं जा सकता, तब तक इन ग्रन्थों के प्रकाशन या प्रचार से कोई लाभ नहीं हो सकता है। प्रसन्नता की बात है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक ग्रन्थकार के प्रपौत्र होने के कारण परम्परागत रहस्य को समझने वाले संस्कृत के सुयोग्य विद्वान् हैं। उन्होंने इस भाग की भूमिका में आगमशास्त्र की कुछ बातों का सरल एवं सुबोधभाषा में परिचय कराया है, परन्तु जिन रहस्यों की ओर ऊपर सङ्केत किया गया है, उसका विद्वत्तापूर्ण विवेचन ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध की भूमिका में अभी अपेक्षित है। यह विषय मुख्यतः ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में प्रस्फुटित हुआ है। अतः उसी की भूमिका में विद्वान् सम्पादक इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करेंगे।

आशा है, इस ग्रन्थ के संपादक का यह प्रयत्न हिन्दी में आगमशास्त्र की चर्चा को प्रोत्साहन देगा और संपादक महोदय राष्ट्रभाषा को अपने आगमशास्त्रीय विचार-विमर्श के द्वारा अधिकाधिक समृद्ध बनाने का प्रयत्न करेंगे।

जय हिन्द, जय हिन्दी।

स्थापना-दिवस २०२४ फतहसिंह

समर्पण-पत्रम्—

आगमशास्त्रपारदृश्वनां प्रातःस्मरणीयानां सरस्वत्यानन्दनाथेत्यपर-नामधेयानां सत्संप्रदायाचार्य—पण्डितप्रवर श्रीसरयूप्रसादद्विवेद-महाभागानां करकमलयोरर्पितेयं कृतिरागमानुरागिणां प्रति-भोदयं विदधती कल्पान्तमुन्मीलत्वित्याशासानः पद्यप्रसूना-ञ्जलिना समभ्यर्च्य तन्महो निर्वृत आस्ते तदीयप्रपौत्रः।

अखण्डसौभाग्यविभूतिसूतिर्विश्वम्भरालंकरणैकहेतुः।
समीहिताकल्पनकल्पवल्ली जयत्ययोध्या कमलालया च ॥ १ ॥

तस्याः पृष्ठचरीव पश्चिमदिशि क्रोशाष्टकाभ्यन्तरे,
पाण्डित्यास्पदमस्ति पण्डितपुरी पिल्खांवपर्यन्तभूः।
यत्राभ्यर्थनतोऽपि भूरिदतया गीतावदानोत्करः,
प्रालेयद्युतिशेखरो विजयते श्रीजङ्गलीवल्लभः ॥ २ ॥

तां चाध्युवास विविधान् वसुधाविभागान्,
भ्रान्त्वा स्वधर्मपरिरक्षणबद्धलक्ष्यः।
रात्रिंदिवं भगवतीचरणारविन्द—
ध्यानानुरक्तहृदयः सरयूप्रसादः ॥ ३ ॥

अथ निगमविरुद्धधर्मनिष्ठा हरिहरभेदनिरूपणाद्यजुष्टाः।
श्रुतिवचनबलेन यत्र कृष्टाः सुसदसि भागवताः प्रकामपुष्टाः ॥ ४ ॥

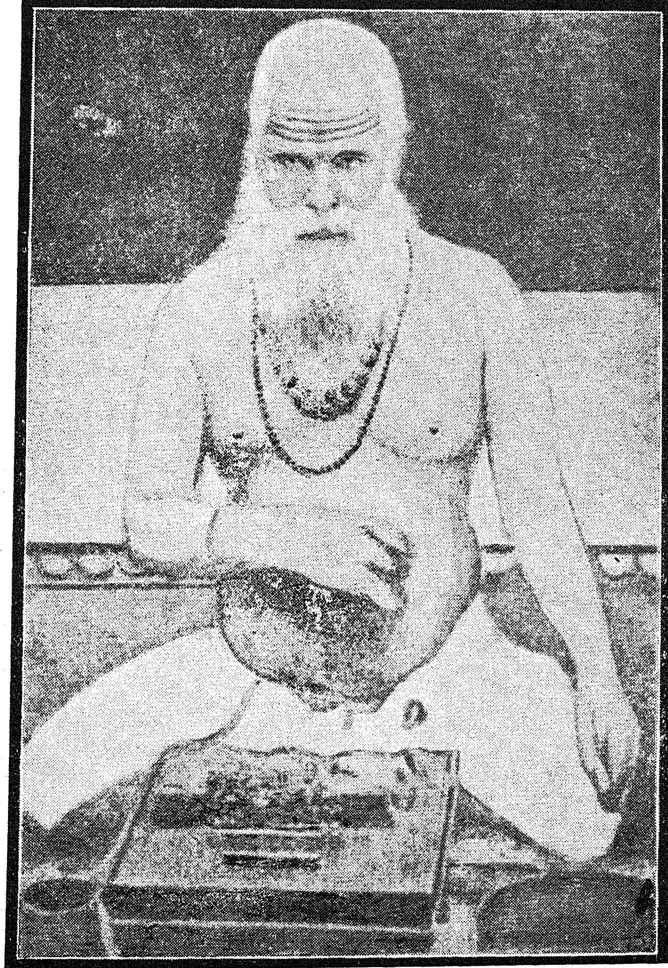
जननयनविनोदनैकधाम्नि प्रमुदितलोकनिवासभासि तत्र।
जयपुरनगरे ज्वलत्प्रतापज्वलनशिखाशमितारिमण्डलेन ॥ ५ ॥

स्मृतिविहितविशुद्धधर्मचर्याव्रततिविरोपणवर्धितादरेण।
स खलु निवसति स्म रामसिंहक्षितिपतिनादृत आगमं वितन्वन् ॥ ६ ॥

तत्तद्देशनिवासिशिष्यनिवहानीतोपहारार्चित—
स्तत्तत्सज्जनसंघसत्कृतिविधाविद्योतमानाङ्गनः।
तास्ताः शास्त्रगवीश्च पण्डितपुरीमध्ये भृशं वर्धयन्—
स श्रीमान् सरयूप्रसादसुमनाः सानन्दमाभासते ॥ ७ ॥

गंगाधरद्विवेदः,
संपादकः।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।



ग्रंथकर्ता-स्वर्गीय आचार्य श्रीसरयूप्रसादजी द्विवेदी

प्रस्तावना

अवतरणिका—आगम अथवा तंत्र वेदों के समान ही भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता के मूलस्रोत माने जाते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष या पुरुषार्थचतुष्टय को सुलभ करना ही इस शास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। अनेक दृष्ट-अदृष्ट कर्मों के परिपाक से उत्पन्न होने वाली विभिन्न मनोवृत्तियों और विचारधाराओं के जनसमुदाय के अनुग्रहार्थ परमकारुणिक परमेश्वर ने विविध विद्याओं की सृष्टि की है। जैसा कि श्रुति कहती है—'ईशानः सर्वविद्यानाम् ।'

—तैत्ति० आर० १० प्र० १ अ०

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।'
'तस्मै वेदान् पुराणानि दत्तवानग्रजन्मने ।'

स्मृति में भी कहा है :—

'अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम् ।
आदिकर्ता कविः साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुतिः ॥'

इन वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वर द्वारा प्रणीत समस्त विद्याएं प्रामाणिक और उपादेय हैं। किन्तु वर्णाश्रम की मर्यादा के अनुसार एवं चित्तशुद्धि के तारतम्य के कारण उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारियों की दृष्टि से ही उनके ग्राह्य किंवा अग्राह्य होने का निर्णय किया गया है। इसलिए किसी विद्या की प्रशंसा या निन्दा में कहे गये शास्त्रीय वाक्यों का तात्पर्य केवल अधिकारियों और अनधिकारियों के लिए प्रवृत्ति या निवृत्ति की व्यवस्था करना ही है। 'शासनाच्छास्त्रम्' इस शास्त्र पद की व्युत्पत्ति का यही आशय है। शासन का अर्थ प्रवृत्ति किंवा निवृत्ति के द्वारा शब्दभावना को व्यक्त करने वाली परमेश्वर की आज्ञा है। इसीलिए शास्त्र की परिभाषा में कहा गया है :—

'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥'

महर्षि वेदव्यास का भी यही कथन है—

'शास्त्रयोनित्वात् ।' शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् इत्यादि ।

—ब्रह्मसू० १. १. ३.

आगमशास्त्र का उद्देश्य सर्वसाधारण को उसकी अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार सुगम रीति से अपेक्षाकृत थोड़े समय में अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग प्रशस्त करना है। वैदिक रीति-नीति और प्रक्रिया के अत्यंत दुरूह और कष्टसाध्य होने से, साथ ही त्रैवर्णिकों को छोड़कर अन्य लोगों का उसमें प्रवेश

निषिद्ध होने के कारण उससे लाभ ले पाना सब के लिए संभव न होने से, आगम या तंत्र मार्ग का जन्म हुआ है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उपासना और ज्ञानकाण्ड के क्षेत्र में, वेदों की तुलना में तंत्रों को कम महत्त्व या दूसरा स्थान दिया जाना चाहिए—प्रत्युत आगम और निगम या तंत्र और वेद आपस में एक दूसरे के पूरक होने के साथ २ परस्पर में ऐसे जुड़े हुए हैं कि उनके कार्यक्षेत्र का विभाजन कर सकना व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा असंभव है। यही नहीं, ऐसी कल्पना को जन्म देना दोनों शाखाओं के मूलप्रवर्तक ऋषि-मुनियों और आचार्यों की भावनाओं के भी एकांततः विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में, आगे विस्तृत चर्चा की जायगी। यहां केवल इतना ही कहा जायगा कि वेदों की तरह तंत्रों की भी सार्वभौम मान्यता है, केवल भ्रम या अज्ञान के वशीभूत होकर उनके बारे में किसी प्रकार का संदेह करना अनुचित और निन्दनीय है। दोनों की अभिन्नता और पारमार्थिक एकरूपता को समझने के लिए कूर्मपुराण में भगवती के मुख से देवतात्मा हिमालय को यह कहना कितना अर्थ रखता है—

'ममैवाज्ञा पराशक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी।
ऋग्यजुःसामरूपेण सर्गादौ संप्रवर्तते॥'

अतएव ऊंचे-नीचे, मनगढंत या स्वेच्छाप्रेरित तर्कों के सहारे आर्षवाणी किंवा आगमोक्त गूढ तत्वों के विषय में किसी प्रकार की विपरीत धारणा को प्रश्रय देना शास्त्रसम्मत नहीं माना गया है। मनु ने इसी लक्ष्य से यह सार्वदेशिक घोषणा की है :—

'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥'
'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥'

—मनुस्मृ० अ० १२. १०५. १०६

आगम या तन्त्र—आगम और तन्त्र शब्द सामान्यतः पर्यायवाची बनकर व्यवहार में प्रचलित हैं। किन्तु शब्दशक्ति के स्वारस्य और गौरवभावना की दृष्टि से आगम शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है, तथा तन्त्र शब्द की तुलना में यह कहीं अधिक व्यापक और हृदयग्राही है। यामल में आगम का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥'

वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में आगम की व्याख्या यों की है—

'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः
स आगमः।' १.७

महाकवि कालिदास ने भी आगम को प्रश्रय और महत्त्व दिया है—

'बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।' —रघुवंश १०. २६

वाराही तन्त्र में आगम के स्वरूप और उसकी इतिकर्तव्यता का परिचय यों दिया गया है—

'सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च।
आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः॥'
'सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तं विदुर्बुधाः॥'

तात्पर्य यह कि रागद्वेष से निर्मुक्त आप्त पुरुषों * द्वारा उपदिष्ट, लोक एवं परलोक में हितकर, प्रमाणसिद्ध शास्त्र आगम कहलाता है। इसमें सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सब मन्त्रों के साधन और पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण) का साधन और ध्यानयोग का निरूपण किया गया है।

---

*महर्षि पतञ्जलि ने चरक में आप्तों की परिभाषा यों की है:—

'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

भावार्थ—जो तप और ज्ञान के बल से रजोगुण एवं तमोगुण से सर्वथा मुक्त होते हैं और जिनका निर्मल ज्ञान तीनों कालों (भूत-भविष्यत्-वर्तमान) में एकाकार रहता है; ऐसे प्रबुद्ध और शिष्ट महापुरुष आप्त कहलाते हैं। उनकी वाणी सदा सत्य और निःसन्देह होती है।

महाकवि भवभूति ने भी आप्त पुरुषों के वचन पर दृढ विश्वास रखने के लिए बल दिया है—

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयोऽभूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषण्णा
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति॥ —उत्त० राम० ४ अ०

भावार्थ— ब्रह्म-साक्षात्कार करने वाले तपःपूत ऋषि-महर्षियों के कथन पर कभी संदेह नहीं करना चाहिए। इनकी वाणी कल्याणदायिनी होती है और ये लोग कभी असत्य नहीं बोलते।

देश-काल के अनुसार उपासना-प्रणाली में परिवर्तन होता रहा है। आचार्य शंकर ने प्रपञ्चसार में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है —

'श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ।।'

अर्थात् सत्ययुग में वेद-विहित यज्ञ-यागादिक, त्रेता में स्मार्त या स्मृति-प्रतिपादित, द्वापर में पौराणिक पद्धति तथा कलियुग में आगमोक्त उपासना को विशेष महत्त्व दिया गया है।

ऐतिहासिक पर्यालोचन से यह प्रतीत होता है कि भारत के अन्तिम क्षत्रिय सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के समय तक उपासना के क्षेत्र में कहीं कोई विसंवाद न था। यदि कुछ था भी, तो वह नहीं के बराबर था और सामान्य जनता पर उसका कोई विपरीत प्रभाव न पड़ता था। वर्णाश्रम के नियमों का पालन और उसका अनुरोध इतना सुदृढ़ था कि इसके उल्लंघन का साहस कोई न करता था। उसके बाद वर्णाश्रम की मर्यादा ज्यों ज्यों शिथिल और विकृत होने लगी—धर्म और उपासना का मार्ग भी उत्तरोत्तर संकीर्ण और विवादग्रस्त बनता गया।

इसके परिणामस्वरूप इस देश में, विभिन्न संप्रदायों और मत-मतान्तरों के आवरण में आगम की अनेक शाखा–प्रशाखाएं हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक व्यापक रूप से प्रचलित हुईं। इनका क्षेत्र इतना विशाल और विस्तृत बन गया कि विभिन्न प्रान्तों में अपनायी गई प्रणालियों का वास्तविक परिचय पा सकना बहुत ही कठिन हो गया। फलतः आगमशास्त्र के विशाल साहित्य का क्रमिक या धारावाहिक ज्ञान एवं उसकी उन्नति या अवनति का ठीक २ लेखा-जोखा दे सकना संभव नहीं हो सकता। कारण यह है कि इस शास्त्र की विशाल ग्रन्थराशि में कुछ का साहित्य उपलब्ध है–तो कुछ का केवल नामश्रवण ही किया जा सकता है-कुछ अपूर्ण मिलती हैं–तो कुछ अस्तव्यस्त या काल-कवलित हो गईं। इसके सिवा, अन्य भारतीय शास्त्रों की तरह यहां भी न्यूनाधिक भाव से 'नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्' की उक्ति चरितार्थ होती है। इन परिस्थितियों में, सत्य की खोज के लिए, मौलिक आधार को छोड़कर और कोई कारगर उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसके सहारे इस साहित्य के अतीत और वर्तमान का समन्वय, संतोषजनक ढंग से स्थापित किया जा सके। फिर भी, आचार्यों द्वारा परीक्षित उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस शास्त्र के गूढ तत्त्वों का आशय एक सीमा तक समझा और परखा जा सकता है। आगमों का प्रतिपाद्य विषय भूतभौतिक सृष्टि सहित पूर्व में परिगणित विषयों का विवेचन और वर्गीकरण है। इस प्रसंग से कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड के

विभिन्न तत्वों का इस शास्त्र में जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वह वैज्ञानिक होने के साथ साथ दार्शनिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, और अन्तर्दृष्टि से गंभीर अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

तन्त्र शब्द 'तनु विस्तारे' धातु से 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इस उणादिसूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय के योग से बना है। तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्। 'कामिक आगम' में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥'

आशय यह कि आगमोक्त सिद्धान्त और यन्त्र-मन्त्रादिसमन्वित एक विशिष्ट साधन मार्ग का उपदेशक शास्त्र तन्त्र कहलाता है। साधकों को संरक्षण देने के कारण इसे त्राणकर्ता कहते हैं।

उपासना का स्वरूप— इस विशाल सृष्टिप्रपंच के दो आधारभूत मूलस्तंभ माने जाते हैं- एक का नाम ब्रह्म है और दूसरे का माया। ब्रह्म और माया का परिणाम यह विशाल ब्रह्माण्ड है। श्वेताश्वतर की श्रुति है –

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तयोर्विभूतिलेशो वै जगदेतच्चराचरम् ॥'

स्मृति कहती है—

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्त्योऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः ॥'

सांख्यदर्शन का कहना है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।'

फलतः ब्रह्म और माया का अस्तित्व भले ही अलग २ माना जाय किन्तु लोकव्यवहार में वे दोनों अलग न होकर परस्पर में एक दूसरे से संयुक्त या अभिन्न रहते हैं। इसीलिए दार्शनिकों ने कहा है—

'शक्तिश्च शक्तिमद्रूपात् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥'

ब्रह्म का प्रधान मन्त्र प्रणव अथवा ओंकार कहलाता है, और माया का मुख्य मन्त्र मायाबीज या ह्रींकार कहा जाता है। तैत्तिरीय संहिता में ह्रीश्च ते-लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' का उल्लेख इसी आशय से किया गया है।

बृहदारण्यक में—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयः।'

इसी मायाबीज का उल्लेख रकार को हटाकर ह्रस्व इकार के साथ सामवेद में किया गया है—

'पृथ्वी हिङ्कारो आदित्यो हिङ्कारो द्यौर्हिङ्कारः पुरोवातो हिङ्कारः प्रजापतिर्हिङ्कार उद्यन्हिङ्कारो मनो हिङ्कारः।'

मायाबीज को हिङ्कार कहने की पुष्टि भुवनेश्वरी संहिता के इस वाक्य से होती है—

'सामसु प्रथमाभक्ति हिङ्कारो मे मनुर्मतः।
ह्रस्वेकारयुतं तत्तु मायाबीजं प्रचक्षते॥'

देव्यथर्वशीर्ष में भी मायाबीज के इस स्वरूप और महत्त्व को मन्त्रोद्धार की सांकेतिक भाषा में बतलाते हुए कहा है—

'वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।
अर्धेन्दुलसितं देव्या बीज सर्वार्थसाधकम्॥
एवमेकाक्षरं मन्त्रं यतयः शुद्धचेतसः।
ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः॥'

माया और ब्रह्म के स्वरूप के परिचायक पूर्वोक्त श्रुति-स्मृति के वाक्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म के जितने नाम ध्रुव, तार आदि प्रचलित हैं वे सब उसका परिचय कराने वाले प्रणव के ही नाम हैं। क्योंकि 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस योगदर्शन के अनुसार प्रणव 'ब्रह्म' का वाचक है। इसी प्रकार—

'मायाबीजस्य नामानि मालिनी शिववल्लरी।
माया मूर्त्तिः कला वाणी बीजशक्तिश्च कुण्डली॥'

इस उक्ति के अनुसार मायाबीज के जितने नाम हैं वे सब के सब ह्रींकार के वाचक हैं।

ब्रह्म और माया का तादात्म्य अथवा अभिन्नता ही अद्वैतवाद की मूल कल्पना का आधार है। इसलिए 'प्रणव' और 'मायाबीज' केवल ब्रह्म या माया के ही वाचक न होकर दोनों ही एक दूसरे के वाचक माने जाते हैं। ब्रह्माण्ड-पुराण में 'ह्रींकार उभयात्मकः' कहने का यही आशय है। आचार्य शंकर ने प्रणव और मायाबीज को एक दूसरे का वाचक माना है—

'तदा तां तारमित्याहुरोमात्मेति बहुश्रुताः ।
तामेव शक्ति ब्रुवते ह्रीमात्मेति चापरे ।।'

इस प्रक्रिया को समझ लेने पर यह सुगमता से जाना जा सकता है कि उपासना के क्षेत्र में इन दोनों बीजों का कितना महत्त्व है-और इनका स्वरूप कितना विशाल और व्यापक है। तांत्रिक लोग जिसे 'बिन्दु' कहकर व्यवहार करते हैं उसका मूल इन दोनों बीजों का सम्मिलित रूप है। दूसरे शब्दों में इसको मायाशबल ब्रह्म कहते हैं। शारदातिलक में बिन्दु की उत्पत्ति का प्रकार यों बतलाया है—

'आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः।'

तात्पर्य यह कि प्रणव के देवता शिव या रुद्र और मायाबीज की देवता भुवनेश्वरी कहलाती हैं। इसीलिए मायाबीज का दूसरा नाम भुवनेश्वरी बीज भी प्रचलित है। मायाबीज का वाच्य बिन्दु है। बिन्दु से ही, क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति के रूप में रौद्री, ज्येष्ठा और वामा शक्तियाँ प्रकट होती हैं। इनके द्वारा ही अनन्त शक्तियों का आविर्भाव होता है। तान्त्रिक उपासना का आधार यह 'बिन्दु' ही माना जाता है। यहां संक्षेप में इसके मूलरूप का परिचय करा दिया गया है। इससे अधिक, यहां कुछ लिखने का अवसर न होने से यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है।

आगमोक्त उपासना का मार्ग—उपासना के द्वारा चतुर्वर्गफल-प्राप्ति का सिद्धान्त शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है। किन्तु निर्गुण ब्रह्म का कोई आधार न होने से उसकी उपासना कैसे संभव हो सकती है? अतएव सगुण-निर्गुण के भेद से ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ।।'

—रामतापिनी, कुलार्णवतन्त्र

यहां चिन्मय का अर्थ ज्ञानमय और अद्वितीय का अर्थ एक है। जैसा कि मार्कण्डेयपुराण में बताया है—

'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।'

इस रूप के प्रतिपादक अनेक वाक्य मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि उपासना के लिए सगुण रूप की कल्पना शास्त्रसंमत है। अग्निपुराण में स्पष्ट निर्देश किया गया है—

'साधूनामाश्रमस्थानां भक्तानां भक्तवत्सलः ।
उपकर्ता निराकारस्तदाकारेण जायते ॥'

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि उपासना की दृष्टि से ही ब्रह्म के स्त्री एवं पुरुष रूप की कल्पना की गई है। इसका स्पष्टीकरण 'शक्तिसङ्गम' में इस प्रकार है—

'तेजःपुञ्जमयं देवि ! ब्रह्मरूपं सनातनम् ।
तेजःपुञ्जादेव भूतं जगदेतच्चराचरम् ॥
रामो जातः शिवो देवि ! राजराजेश्वरः शिवः ।
श्री सैव सुन्दरी जाता विष्णुर्जातो महेश्वरः ॥
लक्ष्मीपतिर्यो देवेशि ! स च वै पार्वतीपतिः ।
गौरीपतिर्यो देवेशि ! स च लक्ष्मीपतिः प्रिये ॥
उभयो र्व्यत्ययो देवि जात एवं महेश्वरि ।
गौरीलक्ष्म्यो र्व्यत्ययं हि एवमेव शृणु प्रिये ॥
सीता चैव स्वय गौरी लक्ष्मी श्रीकुलसुन्दरी ।
एवं जातं महेशानि शिवरामात्मकं जगत् ॥
क्वचिच्च विष्णुवद् ध्येयं क्वचिच्छैवात्मकं प्रिये ।
अत्रार्थे प्रत्ययो देवि शिवरामाह्वयं यतः ॥
विष्णुध्यानं शिवध्यानं गौरीलक्ष्म्योर्महेश्वरि !
शिवरामात्मकं ज्ञानं ब्रह्मरूपं सनातनम् ॥
उभयोरन्तरं देवि यः पश्यति स मूढधीः ।'

विष्णुयामल का भी यही मत है:—

'मातस्त्वत्परमं रूपं तन्न जानाति कश्चन ।
कालाद्याः स्थूलरूपं हि यदर्चन्ति दिवौकसः ॥
स्त्रीरूपं वा स्मरेद् देवि पुंरूपं वा स्मरेच्छिवे ।
स्मरेद् वा निष्कलं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥'

भारत में प्राचीन काल से ही पंच देवों की प्रस्तर या धातुघटित प्रतिमाओं अथवा स्फटिक आदि से निर्मित विभिन्न देवताओं के यंत्रों का पूजन प्रचलित था। यही नहीं, गृहस्थों तथा अन्य भक्तों द्वारा अपनी अपनी रुचि के अनुसार विष्णु, शिव और शक्ति के पञ्चायतनों की पूजा का भी विशेष प्रचार था। देश का जनमानस श्रद्धा-भक्ति से परिपूर्ण होकर शांत भाव से ईश्वरोपासना में तल्लीन था। और उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार के संघर्ष, आपसी वैमनस्य अथवा एक दूसरे के प्रति इस सन्दर्भ में हीन या उच्च भावना-जनित राग-द्वेष का कोई अवसर न था, बल्कि एक ऐसा सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण था,

जिसमें श्रद्धालु लोग अपने अपने अधिकार और सामर्थ्य के अनुरूप वैदिक किंवा तान्त्रिक पूजा-विधान को अपनाये हुए थे। विविधता के होते हुए भी सब लोग एकता के सूत्र में आबद्ध थे, और सुख-शान्ति का साम्राज्य था। इसका कारण ऋषि-मुनियों की उदात्त-भावना, लोककल्याण और लक्ष्यवस्तु की प्राप्ति के लिए समन्वयात्मक जागरूकता थी। नीचे दिये गये विभिन्न उद्धरणों से इस बात की पुष्टि होती है—

'मानुषाणामुमादेवी तथा विष्णुस्तथा शिवः।
यो यस्याभिमतः पुंसः सा हि तस्यैव देवता॥
किन्तु कार्यविशेषेण पूजिता स्वेष्टदा नृणाम्॥' —कूर्मपुराण

और—

'एकं प्रशंसमानेन सर्वे देवाः प्रशंसिताः।
एकं विनिन्दमानो यः सर्वानेव विनिन्दति॥
देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्।
भेदकृन्नरकं याति यावदाभूतसंप्लवम्॥' —यामल

लक्ष्य की दृष्टि से विभिन्न देवताओं की एकरूपता और उनके स्वाभाविक समन्वय का स्वारस्य कितना मार्मिक और स्वाभाविक है, इसका विवेचन भी सुनिये—

'यथा दुर्गा तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः।
एतत्त्रयं त्वेकमेव न पृथग् भावयेत् सुधीः॥
योऽन्यथा भावयेत् देवान् पक्षपातेन मूढधीः।
स याति नरकं घोरं रौरवं पापपूरुषः।"

—वराहपुराण

'ध्यानगम्यं प्रपश्यन्ति रुचिभेदात् पृथग्धियः।' —यामल

'एकैव हि महामाया नामभेदसमाश्रिता।
विमोहनाय लोकानां तस्मात् सर्वमयी भवेत्।'
'सदसद्व्यापिनी शक्तिः परा प्रकृतिरीश्वरी॥' —परातन्त्र

इन आर्षवाक्यों की भावना कितनी निर्मल और पवित्र है—यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखने और विचार करने पर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि चतुःसंप्रदायी वैष्णवों ने स्वार्थबुद्धि से अपने-अपने संप्रदायों का मायाजाल फैलाकर भगवान् वेदव्यास के ब्रह्मसूत्र पर धावा बोलकर, और मनमानी खींचातानी के बल पर वैदिक मन्त्रों के मौलिक अर्थ

को अपने अपने अभीष्ट के अनुसार मोड़ देकर, वेदान्तदर्शन के क्षेत्र में शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत का जो तिरंगा झण्डा फहराया और पृथक् २ वादों को जन्म दिया, उससे इस क्षेत्र की एकता को बड़ा आघात पहुँचा और परम्परागत अद्वैतवाद इतना जटिल और दुर्भेद्य बन गया कि उसको सहजभाव से, हृदयगम कर सकना सबके वश की बात नहीं रह गई। एकता के विघटन की इस प्रवृत्ति का प्रभाव उपासना के क्षेत्र में भी फैला और शैव-वैष्णवों की अलग २ जमातें बन गईं। आगे चलकर पृथक्तावादी मनोवृत्ति ने इतना जोर पकडा कि परमार्थ साधन के मार्ग में भी बाधा उपस्थित हो गई और सदा सर्वदा के लिए एक दूसरे से हम अलग हो गए। यदि सामान्य स्तर तक ही यह बात होती तब भी उसका कोई समाधान सुलभ हो सकता था, किन्तु पार्थक्य की दृढ़ भावना के कारण उसकी नींव इतने अभिनिवेश के साथ डाली गई कि अब आगे से पीछे लौटने का कोई प्रश्न ही न रह गया। इस प्रसंग में महात्मा तुलसीदास की यह उक्ति याद आती है—

हरित भूमि तृण संकुलहि, समुझि परै नहिं पन्थ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें लुप्त भये सद्ग्रन्थ॥

यहाँ इस कटुसत्य की चर्चा करने का उद्देश्य केवल यह है कि ऋषि-मुनियों अथवा तन्त्रकारों की मूलदृष्टि एकता की ओर ही रही है और प्रायः प्राचीन आचार्यों और टीकाकारों ने भी इसी पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में तन्त्रों के कतिपय प्रमाण-वाक्य ऊपर दिये जा चुके हैं। किन्तु प्रबुद्ध पाठकों को और अधिक आश्वस्त करने की दृष्टि से, इसके समर्थन में वेदों और उपनिषदों तथा अन्य मान्य आचार्यों के कुछ सारभूत मन्तव्य प्रस्तुत करना अधिक वाञ्छनीय होगा।

'जन्माद्यस्य यतः' इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार जगत् की सृष्टि-स्थिति और संहार क्रियाएं कारणब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्मा-विष्णु-और रुद्र में उपचरित होती हैं—किंवा कारण ब्रह्म के ही ये नाम हैं। मैत्रायणी उपनिषद् में यह बात स्पष्ट की गयी है :—

'अथ यो ह खलु वा वास्य राजसोंऽशोऽसौ, स योऽयं ब्रह्मा। अथ यो ह खलु वा वास्य तामसोंऽशोऽसौ, स योऽयं रुद्रः। अथ यो ह खलु वा वास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ, स योऽयं विष्णुः।'

इसलिए यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि उपासना को सुलभ बनाने के लिए निराकार ब्रह्म को साकार में परिणत किया गया है।

आचार्य पुष्पदन्त ने-शिव महिम्न स्तोत्र में इस आशय की पुष्टि की है:—

'अतीतः पन्थान तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः [1] ॥'

भेददृष्टि का निराकरण करने वाली इन श्रुतियों का भी यही रहस्य है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'
—ऋ. सं. २ अ. ३ अनु. २२, अथव. सं. ६ कां. २१ प्रपा. ५ अनु.

---

१. भावार्थ—तुम्हारी महिमा वाक्य और मन के व्यापारों से बाहर है। वेद भी जिसका विश्व प्रपञ्च से भिन्नरूप में भयभीत होकर उल्लेख करते हैं। जो किसी प्रमाण का प्रत्यक्ष विषय नहीं है। जिसका किसी भी गुण के द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता—ऐसी महिमा किसका स्तुतिसाध्य विषय हो सकता है। अर्थात् कोई भी उसकी स्तुति करने में समर्थ नहीं। किंतु तुम्हारे परवर्ती साकार रूप में किसका मन और वाक्य प्रवृत्त नहीं हुआ। अर्थात् आपके साकार रूप को सब लोग मन और वाक्य से ग्रहण कर सकते हैं।

पूज्यपाद पं० श्री गिरिजाप्रसाद द्विवेदी जी ने इस श्लोक की विशेष-चर्चा में इसका जो आशय व्यक्त किया है वह यहाँ उल्लेखनीय है—

'...... शैव दर्शन के मत मे परमशिव निर्गुण और निराकार है; सृष्टि के पूर्व परमशिव के स्पन्द से शिव और शक्ति का आविर्भाव हुआ है। यह आविर्भूत शिव, शक्तिसमष्टि एवं तीनों गुणों के आधार हैं। ईशान, वामदेव, चन्द्रशेखर आदि रूप सगुण शिव की ही विभूति हैं—यह साकार है। जिसका कोई गुण किंवा विशेषण नहीं है वह किसी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। परमशिव में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पाँचों का अभाव होने से वे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते। उनमें हेतु और प्रत्यक्ष का उपन्यास संभव न होने से अनुमान-प्रमाण के भी वे बाहर हैं। विशेषणहीनता से शब्दप्रमाण भी उनको स्पर्श नहीं कर पाता। शब्दप्रमाण वेद ने 'वे यह नहीं, वह नहीं' इत्यादि निषेधवाक्यों से उनको बताने की चेष्टा की है। निर्विशेषणवश विधिवाक्य भी उसे नहीं बता सके—यही चकित-भयभीत होने का कारण है। सगुण साकार रूप प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। इसलिए बुद्धि और साधन के न्यूनाधिक भावों के अनुसार सब कोई स्तुति कर सकता है। निराकार से ही साकार का विकास है—इस कारण साकार निराकार का परवर्ती होने से 'अर्वाचीन' शब्द से साकार रूप का ग्रहण किया गया है।

—देखिये न० कि० प्रेस का शिवमहिम्न, पृ० ३

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः सः प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥ —कैवल्योपनिषद्

इस भेदमूलक भ्रम के निवारणार्थ ही वेदान्त-कल्पतरु का कथन है—

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥'

पूर्वोक्त वाक्यों के सामञ्जस्य और उपसंहार के लिए यहाँ दार्शनिक दृष्टि से निम्नलिखित कथन को हृदयंगम कर लेने से सब प्रकार की आशंकाओं का पूर्ण समाधान हो जाता है—

'अनस्तमितभारूपस्तेजसां तमसामपि ।
य एकोऽन्तर्यदन्तश्च तेजांसि च तमांसि च ।
स एव सर्वभावानां स्वभावः परमेश्वरः ।
भावजातं हि तस्यैव शक्तिरीश्वरतामयी ॥
शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥'

आगमों में शक्ति-पूजा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। यहाँ तक कि विष्णु के दशों अवतार दश महाविद्याओं से संबद्ध हैं-और वे सब स्वयं इनके उपासक माने जाते हैं। इनका परस्पर में अभेद बतलाया गया है। जैसा कि इन श्लोकों से ज्ञात होता है—

'कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।
वेणुनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत् ॥
कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा ।
समुद्रनिग्रहादीनि कुर्वाणा ख्यातिमागता ॥
छिन्नमस्ता नृसिंहः स्याद् वामनो भुवनेश्वरी ।
जामदग्न्यः सुन्दरी स्यात् मीनो धूमावती भवेत् ॥
बगला कूर्ममूर्तिः स्याद् बलभद्रस्तु भैरवी ।
महालक्ष्मी भवेद् बौद्धी दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी ॥'

अत एव तंत्रकारों ने उपासना के संबन्ध में निर्णय करते हुए शक्ति की ओर सबका ध्यान खींचा है—

'एवं विज्ञाय मतिमान् भेदभावविवर्जितः ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा भावयेदिष्टमात्मनः ॥
प्रवृत्ति मार्गमाणस्तु दीक्षादेशेन पूजयेत् ।
निवृत्ति मार्गमाणस्तु भेदवादं विवर्जयेत् ॥
सर्वशक्तिमयत्वाच्च शक्तिः सेव्या विचक्षणैः ।
सर्वेषां फलदाने च शक्तेरेव प्रधानता ॥'

आचार्य शंकर ने सौन्दर्यलहरी में शक्ति-पूजा को प्राशस्त्य और महत्त्व देते हुए कहा है :—

'त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानां परशिवे !
भवेत् पूजा, पूजा तव चरणयो र्या विरचिता ॥'

देवीपुराण में कहा है—

'विष्णुपूजासहस्राणि शिवपूजाशतानि च ।
अम्बिकाचरणाचार्याः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥'

फलतः अशेष देवों की मूलशक्ति होने और मातृपद पर प्रतिष्ठित होने से, कोमल अन्तःकरण रखने वाली भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी भगवती की उपासना ही समस्त ऐहिक और आमुष्मिक फलों को देने वाली है, इसलिए वही उपासना के क्षेत्र में प्रधान मानी गयी है । अन्य देवों की उपासना में बहुविध शरीर-क्लेश के बाद भी भोगप्राप्ति ही सुलभ होती है, मुक्ति या मोक्ष का पद दुर्लभ रहता है । भोग और मोक्ष दोनों को उपलब्ध कराने की शक्ति एकमात्र भगवती में निहित होने से उनकी ही उपासना सद्यःफलदायिनी और सर्वोपरि है । समया-तन्त्र और रुद्रयामल में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है:—

'कदाचित् कस्यचिद् भुक्तिः कदाचिन्मुक्तिरेव च ।
एतस्याः साधकस्याथ भुक्तिर्मुक्तिः करे स्थिता ॥'
'यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोगः ।
शिवापदाम्भोजयुगार्चकस्य भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥'

सारांश यह है कि प्रचलित पंचधारा के देवों में विष्णु-शिव की अपेक्षा शक्ति की उपासना की महिमा और महत्त्व वेद-उपनिषद्-पुराण एवं आगम ग्रन्थों में अनेक रूपों में वर्णित है । किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है विष्णु-शिव-शक्ति-गणेश और सूर्य तात्त्विक दृष्टि से एक ही माने गये है । केवल उपासक के चित्ता-वतरण के लिए, पञ्चायतनी पूजा प्रकार की तरह एक को प्रधान और अन्य को गौण या उपसर्जनभाव प्रदान करने में प्रतिफलित होता है । वेवेष्टि इति विष्णुः ।

विष्लृ व्याप्तौ। शिवयति इति शिवः। तत्करोति इस णिजन्त से अच्। शक्नोति शक्यते वा अनया इति शक्तिः। कर्ता में क्तिच् अथवा भावादि विवक्षा में क्तिन्। गणानामीशः गणेशः। सुवति कर्मणि प्रेरयात इति सविता। षूप्रेरणे। 'राजसूयसूर्य' ३.१.११४.इससे निपातित होता है। तात्पर्य यह कि इन नामों का विशेष्यविशेषणभाव स्वाभाविक है और वे एक दूसरे से भिन्न नहीं हो सकते।

दर्शन और धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ चातुर्वर्ण्य-शिक्षा में वैदिक दृष्टिकोण से इस विषय पर गंभीर विचार किया गया है। और एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया है :—

उपास्तिसिद्ध्यै न च भेदलब्ध्यै
स्मृतः स ऐशो गुणमुख्यभावः।
चेदन्यथा तर्क्यत एष वस्तु-
न्युत्पत्तिसंपत्तिविपत्तिदोषाः ॥
विष्णुः शिवः शक्तिगणेशसूर्या
ये ब्रह्मदृष्ट्या समुपासनीयाः।
तेष्वेकतैवार्हति योगशैल्या-
प्यनेकता तु द्यति शक्तिषट्कम् ॥'

—चातु. शि. श्लो. १७०-७१

वास्तव में यदि ऐसा न माना जाय तो एक ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और संहार की व्याख्या करने वाली श्रुतियों और स्मृतियों के विरोध का कोई समाधान नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त वायुपुराण में वर्णित—

'सर्वज्ञता, तृप्तिरनादिबोधः,
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥'—वायु पु ख. १२ अ. ३१ श्लो.

सर्वज्ञता आदि महेश्वर की शक्तियों का अभेद कसे सिद्ध किया जा सकता है।

आगम और निगम के उद्देश्य की समानता—आगम और निगम को मूलभित्ति मुख्यतः वर्णाश्रम धर्म पर आधारित मानी गई है। यह दूसरी बात है कि शैली और प्रक्रिया के कारण आपाततः उनमें बाह्य दृष्टि से कुछ अन्तर दिखाई देता है—परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उनके ध्येय में अत्यधिक समानता है। यत्र-तत्र जो अपवाद दृष्टिगोचर होते हैं—वे उपास्य तत्त्व के व्यापक वैलक्षण्य के कारण ही हैं। मूलतः उनके उद्देश्यों में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए आगमों के समान ही पंचदेवों की गायत्री वेदों में भी उपलब्ध होता है—

१-'तत्केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।'
—मैत्रायणीयसं. अग्निचि.

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।
—तैत्तिरीयारण्यक १० प्रपा. १ अनु.

२-'देवानां च ऋषीणां चासुराणां पूर्वजम् ।
महादेव ऽ सहस्राक्ष ऽ शिवमावाहयाम्यहम् ॥'

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।'—मैत्राय. अग्नि.

३.-'कात्याय (न्यै) नाय विद्महे कन्यकुमा (री) रि धीमहि तन्नो दु (र्गा) र्गिः प्रचोदयात् ।' - तैत्ति. आर. १० प्रपा. १ अ.

४-तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ।'
—मैत्राय. अग्नि.

५-तद्भास्कराय विद्महे प्रभाकराय धीमहि तन्नो भानुः प्रचोदयात् ।'
—मैत्राय. अग्नि.

भास्कराय विद्महे महाद्युतिकराय धीमहि तन्नो आदित्यः प्रचोदयात् ॥
—तैत्ति. आर. १० प्र. १ अ.

अतएव धर्मशास्त्र और पुराणसम्मत वैध क्रिया-कलाप में वैदिक तान्त्रिक और उभय मिश्रित पद्धति को मान्यता देना प्रमाण और युक्तिसिद्ध होने से शास्त्रकारों को सर्वथा अभीष्ट है।

श्रीमद्भागवत में—

'यात्राबलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥
११ स्कं. ११ अ. ३७ श्लो,

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥'
—११ स्कं' २७ अध्या. ७ श्लो.

पद्मपुराण में—

'वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः श्रीविष्णोस्त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना हरिमर्चयेत् ॥'
—५ पाताल खं. ९५ अध्या. ७० श्लो.

इन प्रमाणवाक्यों से यह सिद्ध है कि वैदिक, तान्त्रिक और उभयसंमिश्रित उपासना को शास्त्र-तर्क और युक्तिसंगत होने से किसी प्रकार की चुनौती नहीं दी जा सकती । आगम और निगम के आचार-विचार और आर्ष परम्पराओं को देखते हुए सामान्यतः दोनों की एकवाक्यता शास्त्रसंमत है । किन्तु विशुद्ध वैदिक मार्ग के अनुगमन का अधिकार केवल

त्रैवर्णिकों के लिए है—यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। फिर भी यहां यह बतला देना आवश्यक है कि प्रामाणिक तन्त्रा को छोड़कर अन्य वेदबाह्य तंत्रों को जिनकी सूची काफी लम्बी-चौड़ी है—एकदेशीय होने से इसके अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। उनके साधन और आचार-विचार इतने ऊट-पटांग है कि वे वर्णाश्रम धर्म के नियमों की एकान्ततः अवहेलना करते हैं—और इसके साथ मेल नहीं खाते। इनमें लैङ्गायत और पाशुपत आदि तंत्रों को इसी श्रेणी में गिना जाता है और गौतमी आदि मान्य तन्त्रों की पंक्ति से उनका बहिष्कार किया गया है—

'पाञ्चरात्र' पाशुपतं कापालं वाममार्हतम्।
एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु॥'
'पाञ्चरात्रं भागवतं तथा वैखानसाभिधम्।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान्॥'
'अक्षांशुः सात्वतो नाम विष्णुभक्तः प्रतापवान्।
स नारदस्य वचनाद् वासुदेवार्चने रतः॥
शास्त्रं प्रवर्तयामास कुण्डगोलादिभिः श्रितम्।
तस्य नाम्ना तु विख्यातं सात्वत नाम शोभनम्॥
तेनोक्तं सात्वतं तन्त्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिभाग् भवेत्।
यत्र स्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः॥'

इसीलिए वेद-विरोधाधिकरणन्याय के अनुसार इन तन्त्रों को सार्वदेशिक मान्यता नहीं प्राप्त हुई है। क्योंकि वेदोक्त आचार-विचार के उल्लङ्घन की अनुमति किसी भी दशा में शिष्टसंमत नहीं मानो गयो है। अतएव महर्षि कृष्ण-द्वैपायन ने वेदार्थ के रहस्यों की गंभीरता की ओर संकेत करते हुए उनके विश्वजनीन सिद्धान्तों को जानने और समझने के लिए संतुलित और व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥'

अन्यथा मनमानी तौर-तरीकों से जहां एक ओर आन्तरिक विरोध उठ खड़ा होगा वहाँ दूसरी ओर साध्य-साधन की पवित्रता और प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग के प्रति लोक-आस्था को गहरा धक्का लगना भी निश्चित है।

इस प्रसंग में गीता के इस उपदेश को भी ध्यान में रखना आवश्यक है—

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्॥'—भ. गी. १६.२३.

तन्त्र-परम्परा और उसकी प्रामाणिकता—वेद और तन्त्र भारतीय धर्म एवं संस्कृति की दो विशाल धाराओं के समान हैं, जो प्राचीन काल से इस देश में अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित चली आ रही हैं। दोनों के बाह्य रूप में कितना ही अन्तर क्यों न हो, परन्तु आन्तरिक रूप से वे दोनों परस्पर में इतनी संबद्ध हैं कि उन्हें सहोदरा कहना अधिक उपयुक्त होगा। वैदिक युग से ही दोनों के प्रति समाज की श्रद्धा, आदर और विश्वास-भावना का मापदण्ड एक जैसा रहता आया है। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें, तो दोनों धाराओं का उत्पत्तिस्रोत और उद्देश्य समान होने से, उनके बीच कृत्रिम विभाजन रेखा खींचकर उसके वास्तविक धरातल को विकृत रूप में प्रस्तुत करना किसी भी दृष्टि से हितकर और उचित नहीं लगता। अतएव शास्त्रीय दृष्टि से आगम या तन्त्र की प्रामाणिकता वेदों की तरह निरापद और असंदिग्ध है। फिर भी तन्त्रशास्त्र के मान्य आचार्यों ने इस विषय में अपना जो मत प्रकट किया है उसको समझ लेना आवश्यक है।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार श्रीकण्ठाचार्य ने अपने शैवभाष्य में लिखा है—
'वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदेऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृकत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः—त्रैवर्णिक-विषयः सर्वविषयश्चेति। उभयोरेक एव शिवः कर्ता। अतः कर्तृसामान्यादुभयमप्येकार्थपरं प्रमाणमेव। यद्वा, ब्रह्मप्रणवपञ्चाक्षरीप्रासादादिमन्त्राणां पशुपतिपाशादिवस्तुव्यवहाराणां भस्मोद्धूलनत्रिपुण्ड्रधारणलिङ्गार्चनरुद्राक्षधारणादिपरधर्माणामन्येषां च सर्वेषां व्यवहाराणामुभयत्रापि सममेव दर्शनादुभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ'।

— श्रीकण्ठभाष्य २. २. ३८.

इस भाष्य के व्याख्याकार अप्पय दीक्षित ने 'शिवार्कमणिदीपिका' में तन्त्रों को वैदिक और अवैदिक दो भागों में बांटकर, एक वेदाधिकारियों के लिए, दूसरा उसके अनधिकारियों के लिए बतलाया है। इसलिए अधिकारियों के भेद से आगम सर्वथा प्रामाणिक है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी वेदों की तरह तन्त्र स्वतःप्रमाण माने गये हैं— 'तस्मात् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये!' २. १४०.

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने अपनी मन्वर्थमुक्तावली में—
'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः, श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा—वैदिकी तान्त्रिकी च।'

—मनुस्मृति २. १.

इस हारीत ऋषि के कथन को उद्धृत करते हुए श्रुति के समान तन्त्र की प्रामाणिकता मानी है।

परन्तु शाक्त दर्शन के सुप्रसिद्ध आचार्य भास्करराय ने तन्त्रों को श्रुति का अनुगामी होने से परतःप्रमाण माना है। वे तन्त्रों को स्मृतिशास्त्र के अन्तर्गत मानकर उनका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं–

'तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः' वरिवस्यारहस्य-प्रकाश

और इसके साथ साथ ललितासहस्रनाम के सौभाग्यभास्कर में वे कहते हैं— 'परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात् ।'

आशय यह कि उनके मत से तन्त्र और स्मृतियों में प्रामाण्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। किन्तु वे स्मृतियों का अन्तर्भाव कर्मकाण्ड में और तन्त्र का ज्ञानकाण्ड में मानते हैं।

शारदातिलक के टीकाकार राघव भट्ट ने भी तन्त्रों को स्मृति-शास्त्र के समान मानते हुए उसे वेद के तृतीय काण्ड—उपासना काण्ड के अन्तर्गत माना है।

इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि-मान्यता का प्रकार भले ही अलग २ क्यों न हो–किन्तु सिद्धान्त रूप से इसकी प्रामाणिकता में सभी पक्षों की सहमति है।

यद्यपि तन्त्रों की महत्ता और उपादेयता के बारे में किसी प्रकार की शंका या सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। किंतु तान्त्रिक आचार-विचारों के विषय में जन-साधारण में जो भ्रम फैला हुआ है, वह अवास्तविक और अज्ञानमूलक ही कहा जायगा। क्योंकि इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं को फैलाने का दायित्व अधिकांश में ब्राह्मण-तन्त्रों पर न होकर बौद्ध और जैन तन्त्रों पर है। इसकी अधिक चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं। पुस्तक के उत्तरार्ध में इसकी समीक्षा विस्तृत रूप से की जायगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है-तन्त्रों के अत्यधिक प्रचार और विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होने के कारण, यदि किसी वर्ग में अपनी स्वयं की दुर्बलताओं के कारण कोई अनौचित्यपूर्ण व्यवहार होता हो या दोषों का संक्रमण हो-तो उसके लिए व्यक्ति ही दोषी माने जा सकते हैं, शास्त्र की शाश्वत मर्यादा को उसके कारण कोई आँच नहीं आती। इसलिए सामान्यतः यह मानकर चलना चाहिए कि विवेकभ्रष्ट एवं अनधिकारियों के अबाधित प्रवेश को न रोक सकने के कारण इस प्रकार की आलोचनाओं को अवसर मिलना स्वाभाविक है–जो कि न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र देखा जा सकता है। क्योंकि वर्तमान युग को उदयनाचार्य आदि विद्वानों ने धार्मिक दृष्टि से ह्रास का युग माना है। इसलिए **'नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्येत्'** की पुरानी कहावत के अनुसार इसका समाधान स्वतः हो जाता है।

आगमरहस्य का मूल्यांकन—प्रस्तुत आगमरहस्य जैसा कि उसके नाम से प्रकट होता है—आगमशास्त्र अथवा तन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इसका संकलन आर्षपरम्परा के अन्तर्गत माने जाने वाले तंत्रशास्त्र के अनेक मौलिक निबन्धों की गहरी छानबीन करके, उनके प्रमेयांशों का परीक्षण तथा सजातीय तंत्र-निबन्धों से संवाद स्थापित कर, पूर्वापर विषयों के समन्वय के साथ किया गया है। गौड-केरल और काश्मीर में प्रचलित प्राचीन तान्त्रिक गुरु-परम्परा (संप्रदाय) के अनुसार विष्णु, शिव और शक्तिप्रधान उपासना-विषयक विविध आर्षग्रन्थों और सन्दर्भों के सारभूत-तत्त्व को आगमोक्त सिद्धान्तों की कसौटी पर परख कर ही समाविष्ट किया गया है। यह ग्रन्थ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के रूप में दो भागों में विभक्त है। ग्रन्थ के आरम्भ में, प्राचीन निबन्धकारों की शैली के अनुसार, प्रत्येक पटल में वर्णित विषयों की श्लोकबद्ध सूची लगी हुई है, जिससे ग्रन्थ के पूर्वार्ध में विवेचित विषयों का परिचय मोटे तौर पर ज ही ज्ञात हो जाता है।

अब तक आगम या तंत्रशास्त्र के जितने स्वतंत्र-निबन्ध या संग्रह-ग्रन्थ उपलब्ध थे, वे प्रायः एकदेशीय थे। उनमें इस ढंग का, ऐसा एक भी ग्रन्थ देखने में नहीं आया जिसके माध्यम से, तन्त्र-साहित्य और उसकी सम्पूर्ण प्रायोगिक प्रक्रिया की पूरी २ जानकारी प्राप्त की जा सके। शारदातिलक जैसे कुछ इने-गिने मान्य और उपयोगी ग्रन्थों के होते हुए भी उनके द्वारा इस शास्त्र के आवश्यक-अपेक्षित विषयों की पूरी जानकारी नहीं हो पाती। इसके सिवा, आगम के हस्त-लिखित-मूलनिबंध विभिन्न लिपियों में होने, और उनके प्रतिपाद्य विषयों के इधर-उधर अनेक रूपों में बिखरे रहने के कारण, उनसे वास्तविक लाभ ले सकना अधिकारी विद्वानों के लिए भी सुलभ न था। दूसरे, विभिन्न देश-काल में लिखी गई प्रतियों के मूलपाठ में अन्तर, विषयों के क्रम में उलट-फेर और अनेक स्थलों पर प्रक्षिप्तांशों का संक्रमण और पाठान्तरों की भरमार-ये सब बातें ऐसी खटकनेवाली थीं कि ज्ञाता मनुष्य भी एक बार चक्कर में पड़े बिना नहीं रह सकता। कई प्रसगों में तो यह नौबत भी आ जाती है कि सत् और असत् का निर्णय कर सकने में वह अपने को असमर्थ अनुभव करने लगता है। क्योंकि किसी नियामक के अभाव में, विभिन्न प्रतियों के पाठों का विसंवाद कैसे दूर किया जाय। इतना ही नहीं, अन्य शास्त्रों में तो, प्रतिपाद्य वस्तु के औचित्य-अनौचित्य उसके न्यूनाधिक भाव एवं व्याकरण और भाषासम्बन्धी त्रुटियों तथा अशुद्धियों को थोड़े प्रयास से भी जाना और समझा जा सकता है, या उसके विषय में किसी तरह का अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु यह शास्त्र अन्य शास्त्रों से एकदम भिन्न प्रकृति का होने से, यहां किसी प्रकार की जोर-जबर्दस्ती से काम नहीं चलता। यहां तो बड़े २ आचार्यों और महारथियों तक को अंत में

हार ही माननी पड़ती है। कारण यह कि मन्त्र ऐसी सांकेतिक भाषा में हैं और उनके उद्धार इतने जटिल और अटपटे हैं कि कोई कितना ही बड़ा विद्वान् और मनीषी क्यों न हो–इनकी संगति बिठा पाना किसी के वश की बात नहीं होती। यदि किसी तरह जोड़–गांठ करके, कुछ आशय निकाल भी लिया जाय तो वह संशयमुक्त न होने से कोई काम नहीं दे सकता। क्योंकि किसी मन्त्र या उसके विधान में थोड़ा सा भी अनुलोम–विलोम या ऊंचा-नीचा होने से उसमे लाभ के बदले हानि अधिक संभावित होती है। इसीलिए यह गुरुगम्य शास्त्र माना गया है।

वदिक मन्त्रों में भी उच्चारण आदि की अवहेलना और उसकी स्वाभाविक प्रक्रिया का उल्लंघन होने पर मन्त्र की भावना और उसके फल में कितना परिवर्तन और अन्तर आ जाता है, यह निम्नलिखित मन्त्र में स्पष्ट किया गया है:—

मन्त्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा
　　मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
　　यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात्'॥

यद्यपि यह नियम आगमोक्त मन्त्रों में सर्वांश में लागू नहीं होता, तथापि अपवाद मानकर इसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। बल्कि अपने अपने क्षेत्र में जो व्यवस्था उपलब्ध है, और मन्त्रों के संबन्ध में जहां जो नियम नियत किये गये हैं उनका अनिवार्यरूप से पालन करना आवश्यक होता है।

आगमों में प्रायोगिक–प्रक्रिया से संबन्धित, कुछ ऐसी भी व्यावहारिक बातें हैं, जो किसी पुस्तक के माध्यम से नहीं जानी जा सकतीं– और उनके लिए यही कहना पड़ता है कि 'तज्ज्ञानार्थं गुरुमैव सभाजयेत्।' अर्थात् विना गुरुमुख से समझे उन गुत्थियों को सुलझाना संभव नहीं हो सकता। इसीलिए आगमों के व्याख्याता आचार्यगण, कई रहस्यपूर्ण बातों को, जो परम्परा से गोपनीय रहती आयी हैं—विवेचन न कर के केवल 'गुरुमुखैकवेद्य' कह कर छोड़ देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि आगम का पारमार्थिक तत्त्व या रहस्य 'गुरुमुख' से ही जाना जा सकता है केवल पुस्तकों के सहारे नहीं, उनसे तो मार्गदर्शन ही मिल सकता है। इसके अतिरिक्त, आगमशास्त्र के बारे में हमारे यहां यह परम्परा रहती आयी है कि मन्त्रों और उनसे संबद्ध रहस्यों का प्रकाशन, केवल अधिकारियों के समक्ष ही होता था, सर्व-साधारण के नहीं। शास्त्रकारों ने अयोग्य व्यक्तियों के संमुख इसके प्रकाशन को अनुचित माना है और कड़ा प्रतिबन्ध

लगाया है। इसीलिए शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध, इस नियम का अतिक्रमण करने वाला प्रत्यवाय का भागी बनता है। शास्त्र की मर्यादा की सुरक्षा और लोकहित की दृष्टि से इसे अनुचित नहीं ठहराया जा सकता। अतएव श्रुति कहती है:—

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिस्तेऽहमस्मि।
असूयकाय अनृजवे न मा ब्रूया अवीर्यवती यथा स्याम्॥'

इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि शास्त्रीय आज्ञा और मर्यादा की परिधि में रहते हुए, आगमों में प्रतिपादित कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड के उन सब आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रामाणिक और मूलभूत तन्त्रों से उद्धृत किया गया है। प्रतिपाद्य वस्तु की दृष्टि से जहां कहीं ग्रन्थकार को न्यूनता प्रतीत हुई है या अन्यत्र कुछ विशेषताएं दृष्टिगोचर हुई हैं, वहां तन्त्रान्तर से भी अपेक्षित ग्राह्य अंश का चयन कर उस विषय को पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने में, इस लक्ष्य पर पूरा ध्यान रक्खा गया है कि शैव, शाक्त और वैष्णव तन्त्रों के पार्थक्य या वर्गीकरण को बढावा न देकर, विषयगत साहश्य की दृष्टि से, उनके उपादेय अंशों को ग्रहण कर, उनमें एकरूपता लायी जा सके। साथ ही, उपासना के क्षेत्र में, जिन बातों को क्रमानुगत प्राथमिकता मिलनी चाहिए, उनका उसी रूप में यथास्थान सन्निवेश किया गया है। इस प्रक्रिया को अपनाकर, विषयों के क्रमबद्ध वर्गीकरण और विवेचन के द्वारा मूल विषय को सुगम और सुलभ बनाने में अपनी ओर से, कोई कोर-कसर नहीं रहने पायी है। सुगमता की दृष्टि से, मन्त्रदीक्षाओं में काम आने वाले ऋण-धन-शोधन चक्रों के व्यावहारिक रूप एवं दीक्षाविधान में कालशुद्धि से संबन्ध रखने वाले ग्रह-नक्षत्रों के चक्र, तथा प्रयोग, पुरश्चरणों में उपयोगी और आवश्यक कुण्ड-मण्डप के निर्माण का ज्योतिषशास्त्रसंमत प्रकार एवं हवन चक्र आदि का व्यवस्थित रूप से उल्लेख किया गया है— जो कि बहुत गहन है और अन्यत्र मिलना प्रायः दुर्लभ है।

आगमशास्त्र के समीक्षक वेदों की तरह, भारतभूमि में तंत्रशास्त्र के प्रादुर्भाव को अपने आपमें एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानते हैं। उनकी मान्यता है कि विभिन्न दर्शनों की तुलना में, उपासना और ज्ञान के उपबृंहण की जो विशिष्ट शैली इसके द्वारा निखर कर सामने आई है वह अधिक सजीव और आकर्षक है। आगमरहस्यकार ने तंत्रशास्त्र की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि को व्यावहारिक दृष्टि से हृदयंगम कराने के लिए इस दर्शन में परिगृहीत षट्त्रिंशत् तत्त्वों का जो पारिभाषिक परिचय कराया है वह इस शास्त्र की मूल आधार-शिला है। 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' की लोकोक्ति के अनुसार आरंभ के तीन पटल उन्होंने इसी लक्ष्य से प्रस्तुत किये हैं, जिससे इस शास्त्र के मौलिक तत्त्वों

के साथ, उसकी दूरगामी प्रक्रिया के मुख्य एवं अवान्तर भेदों में बुद्धिजीवियों का अन्तःप्रवेश सुलभ हो सके। वास्तव में, जब तक इस दर्शन के प्राणभूत छत्तीस तत्त्वों के मूलस्वरूप और उनकी व्यापकता को भली भाँति नहीं समझ लिया जाता, तब तक इसके अन्तर्गत आने वाले उपासनाक्रमों का वास्तविक रहस्य बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। क्योंकि इसके बिना प्राणायाम, भूतशुद्धि, मातृकान्यास, तत्त्वशोधन, या अन्तर्याग और बहिर्याग आदि तांत्रिक प्रक्रिया के उद्देश्य और उसके फल की कल्पना का आधार ज्ञात नहीं होता।

ग्रन्थकार ने अपनी दूरदर्शिता के कारण राजयोग, हठयोग, अष्टाङ्गयोग, समाधि, विदेहमुक्ति, योगोपसर्गचिकित्सा, अरिष्टज्ञान, नौलि, धौति, त्राटक आदि कई ज्ञातव्य विषयों का भी इस ग्रन्थ में व्यवस्थित ढंग से उल्लेख किया है, जिनके बारे में आम तौर पर लोगों को जिज्ञासा रहा करती है। कारण यह है कि ये सभी प्रकार भारतीय मूल के माने जाते हैं और साधना-मार्ग के भीतर निविष्ट किये गए हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि एक साधक के लिए जिन जिन व्यावहारिक विषयों का ज्ञान आवश्यक माना गया है, वे सम्पूर्ण विषय बड़े साफ-सुथरे ढंग से इसमें संकलित हैं। जिनका परिचय पूर्ण रीति से ग्रंथ के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। श्रद्धेय द्विवेदी जी ने इस महाग्रंथ की सामग्री जुटाने और उसके चिंतन-मनन एवं परीक्षण के बाद लिपिबद्ध करने में कितना कुछ श्रम और कष्ट उठाया होगा—इसका अनुमान विज्ञजन स्वयं कर सकते हैं।

ग्रंथ की रचना में, सहायक तंत्र-ग्रंथों की गणना करने पर ज्ञात हुआ कि इनकी संख्या एक सौ आठ है। आगम-प्रेमियों की सुविधा और जानकारी के लिए, मैंने अकारादिक्रम से उनकी सूची अलग से तैयार करके परिशिष्ट के रूप में अन्त में लगा दी है। इस सूची के देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि अतीत में हमारे देश में इस शास्त्र की कितनी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता रही होगी। वर्तमान में, इन ग्रन्थों के अस्तित्व और उपलब्धि के बारे में कुछ भी कह सकना बहुत ही कठिन है। अधिकांश के तो अस्तित्व में ही सन्देह है। यह सब काल की महिमा है।

कुल मिलाकर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि एक लंबे समय से इस क्षेत्र में चले आ रहे अभाव की पूर्ति कर ग्रन्थकार ने आगम-प्रेमियों का बहुत बड़ा उपकार किया है। यही नहीं, उनके दीर्घकालिक अनुभव और परिनिष्ठित-प्रतिभा ने 'गागर में सागर' की कहावत को चरितार्थ करते हुए, आगम जैसे व्यापक एवं गहन-गम्भीर शास्त्र को जिस संतुलित दृष्टि से आबद्ध कर, उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाया है, वह सर्वथा बेजोड़ ही कहा जायगा। ग्रन्थ का आरंभ करते हुए आचार्य ने अपने जिस ध्येय और संकल्प को व्यक्त किया है, उसका पूरा २ निर्वाह आदि से अन्त तक किया गया है। आरंभ के ये श्लोक उनकी इस भावना के प्रतीक हैं—

'अथागमान् समालोक्य संप्रदायत्रयाश्रयात् ।
तदागमरहस्यं यत् तन्यते बालबोधकम् ।।
सन्तीह सुनिबन्धौघा बहवः गमा अपि ।
तथापि मम यत्नोऽयं भवेत् सज्जनतोषकृत् ।।"

पूर्वार्ध की समाप्ति करते हुए निबन्धकार का यह लेख उनके अन्तःकरण की विशालता और आत्मतुष्टि का परिचायक है—

'इतीत्थं पटलैरष्टाविंशैः पूर्वार्द्धकं गतम् ।
सदागमरहस्ये तद्गुरूणां प्रीतिदं भवेत् ।।
सदागमरहस्याब्धिसमुद्भूतमणिस्रजा ।
भूषिता करुणामूर्तिररुणा वितनोतु शम् ।।
यत्कृपालेशमालंब्य भक्ता भवमया भवे ।
भवीयन्ति भवं सर्वं नुमस्तां भवनाशिनीम् ।।
श्रीमद्गुरुपदाम्भोज-मकरन्दमधुव्रताः ।
देशिकाः सन्तु सन्तुष्टा दृष्ट्वागमरहस्यकम् ।।
शिवयोः प्रीतिदं भूयात् पूर्वापरविभागतः ।
पूर्वार्द्धे श्रीशिवस्तुष्येदुत्तरार्द्धे तथाम्बिका ।।
श्रीनाथदृष्टिपूतानां भक्तानां तद्गतात्मनाम् ।
अभेदज्ञानिनां हेतोरर्द्धं तदपि लक्षये ।।
ते कृतार्थाः स्वयं सन्तः स्वात्मलाभैकमानसाः ।
तथापि तुष्टिमायान्तु मत्कृतैः साहसैरलम् ।।
शिष्टा यदपि सर्वज्ञास्तथापि शिशुलीलया ।
मुदमादधते चित्ते यदानन्दमया हि ते ।।
गुरुणा लक्षितं यच्च दृष्टं यच्चागमादिषु ।
तत्रत्यं सारभूतं यदुत्तरार्द्धे लिखाम्यहम् ।।
आत्मानन्दप्रबोधाय विनोदाय महात्मनाम् ।
सरस्वत्यानन्दनाथो दुर्गानन्दपदाश्रितः ।।'

अर्थात् अट्ठाईस पटलों में वर्णित यह आगमरहस्य गुरुओं को प्रीतिदायक हो । यहां 'सदागम' शब्द का प्रयोग अपना एक विशेष अर्थ रखता है । 'सँश्चासौ आगमश्च सदागमः' इस समस्त पद में 'सत्' पद के प्रयोग से यह ध्वनित होता है निगमसंमत एवं गुरुपरम्परागत तथा शिष्टों द्वारा समादृत आगमों को ही इसमें स्थान दिया गया है । प्राचीन आगम-संप्रदाय से बहिर्भूत, पाञ्चरात्र, पाशुपत, लैङ्गायत आदि तन्त्रों को जो एकदेशीय और शास्त्रीय दृष्टि से उच्छृङ्खल माने गए हैं उनमें अपनी अरुचि व्यक्त की है । रहस्यरूप में आगम-

समुद्र से निकले हुए रत्नों की माला से विभूषित करुणामयी माता भगवती अरुणा (राजराजेश्वरी श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी) आगमानुयायियों का कल्याण करें। जिनके कृपा-कटाक्ष के एक कणमात्र से ही भक्त लोग संसार में जन्म लेते हैं, और मोक्ष—लाभ प्राप्त करते हैं।

श्रीगुरुचरणकमलरूपी पुष्परस के भ्रमर (भौंरे) देशिक—आगमोपदेष्टा आचार्यगण इस कृति को देखकर संतुष्ट हों। पूर्वार्ध से शिव और उत्तरार्ध से जगदम्बा संतुष्ट हों। इसका गूढ आशय यह है कि शिव का अर्धनारीश्वररूप दक्षिण और वाम अंग का संमिलितरूप है और वाच्य-वाचक या शब्द और अर्थ के रूप में संपूर्ण जगत् का प्रतीक है। शैवदर्शन की दृष्टि से शिव और शक्ति को छोड़कर विश्व का कोई अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसीलिए भेद और अभेद दोनों ही रूपों में शिवशक्ति का प्राधान्य होता है और अद्वैतवाद में इन्हीं दोनों के पारस्परिक मुख्य-गौण रूप की कल्पना की गई है। श्रीनाथ (दीक्षा और आगमोक्त पूर्णाभिषेक करने वाले गुरु) के कृपाकटाक्ष से पवित्र, अनन्य गुरुभक्त और शिव-शक्त्यात्मक गुरुस्वरूप में अन्तर्लीन रहने वाले, अद्वैतभाव के पथिकों के लिए उत्तरार्ध का विवेचन भी किया जायगा। यद्यपि आत्मज्ञाननिष्ठ पुरुष स्वयं कृतार्थ हुआ करते हैं किन्तु वे भी मेरे इस प्रयास से और अधिक संतोष लाभ करें। यद्यपि शिष्ट-जनों से कुछ भी परोक्ष नहीं होता, और वे सब कुछ जानते हैं, तो भी सदा-सर्वदा आनंदावस्था में रहने वाले सत्पुरुष शिशुलीला के समान मेरे इस प्रयास से, विशेष मानसिक सुख का अनुभव करेंगे। गुरुजनों के अनुग्रह से मुझे जो कुछ उपलब्ध हुआ है और स्वयं मैंने आगम-ग्रन्थों में जो कुछ देखा और अनुभव किया है उसका सार मैं सरस्वत्यानन्दनाथ श्री दुर्गानन्दनाथ का शिष्य आत्मिक आनन्दावस्था के विकास के लिए, एवं महान् आत्माओं के विनोद के लिए, इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध के रूप में लिखता हूँ।

उपसंहार के इस लेख मे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने सामान्य जिज्ञासुओं एवं मध्यमाधिकारियों के लिए इसके पूर्वार्ध की रचना की है, और उत्तरार्ध केवल अद्वैत के उपासक उत्तमाधिकारियों के लिए है।

पूर्वार्ध की पुष्पिका का उल्लेख इस प्रकार है—

'इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे द्विवेदिवंशोद्भव-साकेतपुरप्रान्तस्थायिसरयूप्रसादविरचिते योगाङ्गकथनन्नामाष्टाविंशः पटलस्समाप्तः पूर्वार्द्धः। वर्षे संवत् १९३७ का लिपिकृतं नानुरामब्राह्मन् दीयमा। श्रीरस्तु।'

आगमरहस्यकार का समय और जीवन-परिचय-उत्तर भारत के सुप्रसिद्ध आगमाचार्य श्रद्धेय पं० श्रीसरयूप्रसाद द्विवेदी (दीक्षानामसरस्वत्यानन्दनाथ) का जन्म विक्रम संवत् १८९२ में, वर्तमान अयोध्यापुरी (उत्तरप्रदेश-जिला फैजाबाद) से पश्चिम आठ कोस की दूरी पर वासिष्ठी सरयू नदी के दक्षिण तट पर स्थित 'सनाह' नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता पं० राधाकृष्ण शर्मा, पितामह-पं० वेणीराम शर्मा एवं प्रपितामह-पं० जीवराम शर्मा थे। आप काश्यपगोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण थे। आपकी उपाख्या-द्विवेदी, प्रवर-काश्यप-आङ्गिरस-नैध्रुव थे, वेद-शुक्लयजु, शाखा-माध्यन्दिनी और सूत्र कात्यायन-पारस्कर थे।

स्वदेश में अपने पूज्य पिता तथा अन्य विद्वानों से आपने व्याकरण, ज्योतिष आदि शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया था। पिता के देहावसान होने पर विक्रम-संवत् १९११ में आप पश्चिम-दिशा की यात्रा पर निकल पड़े और संयोग से पंजाब (पञ्चनद) होते हुए सीमाप्रान्त के प्रसिद्ध नगर पेशावर-जिसे प्राचीन भारत में 'विश्ववारपुर' कहा जाता था और जो ईसवी सन् १९४७ में भारत के विभाजन के बाद, पश्चिमी पाकिस्तान का अंग बन गया है-पहुँच गये। वहां कुछ समय रहने के बाद पुनः भ्रमण करते हुए 'कांगडा' पहुंचे- जो आजकल, भारत-अधिकृत पूर्वी पंजाब क्षेत्र का एक प्रसिद्ध नगर है। वर्तमान कांगड़ा भारत के प्राचीन शक्तिपीठों में प्रमुख जालन्धर पीठ के नाम से चिरकाल से प्रसिद्ध रहा है। वहां भगवती वज्रेश्वरी देवी का एक अति प्राचीन मन्दिर है, जहां भगवती के दर्शनार्थ और अपनी मनौतियां पूरी करने के लिए पंजाब की आस्तिक जनता काफी बड़ी संख्या में आया करती है। भारत के प्रमुख पर्व मकर-संक्रान्ति के अवसर पर, जब सूर्य उत्तरायण में प्रवेश करते हैं, वहां एक बहुत बड़ा मेला लगता है, और दर्शनार्थी लोग मेवा और मक्खन का प्रसाद चढाते हैं। इस प्रसिद्ध शक्तिपीठ के निकट दुर्गानन्दनाथ नाम के एक महात्मा निवास करते थे—जो शाक्तदर्शन के जाने-माने आचार्य और सिद्ध पुरुष थे। द्विवेदीजी बहुत दिनों से ऐसे एक सुयोग्य गुरु की तलाश में थे, अतः इनके संपर्क में आने से उनकी यह इच्छा दैवयोग से पूरी हो गई। उन्होंने इन महापुरुष के आदेशानुसार मन्त्रदीक्षा ले ली और उनकी सेवा में रहकर आगमशास्त्र का अध्ययन किया। बाद में, गुरु की आज्ञा प्राप्त कर विरक्तभाव से एकाग्रचित्त होकर मान्त्रिक साधना में लग गये और मुनिवृत्ति से साढे छः वर्ष तक वहीं रहकर, उनकी देखरेख में तपस्या करते रहे। अपनी जन्मभूमि से प्रस्थान करने के बाद से ही, निरन्तर अज्ञातवास में रहने के कारण, उनके बारे में कुटुम्बियों और पास-पड़ोस के लोगों को, एक लम्बे समय तक कोई पता न चल सका था—इसलिए सब लोग चिंतित हो रहे थे। इतने ही में, उस प्रदेश के रहनेवाले किसी व्यक्ति के द्वारा धर्मपत्नी को उनका

पता चला तो वे यातायात के उचित साधनों के न होने पर भी शारीरिक कष्ट सह कर कांगड़ा पहुंचीं, और गुरुजी की अनुमति से उन्हें वापस घर ले आईं। यहां आने पर गृह-सम्पत्ति के विभाजन और वितरण में कुटुम्बियों ने जब कलह किया तो खिन्न होकर उन्होंने पैतृक सम्पत्ति का परित्याग कर दिया और 'सनाह' गांव को छोड़कर, उससे दो कोस पश्चिम में, सरयूतट पर अवस्थित 'थरेरू' नाम के गांव में आकर रहने लगे। यहां विक्रम संवत् १६२० में आपके पुत्र श्री दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी का जन्म हुआ था।[1]

इस गांव में आने के बाद द्विवेदीजी ने प्रान्त के कई निर्जन स्थानों और जंगलों में रहकर देवाराधन किया। किन्तु उक्त गांव जनसंकुल होने से उन्हें रुचिकर न लगा और उसे छोड़कर वहां से दक्षिण दिशा की ओर दो कोस के अन्तर पर तमसा और सरयू नदी के मध्य में एक स्वतन्त्र आश्रम की स्थापना की—जो 'पंडितपुरी' के नाम से प्रसिद्ध है।

पंडितपुरी में अपना स्थायी निवास निश्चित कर लेने के बाद वे उत्तर-प्रदेश की वर्तमान राजधानी लखनऊ नगर के आस-पास के प्रदेश में प्राचीन देवस्थानों में भ्रमण करते हुए इटौंजा रियासत (उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले के अन्तर्गत) के 'रुखारा' नामक गांव के शिव-मन्दिर[2] में पहुंचे और कुछ समय तक वहां देवाराधन करते रहे। इटौंजा के तत्कालीन नरेश, परमार (पवांर) क्षत्रियों के वंशज श्रीरत्नसिंहदेव और उनके अनुज श्रीगुमानसिंहदेव के

१—आपके एकमात्र पुत्र सत्संप्रदायाचार्य म. म. पं० श्री दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी न केवल भारत के ही अपितु अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। आपके असाधारण वैदुष्य और सर्वतोमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर तत्कालीन भारत सरकार ने आपको 'महामहोपाध्याय' की पदवी से संमानित किया था। आप जयपुर के 'महाराजा संस्कृत कालेज' के प्रिंसिपल (अध्यक्ष) पद पर कई वर्षों तक आसीन रहे थे। आप दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, तन्त्र आदि अनेक भारतीय विद्याओं के पारंगत विद्वान् थे। भारत के प्राचीन प्रतिष्ठित संस्कृत विद्वानों में आपको प्रमुख और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। आपके द्वारा रचित एवं परिष्कृत संस्कृत साहित्य के विभिन्न विषयों के बड़े-छोटे एवं मुद्रित-अमुद्रित लगभग तीस ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कुछ वर्ष पूर्व, आपके 'दशकण्ठवध' चम्पूकाव्य और 'दुर्गापुष्पाञ्जलि' नामक स्तोत्र-काव्य का प्रकाशन राजस्थान सरकार के प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान द्वारा किया गया है। उक्त दोनों ग्रन्थों का संपादन इन पंक्तियों के लेखक ने ही किया है। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विशेष परिचय 'दुर्गापुष्पाञ्जलि' की भूमिका में कराया गया है।

२—इस प्रान्त में प्राचीन समय से यह प्रसिद्धि चली आ रही है कि उक्त मन्दिर परम शिवभक्त बाणासुर का निवासस्थान रहा है।

विशेष आग्रह एवं अनुरोध करने पर उन्होंने कुछ समय राजकीय प्रासाद में निवास किया। बाबू गुमानसिंह उदार प्रकृति के धार्मिक नरेश थे। उन्होंने द्विवेदीजी को कुछ भूसंपत्ति भेंट की थी जहां उन्होंने शिवलिङ्ग की स्थापना करके एक आम का बगीचा लगवाया था।

प्रदेश के अनेक देवस्थानों में निवास करने के बाद, द्विवेदीजी गोमती नदी के तट पर स्थित 'चांदनकुण्डा' नामक निर्जन प्रदेश में भगवती चण्डीदेवी के मण्डप पर पहुँचे, और उसके पास एक 'पर्णकुटी' बनवाई तथा देवाराधन करते हुए वहां कुछ समय व्यतीत किया। चण्डीदेवी के प्राचीन चबूतरे के गिर जाने पर उसका जीर्णोद्धार कराया, और भगवती चण्डीदेवी की संगमरमर की मूर्ति स्थापित की। इनके निवास के बाद, इस मन्दिर की महिमा प्रदेश में दूर-दूर तक फैल गई और तब से प्रतिमास अमावस्या के दिन श्रीचण्डीजी का मेला भरने लगा–जो अब तक भरता है। मेले में लखनऊ और सीतापुर के अधिकांश नागरिक और ग्रामीण क्षेत्रों के लोग हजारों की संख्या में इकट्ठे होते हैं। नवरात्र के दिनों में यहां और अधिक भीड़-भाड़ होती है और लोग चण्डीजी के प्राचीन जलकुण्ड में स्नान करते हैं तथा हवन-पूजन आदि धार्मिक कृत्य बड़े पैमाने पर चलते रहते हैं। बहुत से लोग अपनी मनौतियों के लिए भी यहां आया करते हैं।

एक अर्से तक इस प्रान्त में तपस्या और देवाराधन करते रहने के कारण द्विवेदीजी की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी। इस बीच लखनऊ के सुप्रसिद्ध व्यवसायी और नवलकिशोर-प्रेस के संस्थापक मुंशी नवलकिशोर ने अनेक लोगों से इनकी प्रशंसा सुनी तो वे इनके संपर्क में आए। अपनी कई समस्याओं और जिज्ञासाओं के बारे में प्रश्न करने पर जब उन्हें समाधान-कारक मार्मिक उत्तर मिले तो उनकी इनके प्रति श्रद्धा और निष्ठा बढ़ गई। मुंशीजी ने बड़े आदर के साथ उनसे लखनऊ चलने का आग्रह किया। उनके सेवाभाव और सौजन्य के कारण द्विवेदीजी ने उनका यह प्रस्ताव मान लिया और वे लखनऊ चले आए। यहां उन्होंने शहर की भीडभाड़ से दूर 'बादशाह बाग' नाम से प्रसिद्ध शाही उद्यान में, जहां आजकल लखनऊ विश्वविद्यालय का विशाल भवन सुशोभित है, दो वर्ष तक निवास किया। यहां रहते हुए उन्होंने ज्योतिष-शास्त्र के प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'संग्रहशिरोमणि' तथा धर्मशास्त्र से संबद्ध 'सदाचारप्रकाश' नामक निबंध की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों का मुद्रण और प्रकाशन मुंशीजी ने अपने प्रेस से ही किया था।

मुंशीजी अपनी गुरुभक्ति और निकट संपर्क के कारण द्विवेदीजी के विशेष कृपा-पात्र बन गए थे। इस बीच, अपने व्यावसायिक कार्य से उन्हें जयपुर जाने

का अवसर मिला। इन दिनों यहां की राजगद्दी पर स्वर्गीय महाराजा सवाई रामसिंहजी विराजमान थे, जो विद्वानों और कलाकारों के आश्रयदाता के रूप में काफी ख्याति पा चुके थे। मुंशीजी का महाराजा के साथ परिवार जैसा संबन्ध पहले से ही चला आ रहा था, इसलिए आपसी मुलाकात के समय प्रसंगवश द्विवेदीजी के विषय में भी चर्चा हुई। महाराजा को जब उनके पाण्डित्य और तपोबल के बारे में चमत्कारपूर्ण घटनाओं की जानकारी मिली तो उन्होंने स्वयं उनके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की और एक बार उन्हें जयपुर लाने का अनुरोध किया। मुंशीजी ने महाराज की इच्छा के अनुसार, उन्हें शीघ्र ही जयपुर लाने का वचन दिया। कुछ समय बाद, विक्रमसंवत् १९३२ में द्विवेदीजी को साथ लेकर वे जयपुर आए, और महाराज से उनकी भेंट कराई। महाराज आरंभ से ही विद्वानों, सन्तों और गुणिजनों का संमान और आदर करते थे। उनके हृदय में भारतीय विद्या और कला-कौशल के प्रति अत्यधिक संमान-भावना थी। तंत्र और आगम में वे असाधारण रुचि रखते थे। अत एव आगमशास्त्र के निष्णात विद्वान् और एक तपस्वी के रूप में द्विवेदीजी को पाकर महाराज बहुत संतुष्ट और प्रसन्न हुए और उनसे अपने यहां स्थायी रूप से निवास करने की इच्छा व्यक्त की। फलतः द्विवेदीजी ने महाराज की इच्छा का संमान कर जयपुर में रहना स्वीकार कर लिया। वे राजपण्डित मनोनीत किये गए, और आजीवन सरकारी कोष से उन्हें नकदी के रूप में मासिक वृत्ति मिलती रही।

राज्याश्रय प्राप्त करने के बाद उन्होंने पूरी स्वतंत्रता के साथ विक्रम-संवत् १९५१ तक जयपुर में निवास किया और यहां के निवासकाल में निम्न-लिखित ग्रन्थों की रचना की—

१. आगमरहस्य। २. सर्वार्थकल्पद्रुम। ३. सप्तशतीसर्वस्व। ४. परशुराम-सूत्रवृत्ति। ५. वर्णबीजप्रकाश।

आगमरहस्य के आरंभ में द्विवेदीजी ने स्वर्गीय जयपुर नरेश सवाई रामसिंहजी की राजोचित विलक्षण प्रतिभा और गुणग्राहकता की प्रशंसा करते हुए उनके प्रति अपनी शुभ कामनाएं प्रकट की हैं:—

'जीयाज्जयपुराधीशरामसिंहाभिधो नृपः ।
यद्भुजच्छायमाश्रित्य शान्तो मे भूभ्रमक्लमः ॥
दानी रिपुचयध्वंसी नीतिज्ञः कुशलः शुचिः ।
विद्याविचारसन्तुष्टो हृष्टः सल्लोकलोचनः ॥
दयालुर्गुरुदेवार्चारतः शुभकथः कृती ।
दृढाज्ञो दृढाज्ञश्च येनेयं भूषिता मही ॥'

आपका शासन काल १८३५ ई० से १८८० ईसवी सन् तक रहा है। आपने ४५ वर्ष तक राज्य किया था।

भावार्थ—जयपुर नरेश सवाई रामसिंह दीर्घायु हों, जिनकी छत्रच्छाया में आश्रय लेने से विभिन्न स्थानों में भ्रमण करने से उत्पन्न मेरी थकान दूर हो गई। ऐसे दानी, शत्रुओं के संहारक, नीतिज्ञ, पवित्र आचरण वाले, लोकव्यवहार में चतुर, प्रसन्नचित्त, शास्त्रोक्त-मार्ग के अनुयायी, विद्वानों और सज्जनों को प्रिय लगने वाले, दयालु, गुरुओं और देवों के आराधना में तत्पर, दृढप्रतिज्ञ एवं राजाज्ञा का दृढता से पालन कराने वाले पुण्यस्मरण राजा ने यहां जन्म लेकर इस पृथ्वी को अलंकृत किया है।

जयपुर में लिखे गए अपने ग्रन्थों में उन्होंने महाराजा के सम्बन्ध में जो संतुलित और यथार्थवादी विचार प्रकट किये हैं वे भारत के प्राचीन राजाओं की परम्परागत गौरवगरिमा के सर्वथा अनुरूप हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय नरेशों ने विद्या और कला के क्षेत्र में अपना जो बहुमूल्य योगदान किया है तथा विद्वानों और कवियों को संमानपूर्ण आश्रय देकर देश की जो सेवा की है, वह इतिहास में अविस्मरणीय रहेगी।

तंत्र-शास्त्र और ज्योतिष के क्षेत्र में, द्विवेदी जी का नाम भारत के अनेक प्रान्तों में फैल चुका था। उनको 'संग्रहशिरोमणि' और 'सप्तशतोसर्वस्व' का उत्तर भारत में व्यापक प्रचार हुआ था इसलिए शिक्षित-समाज में उनका संमानपूर्ण स्थान बन गया था। एक बार दरभंगा (बिहार प्रान्त) के स्वर्गीय महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह जो, अपने विद्या-प्रेम और राष्ट्रीय विचारों के कारण, एक प्रगतिशील नरेश माने जाते थे–किसी सरकारी आयोग के सदस्य के रूप में जयपुर आये हुए थे। उस समय, जयपुर को दूसरी काशी कहलाने का गौरव प्राप्त था। विभिन्न विषयों के चोटी के विद्वान् यहाँ मौजूद थे। महाराजा ने राज्य के उच्चाधिकारियों से किसी ऐसे तपोनिष्ठ तांत्रिक विद्वान् से मिलने की अभिलाषा व्यक्त की, जिससे वे तंत्र-शास्त्र के बारे में कुछ मौलिक जानकारी प्राप्त कर सकें। इस प्रसंग में, राज्य की ओर से द्विवेदी जी के नाम का सुझाव दिया गया था और उनके साथ महाराजा के वार्तालाप की एकांत व्यवस्था की गई थी। महाराजा स्वयं बड़े प्रतिभाशाली और आस्तिक पुरुष थे, वे अपने आगम-सम्बन्धी गंभीर प्रश्नों का सन्तोषजनक और समुचित उत्तर पाकर बहुत प्रभावित हुए, और इनके अनन्य भक्त बन गए। कुछ समय बाद, महाराजा ने इन्हें दरभंगा आने का निमंत्रण दिया, किन्तु किन्हीं कारणों से, वे उस समय वहां नहीं जा सके। इस पर, महाराजा ने जयपुर-नरेश को पत्र लिख कर कुछ समय के लिए इनको दरभंगा भेजने का प्रबल अनुरोध किया। जयपुर महाराज की प्रेरणा और अनुमति से ये राज्य के संमानित अतिथि के रूप में दरभंगा पहुंचे। महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह ने इनका बड़ा आतिथ्य-सत्कार किया, और कुछ दिन वहां निवास करने का आग्रह किया। लगभग दो वर्ष तक, द्विवेदी जी, महाराजा के सान्निध्य

में दरभंगा में रहे, और वहां काश्मीरकशैव-दर्शन और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सारभूत तत्त्वों को लेकर 'साधक-सर्वस्व' नाम से एक नवीन किंतु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का निर्माण किया।

इस प्रदेश का जल-वायु अनुकूल न होने के कारण, वे वहां और अधिक समय तक रहने के पक्ष में न थे। इधर वार्धक्य के कारण, स्वास्थ्य में अधिक गिरावट आने से, शीघ्र ही वहां से स्वदेश वापस लौटने की बात सोच ही रहे थे कि बाराबंकी (उत्तरप्रदेश) जिले की लाखूपुर रियासत के तालुकेदार पाण्डे सर्वजीतसिंह ने, अपना एक विशेष प्रतिनिधि भेज कर उन्हें अपने यहां आने की प्रार्थना की। महाराज ने परिवर्तित परिस्थिति को ध्यान में रख कर, इच्छा न होते हुए भी उन्हें बड़े आदर से बिदा किया। पाण्डेजी के स्नेहपूर्ण अनुरोध के कारण द्विवेदीजी को उनके यहां जाना पड़ा क्योंकि उनकी मनःस्थिति उस समय बहुत अशांत और डांवांडोल हो रही थी। इन्होंने उनकी मानसिक आशंका और भ्रम को निर्मूल करके कुछ ऐसे आध्यात्मिक उपचार बताए—जिससे उनको पूर्ण लाभ पहुँचा और वे सदा के लिए इनके आज्ञाकारी शिष्य बन गए। द्विवेदीजी का स्वास्थ्य वार्धक्य के कारण, इन दिनों गिरावट की ओर था इसलिए पूर्ण विश्राम लेने की इच्छा से वे अपने आश्रम पाण्डतपुरी लौट आए।

द्विवेदीजी ने विक्रम संवत् १९६० में अपने सहोदर-अनुज पं० नन्दकिशोरजी द्विवेदी के श्रम और सहयोग से, पंडितपुरी में विन्ध्य-पाषाण का एक देव-मन्दिर बनवाया था। उसमें महिषमर्दिनी भगवती दुर्गा की संगमरमर की प्रतिमा तथा शिवलिंग की स्थापना की थी। पूजा के निमित्त पुष्प-फल आदि उपलब्ध कराने के लिए इसके पार्श्वभाग में एक पुष्पवाटिका और आम्र का बगीचा भी लगवाया था।

उक्त मन्दिर के प्राङ्गण में, देववाणी में संगमरमर की शिला पर उत्कीर्ण एक छन्दोवद्ध शिलालेख लगा हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण, यहां उद्धृत किया जाता है—

"यः साक्षाद् यजुषा ऋचा च वहुशो वेदेषु मीमांस्यते
यत्रैवेश्वरशब्दशक्तिविषयः शास्त्रेषु निर्धार्यते।
यश्चैकोऽपि विचित्रदर्शनदृशा नानाकृतिः कल्प्यते
सोऽयं पापहरः शिवः शिवकृते वर्वर्ति सर्वोपरि॥
स्वस्ति श्रीमान् महर्षीणां प्रवरोऽभूत् स काश्यपः।
विभाण्डकर्ष्यश्रृङ्गाद्या सन्ततिर्यस्य विश्रुता॥

तत्र श्रीभगवद्रामकरुणापरिवृंहिते ।
अभूवन् सरयूतीरवासिनो ब्राह्मणर्षभाः ।।
तद्गोत्रजः शुक्लयजुर्वेदाध्यायी विदां वरः ।
वेणीप्रसाद इत्यासीद् द्विवेदपदभूषितः ।।
राधाकृष्णस्ततो जज्ञे सांख्यशास्त्रनिषण्णधीः ।
कविना येन जनता दयादृष्ट्या चिकित्सिता ।।
ततोऽजनिष्ट सरयूप्रसादः शास्त्रतत्त्ववित् ।
यः स्निह्यत्यधिकं नन्दकिशोरे स्वानुजे विदि ।।
येन जालन्धरे पीठेऽवासि श्रीगुरुसन्निधौ ।
तीर्थेऽरण्ये जयपुरे तथा भावयताऽऽगमान् ।।
अयोध्यापश्चिमप्रान्ते सरयूतमसान्तरे ।
स्वार्जिते 'पण्डितपुरी' ग्रामेऽत्र बहुपादपे ।।
यातेषु विक्रमाब्देषु षष्टिगोशीतरश्मिषु (१९६०) ।
तेन द्विवेदविप्रेण कारितोऽयं शिवालयः ।।
धर्मार्थकाममोक्षाणां संसिद्धिर्जायते यतः ।
तत्र श्रीशङ्करे भक्तिः श्रद्धा च भवताद् दृढम् ।।"

द्विवेदीजी ने यहां अपना एक स्वतंत्र पुस्तकालय भी स्थापित किया था। जिसमें वेद, उपनिषद्, पुराण, व्याकरण ज्योतिष, दर्शन आदि के लिखित और मुद्रित ग्रन्थ संगृहीत किये गए हैं। इस प्रदेश के लोग संस्कृत-साहित्य के इस संग्रहालय से अब भी लाभ लेते रहते हैं।

'पंडितपुरी' में पूर्ण सुख-शांति के साथ निवास करते हुए, जीवन के अन्तिम भाग में भी वे देवाराधन और साहित्यसेवा के व्रत से कभी विरत नहीं हुए बल्कि शारीरिक दुर्बलता के होते हुए भी उनका स्वाध्याय और लेखनकार्य शिष्यवर्ग की सहायता से निरन्तर चलता रहता था। यहां के निवासकाल में उन्होंने 'ललितासहस्रनाम' पर महत्वपूर्ण वृत्ति तथा आदिनाथ के मंत्रगर्भित गुरुस्तोत्र 'पादुकापंचक' पर एक लघु टिप्पणी लिखी। साथ ही, आगमोक्त तांत्रिक 'दीक्षा-पद्धति' के कलेवर को परिष्कृत और सुव्यवस्थित बना कर उसे व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया।

कालक्रम से, शरीर जब शनैः शनैः क्षीण होने लगा तो, उन्होंने अपनी दिनचर्या में समय के अनुरूप परिवर्तन कर दिया। वे केवल दुग्धमात्र का आहार लेने लगे, और बाहरी लोगों से मिलना-जुलना बन्द करके अधिकांश समय आत्मचिन्तन में ही व्यतीत करने लगे। अन्त में, कार्तिक कृष्णा ६ सोमवार विक्रम संवत् १९६३ को, सायंकाल सूर्यास्त के समय पुत्र, पौत्र आदि समस्त परिवार तथा शिष्य-मण्डली के समक्ष, योग-

ऽक्रिया से प्राणायाम द्वारा इस भौतिक शरीर को त्याग कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गए।

द्विवेदीजी का कुल, आरम्भ से ही संस्कृत-विद्वानो का कुल था इसलिए परिवार के लोगो की शिक्षा-दीक्षा और रहन-सहन, पूर्णत भारतीय सस्कृति के अनुरूप ढला हुआ था। अत एव पारस्परिक स्नेह और सद्भाव के कारण आपका पारिवारिक जीवन सदा सुख-शातिमय रहा था। आपके पुत्र स्वर्गीय म. म. पं० श्रीदुर्गाप्रसादजी द्विवेदी भारत के ऋषिकल्प मूर्धन्य विद्वानो मे थे, जिनका संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। आपके एकमात्र पौत्र आचार्य पं० श्रीगिरिजाप्रसादजी द्विवेदी है—जो विभिन्न भाषाओ के ज्ञाता, विद्याव्यसनी और ज्योतिष तथा सस्कृत-साहित्य के मार्मिक विद्वान् है। अपनी कुल-परम्परा के अनुरूप आपका भी अधिकाश जीवन साहित्यसेवा मे ही व्यतीत हुआ है। सस्कृत के क्षेत्र मे, आपने विभिन्न विषयो की कई महत्वपूर्ण पुस्तको का लेखन, सपादन एवं अनुवाद किया है, जिनमे से अधिकाश प्रकाशित हो चुकी है। आप पुरानी पीढी के हिन्दी के समान्य लेखक-अनुवादक एव समालोचक है। महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर मे गणित एवं ज्योतिष शास्त्र के प्राध्यापक-पद पर वर्षो तक कार्य करने के बाद आप राज्य-सेवा से विश्राम ग्रहण कर चुके है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व, राजस्थान सरकारने, आपकी उल्लेखनीय साहित्य-सेवाओ के फलस्वरूप आर्थिक पुरस्कार देकर समानित किया है। आजकल आप अपनी जन्मभूमि "पडितपुरी" मे निवास करते है और लौकिक एषणाओ से दूर रह कर, शात वातावरण मे एकातभाव से आत्मचिन्तन में लगे रहते हैं। द्विवेदीजी के ज्येष्ठ-प्रपौत्र, आचार्य पं० श्रीमहादेवप्रसादजी द्विवेदी है—जो अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियो के साथ साथ "पडितपुरी" आश्रम के प्रमुख संचालक और व्यवस्थापक हैं। कनिष्ठ-प्रपौत्र श्रीगंगाधर द्विवेदी है—जो महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर मे साहित्य शास्त्र के प्रवक्ता पद पर कई वर्षों तक कार्य करने के बाद अब गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, अलवर के प्रधानाचार्य पद पर कार्य कर रहे है।

द्विवेदीजी के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

श्रद्धेय द्विवेदीजी का अधिकाश जीवन परमेश्वराराधन और साहित्यसेवा मे व्यतीत हुआ था। अपने जीवनकाल मे लोकोपकार की भावना से उन्होने ज्योतिष-धर्मशास्त्र विशेषकर आगम-शास्त्र से सम्बन्धित कई उपयोगी ग्रन्थो का निर्माण और चयन किया था। आपकी लेखन-शैली बहुत सरल और सुबोध थी। शास्त्रीय गूढ विषयो के पूर्वापरसमन्वय और उनको सुगम बनाने मे आप बड़े कुशल और सिद्धहस्त थे। आपके ग्रन्थो का प्रचार-प्रसार

भारतीय विद्वत्समाज मे तो था ही, साथ ही सामान्य ज्ञान रखने वाले विद्या-प्रेमियो ने भी अपनी ज्ञान-वृद्धि और व्यावहारिक-क्षमता का संपादन करने मे इनका पूरा पूरा लाभ लिया है। आगम-शास्त्र के गहन-गूढ तत्त्वो के निरूपण और उनकी व्यावहारिक योजना में आपकी असाधारण प्रतिभा ने उल्लेखनीय योगदान किया है। आपके सम्बन्ध मे सम-सामयिक विद्वानों की मान्यता व्यक्त करते हुए कहा गया है—

> 'विद्वासोऽप्यय योगिनोऽपि कतिचित् सन्त्येव सन्तः परं
> तत्सामान्यविशेषभावकथने लोकोऽन्यथा मन्यते।
> अस्तु, श्रीसरयूप्रसादविबुधादन्यो न शैवागम-
> ग्रन्थग्रन्थिविभेदनेऽद्य मतिमानित्युच्चकैब्रूमहे ॥'

इसमे कोई सन्देह नही, कि भास्करराय के बाद पिछले दो शतको मे ऐसी कोई विभूति दृष्टिगोचर नही हुई—जिसने आगम के क्षेत्र मे अपनी सेवाओ के द्वारा लोक-मानस को आश्वस्त कर, इस शास्त्र को एक नई चेतना प्रदान की हो।

प्रकाशित ग्रन्थ

१—संग्रहशिरोमणि।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से ईसवी सन् १८७५ मे मुद्रित और प्रकाशित।

यह मुख्य रूप से ज्योतिष विषय का ग्रन्थ है। इसमे ज्योतिष-शास्त्र के संहिता-स्कन्ध के उपयोगी विषयों का संकलन है। साथ ही, दैनिक जीवन मे तथा नित्य-नैमित्तिक धार्मिक क्रियाकलापों एवं आशौच आदि मे काम आने वाली धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओ का—जो स्वभावतः जटिल और मतमतान्तरो से आवेष्टित है—धर्मशास्त्र के मान्य ग्रन्थो के आधार पर सार्वदेशिक और बहुसंमत पक्ष का निर्धारण किया गया है।

इसकी यह विशेषता है कि ज्योतिष-शास्त्र से संबद्ध प्रायः अनेक उपयोगी व्यावहारिक विषयो का समावेश इतनी दूरदर्शिता से किया गया है कि इस एक समूचे ग्रन्थ का अध्ययन कर लेने पर प्रायः दैनिक व्यवहार मे आवश्यक और अपेक्षित विषयो की जानकारी हो जाती है, तथा ऋषियो एवं आचार्यों के मूल प्रमाणवाक्यो का बलाबल भी ज्ञात हो जाता है। ज्योतिष और धर्मशास्त्र का निकट सम्बन्ध होने से दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं—इसलिए दोनों का समन्वयात्मक दृष्टिकोण जानने मे इसका अपना स्वतन्त्र महत्व है।

इसके आरम्भ का मंगलाचरण यों है—

'श्रीवाणीं श्वेतवर्णाभां वाग्दानचतुरां शिवाम् ।
गणेशसहितां वन्दे वन्दनीयपदाम्बुजाम् ॥
ज्योतिःस्वरूपं जगतां प्रकाशकमभीष्टदम् ।
द्युमणिं त्रिगुणात्मानं सर्ववन्द्यमुपास्महे ॥'

ग्रन्थ के विभिन्न प्रकरणों की श्लोकबद्ध-सूची इस प्रकार है—

'संवत्सरस्य च तिथेर्वारनक्षत्रयोस्तथा ।
योगस्य करणाख्यस्य तारायाश्च यथाक्रमम् ॥
शुभाशुभस्य त्याज्यस्य मुहूर्तानां तथैव च ।
संक्रान्तेर्गोचरस्याथ संस्कारोद्वाहयोस्तथा ॥
वधूप्रवेशनस्याग्न्याधानराज्याभिषेकयोः ।
यात्रावास्तुप्रवेशानां प्रतिष्ठाशकुनाख्ययोः ॥
मिश्रस्य च तिथीनां च तथाशौचस्य च स्फुटम् ।
एवं प्रकरणान्यत्र यथासंख्यान्यनुक्रमात् ॥
मूलग्रन्थान्निबन्धाच्च वाक्यान्याहृत्य यत्नतः ।
बालबोधाय कुर्वेऽहं सत्संग्रहशिरोमणिम् ॥

इस शिरोमणि में कुल मिलाकर चौबीस प्रभाएं हैं। प्रत्येक प्रभा का नामकरण प्रधान विषय के अनुसार किया गया है। प्रभाओं के नाम इस क्रम से हैं—

१. संवत्सर प्रभा
२. तिथि ,,
३. वार ,,
४. नक्षत्र ,,
५. योग ,,
६. करण ,,
७. तारा ,,
८. शुभाशुभ विचार प्रभा
९. त्याज्यविचार ,,
१०. लग्न ,,
११. नानामुहूर्त ,,
१२. संक्रान्ति ,,
१३. गोचर प्रभा
१४. संस्कार ,,
१५. विवाह ,,
१६. वधूप्रवेश-द्विरागमन प्रभा
१७. अग्निहोत्र ,,
१८. राज्याभिषेक ,,
१९. यात्रा ,,
२०. वास्तुविचार ,,
२१. गृह-प्रवेश ,,
२२. प्रतिष्ठा ,,
२३. प्रकीर्णक ,,
२४. तिथिनिर्णय ,,

ग्रन्थ की समाप्ति पर निम्नलिखित श्लोकों का उल्लेख है—

'द्विवेदिकुलसंभूतसरयूकृतसंग्रहे ।
शिरोमणौ समाप्ताभूत् प्रभेयं तत्त्वसंज्ञिका ॥१॥

राधाकृष्णतनूद्भवो वसुमतीदेवो द्विवेदी गिरा
सारज्ञः सरयूप्रसाद इति यः श्रीमत्ययोध्यापुरे ॥
सोऽयं संश्रित उत्तमे जयपुरे श्रीरामसिंह व्यधा-
द्वर्षे वेदयुगाङ्कभूपरिमिते श्रीविक्रमादित्यतः ॥२॥
आर्षात् तद्वन्निबन्धाच्च धर्मशास्त्रनिबन्धतः ।
मूलवाक्यानि संगृह्य सत्संग्रहशिरोमणिः ॥३॥
ग्रथनात् पूर्णता यातो भूयात् सज्जनतोषकृत् ।
वर्वर्तु कुशल भूमौ यावत्स्यात् कर्म वैदिकम् ॥४॥
श्रीमद्दुर्गानन्दनाथो भक्तकल्पमहीरुहः ।
भवताद्भवसंतापशमनो हृत्कजस्थितः ॥५॥

२—सदाचारप्रकाश ।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८८३ मे मुद्रित और प्रकाशित ।

इसमे वर्ण और आश्रमो की व्यवस्था के अन्तर्गत धर्मशास्त्रसंमत लोक-चर्या का विस्तृत निरूपण है। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियो से लेकर धर्म-शास्त्र के अन्य मूल निबन्धो के आधार पर आचार-विचार और भारतीय जीवन की परंपरागत मान्यताओ का उल्लेख किया गया है ।

३—वर्णबीजप्रकाश ।

बम्बई के सुप्रसिद्ध वेङ्कटेश्वर प्रेस से विक्रम संवत् १९६८ मे मुद्रित एवं प्रकाशित ।

चारो वेदों के वैदिक मन्त्रो के वास्तविक अर्थज्ञान के लिए निरुक्तकार यास्क मुनि ने, और भास्करराय आदि ने, जैसे निघण्टु नामक कोष का संकलन किया है और अमरसिंह ने लौकिक संस्कृत-शब्दो के अर्थज्ञान के लिए 'नामलिङ्गानुशासन कोष' जिसे अमरकोष कहा जाता है—का अग्निपुराण आदि से चयन किया है—उसी प्रकार से आगमोक्त मन्त्रो के उद्धार के लिए इस कोष की रचना की गयी है। आगम मे माया, तार, पवन, मेरु, अनुग्रह आदि शब्दो के पारिभाषिक अर्थ होते हैं—उनके द्वारा ही मन्त्रो मे प्रयुक्त विभिन्न वर्णो का सकेत किया जाता है। इस संकेत को समझे बिना मन्त्रो के वर्णात्मक स्वरूप की योजना नही ज्ञात हो सकती । अत एव मन्त्रो के स्वरूप को जानने के लिए इस कोष की अत्यंत उपादेयता है। इसके विना कोई महापण्डित ही क्यो न हो, शक्तिग्राहक कोष के अभाव मे किस शब्द से वर्णमाला के किस अक्षर का संकेत किया गया है—इसकी जानकारी कथमपि नही कर सकता।[1]

१—इस 'कोष का सपादन श्रद्धेय म० म० प० श्रीदुर्गाप्रसादजी द्विवेदी ने किया है ।

४—सप्तशतीसर्वस्व ।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८६२ मे मुद्रित और प्रकाशित ।

हमारे देश मे सप्तशती या दुर्गापाठ का बडा महत्त्व है। 'कलौ चण्डी-विनायकौ' की प्रसिद्धि के अनुसार, धार्मिक दृष्टि से आज के इस गये-गुजरे जमाने मे भी चण्डी या दुर्गापाठ का भारतव्यापी प्रचार है। अमीर से लेकर गरीब तक अपने अपने अभीष्ट लाभ के लिए बडे आदर और श्रद्धा-भक्ति से स्वयं इसका पाठ करते हैं, अथवा ब्राह्मण द्वारा कराते है। जिस वस्तु का व्यापक प्रचार होता है—उसमे, काल के प्रभाव से, कई प्रकार की त्रुटियो और विसगतियो का होना स्वाभाविक हुआ करता है । इस दृष्टि से सप्तशती के मूल पाठ और विधि-विधान में भी मतमतान्तरो के झमेले के कारण बडी अव्यवस्था फैली हुई थी । द्विवेदीजी ने इससे सबद्ध अनेक टीका-टिप्पणियो को देखकर, और मूलपाठ के विसवाद को दूर कर कात्यायनीतन्त्र, मेरुतन्त्र, मरीचिकल्प, चिदम्बर-संहिता आदि आगम के मूल ग्रन्थो का भलीभाति पर्यालोचन करके, इससे सम्बन्ध रखने वाली सम्पूर्ण सामग्री का विधिवत् परीक्षण कर, सारभूत और प्रामाणिक वस्तुतत्त्व को लेकर बडे परिश्रम से इसका जीर्णोद्धार किया है और इसलिए इसका नाम सप्तशती-सर्वस्व रखा है।

इसके विषय मे ग्रन्थकार ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है—

'सप्तशत्यास्तु सर्वस्व सर्वस्व तन्त्रमन्त्रयोः ।
येनोदघाटि सर्वस्व सर्वस्वमिव भूतलात् ॥'

काशी आदि विद्यापीठों के विद्वानो ने इसी के पाठ और विधान को मान्यता प्रदान की है। और आजकल दुर्गा-पाठ के अनेक सस्करणो मे यही व्यवस्थित और प्रामाणिक माना जाता है ।

इसके आरम्भ के कुछ श्लोक नीचे दिये जाते है —

गजाननं[1] विघ्नहरं गणार्चितपदाम्बुजम् ।
सेवितं सिद्धिबुद्धिभ्यामनिशं श्रेयसे श्रये ॥१॥

नित्यामनन्ता प्रकृति पुराणी
चिदीश्वरी सर्वजगन्निवासाम् ।
शिवार्ध-देहामगुणा गुणाश्रया
वर्णार्थरूपा प्रणमामि देवीम्[2] ॥२॥

१—इसके दूसरे सस्करण का सपादन श्रद्धेय म म. प श्री दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी ने किया है जो कि उक्त प्रेस से विक्रम सवत् १९७२ मे प्रकाशित हुआ है ।

२—'आगमरहस्य' मे भी ये दोनो मङ्गलश्लोक उल्लिखित है। इनका शास्त्रीय-अर्थ 'मितभाषिणी' मे व्यक्त किया गया है जो ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग मे लगाई गई है।

श्रीमद्दुर्गानन्दनाथाङ्घ्रिपद्मं
नत्वा स्तुत्वा संप्रदायप्रणेतॄन् ।
पूर्वाचार्यप्रोक्तटीका विगाह्य
यद्यत्सारं तत्तदेवाचिनोमि ॥३॥

सप्तसत्याः प्रसादेन सप्तशत्यर्थसंग्रहम्
प्रयोगानपि लब्धांश्च विचिनोमि यथामति ॥४॥

× × ×

एवं तज्जलनिधिलोचनप्रमाणै—
र्विश्रामैर्विविधविधिक्रमं वहद्भिः ।
संपूर्णं परगुणकप्रसत्तिभाजां
सर्वस्वं भवतु मुदे सुसाधकानाम् ॥५॥

चौबीस विश्रामों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। इसमें दुर्गापाठ से संबन्धित सभी प्रकार के वैदिक एवं तांत्रिक काम्य-प्रयोग पुरश्चरण आदि का सन्निवेश है। सप्तशती वास्तव में संकटग्रस्त और पीडितों के लिए कल्पवृक्ष के समान एक वरदान है।

उपसंहार के कुछ श्लोक निम्नलिखित हैं—

श्रीसप्तशत्याः सर्वस्वं रहस्यं निखिलार्थदम् ।
भूयाच्छ्रीसद्गुरोः प्रीत्यै संप्रदायमहेशितुः ॥१॥

श्रीमद्दुर्गानन्दनाथः शङ्करो भक्तवत्सलः ।
प्रीयतां करुणामूर्ति र्भवभीतिहरो गुरुः ॥२॥

नानागमाच्च निगमात् सङ्गृहीतमिहाद्भुतम् ।
भूमौ भूयाद् ब्राह्मणानां सदा कल्पतरूपमम् ॥३॥

दृष्ट्वा नन्दतु सुधियः क्षाम्यन्तूल्लेखविभ्रमम् ।
नानावाक्यैकलिखने प्रायो मुह्यति लेखकः ॥४॥

प्रोद्घाटितं तच्चापल्यादनुद्घाट्यमपीह यत् ।
तत् क्षन्तव्यमशेषेशि ! रोषोऽज्ञे नोचितः सुते ॥५॥

बाललौल्यमशेषं हि मातापित्रोः कृपास्पदम् ।
भवत्यपारकरुणे करुणा मयि धीयताम् ॥६॥

राधाकृष्णतनूद्भवो वसुमतीदेवो द्विवेदी गिरां
सारज्ञः सरयूप्रसाद इति यः श्रीमत्ययोध्यापुरे ।
सोऽयं संश्रित उत्तमे जयपुरे श्रीमाधवेशं प्रभुं
स्वर्द्रुं ग्रन्थमिमं मनोहरतरं जग्रन्थ सर्वार्थदम् ॥७॥

सप्तशतीसर्वस्वमिदमद्भुतरचनाहारि ।
गजयुगखेटमहीमिते १९४८ विक्रमवर्षेऽकारि ॥८॥

एतद्ग्रन्थरसामृतं साधुकुलानि पिबन्तु ।
अम्बापदकरुणावशात् कृतकृत्यानि भवन्तु ॥९॥

भो भो साधकपुङ्गवाः सादरमिदं पठन्तु ।
भवतां यद्विधिसाधनादङ्के श्रियो लुठन्तु ॥१०॥

५—मातृकास्तुतिः ।

इण्डियन प्रेस, प्रयाग में, सन् १९०७ में मुद्रित ।

हारितायन संहिता के अन्तर्गत ब्रह्मा-विष्णु आदि देवताओं के द्वारा की गई मातृका-वर्णरूपिणी भगवती त्रिपुरसुन्दरी की यह स्तुति है। इसमें मातृका-विज्ञान के गूढ-तत्त्वों के व्यापक अर्थ निहित है।

'मेधा वाणी भारती त्वं विद्या माता सरस्वती ।
ब्राह्मी भाषा वर्णमयी पराद्या कृतिरव्यया ॥

विकल्पा निर्विकल्पाऽजा कला नादमयी क्रिया ।
कालशक्तिः सर्वरूपा शिवा श्रुतिरनुत्तरा ॥'

ये चौबीस नाम भी इसमें अन्तर्गभित हैं, जिनका सरस्वती-स्तोत्र के रूप में पाठ करने का विधान है।

इस स्तुति की व्याख्या में आगम-शास्त्र के अनेक गंभीर और गुरुगम्य विषयों का बड़ा प्राञ्जल विवेचन किया गया है। परा-पश्यन्ती—मध्यमा-वैखरी के स्वरूप और आविर्भाव का प्रकार तथा षट्चक्रों की अन्तर्भावना आदि के बारे में अनेक ज्ञातव्य बातों का उल्लेख है।

इसकी टीका का मङ्गलाचरण यह है—

'यद्व्यापारवशादेव त्रिलोकी व्यवहारिणी ।
तामनन्तपरिस्फूर्तिभूमिकां मातृकां श्रये ॥'

अंत में—

'साकेतपश्चिमककुप्कृतसन्निवेशा
सा भाति पण्डितपुरी सुविविक्तदेशा ।

तस्यां वसन् स सुमनाः सरयूप्रसादः
श्रीमातृकास्तुतिमिमामकरोत्सटीकाम् ॥'

६—पादुकापञ्चक ।

बनारस के सत्यनाम प्रेस से सन् १९३२ में मुद्रित ।

यह आदिनाथ कृत गुरुपादुकास्तोत्र है । इसमें शिवशक्तिरूप में गुरु के शुक्ल-रक्त चरणों की स्तुति की गई है । प्रातःकृत्य के अन्तर्गत तांत्रिकों द्वारा इसके पाठ का विधान है । कुलार्णवतन्त्र में पादुका की व्याख्या इस प्रकार है—

'पालनाद् दुरितोच्छेदात् कामितार्थप्रवर्द्धनात् ।
पादुकेति समाख्याता ह्यावयोस्तत्त्वमम्बिके ॥'

मुख्य श्लोक पाँच हैं- जैसा कि पुस्तक के नाम से ज्ञात होता है किन्तु कुल मिलाकर इसमें नौ श्लोक हैं—जो कि गंभीर और अर्थपूर्ण हैं। द्विवेदीजी ने इस पर अपनी टिप्पणी लिखी है और उसमें इसके आगमिक अर्थों का स्पष्टीकरण किया है ।

टिप्पणी के आरंभ में लिखा है—

श्रीमद्दुर्गानन्दनाथाङ्घ्रिपद्मं
नत्वा स्तुत्वा संप्रदायार्थविज्ञान् ।
पूर्वाचार्यप्रोक्तमेवातिसूक्ष्मं
वक्ष्ये भावं पादुकापञ्चकस्य ॥ १ ॥

जपित्वा पादुकामन्त्रं नमेन्नाथं कृताञ्जलिः ।
समाहितमना भूत्वा मन्त्रमेतं समुच्चरन् ॥ २ ॥

वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मनसगोचरम् ।
रक्तशुक्लप्रभामिश्रमतर्क्यं त्रैपुरं महः ॥ ३ ॥

इसका प्रकाशन दरभङ्गानरेश स्वर्गीय लक्ष्मीश्वरसिंह की रानी के अनुज मैथिल-श्रोत्रिय स्वर्गीय त्रिलोकनाथ मिश्र ने किया है जो कि द्विवेदीजी के शिष्य थे ।

आगम के अप्रकाशित ग्रन्थ

७—सर्वार्थकल्पद्रुम ।

यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा में प्रतिपादित कृत्यासूक्त का विवरण है । भगवती भद्रकाली इसकी मुख्य देवता हैं । इसमें विभिन्न कामनाओं की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के यंत्र-मन्त्रों की साधना का उल्लेख किया गया है । वेद और तंत्र दोनों की संमिलित अनुष्ठान-प्रक्रिया की इसमें प्रधानता है । यह

एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरंभ के श्लोको मे ग्रन्थ के स्वरूप और उसकी इतिकर्तव्यता का परिचय कराया गया है—

'श्रीनाथाङ्घ्रिकजद्वन्द्वरजोभूतिमदव्ययम् ।
तनुतां विमलं चेत्यं भक्तहृत्कल्पभूरुहम् ॥
श्रीपराम्बापदाम्भोजयुगं नौमि सुखास्पदम् ।
प्रत्यूहव्यूहशमनं स्वान्तध्वान्तविनाशनम् ॥
श्रीदुर्गानन्दसद्भक्तिलब्धकृत्यापदाम्बुजम् ।
पराप्तभीमपञ्चास्यं प्रणमामि पुनः पुन' ॥
आथर्वणं महाकृत्यासूक्तमाङ्गिरसं च यत् ।
नववर्गात्मक सार्थं सोद्धारं सप्रयोगकम् ॥
यंत्रप्रयोगसहितं ब्रह्मादीना प्रकाशितम् ।
तदेव विलिखाम्यत्र ग्रन्थानालोक्य यत्नत. ॥'

इसकी समाप्ति मे निम्नलिखित श्लोको का उल्लेख किया गया है—

'वेदाग्निनन्दभूहीनवर्षे वैक्रमिके शुभे ।
मार्गे कृष्णे बुधेऽष्टम्या लेखोऽयं पूर्णतामियात् ॥
कल्पान्यालोच्य लब्धानि विमृश्य गुरुप्रक्रियाम् ।
यावल्लब्ध यामलेषु यथाशास्त्रं यथामति ॥
साधकाना हि सर्वार्थप्राप्तये कल्पभूरुहः ।
सग्रहो ग्रथितोऽस्माभिस्तेन प्रीणातु श्रीशिवा ॥
निगमार्णवसद्रत्नकल्पभूरुहवाक्सुमै. ।
पूजिता गुरवोऽमन्दं मङ्गल वितरन्तु न' ।
राधाकृष्णतनूद्भवो वसुमती देवो द्विवेदी गिरा
सारङ्ग' सरयूप्रसाद इति यः श्रीमत्ययोध्यापुरे ।
सोऽयं सश्रित उत्तमे जयपुरे श्रीरामसिंहं प्रभु
स्वद्रं ग्रन्थमिमं मनोहरतर जग्रन्थ सर्वार्थदम् ॥

८—परशुरामसूत्रवृत्ति ।

यह श्रीविद्या का प्रतिपादक आर्ष ग्रन्थ है।

मङ्गलाचरण के बाद ग्रन्थ के आरंभ मे यह श्लोक हैं—

नत्वा विष्णुं जामदग्न्यं रामं क्षत्रकुलान्तकम् ।
तत्सूत्रगूढभावार्थव्यक्तये टिप्पणी ब्रुवे ॥

इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है—

'स व्यधाज्जामदग्नीयसूत्राणामृजुपद्धतिम् ।
यत्र संचर्यते सम्यग् बालैरप्यकुतोभयम् ॥'

श्रीविद्या के इस सूत्र-ग्रन्थ के प्रति आगम-शास्त्र के आचार्यों को बड़ी श्रद्धा है। किन्तु, अति प्राचीन होने से कई स्थलों पर इसमें कुछ ऐसा उलट-फेर हो गया था कि उसका समन्वय करना एक कठिन समस्या थी। किंतु द्विवेदीजी ने पूर्वापर-संगति द्वारा मूलसूत्रों के संवाद के साथ इसको व्यवस्थित रूप देकर एक महान् कार्य किया है। इस पर रामेश्वरसूरि की एक 'सौभाग्य-सुधोदय' टीका है, जो 'गायकवाड ओरियंटल सिरीज' बडौदा से प्रकाशित हो चुकी है। इस कल्पसूत्र की टिप्पणी का उपसंहार करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है—

उमानन्देन[1] रचिते नित्योत्सवनिबन्धने ।
वर्तते बहुधा हन्त क्रिया सूत्रविरोधिनी ।
अतः सूत्रार्थसंवादिकर्मकाण्डप्रकाशने ।
कृतोऽयमधुना यत्नस्तेन तुष्यतु शाङ्करी ॥
आग्रहावेशमुत्सार्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्य च ।
गुणदोषप्रकाशाय योजनीयात्र शेमुषी ॥
ये सन्त्यागममर्मज्ञास्तोषमेष्यन्ति ते ध्रुवम् ।
संप्रदायानभिज्ञानां किन्तोषेण रुषाऽपि किम् ॥'

९—साधक-सर्वस्व ।

यह शक्तिदर्शन का प्रधान ग्रन्थ है। इसमें शक्ति की उपासना का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। सिद्धान्त और प्रायोगिक दोनों ही धाराओं का विवेचन प्रामाणिक और मान्य आगमग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इस दर्शन से संबन्ध रखने वाली सम्पूर्ण शास्त्रीय पद्धति का इसमें समावेश किया गया है। शक्तिदर्शन के जिज्ञासुओं और उपासकों, दोनों ही के लिए पुस्तक समान रूप से उपयोगी है। इसमें २२ प्रकाश हैं—जिनमें इस दर्शन के विभिन्न विषयों का क्रमशः प्रतिपादन है।

इसका प्रारंभ इस प्रकार है—

स्फुरतां चरणावन्तः श्रीप्रकाशविमर्शयोः ।
इदन्ताहन्तयोरैक्यं भवेद् यदनुकम्पया ॥ १ ॥

---

१. सुप्रसिद्ध शाक्त दार्शनिक भास्करराय (इनका समय १८ वीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है) के शिष्य उमानन्दनाथ ने कल्पसूत्र पर 'नित्योत्सव' नामक एक पद्धति ग्रन्थ लिखा है, जो बड़ौदा की 'गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज' में छप चुका है।

आगमाम्भोधिसंभूतं सारात्सारतरं हि यत् ।
तद्वाक्यरत्नमत्रेह मया संगृह्यते स्फुटम् ॥ २ ॥
परापंचाशिकां दृष्ट्वा काशिकां नन्दिसंभवाम् ।
प्रत्यभिज्ञामतं तद्वच्चिदम्बरसमुद्भवम् ॥ ३ ॥
निरुत्तरं तथा शक्तिसङ्गमं च कुलार्णवम् ।
ज्ञानार्णवमतं तद्वद्दक्षिणामूर्त्तिसंभवम् ॥ ४ ॥
रहस्यार्णवसंभूतं तन्त्रराजभवं तथा ।
यामलोक्तं वीरतन्त्रभवं वै वामकेश्वरम् ॥ ५ ॥
योगिनीहृदयोत्थं च परमानन्दतन्त्रजम् ।
त्रिकूटासंभवं तद्वदन्येषां च यथामति ॥ ६ ॥
गुरूणां च मतं सम्यगालोच्य शक्तिदर्शने ।
सत्साधकेन्द्रसंप्रीत्यै कर्म-वैगुण्यशान्तये ॥ ७ ॥
श्रीकण्ठशासनोत्कीर्णं प्रमेयं यत् सतां मतम् ।
तच्च साधकसर्वस्वे यथाक्रममुदीर्यते ॥ ८ ॥

ग्रन्थ के अन्तिम भाग का उपसंहार करते हुए कहा गया है—

'एतत् साधकसर्वस्वं शक्तिदर्शनमुत्तमम् ।
ग्रथितं श्रीगुरुप्रीत्यै सत्साधकहितावहम् ॥ १ ॥
मार्गे प्रचरतां यद्वत् कण्टकादेर्भयं नहि ।
तथैवात्र प्रचरतां कर्मलोपभयं नहि ॥ २ ॥
पूर्णे कर्मणि श्रीमाता प्रसन्ना भवति ध्रुवम् ।
प्रसन्नायां च सुलभावैहिकामुष्मिकौ यतः ॥ ३ ॥
तस्माद् गोप्यतमो ह्येष मार्गः सम्यक् प्रकाशितः ।
संप्रदायविशुद्धानां साधकानां हितेप्सया ॥ ४ ॥
सुसुखं वर्ततां भूमौ यावद् धर्मः सनातनः ।
वशंधयमिते कामतिथौ तपसि तच्छिवम् ॥ ५ ॥'

शैव-शाक्त दर्शनों की मूलभित्ति और उससे प्रसूत कर्म-उपासना और ज्ञानकाण्ड के तत्त्वों को, आर्षपद्धति के अनुसार हृदयंगम करने के लिए यह अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ है ।

इस ग्रंथ की मूलप्रति शिव-दुर्गापीठ 'पण्डितपुरी के पुस्तकालय में है । पूज्यपाद पं० श्रीगिरिजाप्रसादजी द्विवेदी के निर्देशन में इसकी प्रेसकापी तथा संपादन-सम्बन्धी अन्य सामग्री का संकलन मेरे सहोदर अग्रज, आचार्य पं० श्री-महादेवप्रसादजी द्विवेदी कर रहे हैं । आशा है, यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शीघ्र ही आगमप्रेमियों को उपलब्ध हो सकेगा ।

१० दीक्षापद्धति ।

श्रीविद्या की जो दीक्षापद्धतियाँ वर्तमान समय में उपलब्ध होती हैं उनमें कहीं संप्रदायभेद के कारण, कहीं प्रक्षिप्तांश के संमिश्रण से एवं कहीं परवर्ती आचार्यों द्वारा यत्र तत्र परिवर्तन कर दिये जाने के कारण अधिकतर स्थलों पर मूलभूत सूत्र-ग्रन्थों के साथ उनका सामञ्जस्य नहीं बैठता—बल्कि कहीं कहीं तो वे कल्पसूत्र के भी विरुद्ध पड़ती हैं। इस दुरवस्था को देख कर द्विवेदीजी ने यह अनुभव किया कि 'दीक्षापद्धति' का एक परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप होना परमावश्यक है—क्योंकि दीक्षा आगमानुयायियों का एक प्रमुख संस्कार है। फलतः अनेक पद्धतियों का परीक्षण करके उनके विसंवाद को दूर कर, मूल तंत्रों की अनुगत प्रक्रिया के अनुसार इसका निर्माण करके एक बड़े अभाव की पूर्ति की गयी है।

यह पद्धति पंडितपुरी के पुस्तकालय में होने से उसके आद्यन्त के अंशों का उद्धरण देना संभव नहीं हो सका है।

११—ललितासहस्रनामवृत्ति ।

यह श्रीविद्या का सुप्रसिद्ध सहस्रनाम है। श्रीविद्या के उपासक महामुनि अगस्त्य को भगवान् हयग्रीव ने इसका उपदेश किया है। यह ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत है। मन्त्रशास्त्र के अनेक रहस्यों से परिपूर्ण उक्त सहस्रनाम अन्य देवताओं के सहस्र-नामों की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इस पर सुप्रसिद्ध आगमाचार्य भास्करराय ने, जिनका दीक्षा का नाम भासुरानन्दनाथ है— सौभाग्य-भास्कर नामक भाष्य लिखा है, किन्तु उक्त भाष्य केवल उच्चकोटि के चतुरस्र विद्वानों के ही काम का है। यह इतना विस्तृत और गंभीर है कि इसके द्वारा अनेक प्रमेयांशों को समझ सकना बहुत कठिन और कष्टसाध्य है। अत एव अगस्त्य मुनि के मूलसूत्रों के आधार पर इसकी वृत्ति का निर्माण किया गया है, जो मूल के अभिप्रेत विषयों को सरलता से समझने में सहायक होता है।

वृत्तिकार ने मंगलाचरण के बाद, इस वृत्ति के निर्माण की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए कहा है—

'क्लिष्टं सुविस्तृतमतिस्थगितप्रमेयं
सौभाग्यभास्करसमाह्वयभाष्यमास्ते ।
तस्मादगस्त्यमुनिसूत्रमुखाश्रयेण
स्वान्तःसुखाय विवृणोमि सहस्रनाम ॥'

वृत्ति की समाप्ति करते हुए, अपने उद्देश्य की सफलता का उल्लेख यों किया गया है—

'गाहं गाहं भासुरानन्दनाथा—
चार्योद्भूतं नाम–साहस्रभाष्यम् ।
आदायैतत्सारभूतान् प्रमेया—
नुत्तानार्था वृत्तिरेषा व्यधायि ॥
एका वृत्तिः पूर्वभाष्यानुरोधात्
कैश्चित् बद्धाप्याशयं नैव सूते ।
तस्मात्तत्तन्मूलवस्तुप्रथायै
सारग्राही मामकोऽयं प्रयासः ॥
जागर्त्यन्तःसच्चिदानन्दमूर्तिः
श्रीमद्दुर्गानन्दनाथेन्दुमौलिः ।
प्रीते यस्मिन्नष्टदुःखानुबन्धं
धावन्त्यग्रे भुक्तयो मुक्तयोऽपि ॥
तच्छ्रीपादाम्भोजकिञ्जल्कधूली—
पौनःपुन्यस्पर्शपूतान्तरेण ।
शाके क्षोणीद्व्यष्टचन्द्रप्रमाणे
श्रीश्रीप्रीत्यै वृत्तिरुद्भाविर्तयम् ॥'

द्विवेदीजी के मुद्रित एवं अमुद्रित साहित्य का जो संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उससे विज्ञजनों को परिचय के साथ साथ कुछ प्रासंगिक बातों की जानकारी अवश्य मिलेगी।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि इस समय द्विवेदीजी के मुद्रित ग्रन्थ दुर्लभ हो गए हैं और आगे भी उनका उपलब्ध होना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि प्रायः सभी पुस्तकों का मुद्रण और प्रकाशन विभिन्न प्रकाशकों के द्वारा किया गया था। किसी का एक, किसी के दो संस्करण निकले थे और वे सब के सब प्रायः समाप्त हो चुके हैं। इधर, स्थिति एकदम बदल गई है। युगपरिवर्तन के साथ लोकरुचि बदल जाने से इस ढंग की पुस्तकों की माँग अब कम होती जा रही है। अतः संस्कृत साहित्य से संबद्ध पुस्तकों के पुनर्मुद्रण की आशा भी अब क्षीण हो चली है। कारण यह है कि ऐसी पुस्तकों की बिक्री स्वभावतः सीमित होने से प्रकाशकों को इस ओर पूंजी का विनियोग करने में कोई उत्साह नहीं रह गया है।

यह एक गंभीर चिंता का विषय है कि हमारे देश के स्वाधीन होने के बाद पिछले बीस वर्षों में यहां संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य की लोकप्रियता में जो ह्रास हुआ है, और गिरावट आयी है—उसकी कल्पना स्वप्न में भी न की जा सकती थी। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह देखने में आया है कि संस्कृत-साहित्य के

अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ धीरे धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। इसका और कुछ भी कारण क्यों न हो, परन्तु तटस्थ प्रेक्षकों की यह धारणा है कि पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता की ओर हमारा झुकाव इतना अधिक बढ गया है कि भविष्य के प्रति यह आशंका होने लगी है कि कहीं कुछ समय बाद भारतीय विद्याओं की उपयोगिता ही न समाप्त हो जाय और यहां का प्राचीन साहित्य केवल संग्रहालय की वस्तु बन कर न रह जाय क्योंकि आज का मानव भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों और सफलताओं पर मुग्ध होकर उसका ऐसा अंधभक्त बन गया है कि उसे अपने स्वत्व या मानव मूल्यों के प्रति कोई आस्था नहीं रह गई है। ऐसी परिस्थिति में, भारतीय विद्या और ज्ञान विज्ञान का भविष्य क्या होगा इसका पूर्वानुमान कर सकना कठिन है।

आगमरहस्य का प्रकाशन—आगमरहस्य की प्रसिद्धि इसके रचना-काल के बाद ही प्रायः सारे उत्तर भारत में हो चुकी थी। कारण यह था कि ग्रन्थकार ने स्वयं अपने आगमशास्त्र के ग्रन्थो में यत्र-तत्र इसका उल्लेख किया था। इसके पूर्व, 'सप्तशतीसर्वस्व' तथा वर्ण-बीजप्रकाश (मंत्रशास्त्र का कोष) भारतीय तंत्र साहित्य के क्षेत्र में व्यापक रूप से लोकप्रिय हो चुके थे और ग्रन्थकार का नाम आगमाचार्यों की श्रेणी में बडे आदर और संमान के साथ लिया जाता था। कुछ अन्य विद्वान् जो ग्रन्थकार के प्रति अपनी श्रद्धा रखते थे, अपने लेखों में प्रसंगवश सूत्ररूप से इसकी चर्चा कर चुके थे। किन्तु, यह संयोग की बात थी कि एक ऐसे उच्चकोटि के उपयोगी ग्रन्थ के प्रकाशन की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी अब तक इसके मुद्रण का सुयोग न आ सका। कई बार इसके प्रकाशन की योजना बनी और प्रकाशकों के साथ व्यक्तिगत चर्चा भी की गई किंतु कोई परिणाम न निकला। मुख्य बाधा यह थी कि हमारे देश के पुस्तक—व्यवसायियों का एकमात्र लक्ष्य थोड़े से थोड़े समय में, अधिक से अधिक आर्थिक लाभ लेने का रहता है। इसके साथ ही, मुझे यह कहने में हार्दिक खेद होता है कि इस वर्ग के अधिकांश लोग जो जाने—माने पूंजीपति हैं राष्ट्र या समाज के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व या नैतिक कर्त्तव्य नहीं मानते, न उन्हें सत्साहित्य के प्रति कोई लगाव या अनुराग ही होता है। इसमें इक्के-दुक्के अपवादों को छोड़ दीजिए, शेष समुदाय की मनोवृत्ति कुछ इसी प्रकार की मिलेगी।

ऐसी विषम परिस्थिति में केवल लाभ के प्रतिशत को आंकने वाले लोगों से ऐसे साहित्य के प्रकाशन में किसी भी तरह के त्याग या सहयोग की आशा करना दिवास्वप्न से अधिक कुछ भी अर्थ नहीं रखता था। किंतु, इतना सब कुछ जानते हुए और प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी केवल निराश होकर या हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाने मे किसी समस्या का कोई हल नहीं निकल सकता था बल्कि, इसके लिए तो पूरे उत्साह के साथ, अथक परिश्रम और उद्योगशील बनने की आवश्यकता रहती है और तब कहीं

अनुकूल समय आने पर ऐसी योजनाओं को सफलता मिल पाती है। इस ढंग की उलझनों और विचारों में कई वर्ष निकल गए। इधर समय ने पलटा खाया और इसके प्रकाशन की कौन कहे, देश की सामाजिक गतिविधियों में ही ऐसे भारी परिवर्तन आए कि सारा नकशा ही बदल गया। ऐसे संक्रमणकाल में, जहाँ वर्तमान तो अनिश्चित था ही, भविष्य के लिए भी इसकी कोई रूपरेखा तैयार कर सकना कठिन होगया। ऐसी स्थिति में, अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने के सिवा, कोई विकल्प न रह गया था किंतु मैंने अपने प्रयत्न में ढील न आने दी, और दृढता से इसके प्रकाशन के संकल्प पर डटा रहा।

कुछ वर्ष पूर्व, किसी प्रसंग से, मैंने अपने सुहृद् पं० श्रीगोपालनारायण जी बहुरा से इसके प्रकाशन की चर्चा चलाई और ग्रंथ की उपयोगिता के बारे में अपने विचार प्रकट किए। जब उन्होंने, मेरी आशा के अनुरूप, इस पर अनुकूल प्रतिक्रिया दिखाई तो फिर नये सिरे से मैं इस ओर प्रयत्नशील बन गया। श्रीबहुरा के सहमत होने पर, इसके प्रकाशन का प्रस्ताव सम्मान्य-संचालक, पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी के संमुख उपस्थित किया गया। श्री मुनि जी ने बड़ी तत्परता से इस प्रस्ताव पर विचार किया और राजस्थान प्राच्य–विद्या–प्रतिष्ठान द्वारा इसके प्रकाशन का निर्णय ले लिया। साथ ही, इसके संपादन का दायित्व और कार्यभार मुझ पर डाल दिया जो मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। आरंभ से ही मुझे इस विषय में विशेष रुचि थी इसलिए मैंने गंभीरता के साथ ग्रंथ का आद्योपान्त अध्ययन किया था। फिर भी, संपादक के नाते अपने गुरुतर उत्तरदायित्व को निभाने का प्रश्न था, इसलिए मैंने इसके संपादन में आनेवाली कठिनाइयों पर विचार किया। श्री मुनि जी ने भी अपनी ओर से कई उपयोगी सुझाव दिये, जो बड़े मूल्यवान् थे। मैंने पूरे उत्साह के साथ, इसके संपादन का श्रीगणेश किया, और यथासंभव जल्दी ही इसे पूरा कर डालने का संकल्प लिया।

इस बीच, घरेलू परिस्थितियों ने अचानक ऐसा मोड़ ले लिया, जिनके कारण मैं बड़े असमंजस में पड़ गया। मेरी धर्मपत्नी वातव्याधि के भयंकर आक्रमण से बडे गंभीर रूप से अस्वस्थ हो गईं। उनकी जीवन-रक्षा के लिए, मुझे विवश होकर, यह कार्य कुछ समय के लिए बंद कर देना पड़ा और मैं उनकी चिकित्सा के चक्र में फँसा रहा। उन्हें पूर्णरूप से स्वस्थ होने में पूरे बारह महीने लग गये। रोगोपचार में व्यस्त रहने के कारण, इस अवधि में, पुस्तक संबन्धी कोई कार्य कर सकना मेरे लिए सर्वथा असंभव था। अतः श्री मुनि जी को समय सयय पर मैं इस विषम परिस्थिति की जानकारी कराता रहा। किन्तु, इस आकस्मिक घटना का तात्कालिक प्रतीकार क्या हो सकता था? अंततः प्रस्तुत पुस्तक के मुद्रण में अवाञ्छनीय विलम्ब हो गया इसका मुझे खेद है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि श्री मुनि जी ने कर्तव्य

की भावना से जहां इस कार्य को तत्परता के साथ शीघ्र पूरा करने की प्रेरणा दी, वहाँ मानवीय परिस्थितियों की अनिवार्यता को दृष्टिगत करके जिस सौजन्य और स्नेह की उदात्त भावना से विलंब होने पर भी सहनशीलता के साथ उन्होंने मेरे प्रति अपनी जो सहानुभूति बनाये रक्खी है उसे सहज ही नहीं भुलाया जा सकता।

संपादन के संबन्ध में—प्रस्तुत ग्रन्थ का संपादन अपने हाथ में लेने के बाद मेरे मन में यह कल्पना उठी कि आज के इस भौतिक-विज्ञान के युग में, जब मनुष्य की समस्त स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ और मान्यताएं एकदम बदल गई हैं या विपरीत दिशा की ओर जा रही हैं, और वह एकान्ततः अर्थ-कामोन्मुख बनता जा रहा है, आगम जैसे पवित्र और लोककल्याणकारी अध्यात्म-मार्ग की ओर सरलता से उसे कैसे आकृष्ट किया जा सकता है ? क्योंकि वैज्ञानिक वायुमण्डल के झोंके में, समाज के अधिकतर लोग जब मोहनिद्रा की मधुर अवस्था में पहुँच चुके हों—उन्हें प्रबुद्ध करके, इस ओर रुचि उत्पन्न करा सकना, एक अनहोनी-सी बात लगती है। किंतु, कर्तव्य की भावना और आत्मविश्वास के सहारे यदि इस ओर कोई प्रयास किया जाय तो उसे अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। यही सब सोच कर इस विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से, मैंने एक संक्षिप्त-विवृति लिखने का निश्चय किया। परन्तु इसका माध्यम संस्कृत हो या हिन्दी, यह प्रश्न जब सामने आया तो बड़ी उलझन पैदा हो गई। अंत में, व्यापक सन्दर्भ में, मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि भले ही कोई कुछ भी क्यों न कहें, जब भारतीय शास्त्रों की मूल रचना देववाणी-संस्कृतमें हैं और उसी भाषा के माध्यम से, इनका संपूर्ण-व्यवहार होते रहने से, अब तक इनकी सार्थकता एवं उपादेयता अक्षुण्ण और सुरक्षित रहती आई है-तब यही सर्वसंमत, निरापद और उचित मार्ग होगा कि इससे संबद्ध सारा कार्यकलाप संस्कृत भाषा के माध्यम से ही संपन्न होना चाहिए। इसी में शास्त्र की वास्तविक सार्थकता और उससे संभावित उपलब्धियों का लाभ लिया जा सकता है तथा शास्त्र की गरिमा और उसके महत्व को भी संरक्षण मिल सकता है अन्यथा इसका सारभूत मूल तत्त्व नष्ट हो जायगा और युगों पुरानी चली आनेवाली उसकी प्रतिष्ठा भी समाप्त हो जायगी। फिर, आगम शास्त्र की तो अपनी विशिष्ट स्थिति और मर्यादाएं पहले से ही निर्धारित चली आ रही हैं—इसलिए इसमें किसी प्रकार के हेर-फेर करने का किसी को कोई अधिकार ही नहीं हैं। सत्य तो यह है कि एक विशुद्ध ईश्वरीय-विधान मान कर उसके प्रति निष्ठावान् रहने में ही हमारा कल्याण है।

संस्कृत माध्यम से एक संक्षिप्त विवृति लिखने का निर्णय लेने के बाद मैंने अपना मन्तव्य श्री मुनि जी के समक्ष रक्खा। वे इस विचार से सहमत तो हो गए किंतु कुछ रुक कर उन्होंने कहा कि आज के देश काल में इस ढंग के बड़े ग्रन्थों पर कुछ लिखा जा सके और वह पूरा पड़ जाय इसकी आशा कम

हो पाई जाती है। फिर भी यदि आप चाहें तो मुझे यह स्वीकार्य होगा। उनके इस कथन पर, उस समय मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया और पूर्व निश्चय के अनुसार ग्रन्थ के प्रारंभिक अंश, उपोद्धात-प्रकरण तक नमूने के तौर पर 'मितभाषिणी' के नाम से एक विवृति तैयार करके मुनि जी की स्वीकृति के लिए जोधपुर भेज दी। उन्होंने वह देखभाल कर पसंद कर ली और मुद्रण की स्वीकृति के साथ, मेरे पास वापस लौटा दी।

आरम्भ का अंश होने से, उसमें कई बातों का उल्लेख करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ किंतु उसका कलेवर मेरी कल्पना से कुछ अधिक बढ़ गया। मुझे लगा कि आरंभ के इन आठ पृष्ठों को लिखने में जितना श्रम और समय लगा, उस अनुपात से, इस ग्रन्थ पर विवृति या टिप्पणी लिखने में वर्षों का समय चाहिए। साथ ही, यह भी अनुभव किया कि इस पचड़े में न पड़ कर, यदि स्वतन्त्र रूप से, इस विषय पर लिखा जाय, तो वह कम श्रम और समय में लिखा जा सकता है। यथार्थ यह है कि टीका-टिप्पणी या विवृति के लेखन में मूल ग्रन्थ के अनुसार उसकी संगति बिठाते हुए लिखना पड़ता है, और उसकी पुष्टि करने के लिए उपयुक्त प्रमाण-वाक्यों का उद्धृत करना भी आवश्यक होता है। इसके बिना, स्वयं में वह कुछ अधूरा-सा लगने लगाता है। इसके साथ साथ यह मानी हुई बात है कि संस्कृत के माध्यम से किसी विषय पर कुछ लिखने में श्रम और समय अपेक्षाकृत अधिक लगता है उपयोगिता की दृष्टि से, भले ही उसका फल कुछ भी क्यों न हो।

अंत में, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि व्यस्त जीवन के इस युग में, इस तरह की दीर्घकालिक योजना किसी भी तरह व्यावहारिक नहीं हो सकती। अतः मैंने इस प्रयास को यहीं समाप्त कर दिया। किंतु जो अंश लिखा जा चुका था, उसे विज्ञ पाठकों के लिए, ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में लगा देना उचित समझा और इस निश्चय से मुनि जी को भी अवगत कर दिया।

मूलग्रन्थ की प्रतियों का विवरण—इस ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनमें से एक प्रति पण्डितपुरी के पुस्तकालय की है और दूसरी 'सरस्वती-पीठ' जयपुर की है। दोनों ही प्रतियाँ भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा देवनागरी अक्षरों में लिखी गई हैं। उनमें पहली प्रति का शोधन स्वयं ग्रन्थकार ने अपने हाथ से किया है। इसलिए मूलग्रन्थ की शुद्ध प्रति के रूप में उसे विशेष मान्यता दी गई है दूसरी प्रति भी प्रायः शुद्ध है और सुवाच्य अक्षरों में लिखी गई है किन्तु कई स्थलों पर लिपिकार ने अपने अज्ञान के कारण, मात्राओं और विसर्ग आदि का लोप कर दिया है फिर भी वह सहज ही पकड़ में आ जाता है। इस प्रति में

'प' 'य' 'ब' 'व' आदि अक्षरों का स्वरूप लिपि के कारण कुछ ऐसा भ्रामक हो गया है कि प्रयास करने पर ही उसका शुद्ध रूप सामने आता है। इस ग्रन्थ के मुद्रण में, मैंने ग्रन्थकार की शोधित प्रति को ही आदर्श प्रति मान कर संपादन कार्य किया है। किंतु मूलपाठ का संवाद (मिलान) दूसरी प्रति से भी किया है। इन दोनों प्रतियों में पूर्ण समानता पाई जाती है। ऐसा लगता है कि ये दोनों ही प्रतियाँ, एक ही आदर्श पुस्तक से तैयार की गई हैं।

इसका संपादन कार्य हाथ में लेने के बाद, मैंने इसकी अन्य प्रतियों की संभावना के बारे में, खोज शुरू की तो पता चला कि इसकी एक-दो प्रतियां जयपुर के पुराने पण्डितों के संग्रह में भी मिल सकती हैं। मैंने संभावित स्थानों पर स्वयं जाकर जब पूछताछ की, तो वहां एकदम नकारात्मक उत्तर मिला। इतने ही में, मुझे ज्ञात हुआ कि इस ग्रन्थ की एक प्रति, राजस्थान सरकार के प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान में भी मौजूद है जो जयपुर के किसी हस्तलिखित ग्रन्थों के विक्रेता द्वारा प्राप्त हुई है। किंतु इतने से मुझे संतोष न हुआ। मैंने पूज्यपाद पिताजी को पत्र लिख कर, इस बारे में जानकारी करने का प्रयास किया क्योंकि यहां की प्राचीन पण्डितमण्डली से उनका निकट का संपर्क रहने से, उनके द्वारा इसका पता लगाना अधिक प्रामाणिक और लाभदायक हो सकता था। उन्होंने मुझे सूचित किया कि उक्त ग्रन्थ की दो प्रतियां और भी हैं जो हमारे पुस्तकालय की प्रति से ही तैयार की गई हैं। उनमें से एक 'काव्यमाला' संपादक स्वर्गीय म० म० पं० दुर्गाप्रसादजी के संग्रह में, और दूसरी व्यास भुवनेश्वरजी के यहां है।' मेरी जिज्ञासा शांत हो गई और मैंने अन्य प्रतियों की आशा छोड़ दी क्योंकि दोनों ही स्थानों की पुस्तकें अस्त-व्यस्त हो चुकी थीं और किसी भी तरह सुलभ न हो सकती थीं। दूसरे, मेरे लिए उनकी उपयोगिता का भी अब कोई प्रश्न न रह गया था- क्योंकि उक्त दोनों प्रतियों का आदर्श हमारे पुस्तकालय की प्रति ही थी। मैंने अनुमान कर लिया कि 'प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान' में आई हुई प्रति इन्हीं दोनों घरानों में से किसी की हो सकती है।

ग्रन्थ की प्रेस कापी—वर्तमान युग में, संस्कृत की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की प्रतिलिपि या प्रेस कापी तैयार करा सकना एक कठिन समस्या बन गई है। हस्तलेखन-कला का स्थान मशीनों द्वारा हथिया लेने से, इस कला का हमारे देश में इतना ह्रास हो गया है कि संस्कृत की बात तो जाने दीजिए, हिन्दी की पुस्तकों की प्रतिलिपि करने वाला, बहुत दूर तक निगाह दौड़ाने पर भी कहीं कोई नजर नहीं आता, मानों हाथ से लिखने की प्रथा का ही अन्त हो गया हो।

प्रस्तुत पुस्तक की प्रेस कापी तैयार कराने के लिए मैंने बहुत प्रयास किया और सोचा कि अच्छा तो न सही, कोई कामचलाऊ व्यक्ति ही यदि मिल जाय, तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। किंतु कई लोगों से संपर्क करने पर भी अन्त में, मुझे निराश होना पड़ा और किसी ने भी यह कार्य करना स्वीकार नहीं किया। प्रचलित विभागीय-नियम के अनुसार, संपादक को ही प्रेसकापी का भार अपने ऊपर लेना होता है। किंतु इन परिस्थितियों में, जब अनुनय-विनय और उचित पारिश्रमिक का अग्रिम भुगतान करने पर भी, कोई इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति न मिले तो बेचारे संपादक की स्थिति कितनी दयनीय हो जाती है— इसको भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। संपादक स्वयं यह कार्य कर सके, इसकी आशा कथमपि नहीं की जा सकती क्योंकि संपादन भी अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्य है, उसकी तैयारी में ही उसे बहुत कुछ करने का दायित्व लेना पड़ता है। इसलिए समयाभाव, मस्तिष्क की थकान तथा अन्य सामयिक कारणों से वह इस कार्य को करने में, स्वयं को सर्वथा असमर्थ पाता है।

संस्कृत के संबन्ध में, यदि दूसरे पहलू पर भी विचार करें— तो कोई अच्छा या साधारण संस्कृतज्ञ भी किसी मूल्य पर इसके लिए तैयार नहीं होता, क्योंकि अर्थयुग होने से, इससे मिलने वाला पारिश्रमिक उसके लिए नगण्य रहता है। परन्तु किया भी क्या जाय? इस समस्या का कोई प्रतीकार ढूँढने पर भी नहीं मिलता। प्राचीन गुरु-शिष्य-संबन्ध टूट जाने और आपसी संपर्क न रहने के कारण आज उच्च कक्षाओं में पढ़ने वाले संस्कृत के छात्र भी हस्तलिखित ग्रन्थों की शुद्ध प्रतिलिपि करने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं।

ऐसी दशा में, संस्कृत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों एवं पाण्डुलिपियों के प्रकाशन में जो बाधाएँ आती हैं उनकी अनदेखी कैसे की जा सकती है? समस्या का कोई स्थायी हल निकल सके—इस आशा से, मुझे यहाँ वस्तुस्थिति की ओर सभी संबद्ध लोगों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत हुआ। अस्तु।

सब ओर से निराश होने पर, अन्त में, मैंने इस गतिरोध को दूर करने और समस्या का तात्कालिक उपाय सुझाने के लिए अपने ज्येष्ठ-सहोदर आचार्य पं० श्री महादेवप्रसाद द्विवेदी जी से परामर्श किया। उन्होंने इस सम्पूर्ण प्रसंग को सुनकर, आश्चर्यमिश्रित खेद प्रकट करते हुए मुझे आश्वासन दिया कि 'यदि ऐसी स्थिति आ गई है तो मैं स्वयं साहित्य-सेवा के इस पवित्र कार्य में सक्रिय सहयोग देकर हाथ बटाऊँगा, और जैसे भी संभव होगा समय निकालकर तथा अन्य कार्यों का व्यवधान सहकर भी इस कार्य को पूरा करने का प्रयास करूँगा।' अपने इस आश्वासन को उन्होंने बड़ी तत्परता के साथ भली भाँति निभाया, और व्यस्त होते हुए भी अपना बहुमूल्य समय देकर, कठोर परिश्रम के साथ, थोड़े

समय में इस विशाल ग्रन्थ की शुद्ध, सुवाच्य प्रेस-कापी तैयार करके मुझे सौंप दी। उनका यह सामयिक सहयोग यदि न मिला होता तो इस संकट से छुटकारा पा सकना मेरे लिए सहज ही संभव न होता। उनके इस स्वाभाविक वात्सल्य और अनुज-स्नेह के लिए मेरे द्वारा, यहां कोई औपचारिक आभार प्रकट करना न केवल उसका महत्व घटाना होगा, बल्कि नैतिक दृष्टि से, ऐसा करना मेरी अपनी अधिकार-सीमा का भी उल्लङ्घन माना जायगा।

संपादन-संबन्धी कठिनाइयाँ—'आगमरहस्य' के संपादन में आनेवाली कठिनाइयों की उपेक्षा करके यदि यहाँ इस संबन्ध में कोई चर्चा न की जाय, तो मेरे विचार से यह सारा प्रसंग अधूरा ही रह जायगा। अतः आगम-प्रेमियों की जानकारी के लिए अपने अनुभव के आधार पर, यहां दो शब्द कह देना आवश्यक और न्यायसंगत होगा।

आगम या तन्त्र एक ऐसा स्वतन्त्र शास्त्र है, जिसका अन्य किसी शास्त्र से कोई समन्वय या सरोकार नहीं है। इसके अपने नियम, संकेत और परिभाषाएं अलग होने से यह स्वभावतः कठिन और दुरूह है। यद्यपि तंत्र-साहित्य का विशाल भण्डार इस देश में मौजूद है, किंतु वह समान रूप से सबके लिए उपयोगी नहीं है। प्रथम तो यह सूत्ररूप में, ऐसी संकेत की भाषा में लिखा गया है कि स्वयं यदि कोई चाहे तो भी उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ सकता—क्योंकि ज्योतिष और आयुर्वेद की तरह पूर्णतः पारिभाषिक शास्त्र होने से, बिना गुरुमुख से अध्ययन किये यह किसी भी दशा में समझ में नहीं आता। दूसरे, अब इसका प्रचार-प्रसार अत्यंत सीमित हो जाने से—इस विषय के जानकारों का प्रायः अभाव हो गया है और होता जा रहा है। जो इने-गिने लोग, कहीं ढूँढने पर मिलेंगे भी, वे विषम देश-काल के कारण इस ओर से उदासीन हो गए हैं। इसलिए देखा जाय तो सारा वातावरण ही इतना कुछ बदल गया है कि इसकी कहीं कोई चर्चा ही नहीं सुनाई देती।

जैसा कि पहले मैं लिख चुका हूँ—'मितभाषिणी' के लिखने के उद्देश्य से, मुझे कई उपलब्ध तन्त्र-साहित्य के ग्रन्थों का एकाधिक बार अवलोकन और चिंतन करना पड़ा और कई स्थलों पर ऐसी विसंगतियाँ दिखाई दीं जिनका समाधान करने के लिए मुझे महीनों का समय लगाना पड़ा और आगे बढ़ने का अवसर न आया। प्रस्तुत ग्रन्थ में इतने अधिक विषयों का समावेश किया गया है कि उन सबकी छानबीन करने के लिए बहुत-से ग्रन्थों की अपेक्षा होती है—जो किसी भी तरह उपलब्ध नहीं हो सकते। इसलिए मैंने अपने पुस्तकालय में उपलब्ध साहित्य का सहारा लेकर इस कार्य को पूरा करने का निश्चय किया। क्योंकि और कोई रास्ता न दिखाई दिया। इसमें मुझे

शारदातिलक, मन्त्रमहोदधि, चिदम्बररहस्य और प्रपंचसार से पूरी पूरी सहायता मिली। कालिकापुराण–यामल आदि अन्य ग्रन्थों से भी बहुत कुछ उपयोगी विषयों के संवाद और समन्वय में सहायता लेनी पड़ी। बाद में, परिस्थितिवश, जब विवृति लिखने का विचार छोड़ना पड़ा—तब मेरा भार बहुत-कुछ हल्का पड़ गया। फिर भी, इस कार्य में सालों लग गए। इसे मैं गुरुदेव का अनुग्रह मानता हूँ कि उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर मैंने पूरे आत्म-संतोष के साथ यह मंजिल पार की। आगम ग्रन्थ होने से, मैंने पूरी गंभीरता और सतर्कता से इस आद्योपान्त ग्रन्थ को शुद्ध और सन्देहमुक्त बनाने में मनोनियोग के साथ कार्य किया है। इसके लिए मुझे कितना शारीरिक और बौद्धिक श्रम करना पड़ा–इसका निर्णय पाठक स्वयं करेंगे। फिर भी, जाने-अनजाने प्रमादवश यदि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो, तो उसके लिए मुझे साधु–जन अवश्य क्षमा करेंगे।

वार्त्ता का प्रसारण–इस प्रसंग में, यह भी उल्लेखनीय है कि 'आगम–रहस्य' की अपनी विशेषताओं के कारण, सन् १९६५ में 'प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ और पाण्डुलिपियाँ' इस वार्तामाला के अन्तर्गत आकाशवाणी के जयपुर केन्द्र मे मैंने एक वार्ता प्रसारित की थी। इसके द्वारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बारे में लोगों को पहली बार जानकारी मिली थी। तब से, कई लोगों ने मुझसे व्यक्तिगत संपर्क करके इसे देखने की अपनी उत्सुकता जाहिर की थी। यह संतोष की बात है कि अब यह ग्रन्थ इस रूप में सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सकेगा—और आगमानुरागी अपनी चिरप्रतीक्षित माँग को पूर्ण कर सकेंगे। मैंने अपनी वार्ता में अधिकतर उन प्रकरणों और अंशों के बारे में विशेष रूप से चर्चा की थी–जिनका उपासना मे कोई सीधा सम्बन्ध न होकर, शारीरिक और मानसिक रूप से मनुष्य को स्वस्थ एवं सबल बनाने मे है। जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह मे हमारे जीवन को प्रभावित करने के साथ साथ आत्मसंयम की पद्धति पर चलने में पूर्णतया सहायक बनते हैं। किन्तु, इसके लिए भाव–नात्मक शुद्धि की अनिवार्य रूप मे आवश्यकता होती है, जो कि निरन्तर अभ्यास के कारण, स्वतः स्फूर्त होकर हमारे संकल्प को दृढ़ बनाती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने विवेक के तराजू पर—उचित–अनुचित का भेद समझ सकने की क्षमता उत्पन्न करें, अन्यथा हमारा व्यवहार संतुलित न होने पर स्वयं का या समाज अथवा राष्ट्र का हित साधन नहीं किया जा सकता। तथ्य यह है कि नवीन-प्राचीन का झमेला खड़ा करके किसी वस्तु के गुण–दोष की परीक्षा नहीं हो सकती—उसके लिए आंतरिक अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है। इसीलिए भारत राष्ट्र के मूर्धन्य महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में चेतावनी देते हुए हमें सतर्क किया है—

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥'

इसका अभिप्राय एकाङ्गी न होकर व्यापक है और यह स्पष्ट इंगित करता है कि व्यक्ति अपने आपके लिए स्वयं एक कसौटी है। प्रकारान्तर से नीतिकारों ने भी इस ओर ध्यान खींचा है—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥'

प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान द्वारा साहित्य-प्रकाशन—भारत के प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के संरक्षण और प्रकाशन के क्षेत्र में राजस्थान सरकार का प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान जो उल्लेखनीय कार्य कर रहा है, उसके लिए साहित्य-सेवी-समाज उसकी सराहना किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि चिरकाल से विस्मृत और उपेक्षित, विभिन्न विषयों की दुर्लभ पाण्डुलिपियों और हस्तलिखित ग्रन्थों के संरक्षण और प्रकाशन द्वारा जहाँ इस देश के प्राचीन साहित्य के प्रच और प्रसार को प्रोत्साहन और बल मिलता है वहाँ लोक-रुचि को जाग्रत करने, प्रभावशाली ढंग से उसे इस ओर आकृष्ट करने में भी यह अधिक सहायक होता है जो कि न केवल संस्कृत के लिए बल्कि समूचे भारतीय भाषा-परिवार के लिए एक उज्ज्वल भविष्य का संकेत है।

अंत में, प्रतिष्ठान के सम्मान्य संचालक पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिन विजय जी महाराज, तथा इसके उपसंचालक एवं मेरे निकटतम सुहृद् पं० श्री गोपाल-नारायण जी बहुरा के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनके सतत-सहयोग और सहानुभूति से इस ग्रन्थ का प्रकाशन संभव हो सका है। इसके साथ ही, उक्त प्रतिष्ठान के वर्तमान निदेशक, डा० फतहसिंह जी को भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ जिनके सौजन्यपूर्ण सहयोग से ग्रन्थ की प्रस्तावना आदि का शेष मुद्रण कार्य शीघ्रता और सरलता से संपन्न हो सका।

इस प्रसंग में, मेरे पूज्यपाद पिता जी के शिष्य पं० श्री विश्वेश्वर शास्त्री ने प्रेस की ओर से प्रूफ-शोधन का कार्य करने में जो श्रम किया है, उसकी मैं सराहना करता हूँ। मुद्रण कार्य को गतिशील बनाने तथा प्रेस के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाये रखने में एवं समय-समय पर प्रूफ के वाचन में मेरे ज्येष्ठ पुत्र चि० सत्यदेव द्विवेदी ने जिस उत्साह से हाथ बटाया है– उसके लिए मैं

मंगल-कामना करता हूँ। साथ ही, ज्येष्ठ कन्या, आयुष्मती शारदा शर्मा ने ग्रंथ के परिशिष्ट में लगे हुए विभिन्न चार्टों को तैयार करने तथा प्रस्तावना के लेखन में आवश्यक सामग्री जुटाने में जो परिश्रम किया है, उसके लिए वह शुभ-कामना की अधिकारिणी है।

इसके अतिरिक्त, शंकर आर्ट प्रिण्टर्स, जयपुर के प्रोप्राइटर श्री राधेश्याम शर्मा भारद्वाज, जो नई पीढी के एक कुशल और उदीयमान प्रेस-व्यवसायी हैं, और मेरे छात्र रह चुके हैं—के प्रति मैं अपनी शुभ-कामना प्रकट करता हूँ, क्योंकि यदि उन्होंने व्यक्तिगत रुचि लेकर, पूरे उत्साह के साथ इस कार्य की देखरेख न की होती, तो कदाचित् उक्त पुस्तक का मुद्रण इतना शुद्ध और सुन्दर न हो पाता।

अंत में, मैं आशा करता हूँ कि भारतीय आगमशास्त्र के प्रेमियों और विद्वानों को यदि इससे कुछ भी सन्तोष मिल सका तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा। साथ ही, पुस्तक में संभावित मानव-सुलभ त्रुटियों के लिए विज्ञ-पुरुष मुझे क्षमा करेंगे–इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

गुरुपूर्णा, विनीत—

'सरस्वती पीठ' जयपुर। गंगाधर द्विवेदी

२१–७–६७

अथागमरहस्यपूर्वार्द्धस्य

स्थूलविषयसूची

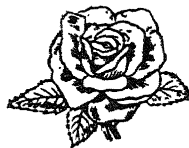
प्रथमपटलः

एकादशपटलः पृ० सं०

द्वादशपटलः

त्रयोदशपटलः

इति श्रीमदागमरहस्ये पूर्वार्द्धस्य स्थूलविषयसूची समाप्ता ।



अथ

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतं

आगमरहस्यम्

गजाननं विघ्नहरं गणार्चितपदाम्बुजम् ।
सेवितं सिद्धिबुद्धिभ्यामनिशं श्रेयसे श्रये ॥१॥

नित्यामनन्तां प्रकृतिं पुराणीं,
चिदीश्वरीं सर्वजगन्निवासाम् ।
शिवार्धदेहामगुणां गुणाढ्यां,
वर्णार्थरूपां प्रणमामि देवीम् ॥२॥

श्रीगुरून् करुणापूर्णानज्ञानध्वान्तभास्करान् ।
विद्याविलसितानन्दान् प्रणौमि निखिलार्थदान् ॥३॥

जीयाज्जयपुराधीश-रामसिंहाभिधो नृपः ।
यद्भुजच्छायमाश्रित्य शान्तो मे भूभ्रमक्लमः ॥४॥

दानी रिपुचयध्वंसी नीतिज्ञः कुशलः शुचिः ।
विद्याविचारसन्तुष्टो हृष्टः सल्लोकलोचनः ॥५॥

दयालु र्गुरुदेवार्चारतः शुभकथः कृती ।
दृढप्रज्ञो दृढाज्ञश्च येनेयं भूषिता मही ॥६॥

अथागमान् समालोक्य संप्रदायत्रयाश्रयात् ।
तदागमरहस्यं यत् तन्यते बालबोधकम् ॥७॥

सन्तीह सुनिबंधौघा बहवः सुगमा अपि ।
तथापि मम यत्नोऽयं भवेत् सज्जनतोषकृत् ॥८॥

तत्रैषा सूचना सृष्टिभेदस्तत्त्वनिरूपणम् ।
तत्त्वभेदा नादसृष्टिः कुंडली-सृष्टिकीर्तनम् ॥९॥

प्रथमे पटले ज्ञेया वर्णव्यक्तिर्द्वितीयके ।
तथा पंचकलाभेदाः प्रणवांगसमुद्भवाः ॥१०॥

तृतीये बीजजा सृष्टिः शारीरं कर्मसंभवम् ।
देहमिथ्यात्वकथनं मोहवैभववर्णनम् ॥११॥

उपासनाप्रवृत्तिश्च ततो भक्तिचतुष्टयम् ।
तुर्ये दीक्षावश्यकता तच्छब्दार्थप्रशंसने ॥१२॥

गुणदोषौ गुरोश्चैव शिष्यस्यापि च तावुभौ ।
तथा दोषोऽपरीक्षायामुभयोस्तन्निषेधनम् ॥१३॥

विवेकः स्त्रीगुरोर्मन्त्रग्रहणं श्रीगुरुं विना ।
देशोद्भवगुरूणां च गुणदोषनिरूपणम् ॥१४॥

गुरुधर्मास्तथा दीक्षाफलं मंत्रप्रदानके ।
देवभेदप्रकथनं तथा च गुप्तदीक्षणम् ॥१५॥

दोषो दीक्षाविचारेषु सिद्धकालो मनुश्रवे ।
पंचमे गुरुमाहात्म्यं तदाचारश्च पूजनम् ॥१६॥

गुरोरभावे तन् मातृपितृगोत्रप्रशंसनम् ।
षष्ठे चोपासनोपास्यसाकारत्वनिरूपणम् ॥१७॥

साकारसेवावैशिष्ट्यं देवानामैक्यता तथा ।
विद्याभेदास्तथा शंभुभेदास्तासां क्रमेण हि ॥१८॥

प्रादुर्भावश्च विद्यानामंगदेवास्तथोदिताः ।
पुंप्रकृत्योरभेदश्च षष्ठे प्रातःक्रिया तथा ॥१९॥

अजपाविनियोगश्च सप्तमे शौचकर्म च ।
दन्तशुद्धिस्तथा स्नानं विभूतितिलकादिकम् ॥२०॥

सन्ध्याभेदा द्वारपूजा यागमण्डपशोधनम् ।
अष्टमे भूतशुद्धिश्च प्राणार्पणविधिस्तथा ॥२१॥

शंखार्घ्यकलशानां च संस्थितिः पीठपूजनम् ।
पंचायतनसंस्थानमुपचाराश्च षोडश ॥२२॥

निर्माल्यं पुष्पपत्राणां नवमे न्याससन्ततिः ।
सभेदाः मातृकान्यासा अन्येऽप्यावश्यकाः फलम् ॥२३॥
दशमे मंत्रसंस्कारो मालानां संस्कृतिस्तथा ।
यंत्राणां रचना तद्वत् संस्कारः फलकीर्तनम् ॥२४॥
एकादशे पुरश्चर्या क्रिया जपविधिस्तथा ।
सूतकादिकसंकेतदशकं कुल्लुका मनोः ॥२५॥
मंत्रजागरणं त्वास्यशुद्धिश्च योनिमुद्रणम् ।
द्वादशे च पुरश्चर्या कर्तुं नियमसाधनाः ॥२६॥
प्रारंभे भावि विज्ञानहेतोस्स्वप्ननिरीक्षणम् ।
साचारश्च पुरश्चर्या विधिश्चैव त्रयोदशे ॥२७॥
होमश्च तर्पणं मार्ष्टिस्तथा होमे शुभाशुभौ ।
होमद्रव्यप्रमाणं च तत् फलं च तथा समित् ॥२८॥
अग्नेरंगप्रकथनं फलं स्थंडिलजं पुनः ।
स्रुक् स्रुवौ. तौ विना होमस्ततश्चैव चतुर्दशे ॥२९॥
दमनार्चा पवित्रार्चा विधिः पर्वविशेषकम् ।
ततः पंचदशे पूजा कुमार्याः श्रीशिवावलिः ॥३०॥
गुणभेदैः पशुवलिः षोडशे मंत्रसिद्धिदाः ।
उपाया भेदसहिताः पुरश्चर्यानुकल्पकम् ॥३१॥
सिद्धचिह्नानि तद् भेदाश्चोत्तमामध्यमाधमाः ॥३२॥
परिभाषोपचारेषु निर्माल्यकथनं ततः ।
भेदास्तथोपचाराणां ग्राह्याग्राह्यप्रकीर्तनम् ॥३३॥
ततः सप्तदशे प्रायश्चित्तं विष्णुशिलाफलम् ।
वैष्णवं तिलकं तद्वच्छैवे वाणपरीक्षणम् ॥३४॥
भस्मसंधारणविधौ रुद्राक्षधारणं तथा ।
अरिमंत्रपरित्यागविधिरष्टादशे तथा ॥३५॥
मंत्रसंशुद्धिकथनं मंत्रदोषनिरूपणम् ।
एकोनविंशे दीक्षांगवास्तुयागपुरस्सरम् ॥३६॥

ध्वजारोपो मंडपस्य साधनं विंशतौ तथा ।
निर्माणं वेदिकायाश्च ह्यंकुरारोपणक्रमः ॥३७॥

ततः स्यात् कुंडनिर्माणं नाभियोनिस्थितिस्तथा ।
एकविंशे मंडलानि द्वाविंशे च तथा पुनः ॥३८॥

दीक्षाभेदाश्च तत्कृत्यं त्रयोविंशेऽधिवासनम् ।
चतुर्विंशे तथा होमस्सदाचारविधिस्ततः ॥३९॥

पंचविंशे च षट्कर्म निरूपणमतः परम् ।
षड्विंशे मुद्रिकाभेदास्सप्तविंशे च योगकम् ॥४०॥

सभेदमष्टाविंशे च योगाङ्गं समुदीरितम् ।
एवं निर्णीय पटलैरष्टाविंशतिभिर्युतम् ॥४१॥
पूर्वार्धं मूलतंत्रस्थवाक्यरत्नैर्विभूषितम् ।

अथागमरहस्य इति कथनादागमशब्दार्थस्तु यामले-

'आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे ॥४२॥
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते' ॥४३॥ इति ।

आगमस्वरूपमाह तन्त्रान्तरे-

'सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥४४॥

षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तं विदुर्बुधाः ॥४५॥

सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च ।
आगमश्शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः ॥४६॥ इति ।

आगमप्राशस्त्यं श्रीमदाचार्यैरपि प्रपंचसारे प्रपञ्चितम्—

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसंभवः ॥४७॥

इति वचनमाकलय्य किमप्यागमरहस्यं स्फुटीक्रियते मूलवाक्यमाहृत्य तत्रादौ सृष्टिज्ञानस्यावश्यकत्वात् तदेव विविच्यते-

यदाह शारदायाम्—

निर्गुणस्सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयस्सनातनः ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥४८॥

सच्चिदानंदविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् विन्दुसमुद्भवः ॥४९॥

परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुनः ।
विन्दु र्नादो बीजमिति तस्य भेदास्समीरिताः ॥५०॥

विंदुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥५१॥

रौद्री विन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायत ।
वामा ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्र-ब्रह्म-रमाधिपाः ॥५२॥

संज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिणः ।

एतदेव प्रयोगसारे—

नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः ।
विकाररहितः साक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥५३॥

तत् शक्तिभूतः सर्वेशो भिन्नो ब्रह्मादि-मूर्तिभिः ।
कर्त्ता भोक्ता च संहर्त्ता सकलः स जगन्मयः ॥५४॥

तस्माद् विनिर्गता नित्या सर्वगा विश्वसंभवा ॥५५॥

वायवीयसंहितायामपि—

शिवेच्छया पराशक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता ।
ततः परिस्फुरत् पादौ सर्गे तैलं तिलादिवत् ॥५६॥

पंचरात्रे च—

एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानंदरूपिणीम् ।
समस्ततत्त्वसंघातस्फूर्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ॥५७॥

व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान् ।
नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी ।
शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता ॥५८॥

अन्यत्रापि–

अभिव्यक्ता पराशक्तिरविनाभावलक्षणा ।
अखंडपरचिच्छक्ति र्व्याप्ता चिद्रूपिणी विभुः ॥५९॥

समस्ततत्त्वभावेन विवर्त्तो या समन्विता ।
प्रयाति विन्दुभावं[1] च क्रियाप्राधान्यलक्षणम् ॥६०॥

प्रयोगसारे–

विन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम् ।
तयो र्योगेऽभवन्नादस्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः ॥६१॥

रौद्री विन्दोः समुद्भूता ज्येष्ठा नादादजायत ।
वामा बीजादभूच्छक्तिस्ताभ्यो देवास्त्रयोऽभवन् ॥६२॥

ब्रह्मविष्णवीश्वरास्तत्तन्मण्डलेषु[2] व्यवस्थिताः । इति ।

अथ विन्दुसृष्टिः-

शारदायाम्[3]–

भिद्यमानात् पराद् विन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः ॥६३॥

शब्दब्रह्मेति शब्दार्थः शब्दमित्यपरे जगुः ।
न हि तेषां तयोः सिद्धिर्जडत्वादुभयोरपि ॥६४॥

चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ।

तत् प्राप्य कुंडलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥६५॥

तथा च योगिनीहृदये–

स्वरव्यंजनभेदेन सप्तत्रिंशत् प्रभेदिनी ।
सप्तत्रिंशत् प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी ॥६६॥

१–अत्रेच्छासत्वादिरूपतया विन्दोस्त्रैविध्यं ध्येयम् ।

२–तत्तन्मंडले वन्ह्रीद्वर्कमंडले ।

३–शारदातिलके विन्दुसृष्टिः प्रतिपादिता द्रष्टव्या ।

तत्त्वानां लक्षणानि सौभाग्यसुभगोदये-

चिदियमनुत्तरशक्तिर्निजेच्छया निखिलमपि जगत् स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥६७॥

इच्छा सैव स्वेच्छा संततसमवायिनी सती शक्तिः ।
सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य ॥६८॥

स्वेच्छा शक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य ।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहितः ।
विश्वं पश्चात् पश्यन्निदन्तया निखिलमीश्वरो जातः ॥६९॥

सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः ।
मायाविभेदबुद्धि र्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु ॥७०॥

नित्यं तस्य निरंकुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे ।
स तया परिमितमूर्तिः संकुचितसमस्तशक्तिरेष पुमान् ॥७१॥

रविरिव संध्या-रक्तः संहृतशक्तिः स्वभासनेऽप्यपटुः ।
संपूर्णकर्तृताद्या बह्व्यः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य ।
संकोचात् सङ्कुचिताः कलादिरूपेण रूढयत्येवम् ॥७२॥

तत् सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ।
किंचित् कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥७३॥

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुपपादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ॥७४॥

नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमितानु सती ।
भोगेषु रंजयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां जाता ॥७५॥

सा नित्यतास्य शक्ति र्निकृष्टनिधनोदयप्रदानेन ।
नियति परिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात् कालतत्त्वरूपेण ॥७६॥

याऽस्याः स्वतंत्रताख्या शक्तिः सङ्कोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः ॥७७॥

मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशु र्भवति ।
कालकलानियतिवशाद् रागाविद्यावशेन संबद्धः ॥७८॥

इच्छादित्रिसमष्टिः शक्तिः शान्तास्य सङ्कुचद्रूपा ।
संकलितेच्छाद्यात्मकसत्त्वादिकसाम्यरूपिणी तु सती ॥७९॥

बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृतिः ।
इच्छास्य रजोरूपाहंकृतिरासीदहं प्रतीतिकरी ॥८०॥

ज्ञानापि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः ।
तस्य क्रिया तमोमयमूर्ति र्मन उच्यते विकल्पकरी ॥८१॥

वामादिपंचभेदः स एव सङ्कुचितविग्रहो देवः ।
ज्ञानक्रियोपरागप्राधान्याद् विविधविषयरूपोऽभूत् ॥८२॥

श्रोत्रं चक्षुःस्पर्शनजिह्वाघ्राणानि बोधकरणानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्याकानि कर्मकरणानि ॥८३॥

शब्दस्पर्शौ रूपं रसगंधौ चेति भूतसूक्ष्माणि ।
अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेशः ॥८४॥

गगनमनिलश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पंचभूतानि ।
श्रोत्रादिकरणवेद्याः शब्दाद्यास्तानि वेदकान्येषाम् ॥८५॥

वचनकरी वागासीत् पाणिः स्यात् करणभूत आदाने ।
गमनविसर्गानन्दत्रितये पादादिकं करणम् ॥८६॥

गंधवती भूमिः स्यादापस्सांसिद्धिकद्रवास्तेजः ।
उष्णस्पर्शमरूपस्पर्शो वायुरम्बरं शब्दम् ॥८७॥ इति ।

अन्यच्च शारदायाम्-

अथ तत्त्वानि बहुधा शैवाद्यागमभेदतः ।
षट्त्रिंशत् शिवतत्त्वानि द्वात्रिंशद् वैष्णवानि तु ॥८८॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि मैत्राणि प्रकृतेः पुनः ।
उक्तानि दश तत्त्वानि सप्त च त्रिपदात्मनः ॥८९॥

तत्त्वानि शैवान्युच्यन्ते शिवः शक्तिः सदाशिवः ।
ईश्वरो विद्यया सार्धं पंचशुद्धान्यमूनि हि ।
माया कालश्च नियतिः कला विद्या पुनः स्मृता ॥९०॥

रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त च ।
प्रकृतिर्बुद्ध्यहंकारौ मनो ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ॥९१॥

कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्राः पंचभूतानि देशिकाः ।
एतान्याहुरशुद्धानि चतुर्विंशतिरागमे ॥९२॥

शैवानामपि तत्त्वानां विभागोऽत्र प्रदर्शितः ।
जीवप्राणधियश्चित्तं ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्यथ ॥९३॥

तन्मात्राः पंचभूतानि हृत्पद्मं तेजसात् त्रयम् ।
वासुदेवादयश्चेति तत्त्वान्येतानि शार्ङ्गिणः ॥९४॥

पंचभूतानि तन्मात्रा इन्द्रियाणि मनस्तथा ।
गर्वो बुद्धिः प्रधानं च मैत्राणीति विदुर्बुधाः ॥९५॥

निवृत्त्याद्याः कलाः पंच ततो विन्दुकलाः पुनः ।
नादः शक्तिः सदापूर्वः शिवश्च प्रकृते विदुः ॥९६॥

आत्मा विद्या शिवः पश्चात् शिवो विद्या स्वयं पुनः ।
सप्ततत्त्वं च तत्त्वानि प्रोक्तानि त्रिपदात्मनः ॥९७॥

अथ नादसृष्टिक्रमः-

अथ नादात्मनः शंभोः कालबन्धोः कलात्मनः ।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः ॥९८॥

सदाशिवोद्भवस्त्वीशस्ततो रुद्रसमुद्भवः ।
ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा तेषामेवं समुद्भवः ॥९९॥

मूलभूतात् ततोऽव्यक्ताद् विकृतात् परवस्तुनः ।
आसीत् किल महत् तत्त्वं गुणान्तःकरणान्तकम् ॥१००॥

अभूत् तस्मादहंकारस्त्रिविधः सृष्टिभेदतः ।
वैकारिकादहंकाराद्देवा वैकारिका दश ॥१०१॥

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ।
तैजसादिन्द्रियाण्यासँस्तन्मात्राक्रमयोगतः ॥१०२॥

भूतादिकादहंकारात् पंचभूतानि जज्ञिरे ।
शब्दात् पूर्वं वियत् स्पर्शाद् वायुरूपाद् हुताशनः ॥१०३॥
रसादम्भः क्षमा गंधादिति तेषां समुद्भवः ।
स्वच्छं वियन्मरुत् कृष्णो रक्तोऽग्निर्विशदं पयः ॥१०४॥
पीता भूमिः पञ्चभूतान्येकैकाधारतो विदुः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगंधा भूतगुणाः स्मृताः ॥१०५॥
धरादिपञ्चभूतानां निवृत्त्याद्याः कलाः स्मृताः ।
निवृत्तिः सप्रतिष्ठा स्याद् विद्या शांतिरनन्तरम् ।
शान्त्यतीतेति विज्ञेया नाददेहसमुद्भवाः ॥१०६॥

अन्यच्च वायवीयसंहितायाम्—

शक्तिः प्रथमसंभूता शान्त्यतीतपदोत्तरा ।
शान्त्यतीतपदाच्छक्तेस्ततः शान्तिपदं क्रमात् ॥१०७॥
ततो विद्यापदं तस्मात् प्रतिष्ठापदसंग्रहः ।
निवृत्तिपदमुत्पन्नं प्रतिष्ठापदतः परम् ॥१०८॥
एवमुक्ता समासेन सृष्टिरीश्वरचोदिता ।
आनुलोम्यादथैतेषां प्रातिलोम्येन संहृतिः ॥१०९॥
अस्मात् पञ्चपदोद्दिष्टा न सृष्ट्यन्तरमिष्यते ।
कलाभिः पंचभिर्व्याप्तं तस्माद्विश्वमिदं जगत् ॥११०॥ इति ।

अथ बीजस्य शक्तिमूलत्वात्, तत्सृष्टिक्रमो यथा—

ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
शिवसंनिधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ॥१११॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सर्वदेहानुगा शुभा ।
परापरविभागेन परशक्तिरियं स्मृता ॥११२॥
योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा ।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ॥११३॥
शंखावर्तक्रमाद्देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी ॥११४॥

सर्वदेवमयी देवी सर्वमंत्रमयी शिवा ।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरा विभुः ॥११५॥
त्रिधाम-जननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी ।
द्विचत्वारिंशदर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥११६॥
गुणिता सर्वगात्रेण कुण्डलीपरदेवता ॥११७॥
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मंत्रमयं जगत् ।
एकधा गुणिता शक्तिः सर्वविश्वप्रवर्तिनी ॥११८॥
वेदादिबीजं श्रीबीजं शक्तिबीजं मनोभवम् ।
प्रासादं तुंबुरं पिण्डं चिन्तारत्नं गणेश्वरम् ॥११९॥
मार्त्तण्डं भैरवं दौर्गं नारसिंहं वराहजम् ।
वासुदेवं हयग्रीवं बीजं श्रीपुरुषोत्तमम् ॥१२०॥
अन्यान्यपि च बीजानि तदोत्पादयति ध्रुवम् ।
यदा भवति सा संविद् द्विगुणीकृतविग्रहा ॥१२१॥
हंसवर्णौ परात्मानौ शब्दार्थौ वासरक्षपे ।
सृजत्येषा परा देवी तदा प्रकृतिपूरुषौ ॥१२२॥
यद् यदन्यज्जगत्यस्यां युग्मं तत् तदजायत ।
त्रिगुणीकृतसर्वाङ्गी चिद्रूपा शिवगेहिनी ॥१२३॥
प्रसूते त्रैपुरं मंत्रं मंत्रं शक्ति विनायकम् ।
पाशाद्यं-त्र्यक्षरं मंत्रं त्रैपुटश्चन्द्रनायकम् ॥१२४॥
सौरं मृत्युञ्जयं शाक्तं शाम्भवं विनतासुतम् ।
वागीशी त्र्यक्षरं मंत्रं नीलकण्ठं विषापहम् ॥१२५॥
यंत्रं त्रिगुणितं देव्या लोकत्रयगुणत्रयम् ।
धामत्रयं सा वेदानां त्रयं वर्णत्रयं शुभम् ॥१२६॥
त्रिपुष्करं स्वरान् देवी ब्रह्मादीनां त्रयं त्रयम् ।
वह्नेः कालत्रयं शक्तेस्त्रयं वृत्तित्रयं महत् ॥१२७॥
नाडीत्रयं त्रिवर्गं सा यद् यदन्यत् त्रिधा मतम् ।
चतुःप्रकारं गुणिता शाम्भवी शर्मदायिनी ॥१२८॥

तदानीं पद्मिनीबन्धोः करोति चतुरक्षरम् ।
चतुर्वर्णं महादेव्या देवीतत्त्वचतुष्टयम् ॥१२९॥

चतुरः सागरानन्तःकरणानां चतुष्टयम् ।
सूक्ष्मादींश्चतुरो भावान् विष्णोर्मूर्त्तिचतुष्टयम् ॥१३०॥

चतुष्टयं गणेशानामात्मादीनां चतुष्टयम् ।
ओजा पूकादिकं पीठं धर्मादीनां चतुष्टयम् ॥१३१॥

दमकादीन् गजान् देवी यद् यदन्यच्चतुष्टयम् ।
पंचधा गुणिता पत्नी शंभोः सर्वार्थसाधिनी ॥१३२॥

त्रिपुरा पंचकूटं सा तस्याः पंचाक्षरद्वयम् ।
पंचरत्नं महादेव्याः सर्वकामफलप्रदम् ॥१३३॥

पंचाक्षरं महेशस्य पंचवर्णान् गरुत्मतः ।
संमोहनादिकान् पंच कामबाणान् सुरद्रुमान् ॥१३४॥

पंच प्राणादिकान् वायून् पंचवर्णान् महेशितुः ।
मूर्त्ताः पंचकलाः पंच [1]पंचब्रह्मऋचः क्रमात् ॥१३५॥

सृजत्येषा परा शक्ति र्वेदवेदार्थरूपिणी ।
षोढा सा गुणिता देवी धत्ते मंत्रं षडक्षरम् ॥१३६॥

षट्कूटं त्रिपुरामंत्रं गाणपत्यं षडक्षरम् ।
षडक्षरं हिमरुचे र्नारसिंहं षडक्षरम् ॥१३७॥

ऋतून् वसन्तप्रभवान् षण् मोदादीन् गणाधिपान् ।
कोशानूर्मीन् रसान् शक्तीः शाकिन्याद्याः षडध्वनः ॥१३८॥

यंत्रं षड्गुणितं शक्तेः षडाधारानजीजनत् ।
षड्विधं यज्जगत्यस्मिन् सर्वं तत् परमेश्वरी ॥१३९॥

सप्तधा गुणिता नित्या शंकरार्धशरीरिणी ।
सप्तार्णं त्रिपुरामंत्रं सप्तवर्णं विनायकम् ॥१४०॥

सप्तकं व्याहृतीनां सा सप्तवर्णं सुदर्शनम् ।
लोकान् गिरीन् स्वरान् धातून् मुनीन् द्वीपान् ग्रहानपि ॥१४१॥

---

[1]पंचब्रह्ममहामंत्राः ।

समिधः सप्त संख्याताः सप्तजिह्वा हविर्भुजः ।
अन्यत् सप्तविधं यद् यत्तदस्याः समजायत ॥१४२॥

अष्टधा गुणिता शक्तिः शैवमष्टाक्षरद्वयम् ।
विष्णोः श्रोकरनामान्तं मंत्रमष्टाक्षरं परम् ॥१४३॥

अष्टाक्षरं हरेः शक्तेरष्टाक्षरयुगं परम् ।
भानोरष्टाक्षरं दौर्गमष्टार्णं परमात्मनः ॥१४४॥

अष्टार्णं नीलकण्ठस्य वासुदेवात्मकं मनुम् ।
यंत्रं कामार्गलं दिव्यं देवीयंत्रं घटार्गलम् ॥१४५॥

गंधाष्टकं शुभं देवी-देवानां हृदयङ्गमम् ।
ब्राह्माद्या भैरवान् शर्वमूर्त्तीराशावसूनपि ॥१४६॥

अष्टपीठं महादेव्या अष्टाष्टकसमन्वितम् ।
अष्टौ च प्रकृतीर्विघ्नान् वक्रतुण्डादिकान् क्रमात् ॥१४७॥

अणिमादिगुणान् नागान् वह्नेर्मूर्त्तौ यमादिकान् ।
आत्माष्टकं जगत्यन्यत् सर्वं वितनुते तदा ॥१४८॥

गुणिता नवधा नित्या सूते मंत्रं नवात्मकम् ।
नवकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ॥१४९॥

नवकं पीठशक्तीनां शृंगारादीन् रसान् नव ।
माणिक्यादीनि रत्नानि नववर्गयुतानि सा ॥१५०॥

नवकं प्राणदूतीनां मण्डलं नवकं शुभम् ।
यद् यन्नवात्मकं लोके सर्वमस्या उदञ्चति ॥१५१॥

दशधा गुणिता शंभोर्भाविनी भवदुःसहा ।
दशाक्षरं गणपतेस्त्वरितायाः दशाक्षरम् ॥१५२॥

दशाक्षरं सरस्वत्या यक्षिण्याश्च दशाक्षरम् ।
वासुदवात्मकं मंत्रमश्वारूढा दशाक्षरम् ॥१५३॥

त्रिपुरा दशकूटं सा त्रिपुरायाः दशाक्षरम् ।
नाम्ना पद्मावती मंत्रं रमामंत्रं दशाक्षरम् ॥१५४॥

दशकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ।
नाडीनां दशकं विष्णोरवतारान् दश क्रमात् ॥१५५॥

दशकं लोकपालानां यद् यदन्यत् सृजत्यसौ ।
एकादश क्रमात् संविद् गुणिता सा जगन्मयी ॥१५६॥

रुद्रैकादशिनीमाद्यां शक्तेरेकादशाक्षरम् ।
एकादशाक्षरं वाण्या रुद्रानेकादश क्रमात् ॥१५७॥

समुद्रिरति सर्वज्ञा गुणिता द्वादश क्रमात् ।
नित्यामंत्रं महेशान्या वासुदेवात्मकं मनुम् ॥१५८॥

राशीन् मासान् हरेर्मूर्त्ती यंत्रं सा द्वादशात्मकम् ।
अन्यदेतादृशं सर्वं यत् तदस्या अजायत ॥१५९॥

यदा सूर्यगुणा देवी द्वादशी चण्डभैरवी ।
यदा कामगुणा देवी कामभेदा च तारिणी ॥१६०॥

चतुर्दशगुणा जाता वशीकरणकालिका ।
दशपंचगुणा जाता महापंचदशी स्मृता ॥१६१॥

कलागुणा यदा शक्तिः श्रीमहाषोडशी तदा ।
यदा सप्तदशा देवी छिन्नमस्ता तदा भवेत् ॥१६२॥

अष्टादशगुणा देवी महामधुमती भवेत् ।
ऊनविंशद्गुणा देवी महापद्मावती तदा ॥१६३॥

गुणिता विंशति यदा विंशद्वर्णा रमा भवेत्
एकविंशद्गुणा देवी प्रोक्ता श्रीकामसुन्दरी ॥१६४॥

द्वाविंशद्गुणिता विद्या दक्षिणा कालिका तदा ।
त्रयोविंशद् गुणा देवी विद्येशी तु तदा भवेत् ॥१६५॥

चतुर्विंशति तत्त्वात्मा यदा भवति शोभना ।
गायत्रीं सवितुः शंभो र्गायत्रीं मदनात्मिकाम् ॥१६६॥

गायत्रीं विष्णुगायत्रीं गायत्रीं त्रिपदात्मनः
गायत्रीं दक्षिणामूर्त्ते र्गायत्रीं शंभुयोषितः ॥१६७॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि तस्यामासन् परात्मनि ।
पंचविंशद्गुणा देवी पंचमी सुंदरी तदा ॥१६८॥

षड्विंशगुणिता शक्तिः षष्ठी विद्या प्रकीर्तिता ।
सप्तविंशद्गुणा देवी महारत्नेश्वरी भवेत् ॥१६९॥

अष्टाविंशतिधा सा वै गुणिता परमा कला ।
अष्टाविंशाक्षरी विद्याऽमृतसंजीवनी परा ॥१७०॥

ऊनत्रिंशद्गुणा देवी महानीलसरस्वती ।
त्रिंशद्गुणा यदा विद्या वसोर्धारा तदा स्मृता ॥१७१॥

एकत्रिंशद्गुणा देवी त्रैलोक्यमोहिनी भवेत् ।
द्वात्रिंशद्भेदगुणिता सर्वमंत्रमयी विभुः ॥१७२॥

सूते मृत्युंजयं मंत्रं नारसिंहं महामनुम् ।
लवणाद्यं मनुं मंत्रं वरुणस्य महात्मनः ॥१७३॥

हयग्रीवमनुं दौर्गं वाराहं वह्निनायकम् ।
गणेशितु र्महामंत्रं मंत्रमन्नाधिपस्य च ॥१७४॥

मंत्रं श्रीदक्षिणामूर्त्ते र्मालामंत्रं मनोभुवः ।
त्रिष्टुभं वनवासिन्या अघोराख्यं महामनुम् ॥१७५॥

भद्रकालीमनुं लक्ष्म्या मालामंत्रं यमात्मकम् ।
मंत्रं सा देवकीसूनो र्मंत्रं श्रीपुरुषोत्तमम् ॥१७६॥

श्रीगोपालमनुं भूमे र्मनुं तारामनुं क्रमात् ।
महामंत्रं महालक्ष्म्या मंत्रं भूतेश्वरस्य च ॥१७७॥

क्षेत्रपालात्मकं मंत्रं मंत्रमापन्निवारकम् ।
सूते मातंगिनीं विद्यां सिद्धविद्यां शुभोदयाम् ॥१७८॥

त्रयस्त्रिंशद् गुणा चेत् स्याद् भवेत् श्रीकामतारिणी ।
चतुस्त्रिंशद् गुणा शक्तिरघोराख्या तदा भवेत् ॥१७९॥

पंचत्रिंशद् गुणा देवी संगीतमोहिनी भवेत् ।
षट्त्रिंशद् गुणिता विद्या वगलाख्या तदा भवेत् ॥१८०॥

षट्त्रिंशतं च तत्त्वानां शैवानां रचयत्यसौ ।
अन्यान् मंत्राँश्च यंत्राणि शुभदानि प्रसूयते ॥१८१॥

सप्तत्रिंशद्गुणा शक्तिः प्रोक्ता विद्या त्वरुन्धती ।
अष्टत्रिंशद्गुणा चेत् स्यादन्नपूर्णेश्वरी मता ॥१८२॥

गुणितैकोनचत्वारिंशन्नकुली परिकीर्तिता ।
चत्वारिंशद्गुणा शक्तिः प्रोक्ता विद्या त्रिकण्टकी ॥१८३॥

गुणितैकचत्वारिंशत् तदा राजेश्वरी कला ।
द्विचत्वारिंशद्गुणिता त्रैलोक्याकर्षिणी तदा ॥१८४॥

त्रिचत्वारिंशद्गुणिता राजराजेश्वरी स्मृता ।
चतुश्चत्वारिंशद्गुणिता कुक्कुटी परिकीर्तिता ॥१८५॥

पंचचत्वारिंशता च सिद्धविद्या प्रकीर्तिता ।
रसचत्वारिंशद्गुणा प्रोक्ता श्रीमृत्युहारिणी ॥१८६॥

सप्तचत्वारिंशद्गुणा महाभोगवती मता ।
अष्टचत्वारिंशद्गुणा वासवी परिकीर्तिता ॥१८७॥

नवचत्वारिंशद्गुणा फेत्कारी परिकीर्तिता ।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ॥१८८॥

शक्तिस्ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ।
ततोऽर्धेन्दुस्ततो विन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः ॥१८९॥

पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरीसर्गजन्मभूः ।
इच्छा-ज्ञान-क्रियात्माऽसौ तेजोरूपा गुणात्मिका ॥१९०॥

क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ।
अकारादिसकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकाम् ॥१९१॥

पञ्चाशद्वारगुणिता पंचाशद्वर्णमालिकाम् ।
सूते तद्वर्णतो भिन्नान् कलारुद्रादिकान् क्रमात् ॥१९२॥

निरोधिका भवेद् वह्निरर्धेन्दुः स्यान्निशाकरः ।
अर्कस्स्यादुभयो र्योगे विन्द्वात्मा तेजसांनिधिः ॥१९३॥

जाता वर्णा यतो विन्दोः शिवशक्तिमयादतः ।
अग्निसोमात्मकास्ते स्युः शिवशक्तिमयाद् रवेः ॥
येन संभवमापन्नाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥१९४॥ इति ।

शक्तिसंगमे–

एकैकं मातृकावर्णं प्रतिविद्यासकाशतः ।
उत्पन्ना परमेशानी विश्वोत्पत्तिपरायणा ॥१९५॥
यो भावो यस्य वै प्रोक्तस्तेन भावेन संस्थिता ।
स्वेच्छया वलयं कृत्वा यथा कुण्डलिनी स्थिता ॥१९६॥
तथा विद्यास्तु सञ्जाता ह्यक्षोभ्य-मुनिरूपिणी ।
एवं विद्याः समुत्पन्नाः कुंडलीतो महेश्वरि ॥१९७॥
सार्धत्रिवलया देवि ! मनुष्यस्य प्रकीर्तिता ।
श्रीदेव्याः कुण्डली देवि ! स्वेच्छया गुणिता शिवा ॥१९८॥

योगिनीहृदयेऽपि–

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदीरिता ।
सा सा सर्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरः ॥१९९॥ इति ।

इतिश्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे सृष्टिकथनं नाम प्रथमः पटलः ।

द्वितीयः पटलः ।

अथ वर्णव्यक्तिरारभ्यते, यदाह शारदायाम्–

ततो व्यक्तिं प्रवक्ष्यामि वर्णानां वदने नृणाम् ॥
प्रेरिता मरुता नित्यं सुषुम्णा रन्ध्रनिर्गताः ।
कण्ठादिकरणै र्वर्णाः क्रमादाविर्भवन्ति ते ॥२००॥

योगार्णवे–

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथहृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः ।
वक्त्रे वैखर्य्यथरुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा

एषु स्वराः स्मृताः सौम्याः स्पर्शाः सौराः शुभोदयाः ।
आग्नेया व्यापकाः सर्वे सोमसूर्याग्निदेवताः ॥२०२॥

स्वराः षोडश विख्याताः स्पर्शास्ते पंचविंशतिः ।
तत्त्वात्मानः स्मृताः स्पर्शा मकारः पुरुषो यतः ॥२०३॥

व्यापका दश ते काम-धन-धर्मप्रदायिनः ।
ह्रस्वः स्वरेषु पूर्वोक्तः परो दीर्घः क्रमादिमे ॥२०४॥

शिवशक्तिमयास्ते स्यु र्विन्दुसर्गावसानकाः ।
विन्दुः पुमान् रविः प्रोक्तः सर्गः शक्ति र्निशाकरः ॥२०५॥

स्वराणां मध्यमं यत्तु चतुष्कं तन्नपुंसकम् ।
पिंगलायां स्थिता ह्रस्वा इडायां संगताः परे ॥२०६॥

सुषुम्णा मध्यगा ज्ञेयाश्चत्वारो ये नपुंसकाः ।
विना स्वरैस्तु नान्येषां जायते व्यक्तिरञ्जसा ।
शिवशक्तिमयान् प्राहुस्तस्माद् वर्णान् मनीषिणः ॥२०७॥

मातृकाहृदयेऽपि—

वर्णाः शिवाः समाख्याताः स्वराः षोडशशक्तयः ।
शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते ॥२०८॥ इति ।

कारणात् पंचभूतानामुद्भूता मातृका यतः ।
ततो भूतात्मका वर्णाः पंच पंच विभागतः ॥२०९॥

वाय्वग्निभूजलाकाशाः पंचाशल्लिपयः क्रमात् ।
पंच ह्रस्वाः पंच दीर्घाः विन्द्वन्ताः संधिसंभवाः ॥२१०॥

पंचशः कादयः ष-क्ष-ल-स-हान्ताः समीरिताः ।
सोमसूर्याग्निभेदेन मातृकावर्णसंभवाः ॥२११॥

अष्टत्रिंशत् कलास्तत्तन्मण्डलेषु व्यवस्थिताः ।
अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः ॥२१२॥

शशिनी चन्द्रिका कान्ति ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ।
पूर्णा पूर्णामृताः कामदायिन्यः स्वरजाः कलाः ॥२१३॥

तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचि ज्वालिनी रुचिः ।
सुषुम्णा भोगदा विश्वा वोधिनी धारिणी क्षमा ॥२१४॥

कभाद्या वसुदाः सौराष्टडान्ता द्वादशेरिताः ।
धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनो ज्वालिनी विस्फुलिंगिनी ॥२१५॥

सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे अपि ।
यादीनां दशवर्णानां कला धर्मप्रदा इमाः ॥२१६॥

अभयेष्टकरा ध्येयाः श्वेतपीतारुणाः क्रमात् ।
तारस्य पंचभेदेभ्यः पंचाशद्वर्णगाः कलाः ॥२१७॥

सृष्टिर्ऋद्धिः स्मृति र्मेधा कांति र्लक्ष्मी द्युतिः स्थिरा ।
स्थितिः सिद्धिरिति प्रोक्ताः कचवर्गकलाः क्रमात् ॥२१८॥

अकाराद् ब्रह्मणोत्पन्नाः तप्तचामीकरप्रभाः ।
एताः करधृताक्षस्रक्पंकजद्वयकुण्डिकाः ॥२१९॥

जरा च पालिनी शांतिरीश्वरी रतिकामिके ।
वरदा ह्लादिनी प्रीति र्दीर्घाः स्युष्टतवर्गजाः ॥२२०॥

उकाराद् विष्णुनोत्पन्नास्तमालदलसन्निभाः ।
अभीतिदरचक्रेष्टवाहवः परिकीर्तिताः ॥२२१॥

तीक्ष्णा रौद्री भया निद्रा तन्द्रा क्षुत् क्रोधिनी क्रिया ।
उत्कारी मृत्युरेताः स्युः कथिताः पयवर्गजाः ॥२२२॥

रुद्रेण मार्णादुत्पन्नाः शरच्चन्द्रसमप्रभाः ।
उद्वहन्त्योऽभयं शूलं कपालं बाहुभि र्वरम् ॥२२३॥

ईश्वरेणोदिता विन्दोः पीता श्वेतारुणा सिता ।
अनन्ता च शवर्गस्था जपाकुसुमसंनिभाः ॥२२४॥

अभयं हरिणं टंकं दधाना बाहुभि र्वरम् ।
निवृत्तिः सप्रतिष्ठा स्याद् विद्याशान्तिरनन्तरम् ॥२२५॥

इंधिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा ।
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानामृता चाप्यायनी ततः ॥२२६॥

व्यापिनी व्योमरूपा स्युरनन्ताः स्वरसंयुताः ।
सदाशिवेन संजाता नादादेताः सितत्विषः ॥२२७॥

अक्षस्त्रक्पुस्तकगुणकपालाढ्यकराम्बुजाः ।
न्यासे तु योजयेदादौ षोडश स्वरगाः कलाः ॥२२८॥

इति पंचाशदाख्याताः कलाः सर्वसमृद्धिदाः ।
मातृकावर्णभेदेभ्यः सर्वे मंत्राः प्रजज्ञिरे ॥२२९॥

मंत्र-विद्याविभागेन द्विविधा मंत्रजातयः ।
मंत्राः पुंदेवताः ज्ञेयाः विद्याः स्त्रीदेवताः पुनः ॥२३०॥

स्त्री-पुंनपुंसकात्मानः सर्वे मंत्राः प्रकीर्तिताः ।
पुंमंत्रा हुंफडन्ताः स्यु द्विठान्तास्तु स्त्रियो मताः ॥२३१॥

नपुंसका नमोऽन्ताः स्युरित्युक्ता मनवस्त्रिधा ।
शस्तास्ते त्रिविधा मंत्रा वश्यशान्त्यभिचारके ॥२३२॥

अग्नीषोमात्मका मंत्रा विज्ञेयाः क्रूरसौम्ययोः ।
कर्मणो वह्नितारान्त्यवियत्प्रायाः समीरिताः ॥२३३॥

आग्नेया मनवः सौम्या भूयिष्ठेन्द्वमृताक्षराः ।
आग्नेयाः संप्रबुद्ध्यन्ते प्राणे चरति दक्षिणे ॥२३४॥

भागेऽन्यस्मिन् स्थिते प्राणे सौम्या बोधं प्रयान्ति च ।
नाडीद्वयगते प्राणे सर्वे बोधं प्रयान्ति च ।
प्रयच्छन्ति फलं सर्वे प्रबुद्धा मंत्रिणां सदा ॥२३५॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे वर्णव्यक्तिकथनं नाम द्वितीयः पटलः ॥२॥

तृतीयः पटलः ।

एवं पूर्वं वर्णव्यक्तिमुक्त्वा, इदानीं बीजसृष्ट्या जगतः तदात्मकत्वमुच्यते—

पञ्चभूतात्मकं सर्वं चराचरमिदं जगत् ।
अचरा बहुधा भिन्ना गिरिवृक्षादिभेदतः ॥२३७॥ इति ।

अन्यत्रापि—

देहश्चतुर्विधो ज्ञेयो जन्तोरुत्पत्तिभेदतः ।

उद्भिदः स्वेदजोऽण्डोऽन्त्यश्चतुर्थस्तु जरायुजः ।
उद्भिद्य भूमिं निर्गच्छेदुद्भिदः स्थावरस्तु सः ॥२३८॥

तन्त्रान्तरे—

उद्भिदः स्थावरा ज्ञेयाः तृणगुल्मादिरूपिणः ।
तत्र सिक्ता जलै र्भूमिरन्तरूष्मविपाचिता ॥२३९॥

वायुना व्यूहमाना तु बीजत्वं प्रतिपद्यते ।
तथा चोप्तानि बीजानि संसिक्तान्यम्भसा पुनः ॥२४०॥

उच्छूनतां मृदुत्वं च मूलभावं प्रयाति च ।
तन्मूलादङ्कुरोत्पत्तिरङ्कुरात् पर्णसंभवः ।
पर्णात्मकं ततः काण्डं काण्डाच्च प्रसवं पुनः ॥२४१॥

तथा च शारदायाम्—

चरास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः स्वेदाण्डजजरायुजाः ।
स्वेदजाः कृमिकीटाद्या अण्डजाःपन्नगादयः ।
जरायुजा मनुष्याद्यास्तेषु नृणां निगद्यते ॥२४२॥ जन्म इति शेषः ।

अन्यत्रापि प्रयोगसारे—

किं तत्र स्वेदजा ये तु ज्ञेयास्ते चाप्ययोनिजाः ।
स्थिरा विवायवो भिन्नाश्चत्वारिंशत्सहस्रधा ॥२४३॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पाः नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
अण्डजो वर्तुलीभूतः शुक्रशोणितसंयुतात् ॥२४४॥

कालेन भिन्नात् पूर्णात्मा निर्गच्छन् प्रक्रमिष्यति ।
योनिजाः प्राणिनो भिन्नाः चतुःषष्टिसहस्रधा ।
निगद्यन्ते तेषु नृणामुद्भवः शास्त्रसंमतः ॥२४५॥ इति ।

रुद्रयामले तु श्रीदेव्युवाच—

शरीरं कीदृशं नाथ ! मुक्ति र्वा केन कर्मणा ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि ब्रूहि मे शशिशेखर ! ॥२४७॥

ईश्वर उवाच—

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि शरीरं कर्मरूपिणम् ।
रजस्वला च या नारी विशुद्धा पंचमे दिने ॥ २४७॥

पतिता कामबाणेन ततः पुरुषमीहते ।
भगलिङ्गसमायोगात् मैथुनं स्यात् तदा तयोः ॥२४८॥

अन्योन्यदर्शनादेव जायते च महत् सुखम् ।
क्षरते च तदा रेतः प्राणापानविसंश्रितम् ॥२४९॥

विन्दुरेको विशेद् गर्भमुभयात्मा क्रमादसौ ।
क्षितिरापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥२५०॥

सर्वेषां तत्र तत्त्वं स्याद् देहस्थे रक्तबीजयोः ।
नाभिरन्ध्रे तदा देवि भ्राम्यते च समीरणैः ॥२५१॥

कुम्भकारो यथा चक्रे घटते च घटादिकम् ।
तथा समीरणो गर्भे घटते प्राणिनां तनुम् ॥२५२॥

कललं चैकरात्रेण पंचरात्रेण बुद्बुदम् ।
शोणितं दशरात्रेण मांसपिण्डं चतुर्दशे ॥२५३॥

घनमांसं च विंशाहे पिंडीभावोपलक्षितम् ।
पंचविंशे च पूर्णाहे मांसपिण्डोऽङ्कुरायते ॥२५४॥

एकमासे तु संपूर्णे पंचभूतानि धारयेत् ।
आदौ संजायते बीजो ब्रह्माण्डमहतोऽङ्कुरः ॥२५५॥

तस्य मध्ये सुमेरुश्च कंकालदण्डरूपकः ।
चराचराणां सर्वेषां देवादीनां विशेषतः ॥२५६॥

आलयः सर्वभूतानां मेरोरभ्यन्तरेऽपि च ।
पूर्वकर्मानुरूपेण मोहपाशेन यंत्रितः ।
कश्चिदात्मा तदा तस्मिन् जीवभावं प्रपद्यते ॥२५७॥ इति ।

अत्रायमाशयः—पूर्वजन्मशतसंचितकर्मणां मध्ये फलप्रदानोन्मुखं प्रबलमेकं पुण्यपापात्मकं दुःखसुखोभयात्मफलक-मनुष्यशरीरोपभोग्यं यत् कर्म तदनुरूपेण मोहपाशेन अविद्यारूपेण यंत्रितः उत्पद्यते । एतेन नित्यस्यात्मनोऽनुत्पत्तिरुक्ता गृहमिव देहमात्मा प्रविष्ट इत्यर्थः ।

प्रदीप्तकलिकाकारो जीवो हृदि सदा स्थितः ।
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ॥२५८॥

गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ।
जीव एवं महेशानि ! परिवर्णानपि शृणु ॥२५९॥

अक्षिणी नासिका कर्णौ जिह्वा च कमलानने ।
हस्तौ पादौ महेशानि गुह्योपस्थौ क्रमात् प्रिये ॥२६०॥

नाभिश्च परमेशानि मनश्च परमेश्वरि ।
जाग्रत् स्वप्नसुषुप्त्याख्यामवस्थां सेवते हृदि ॥२६१॥

इन्द्रियाणां च सर्वेषां मनः परमसारथिः ।
पापपुण्यै महेशानि बन्धनं मनसः प्रिये ॥२६२॥

सङ्गत्या सदसत्कर्म जीवः सर्वं करोति हि ।
शुद्धसत्त्वात्मको जीवः सदसत्कर्मवर्जितः ॥२६३॥

मनसा जीवसंयोगात् तत्कार्यं कुरुते सदा ।
मासद्वये तु संपूर्णे भेदस्तत्र प्रजायते ॥२६४॥

मज्जास्थीनि त्रिभि र्मासैः केशास्त्वक् च चतुष्टये ।
कर्णाक्षिनासिकावक्त्रं कण्ठोदरं च पञ्चमे ॥२६५॥

शुक्रादुत्पद्यते रक्तं रक्ताद् विन्दुसमुद्भवः ।
प्राणतो वायुरुत्पन्नः कालाग्निः स्यादपानतः ॥२६६॥

शुक्रतो नाभिकोत्पत्तिः शुक्रादग्निसमुद्भवः ।
मासतश्च मनोत्पत्ति र्मज्जा चापि ततो भवेत् ॥२६७॥

वायुना प्राणनिष्पत्तिः प्राणादग्निसमुद्भवः ।
शुक्रेणोत्पादिता जिह्वा नासिका सर्वदेहिनाम् ॥२६८॥

रक्तादुत्पद्यते नेत्रं वामं चैव तु दक्षिणम् ।
प्राणादुत्पद्यते शून्यं घ्राणरन्ध्रद्वयं तदा ॥२६९॥

षष्ठे मुखं तथा पादौ सर्वाङ्गानि च सप्तमे ।
संधिः सम्पूर्णतां याति अष्टमे मासि वै ततः ॥२७०॥ इति ।

अध्यात्मविवेके तु विशेषः-

द्वितीये तु घनः पिण्डः पेशी षट्घनमर्बुदम् ।
स्त्रीपुन्नपुंसकानां तु प्रागवस्थाः क्रमादिमाः ॥२७१॥
तृतीये त्वंकुराः पंचकरांघ्रिशिरसो मताः ।
अङ्गप्रत्यङ्गभागाश्च सूक्ष्माः स्यु र्युगपत्तथा ॥२७२॥
विहाय श्मश्रुदन्तादीन् जन्मानन्तरसंभवान् ।
एषा प्रकृतिरन्या तु विकृतिः संमता सताम् ।
चतुर्थे व्यक्तता तेषां भावानामपि जायते ॥२७३॥
मातृजं चास्य हृदयं विषयानभिकाङ्क्षति ।
अतो मातृमनोऽभीष्टं कुर्याद् गर्भसमृद्धये ॥२७४॥
तां च द्विहृदयां नारीमाहु र्दोहदिनीं बुधाः ।
अदानाद् दोहदानां स्यु र्गर्भस्य व्यङ्गतादयः ॥२७५॥
मातु र्यद्विषयाऽलाभस्तदार्त्तो जायते सुतः ।
गर्भः स्यादर्थवान् भोगी दोहदात् राजदर्शने ॥२७६॥
अलंकारे सुललितो धर्मिष्ठस्तापसाश्रमे ।
देवतादर्शने भक्तो हिंस्रो भुजगदर्शने ॥२७७॥
गोधा शशे तु निद्रालु र्बली गोमांसदर्शने ।
माहिषेण तु रक्ताक्षं लोमशं सूयते शिशुम् ॥२७८॥
प्रबुद्धं पंचमे पित्तं मांसशोणितपुष्टता ।
षष्ठेऽस्थिस्नायुनखरकेशरोमविविक्तता ॥२७९॥
बलवर्णौ चोपचितौ सप्तमे त्वङ्गपूर्णता ।
अष्टमे त्वक्श्रुती स्यातां ओजश्चेतश्च हृद्भवम् ॥२८०।
शुद्धमापीतरक्तं च निमित्तं जीवितं मतम् ।
पुनरम्बां पुनर्गर्भं चंचलं तत् प्रधावति ।
अतो जातोऽष्टमे मासे न जीवत्योजसोज्झितः ॥२८१॥ इति ।

यामले तु-

अण्डाधारं तु कङ्कालमारभ्य गुदमूलतः ।
द्वात्रिंशज्जालविज्ञा यो ग्रथितो वर्धते सदा ॥२८२॥

तस्य मध्ये सदा सर्वनाड्यस्तत्र व्यवस्थिताः ।
इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ॥२८३॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलंबुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी तथा ॥२८४॥
अन्याश्च नाडिकाः क्षुद्राः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।
नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णा पंचपर्वसु ॥२८५॥

पंच पर्वाणि च—स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धयाज्ञांतानि । तत्राऽधोऽधो ग्रन्थिमारभ्योर्ध्वोर्ध्वग्रन्थिपर्यन्तं पर्वसमाप्तिरिति ।

मूलाधारोद्गतः प्राणस्ताभि र्व्याप्नोति तां तनुम् ।

आसां स्थानं यामले—

इडा च वामभागे तु पिंगला दक्षिणे तथा ।
वक्त्ररन्ध्रे सुषुम्णा च गान्धारी वामचक्षुषि ॥२८६॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
वामे यशस्विनी चैव मुखे चालंबुषा मता ॥२८७॥
कुहूश्च लिंगमूले तु शंखिनी शिरसोपरि ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दशनाडिकाः ॥२८८॥

आसां स्वरूपं योगार्णवे—

इडा च शंखकुन्दाभा सव्यस्था चन्द्ररूपिणी ।
पिंगला सितरक्ताभा दक्षस्था सूर्यरूपिणी ॥२८९॥
तयो र्मध्ये सुषुम्णाख्या अग्नीषोमस्वरूपिणी ।
इडापृष्ठे तु गान्धारी मयूरगलसन्निभा ॥२९०॥
सव्यपादादिनेत्रान्ता गान्धारी परिकीर्तिता ।
हस्तिजिह्वोत्पलप्रख्या नाडी तस्याः पुरःस्थिता ॥२९१॥
सव्यभागस्य मूर्द्धादिपादाङ्गुष्ठान्तमाश्रिता ।
पूषा तु पिंगला पृष्ठे नीलजीमूतसन्निभा ॥२९२॥
याम्यभागस्य नेत्रान्ताद् यावत्पादतलं गता ।
अलंबुषा पीतवर्णा कण्ठमध्ये व्यवस्थिता ॥२९३॥

यशस्विनी शंखवर्णा पिंगला पूर्वदेशगा ।
गान्धार्याश्च सरस्वत्या मध्यस्था शंखिनी मता ॥२९४॥

सुवर्णवर्णा पादादिकर्णान्ता सव्यभागके ।
पादांगुष्ठादिमूर्धान्तं याम्यभागे कुहू मता ॥२९५॥

अत्र विशेषस्तन्त्रयोगे–

पूर्वोक्तायाः सुषुम्णाया मध्यस्थायाः सुलोचने ।
नाभिहृत्कंठतालुभ्रू मध्यपर्वसमुद्भवाः ॥२९६॥

अधोमुख्यः शिराः काश्चिदूर्ध्वमुख्यस्तथाऽपराः ।
परा तिर्यग् गतास्या च तत्र लक्षत्रयाधिकाः ॥२९७॥

नाड्योऽर्धलक्षसंख्याताः प्रधानाः समुदीरिताः ।
तासु सर्वासु बलवान् प्राणो वायुः समन्ततः ।
संस्थितः सर्वदा व्याप्तः················॥२९८॥ इति ।

अध्यात्मविवेके तु–

अस्थ्नां शरीरे संख्या स्यात् षष्टियुक्तं शतत्रयम् ।
त्रीण्येवास्थिशतान्यत्र धन्वन्तरिरभाषत ॥२९९॥

द्विशते त्वस्थिसंधीनां स्यातामत्र दशोत्तरे ।
पेशी-स्नायु-शिरा-संधि-सहस्रद्वितयं मतम् ॥३००॥

नवस्नायुशतानि स्युः पंचपेशीशतान्यपि ।
अधिका विंशतिः स्त्रीणां स्तनयो र्दिग् भगे दश ॥३०१॥

शिरा धमनिकानां तु लक्षाणि नवविंशतिः ।
सार्धानि स्यु र्नवशती षट्पंचाशद्युता तथा ॥३०२॥

श्रीयामले–

क्षितिश्च वारि तेजश्च पवनाकाशमेव च ।
स्थैर्यं गता इमे पंच बाह्याभ्यन्तर एव च ॥३०३॥

अस्थिचर्म तथा नाभिलोममांसं तथैव च ।
एते पंचगुणाः प्रोक्ताः पृथिव्यां च व्यवस्थिताः ॥३०४॥

मलं मूत्रं तथा श्लेष्मा शुक्रं शोणितमेव च ।
एते पंचगुणाः प्रोक्ता आपस्तत्र व्यवस्थिताः ॥३०५॥

क्षुधा तृषा तथा निद्रा प्रमोहः कान्तिरेव च ।
एते पंचगुणाः प्रोक्तास्तेजस्तत्र व्यवस्थितम् ॥३०६॥

धावनं चलनोत्क्रमणे सङ्कोचनप्रसारणे ।
एते पंचगुणाः प्रोक्ताः मारुतस्तत्र संस्थितः ॥३०७॥

रागो द्वेषश्च मोहश्च भयं लज्जा तथैव च ।
एते पंचगुणाः प्रोक्ता आकाशे च व्यवस्थिताः ॥३०८॥

अध्यात्मविवेके किंचिद् विशेषः-

अस्थि-मांस-त्वचं-स्नायु-रोम एव तु पंचमम् ।
इति पंचविधाः प्रोक्ताः पृथिवी कठिनात्मिका ॥३०९॥

लाला मूत्रं तथा शुक्रं शोणितं मज्ज-पंचमम् ।
अपां पंचगुणा एते द्रवरूपाः प्रकीर्तिताः ॥३१०॥

क्षुधा तृष्णा भयं निद्रा आलस्यं क्षांतिरेव च ।
तृष्णात्मका गुणा एते तेजसः परिकीर्तिताः ॥३११॥

धावनं चलनं भुक्तिराकुंचनप्रसारणम् ।
एते पंचगुणा वायोः क्रियारूपा व्यवस्थिताः ॥३१२॥

रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहस्तथैव च ।
व्योम्नः पंचगुणा एते शून्याख्ये सुखितात्मनि ॥३१३॥ इति ।

यामले-

राजसः प्राणसंज्ञः स्यात् मुख्यो देहस्य धारकः ।
तद्भेदा दश विख्याता यै र्व्याप्तं स्याच्छरीरकम् ॥३१४॥

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनंजयः ॥३१५॥

एते दशगुणाः प्रोक्ताः सर्वप्राणेषु संस्थिताः ।
हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमंडले ॥३१६॥

समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठदेशगः ।
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पंचवायवः ॥३१७॥

योगार्णवे विशेषः-

इन्द्रनीलप्रतीकाशं प्राणरूपं प्रकीर्तितम् ।
आस्यनासिकयो र्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यगे ॥३१८॥
प्राणालयमिति प्राहुः पादांगुष्ठेऽपि केचन ।
अपानयत्यपानोऽयमाहारं च मलायितम् ॥३१९॥
शुक्रं मूत्रं तथोत्सर्गमपानस्तेन मारुतः ।
इन्द्रगोपप्रतीकाशः संध्याजलदसन्निभः ॥३२०॥
स च मेढ्रे च पायौ च ऊरूवक्षणजानुषु ।
जंघोदरे कृकट्यां च नाभिमूले च तिष्ठति ॥३२१॥
व्यानो व्यानशयत्यन्नं सर्वव्याधिप्रकोपनः ।
महारजतसुप्रख्यो हानोपादानकारकः ॥३२२॥
स चाक्षिकर्णयो र्मध्ये कट्यां वै गुल्फयोरपि ।
घ्राणे गले स्फिगुद्देशे तिष्ठत्यत्र निरन्तरम् ॥३२३॥
स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं गात्रनेत्रप्रकोपनः ।
उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः ॥३२४॥
विद्युत्पावकवर्णः स्यादुत्थानासनकारकः ।
पादयो र्हस्तयोश्चापि स तु सन्धिषु वर्तते ॥३२५॥
पीतं भक्षितमाघ्रातं रक्तपित्तकफानिलान् ।
समं नयति गात्राणि समानो नाम मारुतः ॥३२६॥
गोक्षीरसदृशाकारः सर्वदेहे व्यवस्थितः ।
उद्गारे नाग इत्युक्तो नीलजीमूतसन्निभः ॥३२७॥
उन्मीलने स्थितः कूर्मो भिन्नाञ्जनसमप्रभः ।
कृकलस्तु क्षुते चैव जपाकुसुमसन्निभः ॥३२८॥
विजृम्भणे देवदत्तः शुद्धस्फटिकसन्निभः ।
धनञ्जयस्तथा घोषे महारजतवर्णकः ॥३२९॥

ललाटे चोरसि स्कन्धे हृदि नाभौ त्वगस्थिषु ।
नागाद्या वायवः पंच सहैव परिधिष्ठिताः ॥३३०॥ इति ।

शारदायामपि–

अग्नयो दोषदूष्येषु संलीना दश देहिनः ॥३३१॥ इति ।

एतेषां नामानि योगनिबन्धे–

ते जातवेदसः सर्वे कल्माषः कुसुमस्तथा ।
दहनः शोषणश्चैव तपनश्च महाबलः ।
पिठरः पत्तगः स्वर्णस्त्वगधो भ्राज एव च ॥३३२॥ इति ।

अथ षडूर्मयः शारदायाम्–

बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ ।
शोकमोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मयः ॥३३३॥

षट्कौशिकं च तत्रैव–

स्नाय्वस्थिशुक्रमज्जानः त्वङ्मांसास्त्राणि शोणितात् ।
षट्कौशिकमिदं प्रोक्तं सर्वदेहेषु देहिनाम् ॥३३४॥

अन्यत्रापि–

मृदपः शोणितं मेदो मांसं प्लीहा यकृद् गुदः ।
हृन्नाभीत्येवमाद्यास्तु भावा मातृभवा मताः ॥३३५॥
श्मश्रुलोमकचा स्नायुशिराधमनयो नखाः ।
दशनाः शुक्रमित्यादि स्थिराः पितृसमुद्भवाः ॥३३६॥ इति ।

अन्यदपि यामले–

ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति ते तिष्ठन्ति शरीरके ।
पातालो भूधरा लोका आदित्यादिनवग्रहाः ॥३३७॥
नागाश्च सर्वदेहिनां पिण्डमध्ये व्यवस्थिताः ।
पादाधस्त्वतलं विद्यात् तदूर्ध्वं वितलं तथा ॥३३८॥
जानुनोः सुतलं चैव महातलं सन्धिरन्ध्रके ।
तलातलं गुल्फमध्ये लिंगमले रसातलम ॥३३९॥

पातालं कटिसन्धौ च पादादौ लक्षयेद् बुधः ।
भूर्लोको नाभिदेशे तु भुवो लोकस्तथा हृदि ॥३४०॥

स्वर्लोकः कण्ठदेशे तु महर्लोकश्च चक्षुषि ।
जनलोकस्तदूर्ध्वं च तपोलोको ललाटके ॥३४१॥

सत्यलोको महायोनौ भुवनानि चतुर्दश ।
त्रिकोणे च स्थितो मेरुरूर्ध्वलोके च मन्दरः ॥३४२॥

कैलासो दक्षिणे कोणे वामकोणे हिमालयः ।
गन्धमादो वीथिमध्ये क्रमेण परमेश्वरि ॥३४३॥

विन्दौ विष्णुस्तदूर्ध्वे च सप्तैते कुलपर्वताः ।
अस्मिन् स्थाने च द्रष्टव्यो जम्बूद्वीपो व्यवस्थितः ॥३४४॥

प्लक्षद्वीपश्च मांसेषु क्रौंचद्वीपः शिखासु च ।
शाकद्वीपः पयोरक्ते प्राणिनां सर्वसन्धिषु ॥३४५॥

तदूर्ध्वे शाल्मलिद्वीपः कुशश्च लोमसञ्चये ।
नाभौ च पुष्करद्वीपः सागरास्तदनन्तरम् ॥३४६॥

लवणोदस्तथा मूत्रे शुक्रे क्षीरोदसागरः ।
मज्जा दधिसमुद्रश्च तदूर्ध्वं घृतसागरः ॥३४७॥

वसायामुदकः प्रोक्त इक्षुः स्यात् कटिशोणिते ।
शोणितेषु सुरा प्रोक्ता ख्यातास्ते सागराः प्रिये ॥३४२॥

ग्रहाणां मण्डलं चैव शृणु वक्ष्यामि पार्वति ॥३४९॥

नादचक्रे स्थितः सूर्यो विन्दुचक्रे च चन्द्रमाः ।
लोचने मंगलः प्रोक्तो हृदि सोमसुतस्तथा ॥३५०॥

उदरे गुरुरित्युक्तः शुक्र शुक्रस्तथैव च ।
नाभिचक्रे शनिः प्रोक्तो मुखे राहुः सदास्थितः ॥३५१॥

पादे नाभौ च केतुश्च शरीरे ग्रहमण्डलम् ।
नवमे मासि गर्भस्थः सर्वान् संस्मरते मनः ॥३५२॥

नवद्वारे पुरे देही समयांश्च विकारिकान् ।
सुखदुःखसमं कृत्वा भुङ्क्ते च हृदये नृणाम् ॥३५३॥

सुकृतं दुष्कृतं चैव यत्कृतं पूर्वजन्मनि ।
तत् सर्वं सकलं ज्ञात्वा ऊर्ध्वपादो ह्यधोमुखः ॥३५४॥

तन्त्रान्तरे–

पाल्यंतरितहस्ताभ्यां श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय सः ।
उद्विग्नो गर्भसंवासादास्ते गर्भे लयान्वितः ॥३५५॥
स्मरन् पूर्वानुभूतांश्च नानायोनीश्च यातनाः ।
मोक्षोपायमभिध्यायन् वर्ततेऽभ्यासतत्परः ॥३५६॥

अन्यत्रापि–

कृताञ्जलि र्ललाटेऽसौ मातृपृष्ठमभिश्रितः ।
अध्यास्ते संकुचद्गात्रो गर्भे दक्षिणपार्श्वतः ॥३५७॥
वामपार्श्वस्थिता नारी क्लीवं मध्याश्रितं मतम् । इति ।

यामले–

इत्थंभूतस्तदा गर्भे पूर्वजन्मशुभाशुभम् ।
स्मरँस्तिष्ठति दुःखात्मा छन्नदेहो जरायुणा ॥३५८॥
कालक्रमेण स शिशु र्मातरं क्लेशयत्यपि ।
गर्भे च सुप्रविष्टेऽपि तिमिते घोरदर्शने ॥४५९॥
यदि माता सुखं भुङ्क्ते ह्यन्नपानादिकं ततः ।
जनन्या नाभिदेशे तु मुखं दत्त्वा पिबत्यसौ ॥
ततो जीवति गर्भोऽसावन्यथा मरणं भवेत् ॥३६०॥

किंचिद्विशेषो योगार्णवेः–

आविश्य भुक्तमाहारं स वायुः कुरुते द्विधा ।
स प्रविश्यान्त्रमध्यस्थं पृथक् किट्टं पृथक् जलम् ॥३६१॥
अग्नेरूर्ध्वं जलं स्थाप्य तदन्नं च जलोपरि ।
जलस्याधः स्वयं प्राणः स्थित्वाग्निं धमते शनैः ॥३६२॥
वायुना व्यूह्यमानोऽग्निरत्युष्णं कुरुते जलम् ।
अन्नं तदुष्णतोयेन समन्तात् पच्यते पुनः ॥३६३॥

द्विधा भवति तत् पक्वं पृथक् किट्टं पृथग् रसम् ।
रसेन तेन ता नाडीः प्राणान् पूरयते पुनः ॥३६४॥
प्रतर्पयन्ति संपूर्णास्तच्च देहं समतन्तः ।
मातृ रसवहानाडीमनुबद्धा पराभिधा ॥
नाभिस्थनाडीगर्भस्य मात्राहृतरसावहा ॥३६५॥ इति ।

अन्यत्रापि—

त्रसरेणुद्वयं जन्तुः क्षणमात्रेण वर्धते ।
नाडिकामात्रतो यूकायुगलं च मुहूर्ततः ॥
यूकानां वेदसंख्यं च दिनमात्राद् यवद्वयम् ॥३६६॥ इति ।

यामले—

अभ्यस्यामि शिवं ज्ञानं संसारार्णवतारकम् ।
चिरयोगी तथा भूत्वा मुक्तो यास्यामि तत्क्षणम् ॥३६७॥
एवं विचिन्त्यमानोऽसौ गर्भसंप्राप्तसंकटः ।
निःसार्यते तदा बालः प्रबलैः सूतिमारुतैः ॥३६८॥
पतितोऽपि न जानाति मूर्च्छितोऽपि ततश्च सः ।
सूतिवातगभीरेण योनिरन्ध्रस्य पीडनात् ॥३६९॥
विस्मृतं सकलं ज्ञानं गर्भे यच्चिन्तितं हृदि ।
यथा भवति उल्वेषु सूतिभूतेषु पीडनात् ॥३७०॥
मातरं स्मरते नित्यं बुभुक्षादौ च रोदिति ।
रक्ताधिकाद् भवेन्नारी भवेत् शुक्राधिकात् पुमान् ।
नपुंसकं च जायेत समे च रक्तबीजयोः ॥३७१॥ इति ।

अन्यच्च प्रयोगसारे विशेषः—

द्वाविंशतिरजोभागाः शुक्रमात्राश्चतुर्दश ।
गर्भसंजनने काले पुंस्त्रियोः संभवन्ति हि ॥३७२॥
नारी रजोऽधिकेंऽशे स्यान्नरः शुक्राधिकेंऽशके ।
उभयोरुक्तसंख्यायां स्यान्नपुंसकसंभवः ॥३७३॥ इति ।

अन्यदपि वाग्भटे–

स्त्रीपुंसोः सामरस्ये तु प्राप्ते शुक्रार्तवे पुनः ।
वायुना बहुधा भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता ॥३७४॥
वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतै र्मलैः ।
पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता ॥३७५॥
शुक्रगर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ।
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाऽब्दयोः पुनः ।
रोगाल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव च ॥३७६॥
पंचैतानि च सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ।
आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ॥३७७॥
बालकश्च शिशुश्चैव गण्डः कैशोरकस्तथा ।
ततः परं तु युवकः प्रौढश्चैव ततः परम् ॥
अतिप्रौढस्तथा वृद्धस्त्वतिवृद्धस्ततः परम् ॥३७८॥
प्रमितं मरणञ्चैव अवस्थाः परिकीर्तिताः ।
तत्क्षणादेव गृह्णाति शरीरमातिवाहिकम् ॥३७९॥
केवलं तन्मनुष्याणां नान्येषां प्राणिनां क्वचित् ।
प्रेतदेहमिति प्रोक्तं क्रमादेतन्न संशयः ॥३८०॥
ततः सपिण्डीकरणे बान्धवैः सुकृतेन वै ।
पूर्णे सम्वत्सरे देहस्ततोऽन्यो हि प्रपद्यते ॥३८१॥
ततः स नरकं याति स्वर्गं वा स्वेन कर्मणा ।
देवत्वमथ मानुष्यं पशुत्वं पक्षिता तथा ॥३८२॥
कृमित्वं स्थावरत्वं च जायते जन्मकर्मभिः ।
स्थावरा जंगमाद्याश्च पक्षिणः पशवो नराः ॥३८३॥
जायन्ते च म्रियन्ते च संसारे दुःखसागरे ।
कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते ॥३८४॥
देहे विनष्टे तत्कर्म पुन र्देहं प्रलभ्यते ।
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ॥३८५॥

तथा शुभाशुभं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ।
प्राक्तनं बलवत् कर्म कोऽन्यथा कर्त्तुमर्हति ॥३८६॥
देहः कर्मात्मकः प्रोक्तस्तत्र देवि ! प्रतिष्ठितम् ।
कर्मयोगानुरूपेण निर्माणं विधिना दिशेत् ॥३८७॥
चराचरमिदं सर्वं देहः कर्मात्मकं प्रिये ।
माता कर्म पिता कर्म कर्मैव परमं गुरुः ॥३८८॥
स्वर्गं वा नरकं वापि कर्मणैव लभेन्नरः ।
सुखदुःखमयैः स्वीयैः पुण्यपापै र्नियन्त्रितः ॥३८९॥
तत्तज्जातियुतं देहं संभोगं च स्वकर्मजम् ।
तत्र जन्मसहस्राणां सहस्रै रपि पार्वति ॥३९०॥
कदाचिल्लभते जन्तु र्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ।
निद्राभीमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः ॥३९१॥
ज्ञानवान् मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः प्रिये ।
सम्पदं स्वप्नसंकाशं यौवनं कुसुमोपमम् ॥३९२॥
तडिच्चञ्चलमायुश्च यस्य ज्ञानं स मानवः ।
चतुराशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् ॥३९३॥
न मानुष्यं विनान्यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते ।
ब्रह्मविष्णुमहेशादिदेवता भूतजातयः ॥३९४॥
नाशमेवानुधावन्ति तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ।
स्वदेहधनदारादिनिरताः सर्वजन्तवः ॥३९५॥
जायन्ते च म्रियन्ते च हा हन्ताऽज्ञानमोहिताः ।
प्रभवं सर्वदुःखानामाश्रमं सकलापदाम् ॥३९६॥
आलयं सर्वपापानां संसारं वर्जयेत् प्रिये !
प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ॥३९७॥
आमकुम्भ इवाम्भस्थो विशीर्णश्च विभाव्यते ।
अपत्यं मे कलत्रं मे धनं मे बान्धवाश्च मे ॥३९८॥

लपन्तमिति मर्त्यं च हन्ति कालो वृकोदरः ।
पृथिवी दह्यते येन मेरुश्चापि विशीर्यते ॥४६६॥
शुष्यते सागरजलं शरीरे देवि ! का कथा ।
मोहपाशमयैः पाशै र्नरो बद्धो हि तिष्ठति ॥४००॥
स्त्रीधनादिषु संसक्तो मुच्यते न कदाचन ।
अशक्ता देहकर्माणि सुखदुःखानि भुञ्जते ॥४०१॥
परतंत्राज्ञानिनो देवि ! यान्त्यायान्ति पुनः पुनः ।
अबन्धबन्धनं संगमसत्संगं महाविषम् ॥४०२॥
सत्संगश्च विवेकश्च निर्मलं लोचनद्वयम् ।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः ॥४०३॥
द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तु र्न ममेति प्रमुच्यते ॥४०४॥
ममेत्यध्यसनाद् बद्धो विमुक्ति र्न ममेति च ।
मांसलुब्धो यथा मत्स्यो लौहं शंकुं न पश्यति ॥४०५॥
सुखलुब्धस्तथा देही यमबाधां न पश्यति ।
ज्ञात्वा पापविनिर्भिन्नं सिक्तं विषयसर्पिषा ॥४०६॥
रागद्वेषानलैः पक्वं मृत्युरश्नाति मानवम् ।
स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति कुलेश्वरि ॥४०७॥
स्त्रीमातृधनपुत्रादिसंबन्धः केन हेतुना ।
शतं जीवति सत्पुण्यो निद्रा तस्यार्धहारिणी ॥४०८॥
बालभोगजरादुःखैरर्धं तदपि निष्फलम् ।
दुःखमूलो हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः ॥४०९॥
तस्य त्यागः कृतो येन सः सुखी नापरः प्रिये ।
प्रभाते मलमूत्राभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां मध्यगे रवौ ॥४१०॥
रात्रौ मदननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मानवाः सदा ।
दिव्यौषधं न सेवन्ते महाव्याधिविनाशनम् ॥४११॥

तद्व्याधिवर्धनाऽपथ्यं कुर्वन्ति हि कुभेषजम् ।
सुकर्म फलदं हित्वा दुष्कर्माणि करोति यः ॥४१२॥
कामधेनुं समाक्रम्य ह्यर्कक्षीरं स मृग्यति ।
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ॥४१३॥
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंचयः ।
अध्रुवेण शरीरेण प्रतिक्षणविनाशिना ॥४१४॥
ध्रुवं यो नार्जते धर्मं सज्ञेयो मूढचेतनः ।
न पुत्रोऽपि सहायार्थं पिता माता न गच्छति ॥४१५॥
न च पुत्री न च ज्ञाति धर्मस्तिष्ठति केवलम् ।
पुत्रदारमयैः पाशैः पुमान् बद्धो न मुच्यते ॥४१६॥
पण्डिते चैव मूर्खे च बलिन्यप्यथ दुर्बले ।
ईश्वरे च दरिद्रे च मृत्योः सर्वत्र तुल्यता ॥४१७॥
राजतः सलिलादग्नेश्चौरतश्च जलादपि ।
भयं देहवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥४१८॥
सद्यः स्वकार्यं कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमप्यथवाऽकृतम् ॥४१९॥
कर्मणा मनसा वाचा यो धर्मनिरतः सदा ।
अफलाकांक्षिचित्तो यः स मोक्षमधिगच्छति ॥४२०॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं तन्मायाजनितस्य च ।
किमन्यमपि देवेशि ! मोहयेदमरानपि ॥४२१॥

तथा च मार्कण्डेये–

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत् ।

अस्यार्थः–तया महामायया, जगत् सम्मोह्यते । न केवलं जगत् देवानपि ।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥४२२॥

ज्ञानिनामिति प्रशंसायामिनिः । नित्यज्ञानिनामपीत्यर्थः । महती चासौ माया चेति महामाया । ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मोहजनकत्वात् महामाया ।

तथा चोक्तं यामले–

सा एव माया प्रकृति र्या मोहयति शंकरम् ।
हरिं तथा विरञ्चिं च तथैवान्यांश्च निर्जरान् ॥४२३॥

कालिकापुराणे–

गर्भान्तर्ज्ञानसम्पन्नं प्रेरितं सूतिमारुतैः ।
उत्पन्नं ज्ञानरहितं कुरुते या अहर्निशम् ॥४२४॥

पूर्वातिपूर्वजन्मोत्थ-संसारेण नियोज्य च ।
आहारादौ ततो मोहं ममत्वं ज्ञानसंशयम् ॥४२५॥

क्रोधोपरोधलोभेषु क्षिप्त्वा क्षिप्त्वा पुनः पुनः ।
पश्चात् कामो नियोज्याशु चिन्तायुक्तमहर्निशम् ॥४२६॥ इति ।

मोहपरत्वे नारदं प्रति विष्णुवाक्यम्–

महद्विष्णोरहंकारो बभूव सहसेति च ।
सर्वं मल्लोमकूपेषु विश्वमेवाहमीश्वरः ॥४२७॥

संहारभैरवो भूत्वा तं जग्राह स लीलया ।
कलहे गंगया सार्धं वाण्या नारायणाग्रतः ॥४२८॥

सरस्वतीं च तत्याज तस्या दर्पं बभञ्ज सः ।
दर्पयुक्ता महालक्ष्मी र्बभूव सहसा मुने ॥४२९॥

पराभूता महादेव ! जयेन विजयेन च ।
दर्पयुक्तां सतीं वीक्ष्य शम्भुस्तत्याज सत्वरम् ॥४३०॥

लज्जामवाप सा देवी तस्या दर्पं बभञ्ज सः ।
बभूव दर्पः सावित्र्याः वेदमाताऽहमेव च ॥४३१॥

काले चकार तस्याश्च सुपुत्रायात्मदर्शनम् ।
बभूव दर्पो गंगाया अहं निर्वाणदेति च ॥४३२॥

जह्नुद्वारा च तद् दर्पं जहार जगतांपतिः ।
जहार माहिषं दर्पं दुर्गाद्वारा पुरा मुने ॥४३३॥

श्रीदाम्नः शापयोगेन राधा दर्पं बभञ्ज सः ।
ब्रह्मणः सहसा ब्रह्मन्निति दर्पो बभूव ह ॥४३४॥

अहं त्रिजगतां धाता कर्त्ता हर्त्ताहमीश्वरः ।
तं ब्रह्मणां समूहं च दर्शयामास तत्क्षणात् ॥४३५॥

कालेन मोहिनीद्वारा तमपूज्यं चकार सः ।
पुनस्तद्दर्पभंगश्च शिवद्वारा बभूव ह ॥४३६॥

विष्णो र्बभूव गर्वश्च जगत्पाताहमीश्वरः ।
तदात्मविस्मृतिस्तत्र बभूव रामजन्मनि ॥४३७॥

अहं विश्वं बिभर्मीति शेषे दर्पो बभूव ह ।
तद्दर्पं गरुडद्वारा चूर्णीभूतं चकार सः ॥४३८॥

स्वयं शिवः स्वदर्पं च विवाहं न चकार सः ।
तं ज्ञात्वा मायया मोहं कृत्वा स्त्रीसंयुतं हरम् ॥४३९॥

पुन र्जहार तत्पत्नीं दक्षकन्यां महासतीम् ।
वर्षं शुशोच तद्देहं क्रोडे कृत्वा तु शंकरः ॥४४०॥

जन्मान्तरे च संप्राप्तस्तां सतीं पार्वतीं मुदा ।
पुन र्वृकासुराद् भीतो जगाम शरणं हरेः ॥४४१॥

भगवानपि तस्यार्थे दैत्यं भस्मीचकार सः ।
केदारकन्यकाद्वारा धर्मदर्पं बभञ्ज सः ॥४४२॥

यमो माण्डव्यशापेन शूद्रयोनिमवाप ह ।
तदा पुनः शताब्दान्ते ततः शूद्रो बभूव सः ॥४४३॥

साम्बोऽपि मातृशापेन गलत्कुष्ठी बभूव ह ।
तदा सूर्यव्रतं कृत्वा पुनः शुद्धो बभूव ह ॥४४४॥

चन्द्रो दर्पमदेनैव जहार च गुरोः प्रियाम् ।
बभूव दर्पभंगश्च यक्ष्मग्रस्तोऽभवत्तदा ॥४४५॥

सूर्यदर्पस्तेजसा च हन्तुं शंकरकिंकरम् ।
सुमालीत्यभिधं दैत्यं ज्वलन्तं च स्वतेजसा ॥४४६॥

सूर्यं दृष्ट्वा शंकरश्च शूलेनैव जघान ह ।
पुनश्च तं महादेवो जीवयामास सत्त्वरम् ॥४४७॥

वह्नि र्दप्तो भृगोः शापात् सर्वभक्षी बभूव सः ।
जयस्य विजयस्यापि दर्पभंगो बभूव ह ॥४४८॥

वैकुण्ठात् पतितः सोऽभूत् ब्रह्मशापच्छलेन च ।
त्वमेवासीन्नारदश्च पुरा पुत्रः प्रजापतेः ॥४४९॥

गन्धर्वश्च पितुः शापात् शूद्रपुत्रस्ततः क्रमात् ।
शक्राभिमानभङ्गं च गौतमेन चकार सः ॥४५०॥

कामदर्पं हरक्रोधज्वाला भस्मीचकार सः ।
कार्त्तवीर्यं दर्पभङ्गं रामद्वारा बभूव ह ॥४५१॥

शरभेन नृसिंहस्य [1]रामस्य रघुवंशतः ।
दुर्वाससोऽम्बरीषेण लक्ष्मणस्य च रावणात् ॥४५२॥

सुमेरो र्वायुना भग्नोऽगस्त्येन च समुद्रजः ।
पृथुना च पृथिव्याश्च दर्पभङ्गो बभूव ह ॥४५३॥

विप्रपुत्रस्य मरणे हरणे कृष्णयोषिताम् ।
कर्णेन सार्धं समरे पार्थदर्पं बभञ्ज ह ॥४५४॥

एवं मायासमाविष्टाः हन्ताऽज्ञानविमोहिताः ।
अविद्याभ्यसितात्मानः सर्वे सर्वं प्रचक्रिरे ॥४५५॥ इति ।

सा महामाया द्विविधा । विद्या, अविद्या च । या महामाया मुक्ते र्हेतुभूता सा विद्या । या महामाया संसारबन्धनहेतुभूता सा अविद्या ।

तदुक्तं मार्कण्डेये-

सा विद्या परमा मुक्ते र्हेतुभूता सनातनी ।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥४५६॥ इति ।

अन्यच्च-

विद्या वाप्यथवा विद्या द्वावेव माययाऽऽवृते ।
तत् कर्म यच्च बन्धाय सा विद्या परिकीर्तिता ॥४५७॥

---

[1]रामस्य परशुरामस्य ।

यन्न बन्धाय तत्कर्म सा विद्या परिकीर्तिता ।
विद्या तु सर्वदा सेव्या नाविद्यापि कथंचन ॥४५८॥

अविद्या कर्मबन्धः स्यात् तस्मिन् ज्ञानं प्रणश्यति ।
ज्ञाननाशाद् भवेद् हानि र्हानौ संहरणं पुनः ॥४५९॥

संहारात्तु भवेद् घोरो घोरं नरकमेव च ।
तस्मादविद्या कुत्रापि नैव सेव्या कथंचन ॥
या विद्या सा महामाया सा तु सेव्या सदा बुधैः ॥४६०॥

'योऽविद्यामुपासते सोऽपि तमः प्रविशति ।' इत्यादि श्रुत्या स्मृत्या च - संसारनियतिरूपा अविद्या । तद्विपरीता विद्या ।

तथाच रुद्रयामले-

सुखदा मोक्षदा नित्या सर्वभूतेषु संस्थिता ।
यदा तुष्टा भवेन्माया तदा सिद्धिमुपालभेत् ॥४६१॥

वन्दनीया सदा स्तुत्या पूजनीया च सर्वदा ।
श्रोतव्या कीर्त्तितव्या च माया नित्या नगात्मजे ॥४६२॥

वृथा न कालं गमयेद् द्यूतक्रीडादिना सुधीः ।
गमयेद् देवतापूजा-जपयज्ञस्तवादिना ॥४६३॥

किमन्यैरसदालापै र्यत्रायु र्व्ययतामियात् ।
तस्मान्मन्त्रादिकं सर्वं विज्ञाय श्रीगुरो र्मुखात् ।
सगुणोपासनपरो निर्गुणत्वेन चिन्तयन् ॥४६४॥

भक्तियुक् तन्मनस्कश्च शरणागतभावनः ।
शरण्यं परमेशानं चिन्तयेत् स्थिरमानसः ॥
सुखेन मुच्यते देवि ! घोरसंसारसागरात् ॥४६५॥ इति ।

भक्तिलक्षणं तन्त्रान्तरे-

संसारे यत्र यद् वस्तु विद्यते यत्र कुत्रचित् ।
व्याप्यत्वेन स्वरूपेण विभुः सर्वत्र व्यापकः ॥४६६॥

इति सञ्चिन्त्य मनसा सेवनीयः प्रभुर्मुदा ।
आशाऽपि स्वामिनोऽन्यस्मात् कर्तव्या न कदाचन ॥४६७॥

विलोक्यावसरं तस्य स्वार्थं चैव निवेदयेत् ।
एवं सेवां प्रकुर्याद् यः प्रशस्तः सेवकः स्मृतः ॥४६८॥

अथ शरणागतलक्षणं तत्रैव–

भरन्यासः स्वभाराणां स्वामिन्येव निवेदनम् ।
प्रतिकूलस्य सन्त्यागश्चानुकूल्येन वर्त्तनम् ॥
विरोधी स्वामिनस्त्याज्यो विश्वसेदपि स्वामिनि ॥४६९॥इति।

यः शरण्यस्य शरणमागच्छति स शरणागतः । तत्र लक्षणचतुष्टयं संगच्छते ।

अथ शरण्यलक्षणम्–

वात्सल्यत्वं सुशीलत्वं भरत्वं स्वामिता तथा ।
ज्ञानं स्वतन्त्रता चैव शरण्यलक्षणं त्विदम् ॥४७०॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे तृतीयः पटलः ॥३॥

अथ चतुर्थः पटलः।

यामले–

एवं लक्षणसम्पन्नः सुशीलः सर्ववित् स्थिरः ।
पुरुषार्थसमावाप्त्यै सच्छिष्यो गुरुमाश्रयेत् ॥४७१॥

तस्मान्मन्त्रादिकं सर्वं विज्ञाय श्रीगुरो र्मुखात् ।
सुखेन मुच्यते देवि ! घोरसंसारसागरात् ॥४७२॥

तदेव यामले–

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि यथा त्वं परिपृच्छसि ।
विना दीक्षां न मोक्षः स्यात् प्राणिनां शिवशासनात् ॥४७३॥

न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि सः ।
द्वयोरभ्यासयोगेन ब्रह्मसंसिद्धिकारकम् ॥४७४॥

तमःपरिवृते गेहे घटो दीपेन दृश्यते ।
एवं मायावृतो ह्यात्मा मनुना गोचरीकृतः ॥४७५॥

संप्राप्ते षोडशे वर्षे दीक्षां कुर्यात् समाहितः ।
स्पर्शखण्डे यथा स्पृष्टमयः सौवर्णतां व्रजेत् ॥
दीक्षाविद्धस्तथा ह्यात्मा शिवत्वं लभते ध्रुवम् ॥४७६॥ इति ।

दीक्षाशब्दार्थमाह कुलार्णवे–

दिव्यज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापक्षयं यतः ।
तस्माद् दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥४७७॥

मन्त्रमुक्तावल्याम्–

जपो देवार्चनविधिः कार्यो दीक्षान्वितै र्नरैः ।
उपचारसहस्रै स्तु योजितो भक्तिसंयुतः ॥४७८॥ इति ।

यामले–

अदीक्षितार्चनं देवा न गृह्णन्ति कदाचन ।
कर्माऽखिलं वृथा यस्मात् तस्माददीक्षितः पशुः ॥४७९॥

अतः सर्वाश्रमेषु दीक्षाया आवश्यकत्वम् ।

तथा अन्यत्रापि–

दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परं तपः ।
देवि ! दीक्षाविहीनस्य न सिद्धि र्न च सद्गतिः ॥४८०॥

अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपयज्ञादिकाः क्रियाः ।
न भवेत्तु फलं तेषां शिलायामुप्तबीजवत् ॥४८१॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ।
अदीक्षितोऽपि मरणे रौरवं नरकं व्रजेत् ॥४८२॥

नादीक्षितस्य कार्यं स्यात् तपोभि र्नियमै र्व्रतैः ।
न तीर्थगमनेनापि न च शारीरयन्त्रणैः ॥४८३॥

कोटिजन्मार्जितं पापं ज्ञाताज्ञातकृतं च यत् ।
दीक्षाग्रहणमात्रेण पलायति न संशयः ॥४८४॥

ब्रह्महत्या सुरापानं स्वर्णस्तेयादिपातकम् ।
उपपातकलक्षाणि हन्ति दीक्षाग्रहान्नरः ॥४८५॥ इति ।

क्रियासारे–

कल्पे दृष्ट्वा तु यो मन्त्रं जपते तु विमूढधीः ।
मूलनाशो भवेत्तस्य फलमस्य सुदूरतः ॥४८६॥

तथा च यामले–

गुरो र्मुखान्महाविद्यां गृह्णीयात् पापनाशिनीम् ।
तस्माद् यत्नाद् गुरुं कृत्वा मन्त्रसाधनमाचरेत् ॥४८७॥

गुरुशब्दार्थो यामले–

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रिधात्मा गुरुरव्ययः ॥४८८॥

गुरुलक्षणं सारसंग्रहे–

विशुद्धमातापितृको जितेन्द्रियः
सर्वागमज्ञः परदुःखकातरः ।
यथार्थवाग् वेदविदङ्गपारगः
शान्तः कुलीनो गुरुरीरितो द्विजः ॥४८९॥ इति ।
'द्विज' इत्युपादानात् नान्यः ।

अन्यत्रापि–

शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेषवान् ।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचि र्दक्षः सुबुद्धिमान् ॥४९०॥
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मन्त्र-तन्त्र-विशारदः ।
निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते ॥४९१॥
संसारसागरे मग्नान् यस्तारयति देहिनः ।
तत्त्वप्लवप्रदानेन स एव हि गुरुः स्मृतः ॥४९२॥ इति ।

तथा च तन्त्रे–

अनाचारोऽपि च द्विजो वर्णानां गुरुरेव सः ।

अन्यत्रापि–

स्वधर्मनिरतो भूत्वा श्रुत्वा द्विजगुरो र्मुखात् ॥
सर्वसिद्धिमवाप्नोति शीघ्रं देवत्वमाप्नुयात् ॥४९३॥

शूद्रः शूद्रमुखाच्छ्रुत्वा विद्यां वा मन्त्रमुत्तमम् ।
गृहीत्वा नरकं याति दुःखं प्राप्नोति नित्यशः ॥४९४॥

अथ निन्द्यशिष्यलक्षणम्–

पापिने क्रूरचेष्टाय शठाय कृपणाय च ।
निन्दकाय च मूर्खाय तीर्थद्वेषपराय च ॥४९५॥

भक्तिहीनाय देवेशि ! न देया मलिनाय च ।
गुरुता शिष्यता वापि तयो र्वत्सरवासतः ॥४९६॥ इति ।

सारसंग्रहेऽपि–

सद्गुरुः स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत् ॥४९७॥

अपरीक्षणे दोषस्तत्रैव–

राज्ञि चामात्यजो दोषः पत्नी-पापं स्वभर्तरि ।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुं प्राप्नोति निश्चितम् ॥४९८॥इति ।

यामले विशेषः–

वर्षैकेन भवेद् योग्यो विप्रो गुणसमन्वितः ।
वर्षद्वयात्तु राजन्यो वैश्यस्तु वत्सरैस्त्रिभिः ॥
चतुर्भि र्वत्सरैः शूद्रः कथिता शिष्ययोग्यता ॥४९९॥

तथा योगिनीतन्त्रे-

पितु र्मन्त्रं न गृह्णीयात् तथा मातामहस्य च ।
सोदरस्य कनिष्ठस्य वैरिपक्षाश्रितस्य च ॥५००॥

गणेशविमर्शिण्याम्–

यते र्दीक्षा पितुर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिनः ।
विविक्ताश्रमिणो दीक्षा न सा कल्याणदायिका ॥५०१॥

यामले च–

न पत्नीं दीक्षयेद् भर्त्ता न पिता दीक्षयेत् सुताम् ।
न पुत्रं च तथा भ्राता भ्रातरं नैव दीक्षयेत् ॥५०२॥

प्रमादाच्च तथाऽज्ञानात् पितुर्दीक्षां समाचरन् ।
प्रायश्चित्तं ततः कृत्वा पुनर्दीक्षां समाचरेत् ॥५०३॥

पितुरिप्युपलक्षणं मातामहादीनामपि । प्रायश्चित्तं तु अयुतसावित्रीजपः । सर्वत्र तथा दर्शनात् । 'दशसाहस्रजापेन सर्वकल्मषनाशिनी' इति वाक्यात् ।

सिद्धमन्त्रो यदि पतिस्तदा पत्नीं च दीक्षयेत् ।
शक्तित्वेन वरारोहे न च सा पुत्रिका भवेत् ॥५०४॥

तथा च सिद्धयामले–

यदि भाग्यवशाद् देवि ! सिद्धविद्यां लभेत् प्रिये ।
तदैव तां तु दीक्षेताकृत्वा गुरुविचारणाम् ॥५०५॥

तथा मत्स्यसूक्तेऽपि–

निर्बीजं च पितुर्मन्त्रं शैवे शाक्ते न दुष्यति ।

इति कौलिकमन्त्र-दीक्षापरम् । अथवा शाक्ते तारादिविद्यायाम् । मत्स्यसूक्ते 'निजकुलतिलकाय ज्येष्ठपुत्राय दद्यादि'ति वचनात् ।

श्रीक्रमेऽपि–

मनुर्विमृश्य दातव्यो ज्येष्ठपुत्राय धीमते ॥५०६॥

तथा विष्णुमन्त्रमधिकृत्य–

साधु पृष्टं त्वया ब्रह्मन् ! वक्ष्यामि सकलं तव ।
ब्रह्मणा कथितं पूर्वं वसिष्ठाय महात्मने ॥५०७॥

वसिष्ठोऽपि स्वपुत्राय मत्पित्रे दत्तवान् स्वयम् ।
प्रसन्नहृदयः स्वच्छः पिता मे करुणानिधिः ।
कुरुक्षेत्रे महातीर्थे सूर्यपर्वणि दत्तवान् ॥५०८॥ इति ।

अन्यच्च–

स्त्रियो दीक्षा शुभा प्रोक्ता मातुरष्टगुणा स्मृता ।
स्वप्नलब्धा च या दीक्षा तत्र नास्ति विचारणा ॥५०९॥

स्त्रीपदं सर्वस्त्रीपरम् ।

तल्लक्षणं योगसारे च–

साध्वी चैव सदाचारा गुरुभक्ता जितेन्द्रिया ।
सर्वतन्त्रार्थसारज्ञा सधवा पूजने रता ।
गुरुयोग्या भवेदेषा विधवां परिवर्जयेत् ॥५१०॥

यत्तु– 'विधवायाः सुतादेशात् कन्यायाः पितुराज्ञया ।' इति विधवाया गुरुत्वे यदुक्तं, तदमूलम् । समूलत्वेऽपि सिद्धमन्त्रपरम् तथा च 'सिद्धमन्त्रे नरः सर्वमयोग्यं योग्यतां नयेत् ।' इति वचनबलात् साधितमन्त्रपरम् ।

योगिनीहृदये–

स्वप्नलब्धे तु कलशे गुरोः प्राणान् निवेशयेत् ।
वटपत्रे कुङ्कुमेन लिखित्वा ग्रहणं शुभम् ॥
ततः शुद्धिमवाप्नोति अन्यथा विफलं भवेत् ॥५११॥

इदं तु सद्गुरोरभावे । तत्सम्भवे तस्मादेव गृह्णीयात् ।

यामले–

गुरोरभावे मन्त्राणां ग्रहणक्रममुच्यते ।
कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां दक्षिणामूर्त्तिसन्निधौ ॥५१२॥

लिखित्वा राजते पत्रे तालपत्रेऽथवा पुनः ।
मन्त्रं तत् स्थण्डिले स्थाप्य पूजयित्वा महेश्वरम् ॥५१३॥

पायसादि निवेद्यं च कृत्वा तं प्रणिपत्य च ।
शतकृत्वः पठेन्मन्त्रं दक्षिणामूर्त्तिसन्निधौ ॥
सर्वेषां चैव मन्त्राणामेवं ग्रहणमिष्यते ॥५१४॥

अन्यच्च–

नद्याः समुद्रगामिन्यास्तीरे स्थित्वा तथोत्तरे ।
स्थण्डिलं रचयेत् तत्र शुचौ देशे शुभे दिने ॥५१५॥

तालपत्रे लिखित्वा तु मन्त्रं तत्र निधाय च ।
आवाह्य भास्करं तत्र यथाविधि समर्चयेत् ॥५१६॥

तत्सन्निधावष्टशतं पठेत् साधकसत्तमः ।
एवं गृह्णीत मतिमानपूर्वोऽयं विधिः स्मृतः ॥५१७॥
वैष्णवे वैष्णवो ग्राह्यः शैवे शैवश्च शाक्तिके ।
शैवः शाक्तश्च सर्वत्र दीक्षास्वामी न संशयः ॥५१८॥

अथ देशविशेषेण गुरुप्राधान्यम् । तथा च वीरागमे–

कुमारी हिमवन्मध्ये स्वतः कृष्णमृगान्विते ।
देशे जातस्तु यो विद्वानाचार्यत्वमथार्हति ॥५१९॥

एतदेव शिवयोगपद्धतिकार ।

पृथ्वीधराचार्यस्तु–

मध्यदेशकुरुक्षेत्रनाभोज्जयिनिसम्भवाः ।
अन्तर्वेदिप्रतिष्ठाना आवन्त्याश्च गुरूत्तमाः ॥५२०॥
गौडाः शालोद्भवाश्चौलाः मागधाः केरलास्तथा ।
कौसलाश्च दशार्णाश्च गुरवः सप्त मध्यमाः ॥५२१॥
कार्णाटाः कौङ्कणाश्चैव कच्छा भीरोद्भवास्तथा ।
कालिगाः कामरूपाश्च काम्बोजाश्चाधमाः स्मृताः ॥५२२॥ इति ।

वाराहीतन्त्रे–

स्वनाम्ना न गुरुः कार्यो भार्याञ्च मातृनामिकाम् ॥५२३॥

देवीमते च–

आचार्यः शैवशास्त्रज्ञः सितदेशसमुद्भवः ।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा शिवभक्तिपरायणः ॥
यजमानानुकूलर्क्षजन्मा देशिक उच्यते ॥५२४॥

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि–

गृहस्थं ब्रह्मचर्यस्थं ककाराष्टकवर्जितम् ।
गुरुं कुर्वीत सततमुपवासव्रते रतम् ॥५२५॥ इति ।

तथा–

सर्वत्र व्यतिरिक्तं तु आत्मानं वेत्ति यो द्विजः ।
सर्वलक्षणहीनोऽपि स गुरुर्नात्र संशयः ॥५२६॥ इति ।

यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ ।
स एव देशिको ज्ञेयः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥५२७॥

इत्यादीनि बहूनि वाक्यानि विस्तारभिया न लिखितानि ।

अथ दीक्षाफलं यामले–

दीक्षिता ब्राह्मणा यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ।
ऐन्द्रं लोकं क्षत्रियास्तु प्राजापत्यं तथा विशः ॥
शूद्रा गन्धर्वनगरं यान्ति दीक्षाप्रभावतः ॥५२८॥

अत्र शूद्रस्यापि दीक्षाधिकारश्रुतेः 'न शूद्राय मनुं दद्यादिति वचनं वेद-मन्त्रपरं, देवताविशेषपरं मन्त्रविशेषपरं वा द्रष्टव्यम् ।

तन्त्रान्तरे–

प्रणवाद्यं न दातव्यं मन्त्रं शूद्राय सर्वथा ।
आत्ममन्त्रं गुरोर्मन्त्रं मन्त्रं चाजपसंज्ञकम् ॥५२९॥
स्वाहाप्रणवसंयुक्तं शूद्रे मन्त्रं ददन् द्विजः ।
शूद्रो निरयमाप्नोति ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥५३०॥

तथा वाराहीतन्त्रे–

गोपालस्य मनुर्देयो महेशस्यापि पादजे ।
तत्पत्न्याश्चापि सूर्यस्य गणेशस्य मनुं तथा ।
एषां दीक्षाधिकारी स्यादन्यथा पापभाग् भवेत् ॥५३१॥

इति वचनादन्यदेवता मन्त्रेशूद्रस्याऽनधिकारः ।

नृसिंहतापनीयेऽपि–

सावित्रीं प्रणवं यत्तु लक्ष्मीं स्त्रीशूद्रयो र्नेच्छन्तीति ॥५३२॥

लक्ष्मीं श्रीबीजम् । लक्ष्मीमन्त्रमिति केचित् । गोपालस्य दशाक्षरः श्यामायाः द्वाविंशत्यक्षरश्च मन्त्रः स्वाहागर्भोऽपि देयः ।

अतएव क्रमदीपिकायाम्–

नात्र सिद्ध्याद्यपेक्षास्ति न वा सिद्धारिचिन्तनम् ।
न चाधिकारिचिन्ताऽत्र ग्रहणे कालिकामनोः ॥५३३॥इति।

इति कालीकुलसर्वस्वे। तस्माद् गोपालस्य दशाक्षरे श्यामाया द्वाविंशत्यक्षर-मन्त्रग्रहणे च शूद्रस्याधिकारः ।

भूतशुद्धौ–

तन्त्रोक्तं प्रणवं देवि ! वह्निजायां च सुन्दरि ।
प्रजपेत् सततं शूद्रो नात्र कार्या विचारणा ।।५३४।। इति ।

अन्यत्रापि–

अघोरो दक्षिणामूर्तिरुमा माहेश्वरो मनुः ।
हयग्रीवो वराहश्च लक्ष्मीनारायणस्तथा ।।५३५।।

प्रणवाद्याश्चतुर्वर्णा वह्नेर्मन्त्रास्तथा रवेः ।
प्रणवाद्यो गणपति र्हरिद्रागणनायकः ।।५३६।।

सौराष्टाक्षरमन्त्रश्च तथा रामषडक्षरः ।
मन्त्रराजो ध्रुवादिश्च प्रणवो वैदिको मनुः ।।५३७।।

वर्णत्रयाय दातव्या एते शूद्राय नो बुधैः ।
सुदर्शनः पाशुपत आग्नेयास्त्रं नृकेसरी ।।५३८।।

वर्णद्वयाय दातव्या नान्यवर्णे कदाचन ।
छिन्नमस्ता च मातङ्गी त्रिपुरा कालिका शिवः ।।५३९।।

लघुश्यामा कालरात्रि र्गोपालो जानकीपतिः ।
उग्रतारा भैरवश्च देया वर्णचतुष्टये ।।५४०।।

मृगीदृशां विशेषेण मन्त्रा एते सुसिद्धिदाः ।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा नार्यधिकारिणी ।।५४१।।

अन्यच्च चिदम्बरे–

मायां कामं श्रियं वाचं प्रदद्यान्मुखजन्मने ।
मायामृते बाहुजेभ्य ऊरुजेभ्यः श्रियं गिरम् ।।५४२।।

वाणीबीजं तु शूद्रेभ्योऽन्येभ्यो वर्म-वषट्-नमः ।
येषां मनूनां सिद्धादिशोधनं नास्ति तान् ब्रुवे ।।५४३।।

एकवर्णस्त्रिवर्णो वा पञ्चार्णो रसवर्णकः ।
सप्तार्णो नववर्णश्च रुद्रार्णो रदनाक्षरः ।।५४४।।

अष्टार्णो हंसमन्त्रश्च कूटो वेदोदितो ध्रुवः ।
स्वप्नलब्धः स्त्रिया प्राप्तो मालामन्त्रो नृकेसरी ॥५४५॥

प्रासादो रविमन्त्रश्च वाराहो मातृका परा ।
त्रिपुरा काममन्त्रश्च सुसिद्धः पक्षिनायकः ॥५४६॥

बौद्धमन्त्रा जैनमन्त्रा नैषु सिद्धादिशोधनम् ।
एतद् भिन्नेषु मन्त्रेषु शुद्धिरावश्यकी मता ॥५४७॥

तथा च सिद्धसारस्वते-

नृसिंहार्कवराहाणां प्रासाद-प्रणवस्य च ।
सपिण्डाक्षरमन्त्राणां सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥५४८॥

स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च त्र्यक्षरे ।
वैदिकेषु च मन्त्रेषु सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥५४९॥ इति ।

अथ सिद्धविद्याः चामुण्डातन्त्रे, मुण्डमालायामपि-

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी ।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ॥५५०॥

वगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमला तथा ।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः ॥५५१॥

नात्र सिद्धाद्यपेक्षास्ति न नक्षत्रविचारणा ।
कालादिशोधनं नास्ति न चामित्रादिदूषणम् ॥५५२॥

सिद्धविद्या तथा नात्र युगसेवापरिश्रमः ।
नास्ति किञ्चिन्महादेवि ! दुःखसाध्यं कथञ्चन ॥५५३॥

इत्यादिवचनादेषु विचाराभावः । तथापि याथार्थ्ये प्रशंसापरमेव । यतः सर्वत्र विचारस्यावश्यकत्वं, दुरदृष्टवशात् कदाचिदरिमन्त्रस्य स्वप्नादौ प्राप्त्या तद्दोषस्य दृष्टत्वादिति साम्प्रदायिकाः । अतएव सिद्धादिशोधनक्रमं कालादिनियममपि बृहद्दीक्षापटले लिखामः ।

विशेषस्तु गुप्तदीक्षातन्त्रे-

मृतमप्यनुगच्छेत विद्यामन्त्रो विशेषतः ।
मन एव मनुष्यस्य पूर्वकर्माणि शंसति ॥५५४॥

यदि न स्यान्महेशानि ! मनुष्यस्य कथं भवेत् ।
दीक्षायां च मनो भद्रे ! पूर्वजन्मस्मृतिं विना ॥५५५॥

तस्माच्च यत्नतो देवि ! पूर्वविद्यां समुद्धरेत् ।
वकुलाश्वत्थवटकं पत्ररत्नं शृणु प्रिये ॥५५६॥

वटपत्रे महेशानि शक्तिमन्त्रं लिखेद् गुरुः ।
अश्वत्थे विष्णुमन्त्रं च वकुले शिवमन्त्रकम् ॥५५७॥

रक्तेन चन्दनेनाथ काश्मीरेणाथवा प्रिये ।
शक्तिमन्त्रं लिखेद् देवि चन्दनै विष्णुमन्त्रकम् ॥
भस्मना शिवमन्त्रं च विलिखेत् परमेश्वरि ॥५५८॥

सप्तपत्रेषु तत्तद्देवतामन्त्रं लिखेदित्यर्थः ।

प्राणप्रतिष्ठां तन्मन्त्रे कारयेद् यत्नतः सुधीः ।

तत्तद्देवतायाः प्राणप्रतिष्ठां कुर्यादित्यर्थः ।

यथाशक्त्युपचारेण सम्पूज्य परमेश्वरि ॥५५९॥

ततः शिष्योऽर्घपात्रं तु हस्ते कृत्वा महेश्वरि ।
अनेन मनुना देवि भास्कराय निवेदयेत् ॥५५०॥

आपः क्षीरं कुशाग्राणि घृतं दधि तथा मधु ।
रक्तानि करवीराणि तथा रक्तं च चन्दनम् ॥
अष्टाङ्ग एषोऽर्घो वै भानवे परिकीर्तितः ॥५५१॥

मन्त्रस्तु–

ॐ भो देव ! पृथिवीपाल ! सर्वशक्तिसमन्वित ।
ममार्घञ्च गृहाण त्वं पूर्वविद्यां प्रकाशय ॥५५२॥

अर्घं दात्वा नमस्कृत्य कृताञ्जलिः पठेत् ततः ।
न दद्यात् भास्करायार्घं शंखतोयै महेश्वरि ॥५५३॥

ॐ सूर्यः सोमो यमः कालो महाभूतानि पञ्च च ।
एते शुभाशुभस्येह कर्मणो नव साक्षिणः ॥५५४॥

ॐ सर्वे देवाः शरीरस्थाः मम मन्त्रस्य साक्षिणः ।
पूर्वजन्मार्जितां विद्यां मम हस्ते प्रकाशय ॥५५५॥

पठित्वेदं महेशानि सत्वरं पत्रमुद्धरेत् ।
उद्धृत्य पत्रमेकं तु गुरो र्हस्ते प्रदापयेत् ॥५६६॥
गुरुस्तामक्षरश्रेणीमुद्धृत्य परमेश्वरि ।
सेतुं दत्वा महेशानि ! तन्मन्त्राष्टशतं जपेत् ॥५६७॥
शिष्यस्य मस्तके हस्तं दत्वा चाष्टशतं जपेत् ।
गुरुस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शिष्यस्तत्सम्मुखस्थितः ॥५६८॥
आचम्य संयतो भूत्वा प्राणायामं विधाय च ।
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा ऋष्यादिकसमन्वितम् ॥५६९॥
अष्टकृत्वो जपेन्मन्त्रं दक्षकर्णे महेश्वरि ।
एषा दीक्षा सर्वतन्त्रे शाक्तेयी परिकीर्तिता ॥५७०॥
गुरोर्लब्धां महाविद्यामष्टोत्तरशतं जपेत् ।
गुरवे दक्षिणां दद्यात् वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥५७१॥
गुरवे गुरुपुत्राय तत्पत्न्यै वा प्रदापयेत् ।
गुरोः प्रीतिसमुत्पत्तौ देवता प्रीतिमाप्नुयात् ॥५७२॥
देवे तु प्रीतिमापन्ने मन्त्रसिद्धि र्भवेद् ध्रुवम् ।
पत्ररत्नप्रदानेन दीक्षां कुर्यात् कलौ युगे ॥५७३॥
ततः सिद्धो भवेन्मन्त्री नात्र कार्या विचारणा ।
एतद् ज्ञानं विना देवि ! दीक्षां कुर्याच्च यो नरः ॥५७४॥
दीक्षा च विफला तस्य देवता न प्रसीदति ।
दीक्षां प्राप्य ततः शिष्यो दण्डवत् प्रणमेद् गुरुम् ॥५७५॥

ततो गुरुर्वदेत्–

उत्तिष्ठ वत्स ! मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव ।
कीर्तिः श्रीः कान्तिमेधायुर्बलारोग्यं सदाऽस्तु ते ॥५७६॥इति ।

अत्र मन्त्रतन्त्रप्रकाशे विशेषः–

अपि चान्यं प्रवक्ष्यामि मन्त्रसिद्धिकरं परम् ।
मन्त्रसाधकयोरैक्यं दुर्लभं भुवि मानवैः ॥५७७॥

उक्तं सांकर्षणे तन्त्रे शिवेनाऽखिलवेदिना ।
आनन्दाख्ये पञ्चरात्रे शुक्राय कवये पुरा ॥५७८॥

संस्कृतं पूजितं मन्त्रं दत्वा शिष्याय देशिकः ।
कुर्यादथ तयोर्मध्ये शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥५७९॥

मन्त्रं विदर्भयित्वा तु नामवर्णैर्यथाक्रमम् ।
आद्यन्ते सकलं नाम ततः प्रणवमालिखेत् ॥५८०॥

स्वराः पत्रेषु संलेख्या ध्यायेत् तानमृतात्मकान् ।
भूर्जे रोचनगन्धाद्यैः पद्ममध्ये सुशोभने ॥५८१॥

मृदा पवित्रयाऽऽवेष्ट्य तत्पुनः सिक्थकेन च ।
निक्षिपेन्मधुरे तत्तु मृण्मये लघुभाजने ॥५८२॥

क्षीरपूर्णे तु वै कुम्भे तत् क्षिपेल्लघुभाजनम् ।
धारयेद् देशिकः कुम्भमग्निकुण्डसमीपतः ॥५८३॥

मन्त्रसाधकयोरैक्यसिद्ध्यर्थं जुहुयात् ततः ।
मूलमन्त्रेण मन्त्रज्ञः सहस्रं शतमेव वा ॥५८४॥

कुम्भे सम्पातयेच्चैव मधुराणां त्रयं शुभम् ।
निधाय निक्षिपेत् कुम्भं शनैस्तं महदम्भसि ॥५८५॥

मन्त्रसाधकयोरैक्यं भवेदेव फलप्रदम् ।
एतद् यो न विजानाति नाऽसौ देशिक उच्यते ॥५८६॥

रहस्यं कथितं चैतन्न देयं यस्य कस्यचित् ।
उत्तमाय तु शिष्याय प्रियपुत्राय वा वदेत् ॥५८७॥ इति ।

अन्यच्च यामले—

स्नानसंध्ये सदाचारं नित्यं काम्यं तथैव च ।
मन्त्रसिद्धिप्रकारांश्च शिष्यायाभिवदेद् गुरुः ॥५८८॥

मन्त्रं दत्वा गुरुर्देवि ! उपवासं समाचरेत् ।
महान्धकारनरके कृमिर्भवति नान्यथा ॥५८९॥

पुनरपि यामले—

दीक्षां कृत्वा यदा मन्त्री उपवासं समाचरेत् ।
तस्य देवः सदा रुष्टः शापः पतति मूर्धनि ॥५९०॥

तत्त्वसारे च-

चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये ।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते ॥५६१॥

दीक्षायां विचारे दोषमाह गुप्तदीक्षातन्त्रे-

यः कुर्याच्चक्रगणनां दीक्षायां पशुपामरः ।
स भ्रष्टः स च पापिष्ठो विष्ठायां जायते कृमिः ॥५६२॥
किं कुलेन धनेनैव राश्यादिकविचारणे ।
सिद्ध-साद्धच-सुसिद्धारिविचारे किं प्रयोजनम् ॥५६३॥
नास्ति सत्यं महेशानि ! नक्षत्रादिविचारणा ।
राश्यादिगणना नास्ति शंकरेणेति भाषितम् ॥५६४॥

आगमकल्पद्रुमे-

रविसंक्रमणे चैव सूर्यस्य ग्रहणे तथा ।
तत्र लग्नादिकं किञ्चित् न विचार्यं कथंचन ॥५६५॥

यामले-

शरत्काले युगाद्यायां ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
बोधने चैव दुर्गायाः कालाकालं न शोधयेत् ॥५६६॥

मत्स्यसूक्ते-

ग्रहणे च महातीर्थे नास्ति कालस्य निर्णयः ।
सोमग्रहे विष्णुमन्त्रं सूर्ये शक्ति न चाचरेत् ॥५६७॥

यामले-

सूर्यग्रहे शक्तिमन्त्रं न प्रदद्यात् जिजीविषुः ।
न गृह्णीयादपि तथा यदीच्छेदात्मनो हितम् ॥५६८॥ इति ।

शक्तिमन्त्रपदं पंचमीपरम् । यत्तु-
'श्रीकामकालीबीजानि लोपा दौर्गार्कियो मनुः ।
भवेदुपग्रहे लब्धो नृणां शीघ्रफलप्रदः ॥'

'पराश्रीकामबीजानि' इति कुलमूलावतारे पाठः। पूर्ववाक्ये न शक्तिमन्त्रं श्रीविद्यापरम्। शिवदीक्षाटीकाकारस्त्वेवमेव मन्यते ।

यामले-

लग्ने वाप्यथवाऽलग्ने यत्र तत्र तिथावपि ।
गुरोराज्ञानुरूपेण दीक्षा कार्या विधानतः ॥५९९॥
न तिथि र्न व्रतं पूजा न स्नानं न जपक्रिया ।
दीक्षायां कारणं ज्ञानं स्वेच्छाप्राप्ते सदा गुरोः ॥६००॥
सर्वे वाराः ग्रहाः सर्वे नक्षत्राणि च राशयः ।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरुः सर्वं शुभावहम् ॥
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः ॥६०१॥ इति ।

विश्वसारे-

गृहीत्वा च महाविद्यां जपेज्जीवावधि प्रिये ।
महागुरुनिपातादौ न पूजायां विकल्पना ॥६०२॥
मोहाद् वा यदि वा दैवात् पूजयेन्न च साधकः ।
तस्य सर्वविनाशः स्यान्मारयेत् तं सदाशिवः ॥६०३॥
अशुचौ वा शुचौ वापि सर्वकालेऽपि सर्वदा ।
पूजयेत् परया भक्त्या नात्र कार्या विचारणा ॥६०४॥ इति ।

यामलेऽपि-

पूजयेत् सूतके वापि जनने शवजेऽपि वा ।
सर्वत्रैव विधिः प्रोक्तः सर्वकामफलप्रदः ॥
बाह्यपूजाक्रमेणैव ध्यानयोगेन वा यजेत् ॥६०५॥

देवीविषये-

पूजा कार्या विशेषेण विधिना साधकोत्तमैः ॥६०६॥ इति ।

वाराहीतन्त्रे विशेषः-

तारायाश्चैव काल्याश्च छिन्नायाश्चैव सुव्रते ।
सूतके मृतके चैव न त्यजेद् वै जपार्चनम् ॥६०७॥ इति ।

यामलेऽपि-

अशुचि र्वा शुचि र्वापि गच्छन् तिष्ठन् स्वपन्नपि ।
न दोषो मलिने जापे सर्वदेवेषु सर्वदा ॥६०८॥

विश्वसारेऽपि–

जाग्रतेऽपि शयानेऽपि भुञ्जाने गमनेऽपि वा ।
सिद्धमन्त्रे न दोषः स्यान्नाशौचनियमस्तथा ॥
न कल्पना दिवा रात्रौ न च सन्ध्यावसानके ॥६०९॥इति ।

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे मन्त्रग्रहणादिः चतुर्थः पटलः ॥४॥

अथ पञ्चमः पटलः ।

एवं दीक्षां प्राप्य श्रीगुर्वाचारं पालयेत् । अथ श्रीगुर्वाचारनिर्णयः तन्त्रे–

गुरुः सर्वसुराधीशो गुरुः साक्षी कृताकृते ।
सम्पूज्य सकलं कर्म कुर्यात् तस्याज्ञया सदा ॥६१०॥

गमनं पूजनं जाप्यं मननं भोजनं तथा ।
गृहीत्वाज्ञां गुरोः कुर्यात् तस्य सिद्धिर्विना जपात् ॥६११॥

त्रिसन्ध्यं श्रीगुरो ध्यानं त्रिसन्ध्यं पूजनं गुरोः ।
त्रिसन्ध्यं भावयेन्नित्यं गुरुं परमकारणम् ॥६१२॥

स्वगुरुं हि विना देवि ! नान्यञ्च गुरुमर्चयेत् ।
प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा प्रत्यहं प्रणमेद् गुरुम् ॥६१३॥

एकग्रामस्थितः शिष्यः प्रत्यहं प्रणमेद् गुरुम् ।
क्रोशमात्रस्थितो भक्त्या प्रत्यहं प्रणमेद् गुरुम् ॥६१४॥

अर्धयोजनगः शिष्यः प्रणमेत् पञ्चपर्वसु ।
एकयोजनमारभ्य योजनद्वादशावधि ॥६१५॥

तत्तत्संख्यागतै र्मासैः श्रीगुरुं प्रणमेत् प्रिये ।
यदि दूरेषु चार्वङ्गि ! स्वगुरु र्नगनन्दिनि ।
संवत्सरस्य मध्ये तु पूजयेद् विधिनाऽमुना ॥६१६॥

पूजाक्रमस्तु परातन्त्रे, तथा च देवीं प्रति भैरववाक्यम्–

गुरुपूजां प्रवक्ष्यामि सर्वतन्त्रेषु गोपिताम् ।
दीक्षां गृहीत्वा विधिवद् गुरोः कुलविचक्षणात् ॥६१७॥

तदाज्ञां शिरसाऽऽदाय साधयेत् स्वमनुं ततः ।
संप्राप्ते पर्वकाले तु तथाभ्युदयपर्वणि ॥६१८॥

गुरुमानीय देवेशि ! शून्यगेहे चतुष्पथे ।
श्मशाने वा वने वापि स्वगृहे वापि पार्वति ॥
तत्र भूमौ लिखेद् यन्त्रं यथावद् वर्ण्यते मया ॥६१९॥

विन्दुं त्रिकोणं वसुकोणबिम्बं
वृत्ताष्टपत्रं शिखिवृत्तयुक्तम् ।
धरागृहं वह्नितटोभिरीड्यं
यन्त्रं गुरोर्देवि ! मया प्रदिष्टम् ॥६२०॥

सिन्दूरेण विलिख्याथ पूजयेच्चक्रमीश्वरि ।
गणेशधर्मवरुणकुवेरसहिताः शिवे ॥६२१॥

द्वाःस्थाः पूज्याः सुपुष्पैश्च गन्धाक्षतपुरसरैः ।
असिताङ्गो रुरुश्चण्डः क्रोधेशोन्मत्तभैरवौ ॥६२२॥

कपाली भीषणो देवि ! संहारोऽर्च्योऽष्टपत्रके ।
परमानन्दनाथश्च प्रकाशानन्दनाथकः ॥६२३॥

श्रीभोगानन्दनाथश्च समयानन्दनाथकः ।
गगनानन्दनाथश्च विश्वानन्दस्तथेश्वरि ॥६२४॥

भुवनानन्दनाथश्च श्रीस्वात्मानन्दनाथकः ।
अष्टौ कुलगुरून् देवि ! पूजयेद् वसुपत्रके ॥६२५॥

मदनानन्दनाथञ्च श्रीलीलानन्दनाथकम् ।
महेश्वरानन्दनाथं पूजयेद् वै त्रिकोणके ॥६२६॥

विन्दौ गुरुञ्च सम्पूज्य गन्धाक्षतपुरःसरैः ।
तत्र विन्दौ गुरुं देवि ! स्थापयेद् भक्तिपूर्वकम् ॥६२७॥

सम्पूजयेत् स्वमूलेन दक्षिणां कालिकां यजेत् ।
महाकालं यजेत् तत्र कामं कामेश्वरीं ततः ॥६२८॥

गुरुं च परमं देवि ! परमेष्ठिगुरुं ततः ।
परात्परगुरुं चैव स्वगुरो मूर्ध्नि तं यजेत् ॥६२९॥

सम्पूज्य विविधैः पुष्पै र्माल्यैराभरणोत्तमैः ।
दक्षिणाभि र्महेशानि भक्ष्यै र्भोज्यैः सलेह्यकैः ॥६३०॥

चोष्यैः पेयैश्च खाद्यैश्च बलिं दत्त्वा च तर्पयेत् ।
आनन्दरससम्पूर्णं गुरुं बुद्ध्वा महेश्वरि ।
तत्र देवि गुरुं नत्वा प्रार्थयेत् स्वमनोरथम् ॥६३१॥

एवं सम्पूजयेद् देवि ! स्वगुरुं पुण्यवासरे ।
स एव भैरवः साक्षात् भुक्तिमुक्त्योश्च भाजनम् ॥६३२॥

यस्य तुष्टो गुरुर्देवि ! तस्य तुष्टा महेश्वरी ।
गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः ॥६३३॥

गुरुमभ्यर्चयेन्नित्यं येन तुष्यति सुन्दरी ।
एवं यो नार्चयेद् देवि ! स भवेद् ब्रह्मराक्षसः ॥६३४॥ इति ।

अन्यच्च यामले–

एकत्र गुरुणा सार्धं स्वपेदुपविशेत्तु यः ।
स याति नरकं घोरं यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥६३५॥

गुरुणाऽऽलोकितः शिष्य उत्तिष्ठेदासनं त्यजेत् ।
जातिविद्याधनाऽहन्तां दूरीकृत्य गुरुं मुदा ॥६३६॥

प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ प्रदक्षिणमथाचरेत् ।
आयान्तमग्रतो गच्छेद् गच्छन्तं तमनुव्रजेत् ॥६३७॥

प्रणम्य प्रवसेत् पार्श्वे तदा गच्छेत् तदाज्ञया ।
मुखावलोकं सेवेत कुर्यादाज्ञां तदाहृतः ॥६३८॥

असत्यं न वदेदग्रे न बहु प्रलपेदपि ।
ऋणदानं तथाऽऽदानं वस्तूनां क्रयविक्रयौ ॥६३९॥

न कुर्याद् गुरुणा सार्धं शिष्यो देवि ! कथञ्चन ।
गुरु र्माता पिता स्वामी बान्धवश्च सुहृद् गुरुः ॥६४०॥

इत्याधाय मनो नित्यं यजेत् सर्वात्मना गुरुम् ।
गुरोरग्रे पृथक् पूजामौद्धत्यं परिवर्जयेत् ॥६४१॥

दीक्षां व्याख्यां विभुत्वं च गुरोरग्रे परित्यजेत् ।
आसनं शयनं वस्त्रं भूषणं पादुकां तथा ॥६४२॥

छत्रं चामरमन्यच्च यद् यदिष्टं सुपूरयेत् ।
यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ ॥६४३॥

ऐक्यं विभाव्य देवेशि ! एवं भक्तिक्रमे स्थितः ।
गुरुशय्याऽऽसनं यानं पादुकोपानहौ तथा ।
स्नानोदकं तथा छायां लंघयेन्न कदाचन ॥६४४॥

अन्यत्रापि—

देवच्छायां गुरुच्छायां शक्तिच्छायां न लंघयेत् ।
यदि प्रमादतो देवि गुरोरग्रे प्रपूजयेत् ॥६४५॥

स याति नरकं घोरं सा पूजा विफला भवेत् ।
रिक्तहस्तेन नो पश्येद् राजानं देवतां गुरुम् ॥६४६॥

फलपुष्पादि चादाय यथाशक्त्या समर्पयेत् ।
भक्त्या वित्तानुसारेण गुरुमुद्दिश्य यत् कृतम् ॥६४७॥

स्वल्पमेव महत्तुल्यं न च शाठ्यकृतं यदि ।
गुर्वर्थे कृपणो देवि ! रौरवं नरकं व्रजेत् ॥६४८॥

गुरुवाक्यानृतंकृत्य आत्मवाक्यं तु रोपयेत् ।
गुरुं जेतुं मनो यस्य पच्यते नरकार्णवे ॥६४९॥

गुरोर्नाम न भाषेत जपकालादृते क्वचित् ।
देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताम् ।
सिद्धं सिद्धादिवासांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ॥६५०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशः शूद्राश्च नगनन्दिनि ।
भुञ्जते परया भक्त्या गुरोरुच्छिष्टभोजनम् ॥६५१॥

आगच्छेद् यदि चार्वङ्गि ! गुरुः शिष्यस्य मन्दिरे ।
शिष्यस्य तद्दिनं देवि ! कोटिसूर्यग्रहैः समम् ॥६५२॥

चन्द्रग्रहणकालं हि तद्दिनं वरवर्णिनि ।
गुरोर्दर्शनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६५३॥

गुरुं वा गुरुपुत्रं वा पत्नीं वा वरवर्णिनि ।
विलंघ्य यदि चार्वङ्गि ! गच्छेत् साधकसत्तमः ।
तत्क्षणात् चञ्चलापाङ्गि ! नरकं चोत्तरोत्तरम् ॥६५४॥

साक्षाद् वापि परोक्षे वा गुरोराज्ञां समाचरेत् ।
परोक्षे तदनुज्ञाया विधानं शृणु पार्वति ॥६५५॥

पूजाकाले तु चार्वङ्गि ! आगच्छेत् शिष्यमन्दिरे ।
गुरुर्वा गुरुपुत्रो वा तत्पत्नी वा महेश्वरि ॥६५६॥

तदा पूजां परित्यज्य पूजयेत् स्वगुरुं प्रिये ।
यद्यप्यल्पं गुरुद्रव्यमदत्तं स्वीकरोति यः ।
तिरश्चां योनिमाप्नोति क्रव्यादै र्भक्ष्यते सदा ॥६५७॥

सहस्रारे गुरोः पादपद्मं ध्यात्वा प्रपूज्य च ॥
स्तुत्वा च प्रीणयेदेवं मनसा ध्यानतत्परः ॥६५८॥

अथ प्रार्थनामन्त्रः-

ॐ विहितं विदधे नाथ ! विधेयं यत् कृपाकर ।
अविरुद्धं भवत्वत्र तत् त्वदीयप्रसादतः ॥
इति मन्त्रेण सम्प्रार्थ्य ततः कर्म समाचरेत् ॥६५९॥

महिषमर्दिनीतन्त्रे देवीं प्रति शिववाक्यम्-

दिव्यं वीरं च चार्वङ्गि ! पूर्वोक्तं बहुशः प्रिये ।
मानवस्य क्रमं देवि ! संक्षेपात् कथयामि ते ॥६६०॥

गुरुश्च परमश्चैव परमेष्ठी परात्परः ।
स्वगुरुः परमेशानि साक्षाद् ब्रह्म न संशयः ॥६६१॥

तत्पिता परमगुरुः स्वयं विष्णुः क्षितौ सदा ।
तत्पिता परमेष्ठिस्तु स महेश्वर ईरितः ।
परब्रह्म महेशानि ! तत्पिता तु परात्परः ॥६६२॥

तत्पितेत्यनेन तद्गुरु र्बोध्यः ।

अत एव श्रीगुरुनमस्कारमन्त्रे-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६६३॥

अखण्डमण्डलाकारं सर्वव्यापि सदाशिवम् ।
सर्वेषां सर्वदं देवं प्रणमामि पुनः पुनः ॥६६४॥

त्रिसन्ध्यं श्रीगुरो ध्यानं त्रिसन्ध्यं पूजनं गुरोः ।
त्रिसन्ध्यं भावयेन् नित्यं गुरुं परमकारणम् ॥६६५॥

गुरुं विना वरारोहे ! न हि सिद्धिः कदाचन ।
गुरुं स्मृत्वा महेशानि ! दिवसे दिवसे नरः ॥६६६॥

पूजयेन्मानसैर्गन्धैर्धूपैर्दीपैस्तथोत्तमैः ।
भक्ष्यैर्भोज्यैस्तथा पेयैर्दधिदुग्धैरनेकधा ॥६६७॥

पनसैर्नारिकेलैश्च तथा रम्भाफलैः प्रिये ।
अन्नैर्नानाविधैर्देवि पूजयेत् स्वगुरुं प्रिये ॥६६८॥

गन्धैर्मल्यैश्च गिरिजे पूजयेद् भक्तितः सदा ।
स्वर्णैश्च पट्टवस्त्रैश्च तथा कार्पाससम्भवैः ॥६६९॥

अतिचित्रैर्विचित्रैश्च विविधैश्च मनोहरैः ।
आसनैर्विविधैर्देवि रक्तकंबलकैस्तथा ॥६७०॥

तथा नानाविधैर्द्रव्यैः पूजयेत् स्वगुरुं प्रिये ।
तथैव गुरुपत्नीं च पूजयेत् कुलनायिके ॥६७१॥

गुरुवद् गुरुपुत्रेषु गुरुवत् तत्सुतादिषु ।
तदभावे च तत्पत्नीं पुत्रं वा पौत्रमर्चयेत् ॥६७२॥

तदभावे गुरोः कन्यां स्नुषां चापि प्रपूजयेत् ।
एषामभावे देवेशि ! गुरुगोत्रं प्रपूजयेत् ॥६७३॥

गोत्राभावे वरारोहे तथा मातामहस्य च ।
मातुलं मातुलानीं वा पूजयेद् विधिपूर्वकम् ॥६७४॥

यदि नो पूजयेद् देवि ! अनेन विधिना गुरुम् ।
प्रायश्चित्तीभवेद् देवि ! तत्क्षणादेव साधकः ॥६७५॥

काशीसमं महेशानि ! यः पश्येद् गुरुमन्दिरम् ।
शिवतुल्यो भवेदेव तत्क्षणात् साधकाग्रणीः ॥६७६॥

यद् यदिष्टतमं लोके साधकस्य शुचिस्मिते ।
तत्सर्वं गुरवे दद्यात् भक्त्या परमया युतः ॥६७७॥

तदैव सहसा सिद्धिः साधकस्य भवेद् ध्रुवम् ।
पूजाकाले यदा गच्छेद् गुरुः शिष्यस्य मन्दिरम् ॥६७८॥

तदा पूजां परित्यज्य पूजयेत् स्वगुरुं शिवे ।
देवतापूजनार्थं च यद्यत् पुष्पादिकं भवेत् ॥६७९॥

तेन सम्पूज्य श्रीनाथं सिद्धो देवत्वमाप्नुयात् ।
गुरोरभावे तत्पूजामाज्ञायां सर्वथा चरेत् ॥६८०॥

मानसैरुपचारैश्च इति शास्त्रस्य निर्णयः ।
गुरुपत्नीं महेशानि ! साक्षाद् देवीं विभावयेत् ॥६८१॥

गणेशसदृशं देवि ! गुरुपुत्रं विभावयेत् ।
गुरुमुद्दिश्य यद् दानमक्षयं तद् भवेत् शिवे ॥६८२॥

गुरौ प्रीतिं समुद्दिश्य दानं कुर्यात् स्वशक्तितः ।
गुरोः प्रीतिसमुत्पत्तौ देवता प्रीतिमाप्नुयात् ॥६८३॥

देवे तु प्रीतिमापन्ने मन्त्रसिद्धि र्भवेद् ध्रुवम् ।
गुरोः समीपे नो ब्रूयान् मिथ्यां साधकसत्तमः ।
गुरो र्देवमयी मूर्ति र्वर्तते भुवि स्वेच्छया ॥६८४॥ इति ।

श्रीक्रमेऽपि–

उत्पादकब्रह्मदात्रो र्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
तस्मान्मन्येत सततं पितुरप्यधिकं गुरुम् ॥६८५॥

ज्ञानार्णवे–

गुरौ मनुष्यबुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरभावनाम् ।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ॥६८६॥

जन्महेतू हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नतः ।
गुरुर्विशेषतः पूज्यो धर्माधर्मप्रदर्शकः ॥६८७॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्मनुः ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥६८८॥

गुरोर्हितं हि कर्तव्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
अहिताचरणाद् देवि ! विष्ठायां जायते कृमिः ॥६८९॥

मंत्रत्यागाद् भवेन्मृत्यु र्गुरुत्यागाद् दरिद्रता ।
गुरुमंत्रपरित्यागाद् रौरवं नरकं व्रजेत् ।
गुरुसेवापरो मंत्री देवोपासनमाचरेत् ॥६९०॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे गुर्वाचारो नाम पंचमः पटलः ॥५॥

षष्ठः पटलः ।

अथ क्रमप्राप्तोपास्ति लिख्यते ।
यच्च यामले कुलार्णवे च—

आभिरूप्याच्च बिंबस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासात् सान्निध्यं देवता भजेत् ॥६९१॥

गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यात्मपोषणम् ।
सुकर्मरचितं दत्तं पुनस्ता एव पोषयेत् ॥६९२॥

एवं सर्वशरीरस्थो घृतवत् परमेश्वरः ।
विना चोपासनाद् देवि ! न ददाति फलं नृणाम् ॥६९३॥

ध्यातः स्मृतः पूजितो वा नमितो वापि यत्नतः ।
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि पूजितो यो विमुक्तिदः ॥६९४॥ इति ।

नन्वित्यादिवाक्यैः पूजादिकस्य चतुर्वर्गप्रदत्वं संभवति । पुनश्च ब्रह्मणो निर्गुणस्य केन कथं पूजादिकं कार्यं शरीररहितत्त्वात् । तदेवं केन प्रकारेण चतुर्वर्गफलं दातुं शक्यते इत्याशंक्याह । सगुणनिर्गुणभेदेन ब्रह्मणो द्वैविध्यम् ।
तदाह श्रीरामतापनीये कुलार्णवे च—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥६९५॥

चिन्मयस्य ज्ञानमयस्य । अद्वितीयस्यैकस्य ।

यदाह मार्कण्डेये–चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ।

तच्च योगिनीहृदये स्वच्छन्दसंग्रहे च–

तत्त्वातीतं वरारोहे ! वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं शिवाख्यं परमं पदम् ॥६९६॥ इति ।

गोपालतापनीये श्रुतिरपि–एकमेव परं ब्रह्म माययाभूच्चतुष्टयमिति ।
तथा च श्रुतिः –बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया ।
तथा च अग्निपुराणे–सकलो निष्कलो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमो हरिः । इति ।
स्वच्छन्दसंग्रहेऽपि–सकलं निष्कलं चापि नीरूपं निर्विकल्पकम् । इति ।

एतदेव यामलेऽप्युक्तम्–

सगुणा निर्गुणा चेति महामाया द्विधा मता ।
सगुणा मायया युक्ता तया हीना तु निर्गुणा ॥६९७॥

निष्कलस्य कलया मायया रहितस्य । उपासकानां ज्ञानयोगरहितभक्तानाम् ।

भूतशुद्धौ–

निश्चलं परमं ब्रह्म कुतः प्रकृतितः सुखम् ।
निराकारं निरीहं च रहितमिन्द्रियेण च ॥६९८॥

जन्मकर्मादिकं तस्य ब्रह्मणो नास्ति भामिनि ।
जन्मकर्माणि सर्वाणि प्रकृतेः सन्ति भामिनि ! ॥६९९॥

तथा च लैङ्गे–

सर्वेषामेव मर्त्यानां विभोर्दिव्यं वपुः शुभम् ।
सकलं भावनायोग्यं योगिनामेव निष्कलम् ॥७००॥

योगिनां कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोगयुक्तानामित्यर्थः । कायार्थमुपकारार्थम् ।

तथा च आग्नेये–

साधूनामाश्रमस्थानां भक्तानां भक्तवत्सलः ।
उपकर्ता निराकारस्तदाकारेण जायते ॥७०१॥

एतादृशो ब्रह्मणः रूपकल्पनावतारधारणेति ।

तच्च बृहन्नारदीये–

भक्तानां मोक्षदानाय भवतो रूपकल्पना ॥७०२॥

अन्यदपि मार्कण्डेये श्रीसुमेधसो वाक्यम्–

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् ।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम ॥७०३॥
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा ।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते ॥७०४॥ इति ।

अत एव पुंप्रकृत्योरभेदः ।

तच्चअद्भुतरामायणे–

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति फलहेतवे ।
अभेदञ्चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥७०५॥ इति ।

तथा च शक्तिसङ्गमे–

तेजःपुञ्जमयं देवि ! ब्रह्मरूपं सनातनम् ।
तेजःपुञ्जादेव भूतं जगदेतच्चराचरम् ॥७०६॥
रामो जातः शिवो देवि ! राजराजेश्वरः शिवः ।
श्री सैव सुन्दरी जाता विष्णु र्जातो महेश्वरः ॥७०७॥
लक्ष्मीपति र्यो देवेशि ! स च वै पार्वतीपतिः ।
गौरीपति र्यो देवेशि ! स च लक्ष्मीपतिः प्रिये ॥७०८॥
उभयो र्व्यत्ययो देवि ! जात एवं महेश्वरि ।
गौरीलक्ष्म्यो र्व्यत्ययं हि एवमेव शृणु प्रिये ॥७०९॥
सीता चैव स्वयं गौरी लक्ष्मी श्रीकुलसुन्दरी ।
एवं जातं महेशानि शिवरामात्मकं जगत् ॥७१०॥
क्वचिच्च विष्णुवद्ध्येयं क्वचिच्छैवात्मकं प्रिये ।
अत्रार्थे प्रत्ययो देवि ! शिवरामाद्वयं यतः ॥७११॥
विष्णुध्यानं शिवध्यानं गौरीलक्ष्म्यो र्महेश्वरि ।
शिवरामात्मकं ज्ञानं ब्रह्मरूपं सनातनम् ॥७१२॥

उभयोरन्तरं देवि यः पश्यति स मूढधीः ।
तस्य नाशो भवत्येव नात्र कार्या विचारणा ॥७१३॥

तस्मात् साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणः पुंस्त्रीरूपकल्पनेति ।

विष्णुयामले विष्णुवाक्यं देवीं प्रति–

मातस्त्वत्परमं रूपं तन्न जानाति कश्चन ।
कालाद्याः स्थूलरूपं हि यदर्चन्ति दिवौकसः ॥७१४॥
स्त्रीरूपं वा स्मरेद् देवि पुंरूपं वा स्मरेच्छिवे ।
स्मरेद् वा निष्कलं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥७१५॥ इति ।

स्तनयोन्याद्यवयवावच्छिन्नशरीरः स्त्रीरूपावतारः ।

यथा–

काली नीला महादुर्गा त्वरिता छिन्नमस्तका ।
वाग्वादिनी चान्नपूर्णा तथा प्रत्यङ्गिरा पुनः ॥७१६॥
कामाख्या वशिनी बाला मातङ्गी शैलवासिनी ।
इत्याद्याः सकला विद्याः सदा पूर्णफलप्रदाः ॥७१७॥

अन्यत्रापि–

तामाद्यां केचिदाहुश्च लक्ष्मीं तामपरे जगुः ।
भवानीं चापरे तद्वद् गिरिजेत्यम्बिकेति च ॥७१८॥
दुर्गेति भद्रकालीति चण्डी माहेश्वरी तथा ।
कौमारी वैष्णवी चेति वाराह्यैन्द्रीति चाऽपरे ॥७१९॥
ब्राह्मीति विद्याऽविद्येति मायेति च तथा परे ।
प्रकृतिश्च परा चेति वदन्ति परमर्षयः ॥७२०॥ इति ।

शिश्नाद्यवयवावच्छिन्नः पुंरूपावतारः । यथा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।

एवम्–

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा ।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥७२१॥

नपुंसकस्तु गृहस्थैरनुपास्यः फलाजनकत्वात् । यत्तु–'गृहस्थानां च सर्वेषां ब्रह्म वै ब्रह्मचारिणामिति । सर्वेषामित्युपादानात् शिवविष्णुदुर्गादीनामुपासना कार्या ।

तथा च कौर्मे–

मानुषाणामुमादेवी तथा विष्णुस्तथा शिवः ।
यो यस्याभिमतः पुंसः सा हि तस्यैव देवता ।
किन्तु कार्याविशेषेण पूजिता स्वेष्टदा नृणाम् ॥७२२॥

यामले शिववाक्यम्–

एकं प्रशंसमानेन सर्वे देवाः प्रशंसिताः ।
एकं विनिन्दमानो यः सर्वानेव विनिन्दति ॥७२३॥ इति ।

ईश्वरस्य प्रशंसायां न सुखं निन्दायां न दुःखम् । षडूर्मिरहितत्वात् । किन्तु निन्दकस्य नरकमेव ।

तथा चोक्तं यामले–

देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत् ।
भेदकृन्नरकं याति यावदाभूतसंप्लवम् ॥७२४॥ इति ।

वाराहेऽपि–

यथा दुर्गा तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः ।
एतत् त्रयं त्वेकमेव न पृथग्भावयेत् सुधीः ॥७२५॥

योऽन्यथा भावयेद् देवान् पक्षपातेन मूढधीः ।
स याति नरकं घोरं रौरवं पापपूरुषः ॥७२६॥

यामले–

ध्यानगम्यं प्रपश्यन्ति रुचिभेदात् पृथग्धियः ।

तन्त्रान्तरे–

एकैव हि महामाया नामभेदसमाश्रिता ।
विमोहनाय लोकानां तस्मात् सर्वमयो भवेत् ।
सदसद्व्यापिनी शक्तिः पराप्रकृतिरीश्वरी ॥७२७॥ इति ।

प्रकृतिशब्दार्थस्तु प्रकृतिखण्डे–

प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता ॥७२८॥

गुणे सत्त्वे प्रकृष्टे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ ।
मध्यमः कृश्च रजसि तिश्चान्ते तमसि स्मृतः ॥७२९॥

त्रिगुणात्मस्वरूपत्वात् प्रकृतिः कथ्यते श्रुतौ ।
प्रधाना सृष्टिकरणे सर्वशक्तिसमन्विता ॥७३०॥

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधा रूपा बभूव सा ।
पुमांश्च दक्षिणार्धाङ्गो वामार्धा प्रकृतिः स्मृता ॥७३१॥

सा च ब्रह्मस्वरूपा स्यान्नित्या सा च सनातनी ।
यथात्मा च तथा शक्ति र्यथाग्नौ दाहिका स्थिता ॥७३२॥

अत एव हि योगीन्द्रा स्त्रीपुंभेदं न मन्वते ।
सर्वं ब्रह्ममयं विश्वं ब्रह्म सा तच्च नारद ॥७३३॥

स्वेच्छामयस्य देवस्य परमात्मसिसृक्षया ।
आविर्बभूव सहसा मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥३४॥

साऽपि पञ्चविधा भूता सृष्टिकर्मविभेदिका ।
गणेशजननी दुर्गा शिवरूपा शिवप्रिया ॥७३५॥

नारायणी विष्णुमाया पूर्णब्रह्मस्वरूपिणी ।
सुखमोक्षहर्षदात्री दुःखशोकार्त्तिनाशिनी ॥७३६॥

वाग्बुद्धिविद्याज्ञानाधिदेवता परमात्मनः ।
सर्वविद्यास्वरूपा च तृतीया च सरस्वती ॥७३७॥

माता चतुर्णां वेदानां वेदाङ्गानां च छन्दसाम् ।
पवित्ररूपा गायत्री सावित्री ब्रह्मणः प्रिया ॥७३८॥

देवी चतुर्थी कथिता पंचमीं वर्णयामि ते ।
गोलोकवासिनी देवी गोपीवेषविधायिका ॥७३९॥

अथ विद्याक्रमः शक्तिसङ्गमे-

काली तारा छिन्नमस्ता सुन्दरी वगला रमा ।
मातङ्गी भुवना सिद्धविद्या च भैरवी तथा ॥७४०॥

धूमावती च दशमी महाविद्या दश स्मृताः ।
चण्डेश्वरी लघुश्यामा तथा त्रिपुरनायिका ॥७४१॥

त्रयोदश महाविद्या शृणुष्व षोडशीं प्रिये ।
दशपूर्वाश्च संगृह्य जयदुर्गा च शूलिनी ॥७४२॥

अश्वारूढा महाविद्या त्रैलोक्यविजयाभिधा ।
वाराही अन्नपूर्णा च कलासंख्या प्रकीर्तिता ॥७४३॥

अथ विद्यानां भैरवाः-

कालिकाया महाकालः सुन्दर्या ललितेश्वरः ।
तारायाश्च तथाऽक्षोभ्यः छिन्नायाः क्रोधभैरवः ॥७४४॥

भुवनाया महादेवो धूमाया कालभैरवः ।
नारायणो महालक्ष्म्या भैरव्या वटुकः स्मृतः ॥७४५॥

मातंग्याश्च मतङ्गः स्यादथवा स्यात् सदाशिवः ।
मृत्युञ्जयस्तु वगलाविद्यायाः परिकीर्त्तितः ॥७४६॥

अथ [1]विद्यानां प्रादुर्भावः, तत्रादौ कालीप्रादुर्भावः शक्तिसङ्गमे-

युगादिसमये देवि ! यथायोगेन साम्प्रतम् ।
आदिनाथं गुणातीतं काल्या संयुतमीश्वरम् ॥७४७॥

विपरीतरतं देवं सामरस्यपरायणम् ।
पूजार्थमागता देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥७४८॥

वन्दितः प्राह देवेशः सुन्दरीं प्राणवल्लभे ! ।
त्रैलोक्यसुन्दरि ! प्राणस्वामिनि ! प्राणरञ्जिनि ।
किमागतं भवत्याद्य मम भाग्योदयो महान् ॥७४९॥

आदिशक्तय ऊचुः-

संहारात् तारितं देव ! त्वया विश्वं जनप्रिय ।
सृष्टेरारम्भकार्यार्थमुद्युक्तोऽसि महेश्वर ॥७५०॥

---

१. दशमहाविद्यानां प्रादुर्भावः शक्तिसङ्गमे, सविस्तरं निरूपितः ।

तव सामरसानन्ददर्शनार्थं समागताः ।
वर्तते तव देवेश ! चास्माकं सौख्यसागरः ॥७५१॥
एवं श्रुत्वा महादेवो ध्यानावस्थितमानसः ।
ध्यानं हित्वा महादेवः प्रोवाच कालिकां प्रति ॥७५२॥
कालि ! कालि ! मुण्डमालाप्रिये भैरवनादिनि ।
शिवारूपधरे घोरे घोरद्रंष्ट्रे भयानके ॥७५३॥
त्रैलोक्यभक्षणकरि सुन्दर्यः सन्ति तेऽग्रतः ।
सुन्दरीवीक्षणं कर्म कुरु कालप्रिये शिवे ॥७५४॥
ध्यानं मुञ्च महादेवि ता गच्छन्ति गृहं प्रति ।
इति श्रुत्वा कालिका तु तत्रैवान्तरधीयत ॥७५५॥
त्रिंशन्निखर्वषड्वृन्दनवत्यबुर्दकोटयः ।
दर्शनार्थं तपस्तेपे सा वै कुत्र गता प्रिया ॥७५६॥
देव्याः कृपा तदा जाता मम ध्यानपरः शिवः ।
यन्त्रप्रस्तारबुद्धिस्तु शिवे जाता हि सत्वरम् ॥७५७॥
श्रीचक्रराजप्रस्ताररचनाभ्यासतत्परः ।
इतस्ततो भ्राम्यमाणस्त्रैलोक्यं चक्रमध्यगम् ॥७५८॥
वीक्ष्य विभ्रमचित्तोऽभूच्चिन्ताविष्टः सदाशिवः ।
चक्रपारदर्शनार्थं कोट्यबुर्दयुगं गतम् ॥७५९॥
भक्तप्राणप्रिया देवी महाश्रीचक्रनायिका ।
तत्र विन्दौ परं रूपं सुन्दरं सुमनोहरम् ॥७६०॥
रूपं जातं महेशानि जाग्रत्त्रिपुरसुन्दरी ।
रूपं दृष्ट्वा महादेवो राजराजेश्वरोऽभवत् ॥७६१॥
तस्याः कटाक्षमात्रेण तस्या रूपधरः शिवः ।
महानिशासु सञ्जाता भक्तिगम्या कुलेश्वरी ॥७६२॥ इति ।

अथ सुन्दरीप्रादुर्भावः–

एकस्मिन् समये पूर्वं ब्रह्मरूपः सदाशिवः ।
राजराजेश्वरी काली कोटिब्रह्माण्डनायिका ॥७६३॥

देवानुग्रहणार्थाय नानारूपं वितन्वती ।
सद्ब्रह्मभावनां कृत्वा पूर्वं परशिवः स्थितः ॥७६४॥

सर्वं संहारकं कर्म कृत्वा कुण्डं विधाय च ।
चिदग्निकुण्डसम्भूतं सुन्दरं सद्गुणोत्तरम् ॥७६५॥

रूपं जातं महेशानि महारात्रिदिने शिवे ।
अवन्त्यां जातमेतद्धि कालीरूपं गुणोत्तरम् ॥७६६॥

प्रथमा कादिविद्या च हादिविद्या द्वितीयका ।
सर्वा अपि महाविद्या एकरूपा निरन्तरा ॥७६७॥ इति ।

अथ ताराप्रादुर्भावः–

नष्टे ब्रह्माण्डगोले तु नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
तत्र जज्ञे स्वयं विष्णुश्चतुर्भुजसमन्वितः ॥७६८॥

तस्य नाभौ तदा ब्रह्मा जज्ञे देवश्चतुर्मुखः ।
ललाटदेशात् तस्यैव रुद्रश्च जज्ञे स्वयं हरेः ॥७६९॥

ब्रह्मा पप्रच्छ देवेशं विष्णुं त्रिभुवनेश्वरम् ।
कां विद्यां च समाराध्य चतुर्वेदो निगद्यते ॥७७०॥

एवं वै ब्रह्मणा पृष्टो विष्णुः पप्रच्छ शंकरम् ।
कथयामास देवेशो महानीलसरस्वतीम् ॥७७१॥

मेरोः पश्चिमकूले च चोलनाममहाह्रदः ।
तत्र जज्ञे स्वयं देवी माता नीलसरस्वती ॥७७२॥

एतस्मिन्नेव काले तु मेरुशृङ्गपरायणः ।
जपयज्ञं समासाद्य त्रियुगं तपसि स्थितः ॥७७३॥

ममोर्ध्ववक्त्रान्निःसृत्य तेजोराशिस्तदा हरेः ।
ह्रदे चोले निपत्यैव नीलवर्णोऽभवत् पुरा ॥७७४॥

ह्रदस्य चोत्तरे भागे ऋषिरेको महत्तरः ।
अक्षोभ्यनाम चाश्रित्य मुनिवेषधरः शिवः ॥७७५॥

येनादौ जप्यते या तु स तस्य ऋषिरीरितः ।
विश्वव्यापकतोये तु चीनदेशे स्वयं शिवा ॥७७६॥

अकारोपरि टंकारस्तत्रोपरि च हूंकृतिः ।
कूर्चबीजस्वरूपा सा प्रत्यालीढपदाऽभवत् ।
महोग्रतारा सञ्जाता चित्प्रभा श्रीमहाकला ॥७७७॥ इति ।

अथास्या अङ्गभेदाः–

आदौ तु स्पर्शतारा स्यात् ततश्चिन्तामणिः स्मृतः ।
ततः सिद्धिजटा प्रोक्ता उग्रतारा ततः परम् ॥७७८॥

हंसतारा ततो देवि ! निर्वाणरूपिणी कला ।
महानीला महेशानि नीलशांभवरूपिणी ॥७७९॥

महानीलोत्तरं देवि पूर्वसम्राट्लयं शिवे ।
एवमन्येऽपि कथ्यन्ते रहस्यान्यपि पार्वति ॥७८०॥

वटुकः क्षेत्रपश्चैव गणपो योगिनी तथा ।
अक्षोभ्यो विजया वह्निस्तथैव चण्डघुण्टिका ॥७८१॥

श्रीषोढापञ्चकं देवि ! कामसोमादयस्तथा ।
कुल्लुका पञ्चकं देवि तथार्द्रपटिका मता ॥७८२॥

शिवं घोरं पाशुपतं चक्रं तु जयदुर्गकम् ।
अमोघफलदा यक्षी तथा पद्मावती शिवे ॥७८३॥

उद्भटाम्बा बौद्धनाथः पार्श्वनाथस्तथैव च ।
तारिणी यक्षिणी प्रोक्ता मञ्जुघोषो महेश्वरः ॥७८४॥

प्रत्यङ्गिरा नारसिंही भैरवाष्टकमेव च ।
पंचकल्पलतामन्त्राः सर्वकामफलप्रदाः ॥७८५॥

रक्तचामुण्डिका नित्यक्लिन्नाविद्या तथैव च ।
राजवश्यकरा मन्त्रास्तथाऽन्ये खड्गजादयः ॥७८६॥

लुलायखरशार्दूलकपिवश्यकरास्तथा ।
धनुर्विद्या शस्त्रविद्या जलाग्निस्तम्भिनी तथा ।
भयद्वादशहारिण्यस्तेषामङ्गमनुस्तथा ॥७८७॥ इति ।

अथ छिन्नाप्रादुर्भावः-

शृणु देवि ! महाभागे ! छिन्नायाः सम्भवं शुभम् ।
पुरा देवि युगादौ तु कैलासे पर्वतोत्तमे ॥७८८॥
मया सह महामाया शृङ्गारे तत्परा ह्यभूत् ।
ममोपरि समासाद्य वीतरागरता ह्यभूत् ॥७८९॥
शुक्रोत्सरणकाले तु चण्डमूर्त्तिरभूत्तदा ।
उत्सृज्य शुक्रमात्मीयं बहिर्देशं गता तदा ॥७९०॥
एतस्मिन्नेव काले तु सख्यौ तस्या बभूवतुः ।
तस्याः शरीरसम्भूते द्वे शक्ती शुभदायिके ॥७९१॥
डाकिनी वर्णिनी देवि ! सर्वशक्तिसमन्विते ।
सख्यौ सा समुपालभ्य चण्डदेवी महोदया ॥७९२॥
साधूनां च हितार्थाय दुष्टानां च वधाय च ।
पुष्पभद्रानदीतीरे जगाम चण्डनायिका ॥७९३॥
उषःकाले तदा तत्र मज्जनं सा समाकरोत् ।
वर्णिनी डाकिनी तस्यां मज्जनं ते प्रचक्रतुः ॥७९४॥
मध्याह्नसमये तत्र क्षुधायुक्ते बभूवतुः ।
चण्डिकां प्रच्छतस्ते तु भक्षणं परिकल्पय ॥७९५॥
तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा रहस्यं चण्डिका शुभा ।
चिच्छेद निजमूर्धानं निरीक्ष्य सकलं जगत् ॥७९६॥
वामनाड्या गलद्रक्तै र्डाकिनीं पर्यतोषयत् ।
दक्षिणाद् वर्णिनीं देवीं पाययद् रक्तमात्मनः ॥७९७॥
ग्रीवामूलगलद्रक्तै र्मस्तकं पर्यतोषयत् ।
एवं क्रीडां तदा कृत्वा सन्ध्यायां गृहमागता ॥७९८॥
आदाय निजमूर्धानं कबन्धोपरि पार्वती ।
निजमूर्त्ति समासाद्य या पुरा परिकीर्तिता ।
वीररात्रिदिने जाता दिनान्ते परमा कला ॥७९९॥ इति ।

अथ अङ्गभेदाः–

गुरुमन्त्रो मालिनी च कुल्लुकापञ्चकं तथा ।
काली तारा च नकुली मातङ्गी सिद्धिसुन्दरी ॥८००॥

त्रिजटैकजटा श्यामा सभेदा चैव पार्वती ।
विकटा लम्पटा देवी यक्षिणी परिकीर्तिता ॥८०१॥

यक्षस्तु भ्रामको देवि ! दीपिनी परिकीर्तिता ।
दीपिनीकालिकायास्तु गणेशादिचतुष्ककम् ॥८०२॥

वटुकश्च महाकालो क्रोधराजोऽपरोऽपि च ।
पार्श्वमण्डलकं देवि ! महामहिषमर्दिनी ।
भवानी कमलाऽघोरचतुष्कं परमेश्वरी ॥८०३॥ इति ।

अथ षोडशीप्रादुर्भावः–

एकस्मिन् समये देवि ! द्वे शक्ती समुपस्थिते ।
प्रपञ्चमूलो हि शिवः काल्यत्र मम संवद ॥७०४॥

द्वितीयवाक्येऽपि तथा घोरद्रंष्ट्रेति संवद ।
तृतीयवाक्ये देवेशि ! द्वितीयां सुन्दरीं प्रति ॥८०५॥

त्रैलोक्यसुन्दरि प्राणप्रिये ममस्वरूपिणि ।
इत्युक्ते दक्षिणा देवी ब्रह्मरूपाऽथ चण्डिका ॥८०६॥

आदिशक्तिः पूर्वरूपा क्रोधाक्रान्ता बभूव ह ।
तदैव सुन्दरीरूपं सौभाग्यार्णवकं परम् ॥८०७॥

राजराजेश्वरीरूपं बिभ्रती परमेश्वरी ।
तदा परशिवः शंभु विस्मयाश्रितलोचनः ॥८०८॥

महाप्रपञ्चरूपा च कोटिब्रह्माण्डनायिका ।
प्रकर्षेण तु पञ्चानां संयोगो युगपद् भवेत् ॥८०९॥

प्रपञ्चेशीति सा प्रोक्ता सुन्दर्यां च प्रपञ्चता ।
श्रीषोडशी तदा जाता महासाम्राज्यदायिनी ॥८१०॥

इति सत्यं परं प्रोक्तं मोहरात्रिसमुद्भवा ।
महानिशामुखे जाता श्रीविद्या परमा कला ।
शिवकाञ्च्यां च श्रीशैले जाता श्रीत्रिपुराम्बिका ॥८११॥

ब्रह्माण्डपुराणे तु–

पुरा भण्डासुरो नाम सर्वदैत्यशिखामणिः ।
विशुक्रश्च विषङ्गश्च भ्रातरौ द्वौ बभूवतुः ॥८१२॥
शौर्यवीर्यश्रियोन्नद्धौ ब्रह्माण्डक्षयकारकौ ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च दृष्ट्वा तं दीप्ततेजसम् ॥८१३॥
पलायनपराः सन्तः स्वे स्वे धाम्नि सदा वसन् ।
भ्रष्टाधिकारास्त्रिदशाः यक्षाः सिद्धादयस्तथा ॥८१४॥
केचित् पातालगर्भस्थाः केचिदम्बुधिवारिषु ।
एतस्मिन्नन्तरे ज्ञात्वा चराचरनिवासिनी ॥८१५॥
या देवी परमा शक्तिः परब्रह्मस्वरूपिणी ।
चिदग्निकुण्डात् सम्भूता इन्द्रप्रस्थे महामखे ।
जघान भण्डं दैत्येन्द्रं युद्धे युद्धविशारदा ॥७१६॥ इति ।

अथास्या [1]अङ्गभेदाः–

अश्वारूढा महादेवी सम्पत्कर्षा तथैव च ।
श्रीतिरस्करिणी चैव दण्डिनी मन्त्रनायिका ॥८१७॥
बाला च परमेशानी नकुली कुरुकुल्लका ।
ताराम्बिका कामकला नित्याषोडशकं तथा ॥८१८॥
विद्या तुरीया देवेशि ! रश्मिविद्या तथैव च ।
नवचक्रेश्वरी देवी परिवारगणैः सह ॥८१९॥
चतुश्चरणविद्या च तथैव पञ्चपञ्चिका ।
षडासनमहाविद्या पञ्चैव समयाम्बिका ॥८२०॥
ऊर्ध्वाम्नायपराविद्याऽनुत्तराम्नायदेवताः ।
परार्द्धाधिकसंख्याताः परिवारा महेश्वरि ॥८२१॥

---

१. शक्तिसङ्गमे ।

अथ वगलामुखीप्रादुर्भावस्तत्रैव–

पुरा कृतयुगे देवि ! वातक्षोभ उपस्थिते ।
चराचरविनाशश्च सजलं ब्रह्मगोलकम् ॥८२२॥

दृष्ट्वा तु देवदेवेशि ! विष्णुश्चिन्तापरायणः ।
हरिद्राख्ये सिद्धिकुण्डे तपोऽर्थं च मनो दधे ॥८२३॥

स्वयं पीतेश्वरो भूत्वा जपध्यानपरायणः ।
सप्तार्बुदयुगं देवि श्रीविद्यापूजने रतः ॥८२४॥

तपसा तेन सन्तुष्टा श्रीविद्या त्रिपुराम्बिका ।
हरिद्राख्यं सरो दृष्ट्वा जलक्रीडनतत्परा ॥८२५॥

महापीतह्लदाख्यो हि जार्गत्ति वसुधातले ।
सौराष्ट्रदेशे जार्गत्ति तत्रस्था वगलाम्बिका ॥८२६॥

श्रीविद्यासम्भवं तेजो व्यजृम्भत इतस्ततः ।
चतुर्दशी भौमयुता मकरार्कसमन्विता ॥८२७॥

कुलर्क्षयोगे संजाता वीररात्रीति सा मता ।
तस्यामेवार्धरात्रौ तु पीतह्लदनिवासिनी ॥८२८॥

ब्रह्मास्त्रविद्या सञ्जाता त्रैलोक्यस्तम्भिनी परा ।
तत्तेजो विष्णुजं तेजः प्रतिबिम्बप्रयोगतः ॥८२९॥

स्तम्भनाख्यो महाबाणस्तदोत्पन्नो महेश्वरि ! ।
चतुर्दशी भृगुयुता कुम्भसंक्रान्तिसंयुता ॥८३०॥

शिवऋक्षसमायुक्ता महानिशीथिनी कला ।
शिवरात्रिः समाख्याता धर्मकर्मसु पुण्यदा ॥८३१॥

अथास्या अङ्गभेदाः–

मृत्युञ्जयश्च वटुकस्तथोत्कीलनदेवताः ।
पञ्चास्त्रविद्या देवेशि कुल्लुकापञ्चकं तथा ॥८३२॥

तथाऽपराजिता श्यामा चाण्डाली च हरिद्रकः ।
विडालयक्षिणीदेवी स्तम्भनस्त्वरिता तथा ॥८३३॥

स्वप्नेश्वरी चैकजिह्वा मन्त्राऽन्ये भैरवादयः ।
गणपाद्याश्च मनवो भिन्नरूपेण सन्ति ये ॥८३४॥ इति ।

अथ महालक्ष्मीप्रादुर्भावः–

सम्प्राप्ते फाल्गुने मासि कृष्णैकादशिका तथा ।
भृगुवारयुता देव्यचलारात्रिरीरिता ।
महालक्ष्मी तदा जाता सर्वसौभाग्यदायिनी ॥८३५॥

लक्ष्मीप्रादुर्भावः–

क्षीरोदमथनाज्जाता जगत्सौभाग्यरूपिणी ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थं सा विष्णुवक्षःस्थलस्थिता ॥८३६॥

कृष्णाष्टम्यां भाद्रपदे कोलासुरनिकृन्तनी ।
एतत्तिथौ समुत्पन्ना महामातङ्गिनी कला ॥८३७॥

अथाङ्गभेदाः–

महालक्ष्म्यङ्गमन्त्राश्च श्रीविष्णु र्गणपोऽण्डजः ।
धनदा च कुवेरश्च निधिमन्त्रा अपि प्रिये ॥८३८॥

विद्याभेदाश्च देवेशि ! भुवना वज्ररूपिणी ।
विद्या भोगवती देवि ! लक्ष्मीनारायणः परः ।
कामाक्षी धनराज्ञीति लक्ष्म्यङ्गदेवताः स्मृताः ॥८३९॥इति ।

अथ मातङ्गीप्रादुर्भावः–

पुरा कदम्बविपिने नानापक्षिसमाकुले ।
अतिक्रूरविभूतीनां वश्यार्थं परमेश्वरि ॥८४०॥

मतङ्गाख्यो मुनिर्देवि ! कदम्बारण्यमध्यगः ।
दशवर्षसहस्राणि तपस्तेपे निरन्तरम् ॥८४१॥

तत्र तेजःसमुत्पन्नं सुन्दरीनेत्रतः शिवे ।
तेजोराशिरभूत्तत्र तत्र श्रीकालिकाम्बिका ।
श्यामलं रूपमास्थाय राजमातङ्गिनी ह्यभूत् ॥८४२॥

अथोच्छिष्टमातङ्गी-

सुधासिन्धुशयानं वै हरिं परमदैवतम् ।
श्यामादेवीसमायुक्तं शेषपर्यङ्कशायिनम् ॥८४३॥

तत्र जातौ महात्मानावुभौ नारदतुम्बुरू ।
प्रणम्याञ्जलिबन्धेन रमानाथमपृच्छताम् ।
नारायण महादेव गीतज्ञानं वद प्रभो ! ॥८४४॥

श्रीनारायण उवाच-

एकस्मिन् समये पूर्वं गतोऽहं शङ्करं प्रति ।
तत्र व्याघ्रासनासीनः पार्वत्या सह शङ्करः ॥८४५॥

जय देव ! महादेव ! उमासहितशङ्कर ।
इत्थमाकर्ण्य च शिवः समुत्थाय च सादरम् ॥८४६॥

समालिलिङ्ग मां शम्भुः पार्वत्यालिङ्गिमत्प्रिया ।
विचित्रमासनं दत्तं निविष्टोऽहं श्रिया सह ॥८४७॥

तत्र दृष्टं महाचक्रं मारीचगणसंकुलम् ।
अनेकरससंयुक्तं विविधास्वादनै र्युतम् ॥८४८॥

सामरस्यं तदा जातमुच्छिष्टं गलितं तदा ।
अनेकगुणसम्पन्ना तत्रोत्पन्ना कुमारिका ॥८४९॥

उच्छिष्टं देहि देहीति पार्वत्या शङ्करेण च ।
भाषमाणां ददौ प्रीतः पार्वत्या सह शङ्करः ॥८५०॥

दत्तोच्छिष्टमूचतुस्तौ शृणु त्वमावयोर्गिरम् ।
अनेकगुणसम्पन्ने सुशीलेऽतः कुमारिके ! ॥८५१॥

त्वां यजन्ति च ये कन्ये जपहोमार्चनादिभिः ।
तेषां कर्माणि सेत्स्यन्ति वश्यादिकमभीप्सितम् ॥८५२॥

तदा प्रभृति चोच्छिष्टा त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
अनेकगुणसम्पन्ना साधकानां वरप्रदा ॥८५३॥

श्रुत्वा तद्वचनं सा च मारीचगणसंवृता ।
सस्मिता शिवयोरग्रे साञ्जलि र्हृष्टमानसा ॥८५४॥

तदा प्रभृति विप्रेन्द्रकन्यां शर्वोऽन्यवेदयत् ।
गीतं नृत्यं च वाद्यं च कलाकौशलमप्यथ ॥८५५॥

नानारूपाणि चाङ्गानि दर्शितानीह पार्वती ।
तदा प्रभृति नाम्ना सा जातोच्छिष्टमतङ्गिनी ।
सैव श्रीसुमुखी जाता सिद्धिविद्या महेश्वरी ॥८५६॥ इति ।

अथाङ्गभेदाः-

मातंग्या अङ्गमन्त्राश्च नकुली च सरस्वती ।
मातङ्गी पादुका देवि ! लघुश्यामा च कामिनी ॥८५७॥

वीरभद्रो मतङ्गश्च प्रमदा मोहिनी परा ।
भोगेशयक्षः सम्प्रोक्तो देवि ! गुप्ततमो मनुः ॥८५८॥

अथ सिद्धमातङ्ग्या अङ्गभेदाः-

पुलिन्दिनी भैरवश्च उच्छिष्टगणपस्तथा ।
पिशाचगणपो देवि ! उच्छिष्टभैरवोऽपरः ॥८५९॥

मातङ्गी नकुली रत्नविद्या वाग्वादिनी तथा ।
महामधुमती देवि ! तथा कर्णपिशाचिनी ॥८६०॥

एकवीरा च त्वरिता घण्टाकर्णो निशाचरः ।
अघोरः कुल्लुकानां च पञ्चकं परिकीर्तितम् ॥८६१॥ इति ।

अथ भुवनेश्वरीप्रादुर्भावः-

अथ श्रीभुवनां वक्ष्ये त्रैलोक्योत्पत्तिमातृकाम् ।
पुरा कृतयुगस्यादौ ब्रह्मा क्रूरतपोवृतः ॥८६२॥

तपसा तस्य सन्तुष्टा सृष्टिशक्ति र्महेश्वरी ।
विश्वं जागर्त्ति यद् योनौ यत्रैव लयमेष्यति ॥८६३॥

चैत्रमासे शुक्लपक्षे नवम्यां तारिणी कला ।
समुत्पन्ना महेशानि ! क्रोधरात्रिरिति स्मृता ।
सृष्ट्यु त्पादनकार्यार्थमुत्पन्ना परमेश्वरी ॥८६४॥

अथाङ्गभेदाः—

अङ्गमन्त्रान् प्रवक्ष्यामि भुवनायाः शृणु प्रिये ।
शिवः शिवा विधाता च त्रिपुटा वटुकस्तथा ॥८६५॥

कुल्लुकापञ्चकं देवि पञ्चायतनमेव च ।
गौरी श्रीरञ्जिनीमन्त्रो विद्याभेदाः सशक्तयः ॥८६६॥

लोकपालादिमनवो वाणीमन्त्रास्तथा प्रिये ! ।
हयग्रीवः पिङ्गली च खड्गरावण एव च ॥८६७॥

अथ धूमावतीप्रादुर्भावः—

एकस्मिन्नेव काले तु महासंहारचञ्चला ।
दक्षप्रजापते र्यज्ञे सती देहसमुद्भवात् ॥८६८॥

धूमाद् धूमावती जाता मुखात् कालमुखीँ मता ।
तद्धूमसम्भवा विद्या सर्वशत्रुविनाशिनी ॥८६९॥

धूमावती तथा जाता भक्तानुग्रहकांक्षया ।
प्राप्तेऽक्षयतृतीयायां भौमवारे निशामुखे ॥८७०॥ इति ।

अथाङ्गभेदाः—

धूमावत्यङ्गमन्त्राश्च वीरेशो वटुकः शिवे ।
प्रत्यङ्गिरा च शरभस्तथा पाशुपतो मनुः ॥८७१॥

संहारास्त्रं च ककुदी तथा कर्कटिका शिवे ।
मारिणी त्वरिता विद्या कुल्लुकापञ्चकं शिवे ॥८७२॥ इति ।

अथ गणेशप्रादुर्भावः—

भाद्रे मासि चतुर्थ्यां तु गणेशोत्पत्तिरीरिता ॥८७३॥ इति ।

श्रीमद्विष्णोः शिवस्याप्याविर्भावस्तत्तत्पुराणे प्रसिद्धत्वात् नात्र लिखितः ।

अथ पुम्प्रकृत्योरभेदकरमागमे शिववाक्यम्—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।
वेणुनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत् ॥८७४॥

कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा ।
समुद्रनिग्रहादीनि कुर्वाणा ख्यातिमागता ॥८७५॥

छिन्नमस्ता नृसिंहः स्याद् वामनो भुवनेश्वरी ।
जामदग्न्यः सुन्दरी स्यात् मीनो धूमावती भवेत् ॥८७६॥

वगला कूर्ममूर्त्तिः स्याद् बलभद्रस्तु भैरवी ।
महालक्ष्मी भवेद् बौद्धो दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी ॥८७७॥ इति ।

एवं विज्ञाय मतिमान् भेदभावविर्वाजितः ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा भावयेदिष्टमात्मनः ॥८७८॥

प्रवृत्ति मार्गमाणस्तु दीक्षादेशेन पूजयेत् ।
निर्वृत्ति मार्गमाणस्तु भेदवादं विवर्जयेत् ॥८७९॥ इति ।

सर्वशक्तिमयत्वाच्च शक्तिः सेव्या विचक्षणैः ।
सर्वेषां फलदाने च शक्तेरेव प्रधानता ॥८८०॥ इति ।

यदुक्तं श्रीस्वामिचरणैः-

'त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानां परशिवे !
भवेत् पूजा, पूजा तव चरणयो र्या विरचिता' ॥८८१॥ इति ।

तथोक्तं देवीपुराणे-

विष्णुपूजासहस्राणि शिवपूजाशतानि च ।
अम्बिकाचरणार्चायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८८२॥ इति ।

अतोऽशेषमूलत्वात् कोमलान्तःकरणत्वात् भुक्तिमुक्तिदातृत्वाच्च शक्तिरेव सर्वार्थसाधिकोपास्या चेति । अन्यदुपासनायां बहुतरकायक्लेशेनापि मुक्तिमात्रम् ।

तदुक्तं समयातन्त्रे-

कदाचित् कस्यचिद् भुक्तिः कदाचिन्मुक्तिरेव च ।
एतस्याः साधकस्याऽथ भुक्ति र्मुक्तिः करे स्थिता ॥८८३॥

रुद्रयामलेऽपि-

यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो, यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोगः ।
शिवापदाम्भोजयुगार्चकस्य भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥८८४॥

योऽन्येभ्यो दर्शनेभ्यश्च भुक्तिं मुक्तिं च काङ्क्षति ।
स्वप्नलब्धधनेनैव धनवान् किं भवेद् हि सः ॥८८५॥
शुक्तौ रजतविभ्रान्तिं यथा जायेत पार्वति ।
तथान्यसमयेभ्यश्च भुक्तिं मुक्तिं च काङ्क्षति ॥८८६॥ इति ।

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे गुर्वाचारादि पुम्प्रकृत्योरभेदभावनान्त-
कथनं नाम षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥

सप्तमः पटलः ।

एवं सद्भावमापन्नो मन्त्राराधनमाचरेत् ।

तत्प्रथमतः प्रातःकृत्यमेव निरूप्यते । यदकरणे दोषमाह यामले–

प्रातःकृत्यमकृत्वा तु यो देवं भक्तितोऽर्चयेत् ।
तस्य पूजा तु विफला शौचहीना यथा क्रिया ॥८८७॥

अतः–

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय चिन्तयेद् गुरुदैवतम् ।
स्वमूर्धनि सहस्रारे शिवाख्यपुरविन्दुके ॥८८८॥ इति ।

ब्राह्ममुहूर्त्तमाह यामले–

द्वौ दण्डौ रात्रिशेषे तु मुहूर्त्तं ब्राह्मकं विदुः ॥८८९॥ इति ।

गुरुध्यानञ्च तत्रैव–

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय कृत्वा शौचादिकं सुधीः ।
परिधायाम्बरं शुद्धं मन्त्रस्नानं समाचरेत् ॥८९०॥

मन्त्रस्नानं यथा यामले–

प्राणायामप्रयोगेन चिन्तयेन्मूलमात्मनः ।
मन्त्रदैवतयोरैक्यं मन्त्रस्नानं विदुर्बुधाः ॥८९१॥

तद्यथा–

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
तयोरन्तर्गता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती ॥८९२॥

ज्ञानह्रदे ध्यानजले रागद्वेषसमाकुले ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे तस्य जन्म न विद्यते ।
इदं मानसिकं स्नानं प्रोक्तं हरिहरादिभिः ॥८९३॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे–

स्मृत्युक्तेन विधानेन सम्यक् शौचं विधाय च ।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य कृत्वा न्यासं यतात्मवान् ॥८९४॥

प्रविश्य देवतास्थानं निर्माल्यमपकृष्य च ।
दद्यात् पुष्पाञ्जलिं विद्वानर्घ्यपाद्ये तथैव च ॥८९५॥

मुखप्रक्षालनं दद्यात् दद्याद् वै दन्तधावनम् ।
दद्यादाचमनीयं च दद्याद् वासोऽमलं शुभम् ॥८९६॥

नमस्कृत्यासने शुद्धे उपविश्य गुरुं स्मरेत् ।
शिरस्थशुक्लपद्मस्थं प्रसन्नं द्विभुजाक्षिकम् ॥८९७॥

शशाङ्कामृतसङ्काशं वराभयलसत्करम् ।
शुक्लाम्बरधरं श्रीमच्छुक्लमाल्यानुलेपनम् ॥८९८॥

वामोरौ रक्तशक्त्या च युतं पद्मकरस्थया ।
एवं ध्यात्वा पुनश्चैनं पञ्चभूतमयै र्यजेत् ॥८९९॥

गन्धतत्त्वं पार्थिवस्य कनिष्ठांगुष्ठयोगतः ।
खमयं च महापुष्पं तर्जन्यंगुष्ठयोगतः ॥९००॥

वायुरूपं महाधूपं तर्जन्या विनियोजयेत् ।
तेजोरूपं महादीपं मध्यमांगुष्ठयोगतः ॥९०१॥

अमृतं चैव नैवेद्यमनामांगुष्ठयोगतः ।
अञ्जल्याऽथ नमस्कारं ताम्बूलं वाग्भवात् स्मृतम् ॥९०२॥

स्वस्वबीजेन सर्वं तु नमस्कारेण योजयेत् ।
गुरो र्मन्त्रं प्रयत्नेन प्रजपेत् सुरवन्दिते ॥९०३॥

बाला च भुवनेशानी रमा चैव सुरेश्वरि ।
भावत्रयमिदं प्रोक्तं गुरुमन्त्रे प्रतिष्ठितम् ॥९०४॥

ततः स्वगुरुनामान्ते आनन्दनाथमालिखेत् ।
रक्तशक्तिपदान्ते च अम्बापदमथालिखेत् ॥६०५॥

श्रीपादुकां समुच्चार्य पूजयामीति सञ्जपेत् ।
तेजोरूपं समर्प्याऽथ स्तवेन तोषयेद् गुरुम् ॥६०६॥

अन्यदपि पादुकाभेदमुत्तरार्धे बृहद्दीक्षापटले लिखामः ।

अथ श्रीगुरुस्तोत्रं यथा भूतशुद्धौ–

ॐ नमामि सद्गुरुं शान्तं प्रत्यक्षं शिवरूपिणम् ।
शिरसा योगपीठस्थं मुक्तिकामार्थसिद्धये ॥६०७॥

श्रीगुरुं परमानन्दं नमाम्यानन्दविग्रहम् ।
यस्य सन्निधिमात्रेण चिदानन्दायते परम् ॥६०८॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६०९॥

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६१०॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६११॥

एवं च श्रीगुरुं नत्वा मूले कुण्डलिनीं ततः ।
स्मरेत् षट्पद्मयोगेन तत्तद्वर्णं तदीश्वरम् ॥६१२॥

तिस्रः कोट्यस्तदर्धेन शरीरे नाडिका मताः ।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिताः ॥६१३॥

प्रधानं मेरुदण्डोऽत्र सोमसूर्याग्निरूपिणी ।
इडा नाम्नी तु या नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी ॥६१४॥

शक्तिरूपा च सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा ।
पिङ्गलाख्या द्वितीया च पुंरूपा सूर्यविग्रहा ॥६१५॥

दाडिमीकुसुमप्रख्या विषाख्या चापरा मता ।
मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा ॥६१६॥

सर्वतेजोमयी शक्तिः सुषुम्णा वह्निरूपिणी ।
सुषुम्णान्तर्गता चित्रा चन्द्रकोटिसमप्रभा ॥६१७॥

सर्वदेवमयी सा तु योगिनां हृदयङ्गमा ।
तस्य मध्ये ब्रह्मनाडी मृणालतन्तुरूपिणी ।
ब्रह्मरन्ध्रं तु तन्मध्ये हरवक्त्रात् सदाशिवम् ॥६१८॥

वामावर्तक्रमेणैव वेष्टितं बिसतन्तुवत् ।
सुषुम्णामध्यसंस्थानि षट्पद्मानि यथाक्रमात् ॥६१९॥

आधाराख्ये मूलचक्रे रक्तवर्णे चतुर्दले ।
वादिसान्तार्णसंयुक्ते क्षेत्रे गोदावरीसमे ॥६२०॥

कर्णिकायां स्थिता योनिस्त्रिकोणं परमेश्वरि ! ।
तद्योनिः परमेशानि इच्छाज्ञानक्रियात्मिका ॥६२१॥

अपराख्यं हि कन्दर्पमाधारे तत्त्रिकोणके ।
स्वयम्भुलिंगं तन्मध्ये सरन्ध्रं पश्चिमाननम् ॥६२२॥

ध्यायेच्च परमेशानि ! शिवं चामलसुन्दरम् ।
कुण्डली तेन मार्गेण यातायातं करोति हि ॥६२३॥

भित्त्वा भित्त्वा पुरीं याति, आयाति कुण्डली सदा ।
तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ॥६२४॥

प्रसुप्तभुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ।
शिवं वेष्ट्य महेशानि ! सर्वदा परितिष्ठति ॥६२५॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥६२६॥

मूलमाधारषट्कानां मूलाधारं ततो विदुः ।
लिङ्गमूले पुष्कराख्ये स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम् ॥६२७॥

वादिलान्तार्णसंयुक्तं विद्रुमाभं मनोहरम् ।
नाभौ तु गण्डकीक्षेत्रं मणिपूरेऽथ नीलभम् ॥६२८॥

डादिफान्तार्णसंयुक्तदलैश्च दशभिर्युतम् ।
हृदये द्वादशदले काश्यां पिङ्गलवर्णके ॥६२६॥

कादिठान्तार्णसंयुक्तं तप्तहाटकसन्निभम् ।
तन्मध्ये बाणलिंगं तु सूर्यायुतसमप्रभम् ॥६३०॥

शब्दब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते ।
तेनाऽऽहतं तु तत्पद्मं योगीष्टं परिकीर्तितम् ॥६३१॥

कंठदेशे विशुद्धयाख्यं धूम्रवर्णं मनोहरम् ।
स्वरैः षोडशभि र्युक्तं कुरुक्षेत्रमनुत्तमम् ॥६३२॥

विशुद्धिस्तन्मयं यस्मादाकाशाख्यं महाद्भुतम् ।
आज्ञानाम भ्रुवो र्मध्ये द्विदलं तन्मनोहरम् ।
हंसाक्षरयुतं देवि ! त्रिवेणीक्षेत्रमुत्तमम् ॥६३३॥

इतराख्यं महालिङ्गं तन्मध्ये काञ्चनप्रभम् ।
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम् ॥६३४॥

कैलासाख्यं तदूर्ध्वे तु रोधिनीति तदूर्ध्वतः ।
तत्र पद्मं सहस्रारं नादविन्दुत्रयान्वितम् ॥६३५॥

अकथादित्रिरेखाभि र्हलक्षत्रयकोणके ।
तन्मध्ये परविन्दुं च सृष्टिस्थितिलयात्मकम् ॥६३६॥

वामावर्तस्थितं देवि अकथादित्रयं शुभे ।
शून्यरूपं शिवं साक्षाद् विन्दुं परमकुण्डलीम् ॥६३७॥

सार्धत्रिवलयाकारां कोटिविद्युत्समप्रभाम् ।
वृत्ता कुंडलिनीशक्ति र्गुणत्रयसमन्विता ॥६३८॥

शून्यभागं महादेवि ! शिवशक्त्यात्मकं प्रिये ।
सर्पाकारा शिवं वेष्ट्य सर्वदा तत्र संस्थिता ॥६३९॥

शिवशक्त्यात्मकं विन्दुं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
नादरूपेण सा देवी योनिरूपा सनातनी ॥६४०॥ इति ।

गन्धर्वमालिकायाम्—

शिवविष्णुब्रह्ममयं विन्दुं योनिं शुचिस्मिते ।
सर्पोपरि महेशानि विन्दुब्रह्मस्वरूपिणी ॥६४१॥ इति ।
भवो विन्दुरितिख्यातं भवं च तत्त्रिकोणकम् ।
भवनं भवसम्बन्धात् जायते भुवनत्रयम् ॥६४२॥ इति ।

अन्यच्च यामले—

पञ्चभूतानि देवेशि ! षष्ठं मानसमीश्वरि ।
षट्चक्रस्थस्थितान्येव चक्रमार्गे विचिन्तयेत् ॥६४३॥
शिवरूपं सहस्रारं सुखदुःखविवर्जितम् ।
मन्दारपुष्परचितं नानागन्धानुमोदितम् ।
तत्रोपरि महादेवः सदा तिष्ठति सुन्दरि ॥६४४॥
ध्यायेत् सदाशिवं देवं शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
महारत्नलसद्भूषं दीर्घबाहुं मनोहरम् ॥६४५॥
सुखप्रसन्ननयनं स्मेरास्यं सततं प्रिये ।
सकुण्डलं महारत्नहारेण च विभूषितम् ॥६४६॥
गोलपद्मसहस्राणां मालया शोभितं वपुः ।
अष्टबाहुं त्रिनयनं विभुं पद्मदलेक्षणम् ॥६४७॥
किंकिणीकटिसंयुक्तं नूपुरादिविभूषितम् ।
एवं स्थूलं वपुस्तस्य भावयेत् कमलेक्षणे ॥६४८॥
पद्ममध्ये स्थितं देवं निरीहं शब्दरूपकम् ।
एवं सर्वेषु चक्रेषु शक्तिरुद्रौ विचिन्तयेत् ॥६४६॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
ततः परशिवश्चैव षट्शिवाः परिकीर्तिताः ॥६५०॥
विशुद्धौ डाकिनी देवी अनाहते च राकिनी ।
लाकिनी मणिपूरस्था काकिनी लिङ्गगोचरे ॥६५१॥
आधारे शाकिनी देवी आज्ञायां हाकिनी तथा ।
याकिनी ब्रह्मरन्ध्रस्था सर्वकामफलप्रदा ॥६५२॥

ध्यायेत् कुंडलिनीं देवीं स्वयंभूलिङ्गसंस्थिताम् ।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम् ।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम् ।।।६५३।।

रक्तामिति सुन्दरीविषये ।

हूंकारवर्णसम्भूता कुंडली परदेवता ।
विभक्तं कुंडलीदेहमात्मानं हंसमन्त्रतः ।।६५४।।

प्रवृद्धवह्निसंयोगे मनसा मारुतैः सह ।
ऊर्ध्वं नयेत् कुंडलिनीं जीवात्मसहितां पराम् ।
गच्छन्ती ब्रह्मरन्ध्रं सा भित्त्वा च ग्रन्थिपंचकम् ।।६५५।।

ग्रन्थिपञ्चकं तु स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धचाज्ञान्तानि । तत्राधोग्रन्थिमारभ्योर्ध्वोर्ध्वग्रन्थिपर्यन्तं ग्रन्थिसमाप्तिः ।

षट्चक्रमध्यमार्गेण सुषुम्णावर्त्मना तथा ।
हंसेन मनुना देवीं सहस्रारं समानयेत् ।।६५६।।

सदाशिवो महेशानि यत्रास्ते परमेश्वरः ।
तत्र गत्वा महादेवी कुंडली परदेवता ।।६५७।।

देवी रूपवती कामसमुल्लासविहारिणी ।
मुखारविन्दगन्धेन मोदयित्वा परं शिवम् ।।६५८।।

प्रबोध्य परमेशानं तत्रोपरि वसेत् प्रिये ।
शिवस्य मुखपद्मं हि चुम्बते कुंडली तदा ।।६५९।।

सदाशिवेन सा देवी रमते क्षणमात्रकम् ।
अमृतं जायते तत्र तत्क्षणात् परमेश्वरी ।।६६०।।

तदुद्भवामृतं देवि ! साक्षात् लाक्षारसोपमम् ।
तेनामृतेन देवेशि ! तर्पयेत् परदेवताम् ।।६६१।।

षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्याऽमृतधारया ।
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं क्रमात् सुधीः ।।६६२।।

यतस्ततः क्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनो लयम् ।
एवमभ्यस्यमानस्तु अहन्यहनि पार्वति ।।६६३।।

जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनैः ।
इत्युक्तं परमं योगं योनिमुद्राप्रबन्धनम् ॥६६४॥

कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा परं पुरुषमेति सा ।
रमते सेयमव्यक्ता पुनरेकाकिनी सती ॥६६५॥ इति ।

संकेतपद्धत्याम्—

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितम् ।
रूपं विन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु निष्कलम् ॥६६६॥

एतेन 'हंस' इत्यक्षरद्वयं देव्याः पादपद्मयुगं ज्ञात्वा हंसेति मन्त्रेण षट्चक्रभेद-क्रमेण सहस्रारं नीत्वा चन्द्रमण्डलामृतेनाप्लाव्य तदमृतेन षट्चक्रस्थ-शिवशक्त्यादीना-प्लाव्य सोऽहमिति मन्त्रेण स्थानं नयेदित्यर्थः ।

तथा चोक्तं योगतत्त्वे—

हंसेन मनुना देवीं सहस्रारं समानयेत् ।
सोऽहं मन्त्रेण च पुनः स्वस्थानमानयेत् सुधीः ॥६६७॥ इति ।

स्वस्थानं मूलाधारम् ।

समयातन्त्रे देवीवाक्यम्—

देवदेव ! महादेव ! सृष्टिस्थित्यन्तकारक ।
मूर्ध्नि पद्मं सहस्रारं रक्तवर्णमधोमुखम् ॥६६८॥

तन्मध्यस्थं गुरुं ध्यायेत् शान्तरूपं सशक्तिकम् ।
मूलाधारे महाशक्तिः कुण्डलीरूपधारिणी ॥६६९॥

अधोमुखं क्रमेणैव सर्वं पद्मं विभावयेत् ।
तदा कथं भवेत्तत्र चिन्तनं गुरुदेवयोः ॥६७०॥

एतदाकर्ण्य शिवो वदति—

यथायुक्तं त्वया देवि ! कथितं वीरवन्दिते ।
एवमेव तु सन्देहो जायते नात्र संशयः ॥६७१॥

कथ्यते परमेशानि सन्देहच्छेदकारणम् ।
तानि पद्मानि देवेशि सुषुम्णान्तःस्थितानि च ॥६७२॥

परब्रह्मस्वरूपाणि शब्दब्रह्ममयानि च ।
तत्सर्वं पङ्कजं देवि सर्वतोमुखमेव च ॥९७३॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वौ भावौ जीवसंस्थितौ ।
प्रवृत्तिमार्गः संसारी निवृत्तिः परमात्मनि ॥९७४॥

प्रवृत्तिभावचिन्तायामधोवक्त्राणि चिन्तयेत् ।
निवृत्तियोगमार्गेषु सदैवोर्ध्वमुखानि च ॥९७५॥

एवमेतद् भावभेदात् कः सन्देहोऽभिजायते ।
इत्येतत् कथितं देवि मम ज्ञानावलोकितम् ॥९७६॥

अथ योगं प्रवक्ष्यामि येन देवमयो भवेत् ।
मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता भवेत् ॥९७७॥

तावत् किञ्चिन्न सिद्ध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ।
यदि जागर्त्ति सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः ॥९७८॥

तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः ।
योगो, योगाद् भवेन्मुक्ति र्भवेत् सिद्धिरखण्डिता ॥९७९॥

सिद्धे मनौ पराप्राप्तिरिति शास्त्रस्य निर्णयः ।
जीवन्मुक्तश्च देहान्ते परं निर्वाणमाप्नुयात् ॥९८०॥

संसारोत्तारणं मुक्ति र्योगशब्देन कथ्यते ।
प्राणायामै र्जपै र्योगैस्त्यक्तनिद्रा जगन्मयी ॥९८१॥

तदा सिद्धि र्भवेदेव नाऽत्र कार्या विचारणा ।
चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम् ॥९८२॥
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ।
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥९८३॥
ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रारं मातृकाक्षरमण्डितम् ।
अधोवक्त्रं शुक्लवर्णं रक्तकिञ्जल्कभूषितम् ॥९८४॥

रक्तवर्णं सुन्दरीविषये ज्ञेयम्, समयातन्त्रोक्तत्वात् ।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
ततः परशिवश्चैव षट्शिवाः परिकीर्तिताः ॥९८५॥

डाकिनी राकिनी चैव शाकिनी लाकिनी तथा ।
काकिनी हाकिनी चैव शक्तिरेषां प्रकीर्तिता ॥९८६॥

आधारे हृत्प्रदेशे च भ्रुवोर्मध्ये विशेषतः ।
स्वयम्भुसंज्ञो बाणाख्यः तथैवेतरसंज्ञकः ॥९८७॥

लिङ्गत्रयं महेशानि प्रधानत्वेन चिन्तयेत् ।
मूलाधारे स्थिता भूमिः स्वाधिष्ठाने जलं तथा ॥९८८॥

मणिपूरे स्थितं तेजो हृदये मारुतं तथा ।
विशुद्धौ तु महेशानि आकाशं कमलेक्षणे ॥९८९॥

आज्ञाचक्रे महेशानि मनः सर्वार्थसाधकम् ।
तदूर्ध्वे परमेशानि युगपद्ममुखं सदा ।
तस्योपरि महेशानि विभुं ध्यायेत् सदाशिवम् ॥९९०॥

ऊर्ध्वमुखाऽधोमुखसहस्रारपद्मान्तर्गतमूर्ध्वमुखद्वादशदलपद्मोपरि शिवं ध्यायेदिति भावः ।

तदेव यामले–

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतम् ।
[1]कुण्डलीविवरकाण्डमण्डितं द्वादशान्तसरसीरुहं भजे ॥९९१॥

षट्चक्रं परमेशानि ऊर्ध्वचक्रं सदाशिवम् ।
शक्तेः पुरं महेशानि सदाशिवपुरोपरि ॥९९२॥

एतदेव यामले श्रीशिवेन प्रपञ्चितम्–

शिवस्थानं शैवाः परमपुरुषं वैष्णवगणाः
लपन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे ।
पदं देव्या देवीचरणयुगलानन्दरसिका
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम् ॥९९३॥ इति ।

तेन हंस इत्यक्षरद्वयरूपं पादपद्मयुगलं ध्यायेदित्यर्थः ।

पुनश्च समयातन्त्रे–

वसित्वा शम्भुना सार्धं कुण्डली परदेवता ।
रमते तन्मयीभूता मन्त्रप्राणमयीश्वरी ॥९९४॥

---

1. पादुकापञ्चकस्तोत्रे 'विवर' इत्यस्य स्थाने 'कनक' इति पाठोऽपि दृश्यते ।

एकीभावं तयोस्तत्र चिन्तयेद् गतमानसः ।
इष्टदेवस्वरूपां तां भावयेत् कुण्डलीं पराम् ॥९९५॥

सदा षोडशवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम् ।
नवयौवनसम्पन्नां सर्वावयवशोभिनीम् ॥९९६॥

सर्वशृङ्गारभूषाढ्यां मदचञ्चललोचनाम् ।
एवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रमष्टोत्तरशतं शिवे ॥९९७॥

मातृकामालया देवि तथाऽज्ञाचक्रमानयेत् ।
तत्रैवेतरलिंगेन योजयेत् कुंडलीं पराम् ॥९९८॥

तामिष्टदेवतां ध्यात्वा जपेदष्टशतं प्रिये ।
हृत्पद्मे तां समानीय शिवेन सह योजयेत् ॥९९९॥

देवीरूपां च तां ध्यात्वा जपेदष्टशतं प्रिये ।
मणिपूरे तु तां नीत्वा शिवेन सह योजयेत् ॥१०००॥

देवीरूपां च तां ध्यात्वा शतमष्टोत्तरं जपेत् ।
स्वाधिष्ठाने ततो नीत्वा शिवेन सह योजयेत् ॥१००१॥

शतमष्टोत्तरं मन्त्रं जपेद् ध्यायन् पराम्बिकाम् ।
ततः पूर्वक्रमेणैव मूलाधारं समानयेत् ॥१००२॥

तत्र लिङ्गं स्वयम्भुं च ध्यायेदिन्दुसमप्रभम् ।
शुक्लवर्णं रक्तबाहुं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥१००३॥

प्रसन्नवदनं शान्तं नीलकण्ठविराजितम् ।
कपर्दिनं स्फुरत्सर्वलक्षणं कुन्दसन्निभम् ॥१००४॥

षट्चक्रे परमेशानि ध्यात्वा देवीं जगन्मयीम् ।
भुजङ्गरूपिणीं देवीं नित्यां कुण्डलिनीं पराम् ॥१००५॥

बिसतन्तुमयीं साक्षाद् देवीममृतरूपिणीम् ।
अव्यक्तरूपिणीं रम्यां ध्यानगम्यां वरानने ॥१००६॥

ध्यात्वा जप्त्वा च देवेशि ! साक्षाद् ब्रह्ममयो भवेत् ।
एवं द्वादशधा देवि यातायातं करोति यः ॥१००७॥

स मुक्तः सर्वपापेभ्यो मन्त्रसिद्धि र्न चान्यथा ।
यत्रकुत्र मृतश्चायं गङ्गायां श्वपचालये ॥१००८॥
ब्रह्मविद् ब्रह्मभूयाय कल्प्यते नान्यथा प्रिये ।
ततः सम्प्रार्थयेत् देवं मनुभिः प्रार्थनामयैः ॥१००९॥ इति ।

त्रैलोक्यचैतन्य ! मयाऽऽदिदेव ! श्रीनाथ ! विष्णो ! भवदाज्ञयैव ।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥१०१०॥

संसारयात्रामनुवर्तमानं त्वदाज्ञया देव ! परेश विष्णो ।
स्पर्धातिरस्कारकलिप्रमादभयानि मां माऽभिभवन्तु नाथ ! ॥१०११॥

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
त्वया हृषीकेश ! हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।१०१२

एतत्श्लोकत्रयेणैव दैवतं प्रार्थयेद् बुधः ।
श्रीनाथ विष्णोः स्थाने तु कार्य ऊहोऽन्यदैवते ॥१०१३॥

आदिदेव, श्रीनाथ, विष्णो, हृषीकेश इत्यादीनि पदानि औपलक्षणिकानि । अस्मिन् स्थाने विश्वेश शम्भो इति शैवे, शाक्ते भवानि दुर्गेति पाठः । इति संप्रार्थ्य स्वं देवमजपामपि चिन्तयेत् ।

तच्च अजपामाहात्म्यं यामले—

अजपा नाम गायत्री मुनीनां मोक्षदायिनी ।
तस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१०१४॥

तद्यथा शारदायाम्—

वियदर्धेन्दुललितं तदादिःसर्गसंयुतम् ।
अजपाख्यो मनुः प्रोक्तो द्व्यक्षरः सुरपादपः ॥१०१५॥

ऋषि र्ब्रह्मा स्मृतो देवी गायत्री छन्द ईरितम् ।
देवता जगतामादिः संप्रोक्तो गिरिजापतिः ।
हसा षड्दीर्घयुक्तेन कुर्यादङ्गक्रियां मनोः ॥१०१६॥

उद्यद्भानुस्फुरिततडिदाकारमर्धाम्बिकेशं
पाशाभीती वरदपरशू सन्दधानं कराब्जैः ।
दिव्याकल्पै र्नवमणिमयैः शोभितं विश्वमूलं
सौम्याग्नेयं वपुरवतु वश्चन्द्रचूडं त्रिनेत्रम् ॥१०१७॥ इति ।

अन्यत्रापि–

एवं ध्यात्वा महेशानं मानसैरर्चयेत् ततः।
मूलाधारादिचक्रेषु स्थितान् देवान् क्रमात् सुधीः ॥१०१८॥
ध्यात्वाभ्यर्च्य तथा वर्णान् तत्रस्थानजपापुटान्।
संस्मृत्य चक्रदेवाय तत्संख्याकं जपं ततः ॥१०१९॥
समर्प्य क्रमतो मन्त्री श्वासरूपं महामनुम्।
क्रमोत्क्रमगतं जप्त्वा मुक्तः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१०२०॥ इति।

अन्यत्रापि–

वीरहंसात्मिकाविद्यासङ्कल्पं कारयेद् बुधः।
हंसाख्या साधनं वक्ष्ये मन्त्रिणां हितकाम्यया ॥१०२१॥
यस्य विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञो भुवि जायते।
हंसात्मिकां भगवतीं जीवो जपति सर्वदा ॥१०२२॥
अस्याः स्मरणमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नरः।
ऋषिर्हंसः समाख्यातः परहंसोऽस्य देवता।
छन्दश्चाव्यक्तगायत्री नियोगो योगसिद्धिदः ॥१०२३॥

सुरेन्द्रसंहितायाम्–

ऋषि हंसोऽव्यक्तपूर्वो गायत्रं छन्द उच्यते।
देवता परमादिस्थं हंसो हं बीजमुच्यते ॥१०२४॥
सः शक्तिः कीलकः सोऽहं प्रणवस्तत्त्वमेव हि।
उदात्तस्वर इत्येवं मनोरस्य प्रकीर्तितः।
मोक्षार्थे विनियोगः स्यादेवं कुर्यात् सदा नरः ॥१०२५॥

वीरचूडामणौ–

सूर्यात्मने च हृद् देवि सोमात्मने शिरस्तथा।
निरंजनं शिखा ज्योति र्निराभासा तथापरे ॥१०२६॥
अव्यक्तं नेत्रयो र्न्यस्य अनन्तोऽस्त्रे न्यसेत् ततः।
एवं न्यासविधिं कृत्वा ध्यायेद् देवं सनातनम् ॥१०२७॥

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे ।
दिशः श्रोत्रे यस्य पादौ क्षितिश्च ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा ॥१०२८

एवं ध्यात्वा प्रसन्नात्मा गणेशादिभ्य अर्पयेत् ।

एतच्च यामले–

ध्यात्वा जपं प्रजप्याथ षट्चक्रदेवतां स्मरेत् ।
मूलाधारे गणेशानं वादिसान्तार्णसंयुते ॥१०२९॥

रक्तवर्णं त्रिनयनं वारणास्यं चतुर्भुजम् ।
अभयं च वरं चारु पाशांकुशयुतं विभुम् ॥१०३०॥

बल्लभासहितं देवि ! गणनाथं विभाव्य च ।
तद्भागं षट्शतं तत्तु समर्प्यास्मै पुनस्तथा ॥१०३१॥

स्वाधिष्ठाने च ब्रह्माणं वाणीसहितमीश्वरि ।
ध्यायेत् षड्दलपद्मे तु वादिलान्तार्णसंयुते ॥१०३२॥

तप्तचामीकरप्रख्यं पङ्कजस्थं चतुर्भुजम् ।
अभयं च वरं कुण्डीमक्षमालां कराम्बुजैः ॥१०३३॥

विभ्राणं सस्मितं ध्यात्वा संपूज्य च दलस्थितान् ।
वर्णान् स्मृत्वाऽस्य भागं वै षट्सहस्रं समर्प्य च ॥१०३४॥

सम्प्रार्थ्य मणिपूरे तु विष्णुं लक्ष्मीयुतं स्मरेत् ।
डादिफान्तार्णसंयुक्तं इन्द्रनीलमणिप्रभम् ॥१०३५॥

सर्वभूषणसंशोभिगात्रं त्रिभुवनेश्वरम् ।
पीताम्बरधरं देवं तथा श्रीवत्सकौस्तुभैः ॥१०३६॥

शोभितं बाहुभिः शंखचक्रकौमोदकीकजैः ।
लक्षितं चिन्त्य संपूज्य स्मृत्वा वर्णान् दलान्तगान् ॥१०३७॥

तज्जपं षट्सहस्रं तु देवायास्मै निवेद्य च ।
प्रणम्य प्रार्थ्य श्रीनाथमनाहतविभुं स्मरेत् ॥१०३८॥

कर्पूरसदृशं त्र्यक्षं गिरिजासहितं शिवम् ।
शान्तं चन्द्रधरं नागधरं चर्माम्बरं तथा ॥१०३९॥

कादिठान्तार्णसंयुक्ते दले द्वादशके हरम् ।
चिन्त्य संपूज्य तद्वर्णान् दलगानजपापुटान् ॥१०४०॥

संस्मृत्य षट्सहस्रं तज्जपमस्मै निवेद्य च ।
सम्प्रार्थ्य परमेशानं विशुद्धिं चिन्तयेद् बुधः ॥१०४१॥

षोडशारं स्वरयुतं तत्रस्थं परमेश्वरम् ।
ज्योतिर्मयं तत्त्वरूपं जीवात्मानं विचिन्त्य च ॥१०४२॥

इच्छाशक्तियुतं देवं परमात्मानमव्ययम् ।
पूज्य वर्णान् विचिन्त्याऽथ तज्जपं तु सहस्रकम् ॥१०४३॥

समर्प्य प्रार्थ्य देवेशमाज्ञाचक्रं विचिन्तयेत् ।
द्विदलं हक्षवर्णाढ्यं शुक्लरक्तपदं गुरुम् ॥१०४४॥

चिच्छक्तिसहितं देवं श्रीनाथं करुणाकरम् ।
ध्यात्वा संपूज्य चिन्त्यार्णावजपापुटितौ तथा ॥१०४५॥

सहस्रं तज्जपं तस्मै समर्प्य च प्रणम्य च ।
सम्प्रार्थ्य चिन्तयेदित्थं सहस्रारं शिवालयम् ।
मातृकार्णयुतं शश्वत् पदं परशिवं तथा ॥१०४६॥

पराशक्तियुतं शान्तं स्मृत्वा पूज्य विचिन्त्य च ।
सहस्रं तज्जपं तस्मै देवाय च परात्मने ॥१०४७॥

समर्प्याऽनम्य मनसा पुन र्न्यासादिकं चरेत् ।
प्राणायामं विधायाथ तन्मयं भावयन् पठेत् ॥१०४८॥

अहं ब्रह्मास्मि सद्रूपं नित्यमुक्तं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं सर्वदा सर्वगस्तथा ॥१०४९॥

प्रातःप्रभृति सायान्तं सायादिप्रातरन्ततः ।
यत् करोमि जगद्योने ! तदेव तव पूजनम् ॥१०५०॥

गुरुदेवात्मनामित्थमैक्यं स्मृत्वा भुवं स्पृशेत् ।
वहन् नाड़ीस्थपादेन मन्त्रमेनमुदीरयन् १०५१॥

समुद्रमेखले देवि ! पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥१०५२॥

शरक्षेपं भुवं गत्वा निर्ऋत्यां निर्जने तथा ।
तृणास्तरितभूदेशे श्वासोच्छ्वासविवर्जितः ॥१०५३॥
मलोत्सर्गं ततः कुर्याद् रात्रौ दक्षिणदिङ्मुखः ।
उदङ्मुखो दिवा भूत्वा संध्ययोरप्युदङ्मुखः ॥१०५४॥
शौचं कृत्वा प्रयत्नेन बाह्याभ्यन्तरयोरपि ।
देवतागुरुनामानि स्मरन् तीर्थमथो व्रजेत् ॥१०५५॥

एतत्कृत्यं स्फुटतयोत्तरभागे पद्धतिखण्डे लिखामः।

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे प्रातःकृत्यादि शौचान्तकथनं नाम सप्तमः पटलः ॥७॥

अष्टमः पटलः ।

अथाऽऽचम्य ततो मन्त्री दन्तधावनमाचरेत् ।

तच्च गान्धर्वे-

दन्तकाष्ठं मुखे दत्त्वा पूजयेद् यस्तु देवताम् ।
तत्पूजा विफला देवि ! भवत्येव न संशयः ॥१०५६॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे-

विधायावश्यकं शौचं आचम्य दन्तधावनम् ।
मुखप्रक्षालनादींश्च कृत्वा स्नानं समाचरेत् ॥१०५७॥ इति ।

दक्षिणामूर्त्तौ-

क्लीमथो कामदेवश्च ततः सर्वजनं वदेत् ।
प्रियाय हृदयान्तोऽयं मनु र्दन्तविशुद्धये ।
चतुर्दशाक्षरै र्दन्तान् क्षालयेत् सिद्धिहेतवे ॥१०५८॥

यामले-

स्नानमूला क्रिया सर्वा श्रुतिस्मृत्युदिता नृणाम् ।
तस्मात् स्नानं सदा कुर्यात् श्रीपुष्ट्यारोग्यवर्धनम् ॥१०५९॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे-

अरुणे चोदिते मन्त्री तीर्थे वा विमले जले ।

स्नायादिति शेषः।

स्नानं स्यादान्तरं बाह्यं द्विविधं कथितं बुधैः ।
कोटिसूर्यप्रतीकाशं निजभूषायुधैर्युतम् ॥१०६०॥
शिरस्थं संस्मरेद् देवं तत्पादोदकधारया ।
विशन्त्या मूलचक्रं च निजदेहविशुद्धये ॥१०६१॥
प्रक्षाल्यान्तर्गतं पापं विरजो जायते नरः ।
एवं कृत्वाऽऽन्तरस्नानं स्नायाद् वेदोक्तमार्गतः ॥१०६२॥
अघमर्षणसूक्तं च स्मरन्नन्तर्जले शुचिः ।
मन्त्रस्नानं ततः कुर्यात् तत्प्रकारोऽधुनोच्यते ॥१०६३॥ इति ।

नीलतन्त्रे–

पुनर्निमज्य पयसि संकल्पं च समाचरेत् ।
इष्टदेवसपर्यार्थं तान्त्रिकस्नानमाचरेत् ॥१०६४॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे–

प्राणानायम्य मूलेन कृत्वा न्यासं षडङ्गकम् ।
अस्त्रेण मृदमानीय त्रिभागं तत्र कारयेत् ॥१०६५॥
भागमेकं जले चैव क्षिपेन्मन्त्रं समुच्चरन् ।
एकं मूर्धादिनाभ्यन्तं पठन् मूलं विलेपयेत् ।
एकं षडंगे संलिप्य तीर्थमावाहयेत् ततः ॥१०६६॥ इति ।

मन्त्रमहोदधौ–

हृन्मन्त्रांकुशमुद्राभ्यां तीर्थमाकृष्य मण्डलात् ।
मन्त्रत्रयेणाम्बुमध्ये लिख्यते तन्मनुत्रयम् ॥१०६७॥
ब्रह्माण्डोदरतीर्थानि करैः स्पृष्टानि ते रवे ! ।
तेन सत्येन मे देव तीर्थं देहि दिवाकर ॥१०६८॥
गंगे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति ! ।
नर्मदे ! सिन्धु ! कावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥१०६९॥
आवाहयामि त्वां देवि ! स्नानार्थमिह सुन्दरि ।
एहि गङ्गे नमस्तुभ्यं सर्वतीर्थसमन्विते ॥१०७०॥

ततो वमिति बीजेन योजयेत्तानि तज्जले ।
अग्न्यर्केन्दुमण्डलानि तत्र सञ्चिन्तयेत् पुनः ॥१०७१॥

मन्त्रयेत् तेन बीजेन रविवारं ततो जलम् ।
कवचेनाऽवगुण्ठ्याऽथ रक्षेदस्त्रेण तत्पुनः ॥१०७२॥

मूलमन्त्रेणेशवारमभिमन्त्र्य नमेज्जलम् ।
मन्त्रेण वक्ष्यमाणेन देवतां मनसि स्मरन् ॥१०७३॥

आधारः सर्वभूतानां विष्णोरतुलतेजसः ।
तद्रूपाश्च ततो जाता आपस्ताः प्रणमाम्यहम् ॥१०७४॥

मज्जेज्जले स्मरेत् तत्र मूलं च देवताकृतिम् ।
उन्मज्य सिञ्चेत् कं सप्तकृत्वः कलशमुद्रया ॥१०७५॥

मूलेनाऽथ चतुर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत् निजां तनुम् ।
लिख्यन्ते तेऽत्र चत्वारो मन्त्राः शङ्करभाषिताः ॥१०७६॥

सिसृक्षो निखिलं विश्वं मुहुः शुक्रं प्रजापतेः ।
मातरः सर्वभूतानामापो देव्यः पुनन्तु माम् ॥१०७७॥

अलक्ष्मी र्मलरूपा या सर्वभूतेषु संस्थिता ।
क्षालयन्ति निजस्पर्शादापो देव्यः पुनन्तु माम् ॥१०७८॥

यन्मे केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि ।
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद् घ्नन्तु वो नमः ॥१०७९॥

आयुरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षयः सुखम् ।
सन्तोषः शान्तिरास्तिक्यं विद्या भवतु वो नमः ॥१०८०॥

प्रणवादिः सर्वत्र ।

ततो देवान् मनुष्यांश्च संक्षेपात् तर्पयेत् पितॄन् । इति ।

आर्द्रवस्त्रेण यत् कर्त्तव्यं तदाह यामले–

नाभिमात्रोदके स्थित्वा देवीमर्कगतां स्मरन् ।
जपेदष्टोत्तरशतं लभते महतीं श्रियम् ।
संहारमुद्रया चैव तीर्थमुद्वास्य वाग्यतः ॥१०८१॥ इति ।

गौतमीये–

पीड़यित्वाम्बरं चोरू प्रक्षाल्याचम्य वाग्यतः ।
धारयेद् वाससी शुद्धे परिधानोत्तरीयके ।
तीर्थाभावात् स्वसदने स्नायादुष्णेन वारिणा ॥१०८२॥ इति ।

मन्त्रमहोदधौ–

अल्पा एव प्रकर्त्तव्या तत्र मन्त्रा यथोदिताः ।
हस्तयोरप आधाय कुर्यात्तत्राघमर्षणम् ॥१०८३॥

भस्मना गोरजोभि र्वा स्नायान्मन्त्रेण वाऽक्षमः ।
तत आचम्य पीठस्थस्तिलकं रचयेत् सुधीः ॥१०८४॥

केशवाद्यभिधानैस्तु स्थानेषु द्वादशस्वपि ।
ललाटोदरहृत्कण्ठे दक्षपार्श्वांसकर्णतः ॥१०८५॥

वामपार्श्वांसकर्णे च पृष्ठदेशे ककुद्यपि ।
ललाटे तु गदां कुर्याद् हृदये नन्दकं पुनः ॥१०८६॥

शंखं चक्रं भुजद्वन्द्वे शार्ङ्गं बाणं च मूर्धनि ।
इत्थं तु वैष्णवः कुर्यात् शैवः कुर्यात् त्रिपुण्ड्रकम् ॥१०८७॥

अग्निहोत्रोत्थितं भस्माऽऽदायाग्निरिति मन्त्रतः ।
अभिमन्त्र्य त्र्यम्बकेन कुर्यात् पञ्चत्रिपुण्ड्रकीम् ॥१०८८॥

क्रमात् तत्पुरुषाघोरसद्योजातेशनामभिः ।
भालांसोदरवक्षस्सु ऋग्भिस्तेषामथापि वा ॥१०८९॥ इति ।

अन्यच्च भविष्यपुराणे–

त्रिपुण्ड्रेण विना कुर्यात् यत्किञ्चित् वैदिकीं क्रियाम् ।
सा निष्फला भवत्येव ब्रह्मणा च कृता यदि ॥१०९०॥ इति ।

अन्यत् त्रिपुण्ड्रमाहात्म्यं धर्मपुराणे–

वैष्णवो वाथ शैवो वा शाक्तो वा सौर एव वा ।
त्रिपुंड्रेण विना पूजां कुर्वाणो यात्यधोगतिम् ॥१०९१॥ इति ।

भविष्ये–

सच्छिद्रं कुरुते यस्तु पुण्ड्रं पशुपते द्विजः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु तस्य च्छिद्रं प्रजायते ॥१०९२॥ इति ।

शक्तिविषये यामले–

तिलकं रक्तगन्धेन चन्दनेनाऽथवा प्रिये ।
देव्यस्त्रं विलिखेद् भाले ताराबीजं ततो हृदि ।
शक्तिं मध्यगतां कुर्यात् साधको निरुपद्रवः ॥१०९३॥

देव्यस्त्रं स्वस्वोपासितदेव्यस्त्रमित्यर्थः ।

समाप्य वैदिकीं सन्ध्यां तान्त्रिकीं समुपाचरेत् ।
अंगुलीयं करे कृत्वा सुवर्णरजतैः कुशैः ॥१०९४॥

सुवर्णं रजतं चैव जपपूजादिकर्मसु ।
एष एव कुशः प्रोक्तो न दर्भो वनसम्भवः ।
तर्जन्यां राजतं धार्यमनामायां च स्वर्णजम् ॥१०९५॥ इति ।

यामले पुनस्तत्रैव–

अथ सन्ध्यां प्रवक्ष्यामि तान्त्रिकीं सर्वसिद्धिदाम् ।
उपविश्याचमेन्मन्त्रैः पयोभिर्हीनबुद्बुदैः ।
प्रणवश्चात्मतत्त्वाय विद्यातत्त्वाय वै ततः ॥१०९६॥

शिवतत्त्वाय संप्रोक्तः क्रमेणवह्निवल्लभा ।
मूलान्तैरेभिराचम्य पूर्वोत्तरमुखः सुधीः ॥१०९६॥

साधको मूलमुच्चार्य वामहस्ते जलं ततः ।
गृहीत्वा तज्जलं देवि तत्रमूलं समुच्चरन् ॥१०९७॥

शिवो वायुर्जलं पृथ्वी वह्निबीजैस्त्रिधा पुनः ।
अभिमन्त्र्य च मूलेन सप्तधा तत्त्वमुद्रया ॥१०९८॥

गलितं कं क्षिपेन्मूर्घ्नि शेषं दक्षे निधाय च ।
इडयाकृष्य देहान्तः क्षालितैः पापसञ्चयैः ॥१०९९॥

कृष्णवर्णं तदुदकं दक्षनाड्या विरेचितम् ।
दक्षहस्तेन तन्मन्त्री पापरूपं विचिन्त्य च ॥११००॥

पुरतो वज्रपाषाणे प्रक्षिपेदस्त्रमन्त्रतः ।
जले मन्त्रं समालिख्य तर्पयेत् परदेवताम् ॥११०१॥

उत्तराभिमुखो भूत्वा गुरुमात्रं प्रतर्पयेत् ।
तृप्यतां जगतां माता भैरवस्तृप्यतां तथा ॥११०२॥

मूलान्ते नाम चोच्चार्य तर्पयामि ततः परम् ।
स्वाहान्तं तर्पणं कुर्यात् पंचविंशतिसंख्यया ॥११०३॥

तर्पणं च प्रकुर्वीत द्वितीयान्तमथोच्चरन् ।
पंचविंशतिसंख्यं वा दशधा वा त्रिधाऽपि वा ॥११०४॥

एकैकाञ्जलितोयेन परिवारांश्च तर्पयेत् ।
ततश्च दिननाथाय दद्यादर्घत्रयं सुधीः ॥११०५॥

सूर्यमंत्रं समुच्चार्य ध्रुवो ह्लीं हंस इत्यथ ।
मार्तण्डभैरवायेति प्रकाशशक्तिसंयुतम् ॥११०६॥

ङेन्तमुक्त्वा ग्रहराशियुतायान्ते च ठद्वयम् ।
त्रिधाञ्जलिं क्षिपेन्मंत्री कर्मणां साङ्गसिद्धये ॥११०७॥

तोयाञ्जलिं पुनश्चैवं सूर्यमंडलमध्यगाम् ।
मूलदेवीमथो ध्यायन् सूर्यमंडलरूपिणीम् ॥११०८॥

तत उच्चार्य गायत्रीं विसृजेदनयार्घ्यकम् ।
गायत्रीं भावयेद् देवीं सूर्यासनकृताश्रयाम् ॥११०९॥

कुंडलीं त्रिविधां देवीं तथा बीजत्रयं त्रिधा ।
तुरीयां कुंडलीं मूर्ध्नि नित्यानन्दस्वरूपिणीम् ॥१११०॥

मूलाधारे वाग्भवं च चन्द्रवर्णसमं स्मरेत् ।
वह्निकुंडलिनीं नित्यां बालार्कसदृशाननाम् ॥११११॥

हृदये कामबीजं च कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
सूर्यकुंडलिनीं तत्र नित्यानन्दस्वरूपिणीम् ॥१११२॥

भ्रूमध्ये शक्तिबीजं च कोटिचन्द्रसमप्रभम् ।
चन्द्रकुंडलिनीं तत्र स्रवदमृतविग्रहाम् ॥१११३॥

बीजत्रयमये विन्दौ तुर्यां विन्दुत्रयात्मिकाम् ।
सूर्यकुंडलिनीं देवीं केवलां ज्ञानविग्रहाम् ॥१११४॥

प्रातर्मूलाधारे–

बालार्कमंडलाभासां भानुवह्नीन्दुलोचनाम् ।
पाशांकुशौ शरांश्चापं धारयंतीं शिवां स्मरेत् ॥१११५॥

मध्याह्ने हृत्पद्मे–

मध्याह्ने चिन्तयेद् देवीं नवयौवनशोभिताम् ।

सायाह्ने भ्रूमध्ये–

सायाह्ने चिन्तयेद् देवीं त्रैलोक्यैकप्रभामयीम् ।
नवयौवनसंपन्नामुज्ज्वलां परमां कलाम् ॥१११६॥

क्रियासारे–

तामेव चिन्तयेद् रात्रौ भोगमोक्षकरीं शिवाम् ।
गायत्रीं प्रजपेद् विद्वानष्टाविंशतिसंख्यया ।
मनसा प्रजपेन्मन्त्री गायत्रीं च विशेषतः ॥१११७॥

गांधर्वे–

गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्री तेन चोच्यते ।
महापातकयुक्तोऽपि दशधा प्रजपेद् यदि ॥१११८॥
सत्यं सत्यं महेशानि मुक्तो भवति तत्क्षणात् ।
अष्टोत्तरशतावृत्त्या गायत्रीं प्रजपेद् यदि ॥१११९॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो भवेत् पूजाधिकारवान् ।
अष्टोत्तरशतावृत्त्या मूलमन्त्रं ततो जपेत् ॥११२०॥
एषा शक्तिमयी संध्या कर्तव्या साधकोत्तमैः ।
ततो मौनी विशुद्धात्मा हृदि विद्यां परां जपन् ॥११२१॥
अबहिर्मानसो भूत्वा यागभूमिमथाऽऽविशेत् ।
संध्यायां पतितायां वा गायत्रीं दशधा जपेत् ॥११२२॥

कालत्रयेऽपि कर्तव्या संध्या साधकसत्तमैः ।
तुरीयाऽपि च कर्तव्या यथाकाले विमुक्तये ॥११२३॥

अकरणे दोषमाह लक्ष्मीकुलार्णवे—

संध्यया च विहीनो यो न दीक्षाफलमाप्नुयात् ॥११२४॥

शक्तिविषये तान्त्रिकीसंध्यायां शूद्रस्याप्यधिकारः—

संध्यात्रयं तथा कुर्याद् ब्राह्मणो विधिपूर्वकम् ।
तंत्रोक्तविधिपूर्वं तु शूद्रः संध्यां समाचरेत् ॥११२५॥ इति ।

सर्वसाधारणी तु मन्त्रमहोदधौ—

कृत्वा संध्यां स्वशाखोक्तां तंत्र संध्यामथाऽऽचरेत् ।
प्राणायामं षडङ्गं च कृत्वादाय करे जलम् ॥११२६॥
त्रिर्जप्त्वा मूलमंत्रेणेत्याचमेत् त्रिर्जपन् मनुम् ।
पुनर्दक्षकरेणाम्भो गृहीत्वा वामहस्ततः ॥११२७॥
निधाय तस्माच्च्योतद्भिर्विन्दुभिः सप्तधा तनुम् ।
संमार्ज्य मूलमंत्रेणावशिष्टं तत् पुनर्जलम् ॥११२८॥
दक्षहस्ते समादाय नासिकान्तिकमानयेत् ।
इडयान्तःसमाकृष्य तद्धौतैः पापसंचयैः ॥११२९॥
कृष्णवर्णं पिंगलया रेचितं प्रविचिन्त्य तत् ।
क्षिपेदस्त्रेण पुरतः कल्पिते भिदुरोपले ॥११३०॥
अघमर्षणमेतद्धि निखिलाघविनाशनम् ।
पुनरञ्जलिनाऽऽदाय जलमर्घं दिशेत् ततः ॥११३१॥
त्रिवारं मूलमन्त्रान्ते षोडशार्णमनुं जपन् ।
रविमंडलसंस्थाय देवायार्घ्यंपदं ततः ॥११३२॥
कल्पयामीतिमंत्रोऽयं षोडशार्ण उदाहृतः ।
सूर्यमंडलगं ध्यायन्निष्टदेवमनन्यधीः ॥११३३॥
प्रजपेन्मंत्रगायत्रीं मूलमष्टोत्तरं शतम् ।
अष्टाविंशतिवारं वा तर्पयेत् तावदम्भसि ॥११३४॥

दत्त्वार्घं दिननाथाय तीर्थं संहारमुद्रया ।
विसृज्यार्कं लोकपालान् नत्वा देवस्तुतिं पठन् ॥११३५॥

यागस्थानं समागत्य प्रक्षाल्यांघ्रो तथाऽऽचमेत् ।
गार्हपत्यादिकानग्नीन् हुत्त्वोपस्थाय तानपि ॥११३६॥

देवतागारमागत्य समाचम्येद् यथाविधि ।
केशवनारायणमाधवैः पीत्त्वा जलं त्रिधा ॥११३७॥

करौ गोविन्दविष्णुभ्यां क्षालयेन्मधुसूदन ।
त्रिविक्रमाभ्यामोष्ठौ वा मनः श्रीधराभ्यां मुखम् ॥११३८॥

हृषीकेशेन हस्तौ च चरणौ पद्मनाभतः ।
दामोदरेण मूर्धानं प्रोक्ष्य संकर्षणादिकान् ॥११३९॥

मुखादिष्वंगुष्ठांगुल्या वेदादिः प्रीणने न्यसेत् ।
मुखे संकर्षणं वासुदेवप्रद्युम्नकौ नसोः ॥११४०॥

अनिरुद्धं च पुरुषोत्तममक्ष्णोः प्रविन्यसेत् ।
अधोक्षजं नृसिंहं च कर्णयोर्नाभितोऽच्युतम् ॥११४१॥

जनार्दनं हृदि न्यस्य उपेन्द्रमपि मूर्धनि ।
अंसयोश्च हरिं कृष्णं वैष्णवाचमनं त्विदम् ।
केशवाद्याश्चतुर्थ्यन्ता नमोऽन्ताः प्रणवादिकाः ॥११४२॥ इति ।

आगमान्तरे–

प्राग्वक्त्रश्चोदङ्मुखः सूपवीती,
बध्वा चूडां जानुमध्यस्थबाहुः ।

तोयं चेक्षन् नूपविष्टोऽथ मौनी,
स्यादाप्रह्वस्त्वेकधाराचमिष्यन् ॥११४३॥

अदुष्टरसगंधाद्यैरकीटाफेनबुद्बुदैः ।
अनुष्णैरम्बुभिः शुद्धैराचमेदभिवोक्षितैः ॥११४४॥

हृत्कंठास्यगताः पुनन्ति विबुधा नापो द्विजादीन् क्रमात्
त्रिःपीता वृषलस्त्रियावपि सकृत् कुंडादिलोमादिकान् ।

आचम्य त्रिरपस्त्रिवेदपुरुषाः प्रीणन्ति निर्मार्ष्टि यत्
द्विःसाष्टार्वषडंगयज्ञपुरुषाः प्रोताः स्युरंगुष्ठतः ॥११४५॥

प्रीणात्यर्कमनामिका नयनयोः स्पर्शात्तथांगुष्ठयुक्
सांगुष्ठा त्वथ तर्जनी समभिता घ्राणद्वये मारुतम् ।

अंगुष्ठेन कनिष्ठिका श्रवणयोराशाश्च नाभे वसू–
नात्मानं तु हृदंशयोर्गिरमृषीन् मूर्ध्नः समस्तांगुलैः ॥११४६॥ इति ।

आस्ये नसोः प्रदेशिन्यानामया नेत्रकर्णयोः ।
कनिष्ठया नाभिदेशेंऽगुष्ठः सर्वत्र संयुतः ॥११४७॥

तलेन हृदयं न्यस्य सर्वाभि र्मस्तकेंऽसयोः ।
आत्मविद्याशिवैस्तत्त्वैः स्वाहान्तैः प्रपिबेदपः ॥११४८॥

ह्रां ह्रीं ह्रूमादिमैः शैवे शाक्ते वाग्बीजपूर्वकैः ।
क्षालनादिकमंगुल्याः स्पर्शोऽपि स्यादमंत्रतः ॥११४९॥

एवमाचम्य सामान्यार्घेण द्वारं प्रपूजयेत् ।
तारः खं वह्निसर्गाढ्यं द्वाराघ्यं साधयामि च ॥११५०॥

उक्तास्त्रमनुना पात्रं क्षालयेत् पूरयेन्मृदा ।
तीर्थान्यावाह्य गंधादीन् तत्राश्ये (?) निगमादिना ॥११५१॥

धेनुमुद्रां प्रदर्श्याऽथ मूलेनाष्टाभिमंत्रयेत् ।
सामान्यार्घविधिः प्रोक्तस्तेनार्चेद् द्वारदेवताः ॥११५२॥

द्वारमस्त्राम्बुना प्रोक्ष्य गणेशं चोर्ध्वतो यजेत् ।
महालक्ष्मीं दक्षभागे वामभागे सरस्वतीम् ॥११५३॥

पुनर्दक्षे यजेद् विघ्नं गंगां च यमुनामपि ।
पुनर्वामे क्षेत्रपालं स्वःसिन्धुयमुने अपि ॥११५४॥

पुनर्दक्षे च धातारं विधातारं तु वामतः ।
तद्वन्निधीशं खपद्मौ ततोऽर्चेद् द्वारपालकान् ॥११५५॥

ये द्वारपाला देवानां ते कथ्यंते पृथग्विधाः ।
नन्दः सुनन्दश्चण्डश्च प्रचंडो बलसंज्ञकः ॥११५६॥

प्रबलो भद्रसंज्ञश्च सुभद्रो वैष्णवा मताः ।
नंदिसंज्ञो महाकालो गणेशो वृषभस्तथा ॥११५७॥

भृंगीरी ह्यभिधः स्कन्दः पार्वतीशाभिधः परः ।
चंडेश्वरा इमे शैवाः शाक्तेया मातरः स्मृताः ॥११५८॥

मातरः ब्राह्म्याद्या इति ।

वक्रतुण्डश्चैकदंष्ट्रो महोदरगजाननौ ।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्नराजश्च सप्तमः ॥११५९॥

धूम्रराजो गणपते द्वारपाला इमे स्मृताः ।
इन्द्रो यमोऽथ वरुणः कुवेरस्त्रिपुरामते ॥११६०॥

द्वारपूजां विधायेत्थं विघ्नानुत्सारयेत् त्रिधा ।
आत्मानं शंकरं ध्यात्वा दृष्ट्या दिव्यान् निवारयेत् ॥११६१॥

शंकरमित्युपलक्षणम् । स्वोपासितदेवतारूपमिति पूज्यपूजकयोरभेदात् ।

नभःस्थानेऽर्घपानीयैः पार्ष्णिघातै र्धरागतान् ।
अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः ॥११६२॥

ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ।
अपक्रामन्तु भूतानि पिशाचाः सर्वतो दिशम् ॥११६३॥

सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ।
विनिवार्याखिलान् विघ्नान् इदं मंत्रद्वयं पठन् ॥११६४॥

अवकाशप्रदानायान्तरायाणां विनिर्गमे ।
संकोचयित्वा वामांगं गृहं दक्षपदा विशेत् ।
क्षेत्रपालं च धातारं नैर्ऋत्यां दिशि पूजयेत् ॥११६५॥

पंचाशत्संख्याकानां क्षेत्रपालानां नामानि पुरश्चरणपटले लिखामस्तत्पूजा च ।

अनन्तं विमलं पद्मं ङेन्तासननमोऽन्वितम् ।
जपं निदध्याद् दर्भास्त्रीन् कुशचर्माम्बरासने ॥११६६॥

काष्ठपल्लववंशाश्मगोशकृत्तृणमृण्मयम् ।
विषमं कठिनं मंत्री त्यजेदासनमाधिजम् ॥११६७॥

आसनमन्त्र ऋष्यादयस्तन्त्रान्तरे—

तदासनस्पर्शिमुशन्ति कूर्मं छन्दस्तथा स्यात् सुतलं सुधीरैः ।
प्रोक्ता तु पृथ्वी किल देवतास्य जपादिकर्मण्युपयोग युक्तः ॥११६८॥
पृथ्वि त्वयेति मंत्रेण प्रागुदग्वा समाविशेत् ।
कुर्यात् स्वस्तिकपाथोजवीरादिष्वेकमासनम् ॥११६९॥
पौष्पं दारुमयं वस्त्रं चर्मकौशेयवाससम् ।
षड्विधं चासनं प्रोक्तं देवताप्रीतिकारकम् ॥११७०॥ इति ।

आसनविशेषं तत्फलं च पुरश्चरणपटले लिखामः ।

अर्ध्यपाद्याचमनीय-मधुपर्काचमनस्य च ।
पंच पात्राणि पुष्पादीन् स्थापयेत् स्वीयदक्षिणे ॥११७१॥
वामेऽम्बुपात्रं व्यजनं क्षत्रमादर्शचामरे ।
कृताञ्जलि र्वामदक्षे गुरून् गणपतिं नमेत् ॥११७२॥
न्यस्यास्त्रं करयोस्तालत्रयं दिग्बन्धनं चरेत् ।
अंगुष्ठयुक्ततर्जन्या सुदर्शनमनुं जपन् ॥११७३॥
प्रणवो हृदये ङेऽन्तं सुदर्शनपदं पुनः ।
अस्त्राय च फडित्युक्तो मन्त्रो द्वादशवर्णवान् ॥११७४॥
विधाय वह्निप्राकारं भूताजेयो भवेत् सुधीः ।
चन्दनागरुकर्पूरैरन्तरं धूपयेत्ततः ॥११७५॥
प्राणानायम्य तारेण पूरकुम्भकरेचकैः ।
द्वात्रिंशता चतुःषष्ट्या क्रमात् षोडशसंख्यया ।
देवार्चा योग्यतावाप्त्यै भूतशुद्धिं समाचरेत् ॥११७६॥ इति ।

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे स्नानादिकर्मकथनं नाम अष्टमः पटलः ॥८॥

नवमः पटलः ।

अथ भूतशुद्धिः-

मूलाधारे स्थितां देवीं कुंडलीं परदेवताम् ।
विसतंतुनिभां विद्युत्प्रभां ध्यायेत् समाहितः ॥११७७॥

मूलाधारात् समुत्त्थाप्य संगतां हृदयाम्बुजे ।
सुषुम्णा मार्गमाश्रित्याऽऽदाय जीवं हृदम्बुजात् ॥११७८॥

प्रदीप्तकलिकाकारां ब्रह्मरन्ध्रगतां स्मरेत् ।
जीवं ब्रह्मणि संयोज्य हंसमंत्रेण साधकः ॥११७९॥

पादादिब्रह्मरन्ध्रान्तं स्थितं भूतगणं स्मरेत् ।
स्ववर्णबीजाकृतिभि र्युक्तं तद्विधिरुच्यते ॥११८०॥

पादादिजानुपर्यन्तं चतुःकोणं सवज्रकम् ।
भूबीजाख्यं स्वर्णवर्णं स्मरेदवनिमंडलम् ॥११८१॥

जान्वादिनाभिचन्द्रार्धनिभं पद्मद्वयांकितम् ।
वं बीजयुक्तं श्वेताभमंभसो मंडलं स्मरेत् ॥११८२॥

नाभे र्हृदयपर्यन्तं त्रिकोणं स्वस्तिकान्वितम् ।
रं बीजेन युतं रक्तं स्मरेत् पावकमण्डलम् ॥११८३॥

हृदो भ्रूमध्यपर्यन्तं वृत्तं षड्विंदुलाञ्छितम् ।
यं बीजयुक्तं धूम्राभं नभस्वन्मण्डलं स्मरेत् ॥११८४॥

आब्रह्मरन्ध्रं भ्रूमध्याद् वृत्तं स्वच्छं मनोहरम् ।
हं बीजयुक्तमाकाशमंडलं प्रविचिंतयेत् ॥११८५॥

यद् हस्तपायूपस्थवाक् क्रमाद् ध्येया धरादिगाः ।
स्वकीयविषयै र्युक्ता गमनग्रहणादिभिः ॥११८६॥

घ्राणं च रसना चक्षुः स्पर्शनं श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
क्रमाद् ध्येयं धरादिस्थं गंधादिगुणसंयुतम् ॥११८७॥

ब्रह्मविष्णुशिवेशानाः सदाशिव इतीरिताः ।
धरादिभूतसंघेशा ध्येयास्तन्मण्डलेषु ते ॥११८८॥

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिश्चतुर्थिका ।
शान्त्यतीतेति पंचैव कला ध्येया धरादिगाः ॥११८९॥

समानोदानव्यानाश्चापानप्राणौ च वायवः ।
धरादिमंडलगताः पंच ध्येयाः क्रमादिमे ॥११९०॥

एवं भूतानि संचिन्त्य प्रत्येकं प्रविलापयेत् ।
भुवं जले जलं वह्नौ वह्निं वायौ नभस्यमुम् ॥११६१॥

विलाप्य खमहंकारे महातत्त्वेऽप्यहंकृतिम् ।
महान्तं प्रकृतौ मायामात्मनि प्रविलापयेत् ॥११६२॥

शुद्धसंविन्मयो भूत्वा चिंतयेत् पापपूरुषम् ।
दक्षकुक्षिस्थितं कृष्णमंगुष्ठपरिमाणकम् ॥११६३॥

विप्रहत्याशिरोयुक्तं कनकस्तेयबाहुकम् ।
मदिरापानहृदयं गुरुतल्पकटिद्वयम् ॥११६४॥

पापिसंगपदद्वन्द्वमुपपातकरोमकम् ।
खड्गचर्मधरं दुष्टमधोवक्त्रं सुदुःसहम् ॥११६५॥

वायुबीजं स्मरन् वायुं संपूर्य्यैनं विशोषयेत् ।
स्वशरीरयुतं मंत्री वह्निबीजेन निर्दहेत् ॥११६६॥

कुम्भके परिजप्तेन ततः पापनरोद्भवम् ।
बहि र्भस्म समुत्सार्य वायुबीजेन रेचयेत् ॥११६७॥

सुधाबीजेन देहोत्त्थं भस्म संप्लावयेत् सुधीः ।
भूबीजेन घनीकृत्य भस्म तत् कनकाण्डवत् ॥११६८॥

विशुद्धमुकुराकारं जपन् बीजं विहायसः ।
मूर्धादिपादपर्यन्तान्यङ्गानि रचयेत् सुधीः ॥११६९॥

आकाशादीनि भूतानि पुनरुत्पादयेत् चितः ।
सोऽहं मन्त्रेण चात्मानमानयेद् हृदयाम्बुजे ॥१२००॥

कुंडली जीवमादाय परसंगात् सुधामयम् ।
संस्थाप्य हृदयाम्भोजे मूलाधारगतां स्मरेत् ॥१२०१॥

भूतशुद्धिं विधायैवं प्राणस्थापनमाचरेत् ।
प्राणप्रतिष्ठामंत्रस्य विधानमभिधीयते ॥१२०२॥

प्राणमंत्रस्य मुनयो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
उक्तमृग्यजुषं साम छंदः छंदोविशारदैः ॥१२०३॥

चैतन्यरूपा प्राणात्मा देवताशक्तिरीरिता ।
पाशो बीजं त्रपा शक्ति र्विनियोगोऽसु संस्थितौ ॥१२०४॥

ऋषीन् शिरसि वक्त्रेषु छंदांसि देवता हृदि ।
गुह्ये बीजं पदोः शक्ति न्यस्य कुर्यात् षडंगकम् ॥१२०५॥

कवर्गं नभ आद्यै र्हृच्चशब्दाद्यैः शिरः स्मृतम् ।
टश्रोत्राद्यैः शिखा प्रोक्ता तवागाद्यैस्तनुच्छदम् ॥१२०६॥

पवक्तव्यादिभि र्नेत्रमस्त्रं येनान्तरिन्द्रियैः ।
आत्मनेऽन्तान् मनूनंगान् विन्यसेद् हृदयादिषु ॥१२०७॥

पंचमं प्रथमं पश्चात् द्वितीयं च चतुर्थकम् ।
तृतीयमित्थं क्रमतो वर्गवर्णान् समुच्चरेत् ॥१२०८॥

यवर्गेऽप्येवमुच्चार्यं नभश्चे तोऽन्तिमो भृगुः ।
विमलं चेति चोच्चार्याः क्रमाद् वर्णाः सविन्दवः ॥१२०९॥

नभो वाय्वग्निवार्भूमिनभ आदय ईरिताः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः शब्दादयो मताः ॥१२१०॥

श्रोत्रं त्वग् नयनं जिह्वा घ्राणं श्रोत्रादयः स्मृताः ।
वाक् पाणिपादपाय्वुपस्थाश्च वागादयः पुनः ॥१२११॥

वक्तव्या दानगमनविसर्गानंदसंज्ञकाः ।
वक्तव्याद्या बुद्धिमनोऽहंकाराश्चित्तसंयुताः ॥१२१२॥

अंतरिन्द्रियसंज्ञाः स्युरेवमुक्तं षडङ्गकम् ।
नाभेरारभ्य पादान्तं पाशबीजं प्रविन्यसेत् ॥१२१३॥

नाभ्यन्तं हृदयाच्छक्ति हृदन्तं मस्तकाच्छृणिम् ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि विन्यसेत् ॥१२१४॥

आतमने हृदयान्तानि यादिसप्तादिकान्यपि ।
ओजः सद्यान्विताकाशपूर्वं प्राणं तु खादिकम् ॥१२१५॥

भृग्वादिकं न्यसेत् जीवमेतान् हृदयदेशतः ।
यकाराद्या आद्यवर्णाः सर्वे स्युश्चन्द्रभूषिताः ॥१२१६॥

ततः समस्तमूलेन मूर्धादि चरणावधि ।
विधाय व्यापकं न्यासं ध्यायेत् प्राणेश्वरीं ततः ॥१२१७॥

पाशं चापासृक्कपाले शृणीषून् शूलं हस्तै र्बिभ्रतीं रक्तवर्णाम् ।
रक्तोदन्वत्पोतरक्तांबुजस्थां देवीं ध्याये प्राणशक्तिं त्रिनेत्राम् ॥१२१८॥

ध्यायन् हृदि करं दत्त्वा त्रिर्जपेत् तन्मनुं सुधीः ।
वक्ष्येऽधुना मनोस्तस्योद्धारं ध्यातृसुखावहम् ॥१२१९॥

पाशं मायां शृणिं प्रोच्य यादीन् सप्तेन्दुसंयुतान् ।
तारान्वितं नभः सप्तवर्णमंत्रं ततोऽजपाम् ॥१२२०॥

मम प्राणा इह प्राणा मम जीव इह स्थितः ।
मम सर्वेन्द्रियाण्युक्त्वा मम वाङ्मन ईरयेत् ॥१२२१॥

चक्षुःश्रोत्रघ्राणपदात् प्राणा इह समीर्य च ।
आगत्य सुखमुच्चार्य चिरं तिष्ठन्त्विदं पठेत् ॥१२२२॥

वह्निजायां च सप्तार्णं मंत्रमन्ते पुन र्वदेत् ।
प्राणप्रतिष्ठामंत्रोऽयं स्मृतः प्राणनिधापने ॥१२२३॥

सबिंदवो मेरुहंसाकाशाः सर्गी भृगुः पुनः ।
मायेति ताररुद्धोऽयं मंत्रः सप्ताक्षरो मतः १२२४॥

ममास्येति पदस्यादौ पाशादीनि समुच्चरेत् ।
यंत्रेषु प्रतिमादौ वा प्राणस्थापनमाचरेत् ।
मम स्थाने तस्य तस्य षष्ठ्यन्तामभिधां पठेत् ॥१२२५॥

अत्र विशेषो वसिष्ठसंहितायाम्-

हृदि हस्तं संनिधाप्य प्राणस्थापनमाचरेत् ।
ततो जन्मादिकद्व्यष्टक्रिया संस्कारसिद्धये ॥१२२६॥

षोडश प्रणवावृत्तीः कृत्वा शक्तिं परां स्मरेत् ।
एवं प्राणान् प्रतिष्ठाप्य मातृकान्यासमाचरेत् ॥१२२७॥

श्रीकंठाद्यां शंभुभक्तो वैष्णवः केशवादिकाम् ।
गणेशाद्यां तु तत् सेवी शक्तिभाङ् मातृकाः कलाः ॥१२२८॥

समुद्रा मातृकाभेदा न्यासपटले लिखामः ।

न्यस्य देवमयो भूत्वा ध्यायेदिष्टं स्वमात्मवान् ।
तत्तन्मुद्राः प्रदर्श्याथ कुर्यान्मानसपूजनम् ॥१२२९॥

प्रार्थयेत ततो देवं मंत्रेणानेन तन्मनाः ।
स्वागतं देवदेवेश सम्मुखो भव केशव ।
गृहाण मानसीं पूजां यथार्थपरिभाविताम् ॥१२३०॥

केशवेत्युपलक्षणम् ।

केशवेति पदस्थाने कार्य ऊहोऽन्यदैवते ।
यस्य यस्य च देवस्य यथाभूषणवाहनम् ॥१२३१॥

संचिन्त्य हृदयाम्भोजे पूजयेन्मानसैस्तथा ।
सायुधं च तथा सांगं सर्वोपस्करसंयुतम् ॥१२३२॥

मनसा पूजयित्वैवं क्षणं तद्गतमानसः ।
स्थित्वा मूलमनुं विद्वान् जपेदष्टोत्तरं शतम् ॥१२३३॥

जपं निवेद्य देवाय स्थापयेदर्घ्यमुत्तमम् ।
बाह्यसंपूजनायाथ तत्प्रकारोऽभिधीयते ॥१२३४॥

स्ववामाग्रे तु षट्कोणवृत्तभूपुरवेष्टितम् ।
कृत्वाग्निकोणमूर्ध्वाग्रं स्तम्भयेत् शङ्खमुद्रया ॥१२३५॥

पुष्पाक्षतैः षडंगानि तत्राग्न्यादिषु पूजयेत् ।
अस्त्रक्षालितमाधारं तत्र दध्यान्मनुं जपन् ॥१२३६॥

मं वह्निमण्डलायेति ततो दशकलात्मने ।
अमुकार्घेति पात्रान्ते सनाय नम इत्यपि ॥१२३७॥

चतुर्विंशतिवर्णोऽयमाधारस्थापने मनुः ।
आधारे पूर्वकाष्ठादि दशार्च्चेत् पावकीः कलाः ।
स्वमंत्रक्षालितं शंखं स्थापयेत् तन्मनुं स्मरन् ॥१२३८॥

शंखे विशेषस्त्रिपुरार्णवे–

शंखोदरस्थितावर्त्तं युक्त्या निस्सार्य तत्र तु ।
योनित्रयं तथैकं वा शंखे कुर्याद् विचक्षणः ॥१२३९॥

यामलेऽपि–

मुख्यः शंखः श्वेतवर्णो मध्यः पीतादिवर्णयुक् ।
नीलवर्णः परित्याज्यस्तथैव कृमिभक्षितः ॥१२४०॥ इति ।

अं सूर्यमण्डलायान्ते द्वादशेतिकलात्मने ।
अमुकार्घ्येति पात्राय नमोऽन्तः त्र्यक्षिवर्णवान् ॥१२४१॥

शंखस्थापनमंत्रोऽयं तारं कामो महाजल ।
चराय वर्मफट् स्वाहा पाञ्चजन्याय हृन्मनुः ॥१२४२॥

शंखस्य विंशत्यर्णाढ्यस्तेन प्रक्षालयेत्तु तम् ।
कला द्वादश सूर्यस्य शंखोपरि यजेत् क्रमात् ॥१२४३॥

विलोममातृकां मूलं विलोमं च पठन् जलैः ।
आपूर्य मनुनेष्ट्वा तं तत्राच्चेंदैन्दवीः कलाः ॥१२४४॥

अग्निसूर्येन्दूनां कलाः द्वितीयपटलतो ज्ञेयाः ।

ॐ सोममण्डलायान्ते षोडशान्ते कलात्मने ।
अमुकार्घ्यामृतायेति हृन्मनुश्चार्घ्यपूजने ॥१२४५॥

आह्वयेत् तत्र तीर्थानि तन्मंत्रशृणिमुद्रया ।
रविमण्डलतः स्वीयहृदोदेवमथाऽऽह्वयेत् ॥१२४६॥

अष्टकृत्वो जपेन्मूलं स्पृष्ट्वा जलमनन्यधीः ।
अप्सु विन्यस्य चांगानि हृदा संपूजयेदपः ॥१२४७॥

मूलं जपेदष्टशतं छादयन् मत्स्यमुद्रया ।
संरक्षेदस्त्रमंत्रेण छोटिकामुद्रया जलम् ॥१२४८॥

मुद्रया चावगुण्ठिन्या वर्मणा त्ववगुण्ठयेत् ।
अमृतीकृत्य गोमुद्रां कुर्वन्नमृतबीजतः ॥१२४९॥

संरोधिन्या सन्निरुध्य तत्र मुद्राः प्रदर्शयेत् ।
शंखमौशलचक्राख्याः परमीकृत्य तत् पुनः ॥१२५०॥

महामुद्रां विरचयन् योनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
कृष्णमंत्रे गालिनीं च रामे गरुडमुद्रिकाम् ॥१२५१॥

शङ्खदक्षिणदिग्भागे प्रोक्षणीपात्रपूरणम् ।
कृत्वार्घाम्बु क्षिपेत्तत्र तेनोक्षेत् त्रिनिजां तनुम् ॥१२५२॥

प्रजपन् मूलगायत्रीं पूजावस्तुचयं तथा ।
पाद्याचमनपात्रे च दध्यादर्घ्यस्य चोत्तरे ॥१२५३॥

एवमर्घ्यविधिः प्रोक्तः सर्वसाधारणो मया ।
विहाय शंकरं सूर्यमर्घ्ये शङ्खः प्रशस्यते ॥१२५४

हेमरूपोदुम्बराब्जरीतिदारुमृदुद्भवम् ।
पालाशं पद्मपत्रं च स्मृतं पाद्यादिभाजनम् ॥१२५५॥

अशक्तावर्घ्यपात्रेण पाद्यादीनि निवेदयेत् ।
अंतर्यागं ततः कुर्यात् पीठे देहमये सुधीः ॥१२५६॥

न्यासस्थानेषु मण्डूकमुख्यान् गन्धादिभि र्यजेत् ।
पीठमंत्रान्तमत्रेज्या हृदये स्वेष्टदेवताः ॥१२५७॥

कुण्डलीं च तथोत्थाप्य द्वादशान्ते परं नयेत् ।
तदुत्थामृतधाराभिः प्रीणयेत् परदेवताम् ॥१२५८॥

जपं कृत्वा निवेद्यास्मै मनसा तां विसर्जयेत् ।
मूर्ध्नि हृत्पादगुह्येषु ततः पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ॥१२५९॥

अन्तर्यागं विधायेत्थं बाह्यपूजनमारभेत् ।
द्विविधः स्याल्लब्धमानो बाह्यान्तरमुपासनम् ।
न्यासिनां चान्तरं प्रोक्तमन्येषामुभयं तथा ॥१२६०॥

वायवीयसंहितायामपि-

आदावभ्यन्तरं यागमग्निकार्यावसानकम् ।
विधाय मानवः पश्चाद् बहिर्यागं समाचरेत् ॥१२६१॥ इति ।

आद्यमेवं ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
वर्धिन्यां प्रक्षिपेत् किंचिदर्घोदकमनन्यधीः ॥१२६२॥

प्राणानायम्य मूलेन वामे गुरुत्रयं नमेत् ।
दक्षिणे च गणेशानं पीठपूजामथाचरेत् ॥१२६३॥

स्वर्णादिरचिते यंत्रे यद्वा चन्दननिर्मिते ।
मण्डूकात् परतत्त्वान्तं दिङ्मध्ये पीठशक्तयः ॥१२६४॥
मण्डूकश्चाथ कालाग्निरुद्र आधारशक्तियुक् ।
कूर्मो धरा सुधासिंधुः श्वेतद्वीपसुराङ्घ्रिपाः ॥१२६५॥
मणिहर्म्यं हेमपीठं धर्मो ज्ञानं विरागता ।
ऐश्वर्यं धर्मपूर्वास्तु चत्वारस्ते नञादिकाः ॥१२६६॥
धर्मादयः स्मृताः पादा पीठगात्राणि चेतरे ।
मध्येऽनन्तं तत्त्वपद्ममानन्दमयकन्दकम् ॥१२६७॥
संविन्नालं ततः प्रोक्ता विकारमयकेशराः ।
प्रकृत्यात्मकपत्राणि पञ्चाशद्वर्णकर्णिका ।
सूर्यस्येन्दोः पावकस्य मण्डलत्रितयं ततः ॥१२६८॥
सत्त्वं रजस्तमः पश्चादात्मायुक्तोऽन्तरात्मना ।
परमात्माऽथ ज्ञानात्मा तत्त्वे मायाकलादिके ॥१२६९॥
विद्यातत्त्वं परं तत्त्वं कथिताः पीठदेवताः ।
पूजने सर्वदेवानां पीठे ताः परिपूजयेत् ॥१२७०॥
पृथिव्यनन्तरं पूज्यः क्षीराब्धि र्माधवे श्रियम् ।
इक्षुसिन्धुं गणेशे स्यादन्यत्रामृतसागरम् ॥१२७१॥
अग्निराक्षसवाय्वीशकोणे धर्मादयः स्मृताः ।
इन्द्रकीनाशवरुणसोमाशासु नञादिकाः ॥१२७२॥
धर्मादिपूजने प्राची तथैवावरणार्चने ।
पूजकस्य पुरः कल्प्या ह्यक्रादिषु यथास्वकम् ॥१२७३॥
श्वेता कृष्णारुणा पीता श्यामा रक्ता सितासिताः ।
रक्ताम्बराभयधरा ध्येयाः स्युः पीठशक्तयः ॥१२७४॥
शालग्रामे मणौ यंत्रे नित्यपूजां समाचरेत् ।
हेमादिप्रतिमायां वा स्थापितायां यथाविधि ॥१२७५॥
अङ्गुष्ठादिवितस्त्यन्तमाना स्यात् प्रतिमा गृहे ।
पूज्या न दग्धा भिन्ना वा नोर्ध्वाधोदृङ्मविक्रिया ॥१२७६॥

लिंगं वा लक्षणोपेतं तत्राऽऽवाहनमाचरेत् ।
मूलमुच्चार्य हृदयात् सुषुम्णा वर्त्मना महः ॥१२७७॥
द्वारेण ब्रह्मरंध्रस्य नासारंध्रविनिर्गतम् ।
पुष्पाञ्जलौ मातृकाब्जे योजयित्वा विनिःक्षिपेत् ॥१२७८॥
मूर्त्तौ पुष्पाञ्जलिं चैतदावाहनमुदीरितम् ।
शालग्रामे स्थितायां वा नावाहनविसर्जने ॥१२७९॥
आवाह्याद्युपचारेषु श्लोकान् शम्भूदितान् पठेत् ।
आत्मसंस्थमजं शुद्धं त्वामहं परमेश्वर ।
अरण्यामिव हव्यांशं मूर्तावावाहयाम्यहम् ॥१२८०॥

मूर्ताविति स्थाने यन्त्रेष्वित्यादिपदकल्पना ।

पंचायतनपक्षे तु मध्ये विष्णुं ततोऽर्चयेत् ।
अग्निनिर्ऋतिवायव्येशानेषु गणनायकम् ॥१२८१॥
रविं शिवां शिवं मध्ये गणेशश्चेत् शिवं शिवाम् ।
रविं, विष्णुं रवौ मध्ये विघ्नाजनगजेश्वरान् ॥१२८२॥
भवान्यां मध्यसंस्थायामीशविघ्नार्कमाधवान् ।
हरे मध्यगते सूर्यगणेशगिरिजाच्युतान् ॥१२८३॥
संपूज्यादौ मध्यगतं गणेशादि ततो यजेत् ।
गणेशे मध्यसंस्थे तु पूजयेद् भास्करादितः ॥१२८४॥

केषाञ्चिद्विषये पचाङ्गाभावो यामले—

श्यामायां भैरवीताराछिन्नमस्तासु भैरवि ।
मञ्जुघोषे तथा रौद्रे पंचांगो नेष्यते बुधैः ॥१२८५॥

तत्रापि गुह्यकालीविषये पचायतनी अस्त्येव ।

यंत्रेषु पूजाक्रमो यथा विश्वसारे—

भूपुरेषु चतुःकोणे पूजयेत् क्रमतः सुधीः ।
मध्ये संपूज्य विधिवत् पंचायतनदेवताः ॥१२८६॥

पुनर्मंत्रमहोदधौ-

विधायावाहनं चेत्थमावाहिन्या तु मुद्रया ।
संस्थापिन्या स्थापयेत् तं मूलान्ते श्लोकमुच्चरन् ॥१२८७॥
तवेयं महिमा मूर्तिस्तस्यां त्वां सर्वगं प्रभो ! ।
भक्तिस्नेहसमाकृष्टं दीपवत् स्थापयाम्यहम् ॥१२८८॥
ऊहः कार्यो भवान्यादौ श्लोकमावाहनादिषु ।
मूलश्लोकौ पठन् कुर्यादासनं चोपवेशनम् ॥१२८९॥
सर्वान्तर्यामिने देव ! सर्वबीजमयं शुभम् ।
स्वान्तःस्थाय परं शुद्धमासनं कल्पयाम्यहम् ॥१२९०॥
अस्मिन् वरासने देव ! सुखासीनोऽक्षरात्मकः ।
प्रतिष्ठितो भवेश ! त्वं प्रसीद परमेश्वर ॥१२९१॥
मूलं श्लोकं पठन् कुर्यात् सन्निधानं समुद्रया ।
अनन्या तव देवेश मूर्तिशक्तिरियं प्रभो ॥१२९२॥
सान्निध्यं कुरु तस्यां त्वं भक्तानुग्रहतत्परः ।
पठन् मूलं तथा श्लोकं सन्निरुध्यात् स्वमुद्रया ॥१२९३॥
आज्ञया तव देवेश कृपाम्भोधे गुणाम्बुधे ।
आत्मानन्दैकतृप्तं त्वां संरुणध्मि महेश्वर ! ॥१२९४॥
मुद्रया सम्मुखीकुर्यान्मूलं श्लोकं च संपठन् ।
अज्ञानाद् दौर्मनस्याद्वा वैकल्यात् साधनस्य च ॥१२९५॥
यदपूर्णं भवेत् कृत्यं तदप्यभिमुखो भव ।
कुर्वीत मूलश्लोकाभ्यां प्रार्थिन्या मुद्रयार्चनम् ॥१२९६॥
दृशा पीयूषवर्षिण्या पूरयन् यज्ञविष्टरम् ।
मूर्त्तावायज्ञसंपूर्तेः स्थिरो भव महेश्वर ! ॥१२९७॥
न्यसेत् षडंगं देवांगे सकलीकरणं सुधीः ।
मूलं श्लोकं पठन् कुर्यादवगुण्ठनमुद्रया ॥१३९८॥
अभक्तवाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रदूरादपि स्थिते ।
सुतेजःपंजरेणाशु वेष्टितो भव सर्वतः ॥१२९९॥

गोमुद्रयाऽमृतीकृत्य विदध्यात् परमीकृतिम् ।
महामुद्रां विरचयन् ततः स्वागतमाचरेत् ॥१३००॥

मूलमंत्रं तथा श्लोकं पठन् तद्गतमानसः ।
यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः स्वाभीष्टसिद्धये ॥१३०१॥

तस्मै ते परमेशाय स्वागतं स्वागतं च मे ।
ततः सुस्वागतं कुर्यान्मूलश्लोकौ समुच्चरन् ॥१३०२॥

कृतार्थोऽस्मि गृहीतोऽस्मि सफलं जीवनं मम ।
आगतो देवदेवेश सुस्वागतमिदं पुनः ।
श्यामाकविष्णुक्रान्ताब्जदूर्वोशीरं च चन्दनम् ॥१३०३॥

मूलश्लोकेन चामंत्र्य पाद्यं पादाम्बुजेऽर्पयेत् ।
यद् भक्तिलेशसंपर्कात् परमानन्दसंभवः ॥१३०४॥

तस्मै ते चरणाब्जाय पाद्यं शुद्धाय कल्पये ।
लवंगजातीकक्कोलान् प्रक्षिप्याचमनीयके ॥१३०५॥

दद्यादाचमनं वक्त्रे मूलश्लोकसुधाक्षरैः ।
वेदानामपि वेदाय देवानां देवतात्मने ॥१३०६॥

आचमनं कल्पयामीश ! शुद्धानां शुद्धिहेतवे ।
अर्घ्यपात्रे क्षिपेद् दूर्वां तिलदर्भाग्रसर्षपान् ॥१३०७॥

यवपुष्पाक्षतान् गन्धं मूर्ध्नि तेनार्घ्यमाचरेत् ।
मूलश्लोकशिरोमंत्रै र्देवस्य मंत्रवित्तमः ॥१३०८॥

तापत्रयहरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम् ।
तापत्रयविनिर्मुक्तं तवार्घ्यं कल्पयाम्यहम् ॥१३०९॥

पात्रे तु मधुपर्कस्य दध्याज्यमधु निक्षिपेत् ।
मूलश्लोकसुधामंत्रै र्दध्यात् तं वदने प्रभोः ॥१३१०॥

सर्वकालुष्यहीनाय परिपूर्णसुखात्मने ।
मधुपर्कमिदं देव ! कल्पयामि प्रसीद मे ॥१३११॥

जातीकर्पूरकक्कोलबहुमूलतमालकान् ।
तच्चूर्णयेद् यथान्यायं पुनराचमनीयकम् ॥१३१२॥

पुनराचमनं दद्यान्मूलं श्लोकान्तरं पठन् ।
उच्छिष्टोऽप्यशुचि र्वापि यस्य स्मरणमात्रतः ॥१३१३॥

शुद्धिमाप्नोति तस्मै ते पुनराचमनीयकम् ।
स्नानवस्त्रोपवीतान्ते नैवेद्यान्तेऽपि तत् स्मृतम् ॥१३१४॥

पाद्यादिद्रव्याभावे तु तत् स्मरन्नक्षतान् क्षिपेत् ।
गन्धतैलं ततो दद्यान्मूलं श्लोकं पठन् सुधीः ।
स्नेहं गृहाण स्नेहेन लोकनाथ महाशय ॥१३१५॥

सर्वलोकेषु शुद्धात्मन् ददामि स्नेहमुत्तमम् ।
हरिद्राद्यैस्तमुद्वर्त्य स्नापयेदुभयं पठन् ॥१३१६॥

महाकपिलपंचरात्रे विशेषः—

रजनी सहदेवी च शिरीषो लक्ष्मणाऽपि च ।
सदाभद्राकुशाग्राण्युद्वर्तनमिहोच्यते ॥१३१७॥

अभ्यंगोद्वर्तने चापि महास्नानं समाचरेत् ।
परमानंदबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्तये ॥१३१८॥

सांगोपांगमिह स्नानं कल्पयाम्यहमीश ते ।
ततः सहस्रं शंखेन शतं वा शक्तितोऽपि वा ॥१३१९॥

गन्धयुक्तोदकैरीशमभिषिंचेन्मनुं जपन् ।
पठन् मूलं ततः श्लोकं दद्याद् वस्त्रोत्तरीयके ॥१३२०॥

मायाचित्रपटच्छन्ननिजगुह्योरुतेजसे ।
निरावरणविज्ञानवासस्ते कल्पयाम्यहम् ॥१३२१॥

यमाश्रित्य महामाया जगत्संमोहिनी सदा ।
तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकम् ॥१३२२॥

पीतं विष्णुं सितं शम्भुं रक्तं विघ्नार्कशक्तिषु ।
सच्छिद्रं मलिनं जीर्णं त्यजेत्तैलादिदूषितम् ॥१३२३॥

उपवीतं भूषणानि प्रयच्छेदुभयं पठन् ।
यस्य शक्तित्रयेणेदं संप्रोतमखिलं जगत् ॥१३२४॥

यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्रं प्रकल्पये ।
स्वभावसुन्दरांगाय नानाशक्त्याश्रयाय ते ॥१३२५॥

भूषणानि विचित्राणि कल्पयाम्यमरार्चित ! ।
मूलमंत्रेण पुटितमेकैकं मातृकाक्षरम् ॥१३२६॥

विन्यसेद् देवतांगेषु योगोऽयं लोकमोहनः ।
कनिष्ठया पात्रसंस्थं पूर्ववद् गन्धमर्पयेत् ॥१३२७॥

परमानन्दसौभाग्यपरिपूर्णदिगन्तरम् ।
गृहाण परमं गन्धं कृपया परमेश्वर ! ॥१३२८॥

ततः कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्यां गन्धमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
मूलं श्लोकं पठन् नत्वा पुष्पाणि विनिवेदयेत् ॥१३२९॥

तुरीयवनसंभूतं नानागुणमनोहरम् ।
अमन्दसौरभं पुष्पं गृह्यतामिदमुत्तमम् ॥१३३०॥

तर्जन्यंगुष्ठयोगेन पुष्पमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
अक्षतानर्कधत्तूरौ विष्णौ नैवार्पयेत् सुधीः ॥११३१॥

बन्धूकं केतकीं कुन्दं केशरं कुटजं जपाम् ।
शंकरे नार्पयेत् विद्वान् मालतीं यूथिकामपि ।
शक्तौ दूर्वार्कमन्दारान् मालूरं तगरं रवौ ॥१३३२॥

दूर्वाशब्दं श्वेतदूर्वापरम् । एतद्विधायकवाक्यं संकेतपटले द्रष्टव्यम् ।

विनायके तु तुलसीं नार्पयेद् जातुचिद् बुधः ।
श्वेतं पीतं हरेरिष्टं रक्तं रविगणेशयोः ॥१३३३॥

निर्गन्धकेशकीटादिदूषितं चोग्रगन्धकम् ।
मलिनं तनुसंस्पृष्टमाघ्रातं स्वविकासितम् ।
अशुद्धभाजनानीतं स्नात्वानीतं च याचितम् ॥१३३४॥

शुष्कं पर्युषितं कृष्णं भूमिगं नार्पयेत् सुमम् ।
चम्पकं कमलं त्यक्त्वा कलिकामपि वर्जयेत् ॥१३३५॥

कुरण्डकं काञ्चनारं वर्जयेद् वृहतीद्वयम् ।
पुष्पं पत्रं फलं देवे न प्रदद्यादधोमुखम् ॥१३३६॥

पुष्पाञ्जलौ न तद्दोषः तथा पर्युषितस्य च ।
तुलसी वकुलोऽब्जश्च चम्पकश्च सरोजिनी ॥१३३७॥

बिल्वकल्हारदमनास्तथा मरुबकं कुशः ।
दूर्वा हि वल्ल्यपामार्गविष्णुक्रान्तामुनिद्रुमः ॥१३३८॥

धात्रीयुतानामेतेषां पत्रैः कुर्यात् सुरार्चनम् ।
जम्बूदाडिमजम्बीरतिंतिरणीबीजपूरकाः ।
रम्भा धात्री च बदरी रसालः पनसोऽपि च ॥१३३९॥

येषां फलै र्यजेद् देवं तुलसी तु हरेःप्रिया ।
सुवर्णपुष्पतुलसी नैव निर्माल्यतां व्रजेत् ॥१३४०॥

एतेषां निर्माल्यकथनं ज्ञानमालायाम्—

बिल्वापामार्गजातीतुलसिशमिशताकेतकीभृंगदूर्वा-
मंदाम्भोजा हि दर्भा मुनितिलतगरब्रध्नकल्हारमल्ली ।
चम्पाश्वारातिकुम्भोमरुबकदमना बिल्वतोऽहानि च स्यु-
स्त्रिंशत्[1] त्र्येकार्य्यरीशोदधिनिधिवसुभूभूयमा भूय एव ॥१३४१॥

प्रथमावृत्त्या बिल्वादीनां द्वितीयावृत्त्या दर्भादीनां दिनसंख्या बोध्या ।

पुष्पपूजां विधायेत्थं कुर्यादावरणार्चनम् ।

इदानीं तंत्रांतरोक्तो विशेषो लिख्यते—

अनिर्माल्यं सनिर्माल्यमर्चनं द्विविधं मतम् ।
दिव्यै र्मनोरमै द्रंव्यै र्गन्धपुष्पैः स्रगादिभिः ।
यदर्चनमनिर्माल्यं दिव्यभोगापवर्गदम् ॥१३४२॥

ग्राम्यारण्यादिसंभूतै र्यागद्रव्यै र्मनोरमैः ।
भक्तै र्यत् क्रियते सम्यक् सनिर्माल्यं तदर्चनम् ॥१३४३॥

१—अत्र संकेतितः संख्याक्रमस्त्वेवम्—त्रिंशत् ३०, त्रि ३, एक १, आर्य ६, अरि ६, ईश ११, उदधि ४, निधि ९, वसु ८, भू १, भू १, इति ।

तत्र तत्त्वसागरसंहितायां निर्माल्यत्वमुक्तम्—

जातमात्राणि पुष्पाणि घ्रातान्येव निसर्गतः ॥१३४४॥

पंचभिश्च महाभूतै र्भानुना शशिना तथा ।
प्राणिभिश्च द्विरेफाद्यैः पौष्पैरेव न संशयः ॥१३४५॥

अतो निर्माल्यमित्युक्तम् ... ... ।

निर्माल्यं चेदनेन फलं कथमित्याशंक्य तत्रैवोक्तम्—

घ्रातपुष्पात् फलं सिध्येदल्पं नो मानसाद् यथा ।
तस्मादपरिहार्यत्वादन्यथा चानुपायतः ।
अल्पबुद्ध्या ततो नृणां बाह्यपुष्पै र्भवेत् क्रिया ॥१३४६॥ इति ।

अंगानि दिक्पहेत्यन्तं ततो धूपादिकं चरेत् ।
अग्निनिर्ऋतिवाय्वीशकोणेषु हृदयं शिरः ॥१३४७॥

शिखां कवचमाराध्य नेत्रमग्रे प्रपूजयेत् ।
दिक्ष्वस्त्रमंगदेव्यस्ता ध्यातव्या वामलोचनाः ॥१३४८॥

सिताश्वेताऽसिता स्तिस्रो रक्ता इष्टाऽभयान्विताः ।
स्वस्वदिक्षु यजेद् दिक्पान् जातिहेत्यादिसंयुतान् ॥१३४९॥

तारादिनिजबीजाद्यान् तत्प्रयोगोऽधुनोच्यते ।
तारं बीजमथेन्द्रायाऽमुकाधिपतये ततः ।
सायुधाय सवाहान्ते नायसान्ते तथा परि ॥१३५०॥

वारायान्ते सशक्तीतिकायामुकपदं ततः ।
पार्षदाय नमोऽन्तोऽयं दिक्पालानां मनुः स्मृतः ॥१३५१॥

इन्द्रायेति पदस्थाने वह्न्यादिपदमुच्चरेत् ।
अग्निं तथा यमं रक्षो वरुणं पवनं विधुम् ॥१३५२॥

ईशानं पन्नगाधीशमध ऊर्ध्वं पितामहम् ।
पीतो रक्तः सितो धूम्रः शुक्लो धूम्रसितावुभौ ॥१३५३॥

गौरोऽरुणः क्रमादेते वर्णतः परिकीर्तिताः ।
स्वस्वबीजादिका बीजसमूहः कथ्यतेऽधुना ॥१३५४॥

मांसं रक्तं विषं मेरुं जलं वायु र्भृगु र्वियत् ।
एतानि शशियुक्तानि पाशो मायान्तिमा मता ॥१३५५॥

आद्याऽमुकपदस्थाने क्रमाज्जातिं वदेत् सुधीः ।
सुरतेजः प्रेतरक्षः सलिलप्राणतारकाः ॥११५६॥

भूता हि लोका विज्ञेया आशापालकजातयः ।
वज्रं शक्तिं दण्डमसि पाशमंकुशकं गदाम् ॥१३५७॥

शूलं चक्रं पद्ममेषामायुधानि क्रमाद् विदुः ।
पीतशुक्लसिताकाशविद्युद्रक्तसितासिताः ॥१३५८॥

कुरुविन्दपाटलाभा वज्राद्याः परिकीर्तिताः ।
ऐरावतोऽजमहिषप्रेतमीनपृषन्नराः ॥१३५९॥

वृषभः स्यन्दनं हंसो वाहनानि प्रकीर्तिताः ।
पार्षदात् पूर्वममुकस्थाने स्यात् स्वेष्टदेवता ॥१३६०॥

यातुतोयपयो र्मध्येऽनन्तं पूर्वेशयोऽस्तु कम् ।
पूजान्ते लोकपालानां मुद्रां संदर्शयेदिमाम् ॥१३६१॥

पाणिमूले सुसंलग्ने शाखाः सर्वाः प्रसारिताः ।
लोकेशानामियं मुद्रा तेषामर्चासु दर्शयेत् ॥१३६२॥

प्रत्यावृत्तिं क्षिपेद् देवे पुष्पं मंत्रमिमं जपन् ।
अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ! ॥१३६३॥

भक्त्या समर्पये तुभ्यमिदमावरणार्चनम् ।
आह्वानाद्युपचारेषु प्रत्येकं पुष्पपाथसी ॥१३६४॥

दत्त्वा प्रक्षाल्य च करौ उपचारान्तरं चरेत् ।
धूपपात्रस्थितांगारे क्षिप्त्वाऽगरुपुरादिकम् ॥१३६५॥

पात्रमस्त्रेण संप्रोक्ष्य हृदा पुष्पं समर्पयेत् ।
संस्पृशन् वामतर्जन्या मूलं श्लोकं च संपठन् ॥१३६६॥

वनस्पतिरसोपेतो गन्धाढ्यः सुमनोहरः ।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥१३६७॥

सांगाय सपरीत्यन्ते वाराय ङेन्तदेवता ।
धूपं समर्पयामीति नमोऽन्तं मंत्रमुच्चरन् ॥१३६८॥

शंखाम्बु प्रक्षिपेद् भूमौ धूपमुद्रां प्रदर्शयन् ।
तर्जन्यंगुष्ठयोगेन घण्टामर्चेत् स्वमन्त्रतः ॥१३६९॥

जयध्वनिमन्त्रमातः स्वाहान्तश्च दशाक्षरः ।
वादयन् वामहस्तेन कीर्तयन् देवतागुणान् ॥
धूपयेद् दक्षहस्तेन देवता नाभिदेशतः ॥१३७०॥

जलं पुष्पाञ्जलिं दद्याद् दीपदानमपीदृशम् ।
वाममध्यमया स्पर्शो मूलश्लोकस्य कीर्तनम् ॥१३७१॥

सुप्रकाशो महादीपः सर्वतस्तिमिरापहः ।
सबाह्याभ्यन्तरज्योति र्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥१३७२॥

धूपस्थाने दीपपदं मध्यमांगुष्ठयोगतः ।
दीपमुद्रादर्शनं तु तद्दानं नेत्रदेशतः ॥१३७३॥

भूमपक्षे तु वर्त्तीनां विषमा वर्त्तिका मताः ।
घृतदीपो दक्षिणे स्यात् तैलदीपस्तु वामतः ॥१३७४॥

सितवर्त्तियुतो दक्षे वामाङ्गे रक्तवर्त्तिका ।
दीपान्यद् धूपवज्ज्ञेयं ततो नैवेद्यमर्पयेत् ॥१३७५॥

स्वर्णादिभाजने साज्यशर्करं पायसादिकम् ।
परिवेश्य यथाशक्ति प्रोक्षेत् कैरस्त्रमन्त्रितैः ॥१३७६॥

चक्रमुद्रामथाऽऽरच्य संप्रोक्षेन्मन्त्रितै र्जलैः ।
वायुबीजेनार्कवारं ततस्तज्जातमारुतैः ॥१३७७॥

नैवेद्यदोषं संशोध्य चिन्तयेद् दक्षिणे करे ।
अग्निबीजं तस्य पृष्ठे वामं करतले न्यसेत् ॥१३७८॥

तं दर्शयित्वा नैवेद्ये तदुत्थेनाग्निनाऽखिलम् ।
नैवेद्यदोषं सन्दह्य बीजोत्थाऽमृतधारया ॥१३७९॥

प्रोक्ष्य मूलेन तत् स्पृष्ट्वाऽष्टशो मूलमनुं जपेत् ।
दर्शयित्वा धेनुमुद्रां गन्धपुष्पैस्तदर्पयेत् ॥१३८०॥

देवे पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा तेजो देवमुखोत्त्थितम् ।
विचिन्त्य वामांगुष्ठेन स्पृशेन्नैवेद्यभाजनम् ॥१३८१॥

दक्षहस्ते जलं धृत्वा मूलं श्लोकं शिरः पठन् ।
सत्पात्रसिद्धं सुहवि विविधानेकभक्षणम् ॥१३८२॥

निवेदयामि देवेश ! सानुगाय गृहाण तत् ।
सांगायेत्यादिकं प्रोच्य जलमुत्सृज्य भूतले ॥१३८३॥

नैवेद्यमुद्रामंगुष्ठानामिकाभ्यां प्रदर्शयेत् ।
सपुष्पाभ्यां कराभ्यां त्रिःप्रोद्धरन् भोज्यभाजनम् ॥१३८४॥

निवेदयामि भवते जुषाणेदं हवि र्हरे ! ।
षोडशार्णमिति प्रोच्य ग्रासमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥१३८५॥

वामहस्तेन पद्माभा प्राणाद्या दक्षिणेन तु ।
कनिष्ठानामिकांगुष्ठै र्मुद्रा प्राणस्य कीर्तिता ॥१३८६॥

तर्जनीमध्यमांगुष्ठैरपानस्य तु मुद्रिका ।
अनामामध्यमांगुष्ठै र्व्यानस्येयं तु मुद्रिका ॥१३८७॥

कनिष्ठानामामध्याभिः सांगुष्ठाभिश्चतुर्थिका ।
सर्वाभिः सा समानस्य प्राणाद्यान् ङे द्विठान्वितान् ॥१३८८॥

तारपूर्वान् जपन् मुद्राः प्राणादीनां प्रदर्शयेत् ।
ततो जवनिकां धृत्वा ब्रह्मेशाद्यैरिदं पठेत् ।

पद्यं शाली भक्तमिति मूलमंत्रं च सप्तधा ॥१३८९॥
ब्रह्मेशाद्यैः परित उरुभिः सूपविष्टैः समेतो
लक्ष्म्या सिञ्जद्वलयकरया सादरं वीज्यमानः ।
नर्मक्ष्वेल्या प्रहसितमुखै र्हासयन् पङ्क्तिभोक्तॄन्
भुङ्क्ते पात्रे कनकघटिते षड्रसं श्रीरमेशः ॥१३९०॥

लक्ष्म्या इति पदे गौर्या, सिद्धया, प्रभया। रमेशपदेऽन्यदेवस्याऽप्यूहः श्रीमहेशः, गणेशः, दिनेशः, चिद्विलासेत्यादि ।

शालीभक्तं सुभक्तं शिशिरकरसितं पायसापूपसूपं
लेह्यं चोष्यं च पेयं सितममृतफलं वारिमृष्टं सुखाढ्यम् ॥

आज्यं प्राज्यं समज्यं नयनरुचिकरं राजिकैलामरीचि-
स्वाद्वाढ्यं शाकराजीपरिकरममृताहारजोषं जुषस्व ॥१३६१॥

प्रतिसीराममपाकृत्य दद्यात् श्लोकं पठन् जलम् ।
समस्तदेवदेवेश सर्वतृप्तिकरं परम् ॥१३६२॥

अखण्डानन्दसम्पूर्णं गृहाण जलमुत्तमम् ।
स्थण्डिलेऽग्निमुपादाय वैश्वदेवक्रियां चरेत् ॥१३६३॥

मूलेन वीक्ष्य चास्त्रेण कृत्वा प्रोक्षणताडने ।
कुशैस्तद्वर्मणाऽभ्युक्ष्य यथोक्तं स्थापयेत् शुचिम् ॥१३६४॥

तन्मन्त्रेण समभ्यर्च्याऽऽह्वयेत् तत्रेष्टदेवताम् ।
पूजयेद् गन्धपुष्पैस्तां महाव्याहृतिभिस्ततः ॥१३६५॥

हुत्वा व्यस्तसमस्ताभिराहुतीनां चतुष्टयम् ।
अन्नै र्मूलेन जुहुयात् पञ्चविंशतिसंख्यया ॥१३६६॥

पुन र्व्याहृतिभि र्हुत्वा मूर्तौ देवं नियोजयेत् ।
वह्निं विसृज्य देवाय दद्यादाचमनोदकम् ॥१३६७॥

तेजःसंयोज्य देवास्ये निर्गतं देववक्त्रतः ।
नैवेद्यांशं तदुच्छिष्टभोजिने विनिवेदयेत् ॥१३६८॥

विष्वक्सेनो हरेरुक्तश्चण्डेश्वर उमापतेः ।
विकर्त्तनस्य चण्डांशु र्वक्रतुण्डो गणेशितुः ॥१३६९॥

शक्तेरुच्छिष्टचाण्डाली स्मृता उच्छिष्टभोजिनः ।
ततो जवनमूर्त्ताय कुर्यादारात्रिकं सुधीः ॥१४००॥

अथो निवेद्य ताम्बूलं दर्शयेच्छत्रचामरे ।
पठेदेकमना भूत्वा सार्धं श्लोकचतुष्टयम् ॥१४०१॥

बुद्धिः सवासना क्लृप्ता दर्पणं मंगलानि च ।
मनोवृत्ति र्विचित्रा ते नृत्यरूपेण कल्पिता ॥१४०२॥

ध्वनयो गीतरूपेण शब्दो वाद्यप्रभेदतः ।
छत्राणि तव पद्मानि कल्पितानि मया प्रभो ! ॥१४०३॥

सुषुम्णा ध्वजरूपेण प्राणाद्याश्चामरात्मना ।
अहंकारो गजत्वेन वेगः क्लृप्तो रथात्मना ॥
इन्द्रियाण्यश्वरूपाणि शब्दादि रथवर्त्मना ॥१४०४॥

मनः प्रग्रहरूपेण बुद्धिः सारथिरूपतः ।
सर्वमन्यत्तथा क्लृप्तं तवोपकरणात्मना ॥१४०५॥

श्लोकानेतान् पठित्वा तु मूलमन्त्रमनन्यधीः ।
यथाविधि जपित्वा तं मन्त्रेण विनिवेदयेत् ॥१४०६॥

जपविधिस्तु मन्त्रसंकेतपटले लिखामः ।

क्षिपन्नर्ध्यस्य पानीयं देवता दक्षिणे करे ।
गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत् कृतं जपम् ॥१४०७॥

सिद्धि र्भवतु मे देव त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिता ।
कीर्तितः श्लोकरूपोऽयं मन्त्रो जपनिवेदने ॥१४०८॥

दत्वा पराङ्मुखं चार्घ्यं पुष्पैः शंखं प्रपूजयेत् ।
दण्डवत् प्रणिपत्येशं देवे कुर्यात् प्रदक्षिणाः ॥१४०९॥

अजेशशक्तिगणपभास्कराणां क्रमादिमाः ।
वेदार्धचन्द्रवह्न्यद्रिसंख्याः स्युः सर्वसिद्धये ।
स्तुत्वा ब्रह्मार्पणाख्येन मनुनाऽऽत्मानमर्पयेत् ॥१४१०॥

स्तुत्वेति संस्कृतप्राकृतभाषारूपैः कवचसहस्रनामस्तोत्रादिभिरिति ।

इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यन्तेऽवस्थासु मनसा वदेत् ।
वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्नकस्ततः ॥१४११॥

मेषोऽनन्तान्वितो यत्स्मृतं यदुक्तं च यत्कृतम् ।
तत्सर्वं प्रोच्य ब्रह्मार्पणं भवत्वग्निवल्लभा ॥१४१२॥

मां मदीयं च सकलं हरयेऽन्ते समर्पयेत् ।
तारस्तत्सदिति प्रोक्तो ब्रह्मार्पणमनुर्बुधैः ॥१४१३॥

प्रणवादिद्व्यशीत्यर्णो देवतात्मसमर्पणे ।
संहारमुद्रया देवं संहरेद् हृदये निजे ॥१४१४॥

अन्यस्मिन् दैवते कार्य ऊहो हरिपदे बुधैः ।
एवं सम्पूज्य देवेशं ब्रह्मयज्ञं समाचरेत् ।
योगक्षेमं ततः कृत्वा मध्याह्ने स्नानमाचरेत् ॥१४१५॥
स्मार्तं तान्त्रं च पूर्वोक्तं सन्ध्यां तर्पणमप्यथ ।
संपूज्य पूर्ववद् देवं वैश्वदेवादिकं चरेत् ॥१४१६॥
देवप्रसादं भुञ्जीत सम्भोज्य ब्राह्मणोत्तमान् ।
आचम्य देवं संस्मृत्य पुराणं शृणुयात् सुधीः ॥१४१७॥
संध्यां होमं च निर्वृत्त्य देवं संपूज्य पूर्ववत् ।
शयीत शुद्धशय्यायां भुक्त्वाल्पं देवतां स्मरन् ॥१४१८॥
एवं यः पूजयेत् देवं त्रिकालं धर्ममाचरन् ।
न जातु वैरिभि र्दुःखैः पीड्यते देवरक्षितः ॥१४१९॥
त्रिकालपूजनाशक्तौ कार्यं द्विः सकृदर्थदः ।
विशेषेण यजेद् देवं सङ्क्रान्त्यादिषु पर्वसु ॥१४२०॥
दशभिः पंचभि र्वापि पूजयेदुपचारकैः ।
अशक्तः कारयेत् पूजां दद्यादर्चनसाधनम् ॥१४२१॥
दानाऽशक्तः समर्चन्तं पश्येत् तत्परमानसः ।
साधना भाविनी त्रासी दौर्बोधी सौतकी तथा ॥१४२२॥
आतुरी पञ्चधोक्ता सा पूजास्ताः कीर्त्यते क्रमात् ।
पूजा साधनवस्तूनामभावान् मनसैव सा ॥१४२३॥
पूजाम्भसा वा शुद्धेन साधना भाविनी तु सा ।
त्रस्तः संपूजयेद् देवं यथालब्धोपचारकैः ॥१४२४॥
मानसै र्वापि सा त्रासी ज्ञेया संपूर्णसिद्धिदा ।
बाला वृद्धा स्त्रियो मूर्खा दुर्बोधा तत्कृता स्तुता ॥१४२५॥
यथाज्ञानं सुरार्चा सा दौर्बोधी कीर्तिता बुधैः ।
सूतकी तु नरः स्नात्वा कृत्वा सन्ध्यां च मानसीम् ॥१४२६॥
मानसै र्वार्चयेत् कामी निष्कामः सर्वमाचरेत् ।
सौतक्युक्ताऽऽतुरो रोगी न स्नायात् न च पूजयेत् ॥१४२७॥

विलोक्य मूर्ति देवस्य यदि वा सूर्यमंडलम् ।
सकृन्मूलमनुं जप्त्वा तत्र पुष्पं विनिक्षिपेत् ॥१४२८॥
ततो रोगे गते स्नात्वा पूजयित्वा गुरून् द्विजान् ।
पूजाविक्षेपदोषो मे माऽस्त्विति प्रार्थयेत्तु तान् ॥१४२९॥
तेभ्यश्चाशिषमादाय स्वं देवं पूर्ववद् यजेत् ।
आतुरी कीर्तिता पूजा पञ्चैव शिवकीर्तिता ॥१४३०॥
स्वयं संपाद्य सर्वाणि श्रद्धया साधनानि यः ।
पूजयेत् तत्परो देवं स लभेताऽखिलं पदम् ॥१४३१॥
पूजनेन फलार्धः स्यादन्यदत्तैस्तु साधनैः ।
तस्मात् स्वयं समानीय साधनान्यर्चनं चरेत् ॥१४३२॥
देवपूजाविहीनो यः स नरो नरके पतेत् ।
यथाकथंचित् देवार्चा विधेया श्रद्धयान्वितैः ॥१४३३॥
पूज्यैहिकसुखं भुक्त्वाप्यन्ते देवत्वमाप्नुयात् ॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे पूजाक्रमं नाम नवमः पटलः ।

दशमः पटलः ।

अथानन्तरं न्यासस्यावश्यकत्वात् कतिचिन्न्यासा लिख्यन्ते ।

कुलप्रकाशतंत्रे-

न्यासं विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधाः ।
न्यासात् तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत् ॥१४३५॥
आगमोक्तेन मार्गेण न्यासान् नित्यं करोति यः ।
देवताभावमाप्नोति मंत्रसिद्धिश्च जायते ॥१४३६॥
अकृत्वा न्यासजालं यो मूढात्मा प्रभजेन्मनून् ।
सर्वविघ्नैश्च बाध्येत व्याधै र्मृगशिशुर्यथा ॥१४३७॥
यो न्यासकवचच्छन्नो मन्त्रं जपति तं प्रिये ।
विघ्ना दृष्ट्वा पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजाः ॥१४३८॥

ते च सर्वसाधारणत्वेन गांधर्वे, विशेषाश्च तत्तत्कल्पतो ज्ञेयाः ।

भूतशुद्धिं मातृकां च पीठन्यासं तथैव च ।
ऋष्यादिसहितानीह षडंगानि करांगयोः ॥१४३९॥

विद्यान्यासं महेशानि कृत्वा देवमयो भवेत् ।
एतदेव हि नित्यं स्यादन्यत् काम्यं प्रकीर्तितम् ॥१४४०॥

ये तु षोढादयो न्यासाःकार्याः सौभाग्यवाञ्छया ।
तत् तत् कल्पे च द्रष्टव्या एतदेव ब्रवीमि ते ॥१४४१॥

देव एव यजेद् देवं नादेवो देवमर्चयेत् ।
न्यासात् तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत् ॥१४४२॥

भूतशुद्धिस्तु पूजापटले कथितैव । तथापि किंचिल्लिखामि ।

शैवागमे–

शरीराकारभूतानां भूतानां यद् विशोधनम् ।
अव्यक्तब्रह्मसंपर्काद् भूतशुद्धिरियं मता ॥१४४३॥

भूतशुद्धिं विना कर्म जपहोमार्चनादिकम् ।
भवेत् तन्निष्फलं सर्वप्रकारेणाऽप्यनुष्ठितम् ॥१४४४॥

स्वभावतः सदा शुद्धं पंचभूतात्मकं वपुः ।
मलमूत्रसमायुक्तं सर्वदैव महेश्वरि ॥१४४५॥

तस्यैव हि विशुद्ध्यर्थं वाय्वग्निसलिलाक्षरैः ।
शोषदाहौ तथा भस्म प्रोत्सारामृतवर्षणम् ॥१४४६॥

आप्लावनं च कर्तव्यं पूरकुंभकरेचकैः ।
आदौ विलाप्य भूतानि पृथिव्यादीनि च क्रमात् ॥१४४७॥

तद्यथा–

गंधादिघ्राणसंयुक्तां पृथिवीमप्सु संहरेत् ।
रसादिजिह्वया सार्धं जलमग्नौ प्रलापयेत् ॥१४४८॥

रूपादि चक्षुषा सार्धमग्निं वायौ नयेल्लयम् ।
समीरमम्बरे विद्वान् स्पर्शादि त्वक्समन्वितम् ॥१४४९॥

अहंकारे हरेद् व्योम सशब्दं तं महत्यपि ।
महच्च सर्वशक्तीनामव्यक्ते कारणे परे ॥१४५०॥

सच्चिदानन्दरूपं यद् वैष्णवं परमं पदम् ।
पृथिव्यादिक्रमात् सर्वं तत्र लीनं विचिन्त्य च ॥१४५१॥
आप्लावनादिकं कार्यं प्राणायामप्रयोगतः ।
हृदि हस्तं संनिधाय प्राणान् संस्थापयेत्ततः ।
प्राणान् संस्थाप्य विधिवन्मातृकान्यासमाचरेत् ॥१४५२॥

अथ मातृकान्यासो मंत्रमहोदधौ–

एवं प्राणान् प्रतिष्ठाप्य मातृकान्यासमाचरेत् । इति ।

अन्यच्च–

मातृकायाः षडंगं च मातृकान्यासमेव च ।
सर्वेषां प्रथमं कृत्वा पश्चात् तंत्रोदितान् न्यसेत् ॥१४५३॥

अन्यत्रापि–

रुद्रैर्युक्तां केवलाम्बा मनूनां कर्मारम्भे मातृकां विन्यसेद् यः ।
मन्त्रास्तस्य कुर्वते शीघ्रसिद्धिं पापैः सार्द्धं याति नाशं जरा च ॥१४५४॥

सा द्विधा–

मातृका द्विविधा प्रोक्ता परा च अपरा तथा ।
सुषुम्णान्तः परा ज्ञेया अपरा देहमाश्रिता ॥१४५५॥ इति ।

तत्क्रमस्तु मन्त्रमहोदधौ–

अकाराद्या क्षकारांता वर्णाः प्रोक्ता तु मातृका ।
प्रजापतिर्मुनिस्तस्या गायत्री छंद ईरितम् ॥४५६॥
सरस्वती देवतोक्ता विनियोगोऽखिलाप्तये ।
हलो बीजानि चोक्तानि स्वराः शक्तय ईरिताः ॥१४५७॥
मूर्ध्नि वक्त्रे हृदि न्यस्य ऋष्यादीन् साधकोत्तमः ।
पंचवर्गैर्यादिभिश्च षडंगानि समाचरेत् ॥१४५८॥
क्लीबहीनशशाङ्काढ्य-ह्रस्वदीर्घान्तरस्थितैः ।
सानुस्वारैर्जातियुक्तै ध्यायेद् देवीं ततोऽम्बुजे ॥१४५९॥
पञ्चाशदर्णै रचितांगभागां धृतेन्दुखण्डां कुमुदावदाताम् ।
वराभये पुस्तकमक्षसूत्रं भजे गिरं संदधतीं त्रिनेत्राम् ॥१४६०॥
ध्यात्वा प्रपूजयेत् पीठे देवताः पूर्वमीरिताः ॥

पीठशक्तयस्तु मण्डूकादिपरतत्त्वान्ता पूजापटलतो ज्ञेयाः ।

पीठशक्तेस्तदुपरि सरस्वत्यो नवार्चयेत् ।
मेधा प्रज्ञा प्रभा विद्या श्रीधृतिस्मृतिबुद्धयः ॥१४६१॥
विद्येश्वरीति संप्रोक्ता मातृकापीठशक्तयः ।
वियद्भृगुस्थं मनुयुक् विसर्गाढ्यं च मातृका ॥१४६२॥
योगपीठाय नत्यन्तो मनुरासनदेशने ।
मूर्ति संकल्प्य मूलेन तस्यां वाणीं प्रपूजयेत् ॥१४६३॥
आदावंगानि संपूज्य द्वितये पूजयेत् स्वरौ ।
द्वौ द्वौ तृतीये वर्गांश्च वर्गशक्तीश्चतुर्थके ॥१४६४॥
व्यापिनी पालिनी चेति पावनी क्लेदिनी पुनः ।
धारिणी मालिनी पश्चाद् हंसिनी शंखिनी तथा ॥१४६५॥
वर्गशक्तय इत्युक्ताः पंचमे त्वष्टमातरः ।
षष्ठे शक्रादयो देवाः सप्तमे वज्रपूर्वकाः ।
इत्थं संपूज्य देवेशीं न्यसेद् वर्णान् निजाङ्गके ॥१४६६॥

अथ मातृकान्यासस्य द्विधात्वकथनात् आदावन्तर्मातृका यामले–

अथान्तर्मातृकान्यासं शृणु त्वं कमलानने ।
द्व्यष्टपत्राम्बुजे कण्ठे स्वरान् षोडश विन्यसेत् ॥१४६७॥
द्वादशच्छदहृत्पद्मे कादीन् द्वादश विन्यसेत् ।
दशपत्राम्बुजे नाभौ डकारादीन् न्यसेद् दश ॥१४६८॥
षट्पत्रमध्ये लिङ्गस्थे बकारादीन् न्यसेच्च षट् ॥
आधारे चतुरो वर्णान् वादीन् सान्तान् न्यसेदथ ॥१४६९॥
हक्षौ भ्रूमध्यगे पद्मे द्विदले विन्यसेत् प्रिये । इति ।

बहिर्न्यासस्तु मंत्रमहोदधौ–

ललाटमुखवृत्ताक्षिश्रवोनासासु गण्डयोः ।
ओष्ठयो र्दन्तपङ्क्तयोश्च मूर्ध्नि वक्त्रे न्यसेत् स्वरान् ॥१४७०॥
बाह्वोः सन्धिषु साग्रेषु कचवर्गौ न्यसेत् सुधीः ।
टतवर्गौ पदोस्तद्वत् पार्श्वयोः पृष्ठदेशतः ॥१४७१॥

नाभौ कुक्षौ पवर्गं च हृदंश-ककुदंशतः ।
न्यस्य यादिचतुर्वर्णात् शादिषट्कं ततो न्यसेत् ॥१४७२॥

हृदादिकरयोरङ्घ्रयो जठरे वदने तथा ।
यादियोगं त्वगसृगादिषु सदान्यासे प्रकीर्तितः ॥१४७३॥

सृष्टिन्यासं विधायैवं स्थितिन्यासं समाचरेत् ।
ऋषिश्छन्दश्च पूर्वोक्तं देवता विश्वपालिनी ॥१४७४॥

उपविष्टां बल्लभाङ्के ध्यायेद् देवीमनन्यधीः ।
मृगबालं वरं विद्यामक्षसूत्रं दधत्करैः ॥१४७५॥

मालाविद्यालसद्हस्तां वहन् ध्येयः शिवो गिरम् ।
एवं ध्यात्वा डकाराद्यान् वर्णानंगेषु विन्यसेत् ॥१४७६॥

गुल्फादिजानुपर्यन्तं स्थितिन्यासोऽयमीरितः ।
न्यासे संहारसंज्ञे तु ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् ॥१४७७॥

संहारिणी सपत्नानां शारदा देवता स्मृता ।
अक्षस्रक्टंकसारंगविद्याहस्तां त्रिलोचनाम् ॥१४७८॥

चन्द्रमौलिं कुचानम्रां रक्ताब्जस्थां गिरं भजे ।
ध्यात्वैवं विन्यसेद् वर्णान् क्षाद्यानन्तान् विलोमतः ॥१४७९॥

सृष्टिन्यासे तु सर्गान्ता सर्गबिन्द्वन्तिका स्थितौ ॥
बिन्द्वन्ता संहृतौ चैषा पूर्ववच्चांगपूजने ॥१४८०॥

न्यस्याः सर्वत्र नत्यन्ता वर्णा वा तारसंपुटाः ॥
सृष्टिन्यासं स्थितिन्यासं पुनः कुर्यात् प्रयत्नतः ॥१४८१॥

किञ्चिद् विशेषस्तु यामले–

स्थित्यन्ता तु गृहस्थानां सृष्ट्यन्ता ब्रह्मचारिणाम् ।
संहारान्ता मातृका स्यान्न्यासे तु यतिबाणयोः ॥१४८२॥

विरक्तानां गृहस्थानां संहारान्तापि शस्यते ।
सपत्नीकवनस्थानां स्थित्यंतापि विधीयते ॥१४८३॥

विद्यार्थिनामथैतेषां सृष्टचन्तापि विधीयते ।
मुद्रया मनसा वाऽथ पुष्पेन तत्त्वमुद्रया ॥
मातृकां विन्यसेत् प्राज्ञोऽप्यन्यथा विफलं भवेत् ॥१४८४॥

अन्यत्रापि-

ओमाद्यन्तो नमोऽन्तो वा सबिन्दु र्बिन्दुर्वाजितः ।
पंचाशद्वर्णविन्यासः क्रमादुक्तो मनीषिभिः ॥ ॥१४८५॥ इति ।

अपरं च-

चतुर्धा मातृका प्रोक्ता केवला बिन्दुसंयुता ।
सविसर्गा शोभया च रहस्यं शृणु कथ्यते ॥१४८६॥
विद्याकरी केवला च शोभया मुक्तिदायिनी।
सविसर्गा भुक्तिदात्री सबिन्दु र्बिन्दुदायिनी ॥१४८४॥

विन्दुर्मोक्षम् ।

विशुद्धेश्वरे-

वाग्भवाद्या च वाक्सिद्धचै रमाद्या श्रीप्रवृद्धये ।
हृल्लेखाद्या सर्वसिद्धचै कामाद्या लोकवश्यदा ॥१४८८॥
श्रीकण्ठाद्यामिमां न्यस्य सर्वमंत्रः प्रसीदति ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कलिकल्मषनाशनम् ॥१४८९॥
यः कुर्यान्मातृकान्यासं स एव स्यात् सदाशिवः ।
पूज्य ध्यायन् महेशानीं समाहितमनाः सुधीः ॥१४९०॥
स्थानेषु क्रमतो न्यस्य पूर्वोक्तेषु जपेल्लिपिम् ।
पंचाशत्संख्यया नित्यं यावल्लक्षं प्रपूर्यते ॥ १४९१॥ इति ।

लक्षं लक्षसंख्ययेति । एकवारं न्यासं कृत्वा एकवारं जपेदिति ज्ञेयम् ।

दशांशेन तिलै र्होमं कुर्याच्च मधुराप्लुतैः ।
पयो मधु घृतं चेति समं त्रिमधुरं स्मृतम् ॥ १४९२॥ इति ।

अन्ये बहवो भेदास्तथापि दश भेदाः लिख्यन्ते-

शुद्धं बिन्दुयुतं विसर्गसहितं हृल्लेखया श्रीयुतं ।
बालासंपुटितं तथा च परया श्रीविद्ययाऽलंकृतम् ॥

आरोहादवरोहतश्च सततं न्यासं पुन र्हंसयो-

र्यो जानाति स एव सर्वजगतां सृष्टिस्थितिध्वंसकृत् ॥१४९३॥

अत्र शुद्धत्वेऽपि बिन्दुयुक्तत्वं वर्णानां वीर्यद्योतनार्थमिति संप्रदायः।

अन्यच्च–

शुद्धश्चापि सबिन्दुकस्त्वथकलायुक् केशवाद्या तथा

श्रीकंठादियुतश्च शक्तिकमलामारैस्तथैकैकशः ॥

न्यासास्ते दशधा पृथङ्निगदितास्ते ब्रह्मयागान्तिकाः

सर्वे साधकसिद्धिसाधनविधौ संकल्पकल्पद्रुमाः ॥१४९४॥ इति।

प्राणायामं ततः कुर्यात् प्रणवेन यथाविधि।

प्राणायाममुद्रा यथा–

कनिष्ठानामिकांगुष्ठै र्यन्नासापुटधारणम्।

प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमे विना। १४९५॥

तद्यथा विशुद्धेश्वरे–

प्राणायामत्रयं चैव कुर्याद् वै तदनन्तरम्।

पूरकं वामनाड्या तु कुर्यात् षोडशधा जपात् ॥१४९६॥

कुम्भकं मध्यनाड्या तु चतुष्षष्टिजपात्ततः।

रेचनं पिङ्गलया तु द्वात्रिंशज्जपसंख्यया ॥१४९७॥

विपरीतं ततः कुर्याद् यथाशक्त्या तु साधकः।

तदशक्तौ तदर्धेन तदर्धेनाऽथवा शिवे।

प्राणायामं विना देवपूजने न हि योग्यता ॥१४९८॥ इति।

अन्यच्च हठयोगे–

इडया पिब षोडशभिः पवनं कुरु षष्टिचतुष्टयमंतरगम्।

त्यज पिङ्गलया शनकैः शनकैर्दशभिर्दशभिर्दशभिर्द्व्यधिकैः ॥१४९९॥

अन्यत्रापि–

कर्मणोन्ते तथारम्भे प्राणसंयममाचरेत्।

प्रणवेन तथा मूलमुखार्णेन प्रयत्नतः।

प्राणायामं विना कर्म कृतमप्यकृतं भवेत् ॥१५००॥ इति।

प्राणायामस्य सगर्भादयोऽन्ये षड्भेदाः अनावश्यकत्वान्न लिखितास्ते योगपटले द्रष्टव्याः।

श्रीकण्ठाद्यां शम्भुभक्तो वैष्णवः केशवादिकाम् ।
गणेशाद्यां तु तत्सेवी शक्तिभाङ् मातृकाः कलाः ॥१५०१॥

इति पूजापटलोक्तत्वादत्र लिखामः ।

ताः क्रमेणैव कथ्यन्ते ऋष्यादिन्यासपूर्वकाः ।
मुनिः स्याद् दक्षिणामूर्ति र्गायत्री छन्द ईरितम् ॥१५०२॥

अर्धाद्रिजा हरो देवो नियोगः सर्वसिद्धये ।
हलो बीजानि गुह्येषु स्वराः शक्तिः पदोर्न्यसेत् ॥१५०३॥

हसाभ्यां दीर्घयुक्ताभ्यां कृत्वाङ्गं शङ्करं स्मरेत् ।
पाशाङ्कुशवराक्षस्रक्पाणिं शीतांशुशेखरम् ॥१५०४॥

त्र्यक्षं रक्तसुवर्णाभमर्धनारीश्वरं भजे ।
एवं ध्यात्वा शम्भुशक्ती चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्वितः ॥१५०५॥

ह्सौंबीजमातृकापूर्वो विन्यसेन्मातृकास्थले ।
श्रीकण्ठपूर्णोदर्यौ चानन्तो विरजयान्वितः ॥१५०६॥

सूक्ष्मेशः शालिनीयुक्तो लोलाक्षीयुक् त्रिमूर्तिकः ।
अमरेशो वर्तुलाक्ष्या चार्वीशो दीर्घघोणया ॥१५०७॥

भारभूति र्दीर्घमुखी तिथीशो गोमुखीयुतः ।
स्थाण्वीशो दीर्घजिह्वायुक् हरः कुण्डोदरीयुतः ॥१५०८॥

झिण्टीशश्चोर्ध्वकेशीयुग् भौतिको विकृतिमुख्यपि ।
सद्योजातो ज्वालामुख्यनुग्रह उल्कामुखीयुतः ॥१५०९॥

अक्रूरः श्रीमुखी महासेनो विद्यामुखीयुतः ।
क्रोधीशश्च महाकाल्या चण्डीशश्च सरस्वती ॥१५१०॥

पञ्चान्तकः सर्वसिद्धिगौरीयुक्तः प्रकीर्तितः ।
शिवोत्तमोऽसौ विन्यस्यो युक्तस्त्रैलोक्यविद्यया ॥१५११॥

एकरुद्रो मन्त्रशक्तिः कूर्मेशश्चात्मशक्तियुक् ।
एकनेत्रो भूतमाता युक्तः स्याच्चतुराननः ॥१५१२॥

लम्बोदर्या युतः प्रोक्तो, अजेशो द्राविणीयुतः ।
सर्वेशो नागरीयुक्तः सोमेशश्चापि खेचरी ॥१५१३॥

लाङ्गलीशश्च मञ्जर्या दारुकेशस्वरूपिणी ।
अर्धनारीशवीरिण्या उमाकान्तः पुनर्युतः ॥१५१४॥

काकोदर्या तथा खाढीपूतनायुक्त ईरितः ।
दण्डीशो भद्रकालीयुगत्रीशो योगिनीयुतः ॥१५१५॥

मीनेशः शङ्खिनीयुक्तो मेषेशस्तर्जनीयुतः ।
लोहितः कालरात्री च शिखीशः कुब्जिनीयुतः ॥१५१६॥

छागलण्डः कर्पादिन्या द्विरण्डेशश्च वज्रिणी ।
महाकालोऽजयायुक्तो वालीशश्च सुखीश्वरी ॥१५१७॥

भुजंगो रेवतीयुक्तः पिनाकी माधवीयुतः ।
खड्गीशो वारुणीयुक्तोऽवकेशो वायवीयुतः ॥१५१८॥

श्वेतो रक्षो विदारिण्या भृगुः सहजया युतः ।
लकुलीशश्च लक्ष्मीयुक् शिवेशो व्याधिनीयुतः ॥१५१९॥

संवर्तको महामाया प्रोक्ता श्रीकण्ठमातृका ।
यत्र त्वीशपदं नोक्तं श्रीकण्ठादिषु धामसु ॥१५२०॥

तत्र सर्वत्र कर्तव्यं शक्तिभ्यां हृत् ततो वदेत् ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यसून् वदेत् ॥१५२१॥

शक्तिं क्रोधं तथात्मभ्यामन्तान्यादि दशस्वपि ।
केशवादिमातृकायाः साध्यनारायणो ऋषिः ॥१५२२॥

अमृताद्या तु गायत्रीछन्दो लक्ष्मीहरिः सुरः ।
द्विरुक्तैः शक्तिश्रीकामैः षडङ्गानि समाचरेत् ॥१५२३॥

शङ्खचक्रगदापद्मकुम्भादर्शाब्जपुस्तकम् ।
बिभ्रतं मेघचपलावर्णं लक्ष्मीहरिं भजे ॥१५२४॥

एवं ध्यात्वा न्यसेत् शक्तिश्रीकामपुटिताक्षराम् ।
भ्यामन्तविष्णुशक्त्यन्तां नमोऽन्तां प्रणवादिकाम् ॥१५२५॥

केशवः कीर्तिसंयुक्तः कान्तिर्नारायणान्विता ।
माधवस्तुष्टिसंयुक्तो गोविन्दः पुष्टिसंयुतः ॥१५२६॥
विष्णुस्तु धृतिसंयुक्तः शान्तियुङ् मधुसूदनः ।
त्रिविक्रमः क्रियायुक्तो वामनो दययान्वितः ॥१५२७॥
श्रीधरो मेधया युक्तो हृषीकेशश्च हर्षया ।
पद्मनाभयुता श्रद्धा, लज्जा दामोदरान्विता ॥१५२८॥
वासुदेवश्च लक्ष्मीयुक् सङ्कर्षणसरस्वती ।
प्रद्युम्नः प्रीतिसंयुक्तोऽनिरुद्धो रतिसंयुतः ॥१५२९॥
चक्री जया गदी दुर्गा शार्ङ्गी तु प्रभयान्वितः ।
खड्गी तु सत्यया युक्तः शङ्खी चण्डीसमन्वितः ॥१५३०॥
हली वाणीसमायुक्तो मुसली तु विलासिनी ।
शूली तु विजयायुक्तो पाशी विरजयान्वितः ॥१५३१॥
अंकुशी विश्वया युक्तो मुकुन्दो विनयान्वितः ।
नन्दजश्च सुनन्दायुक् नन्दी स्मृत्या समन्वितः ॥१५३२॥
नरो ऋद्धया नरकजित् समृद्धया शुद्धियुक् हरिः ।
कृष्णबुद्धी सत्यभुक्ती सात्वतो मतिसंयुतः ॥१५३३॥
शौरिक्षमे शूररमे जनार्दन उमान्वितः ।
भूधरः क्लेदिनीयुक्तो विश्वमूर्तिश्च क्लिन्नया ॥१५३४॥
वैकुण्ठो वसुधायुक्तो वसुदापुरुषोत्तमौ ।
बलस्तु परया युक्तो बलानुजपरायणा ॥१५३५॥
बालः सूक्ष्मा वृषघ्नस्तु संध्यायुक् प्रज्ञया वृषः ।
हंसः प्रभासमायुक्तो वाराहो निशयान्वितः ॥१५३६॥
विमलो मोघया युक्तो नृसिंहो विद्यया युतः ।
केशवाद्या मातृकोक्ता यादियोगश्च पूर्ववत् ॥१५३७॥
गणेशमातृकायास्तु मुनिर्गणक ईरितः ।
निवृद् गायत्रिका छन्दो देवः शक्तिविनायकः ॥१५३८॥

स्मृत्या दीर्घाढ्यया त्वङ्गं कृत्वा ध्यायेद् गजाननम् ।
गुणाङ्कुशवराभीतिपाणिं रक्ताब्जहस्तया ॥१५३९॥
प्रियया॒ऽऽलिङ्गितं रक्तं त्रिनेत्रं गणपं भजे ।
एवं ध्यात्वा न्यसेत् स्वीयबीजपूर्वाक्षरान्विताम् ॥१५४०॥
विघ्नेशो ह्रीसमायुक्तो विघ्नराजः श्रिया युतः ।
विनायकः पुष्टियुतः शान्तियुक्तः शिवोत्तमः ॥१५४१॥
विघ्नकृत् स्वस्तिसंयुक्तो विघ्नहर्ता सरस्वती ।
गणस्तु स्वाहया युक्त एकदन्तस्तु मेधया ॥१५४२॥
द्विदन्तः कान्तिसंयुक्तः गजवक्त्रश्च कामिनी ।
निरञ्जनो मोहिनीयुक् कपर्दी तु नटीयुतः ॥१५४३॥
दीर्घजिह्वः पार्वतीयुक् शङ्कुकर्णश्च ज्वालिनी ।
वृषभध्वजनं देवसुरेशीगणनायकौ ॥१५४४॥
गजेन्द्रः कामरूपिण्या शूर्पकर्णस्तथोमया ।
त्रिलोचनस्तेजोवत्या लम्बोदरस्तु सत्यया ॥१५४५॥
महानन्दश्च विघ्नेशी चतुर्मूर्तिस्वरूपिणी ।
सदाशिवः कामदायुक्, आमोदो मदजिह्वया ॥१५४६॥
दुर्मुखो भूतिसंयुक्तः सुमुखो भौतिकान्वितः ।
प्रमोदः सितया युक्तः, एकपादो रमायुतः ॥१५४७॥
द्विजिह्वो महिषीयुक्तः शूरश्चापि तु भञ्जिनी ।
वीरो विकर्णया युक्तः षण्मुखो भ्रुकुटीयुतः ॥१५४८॥
वरदो लज्जया वामदेवः स्याद् दीर्घघोणया ।
धनुर्धरावक्रतुण्डो द्विरण्डो यामिनीयुतः ॥१५४९॥
सेनानी रात्रिसंयुक्तः कामान्धो ग्रामणीयुतः ।
मत्तः शशिप्रभायुक्तो विमलो लोललोचना ॥१५५०॥
मत्तवाहनचंचले च जटी दीप्तिसमन्वितः ।
मुण्डी सुभगया युक्तः खड्गी दुर्भगया तथा ॥१५५१॥

वरेण्यश्च शिवायुक्तो भर्गायुग् वृषकेतनः ।
भक्षप्रियश्च भगिनी गणेशो भोगिनीयुतः ॥१५५२॥

मेघनादश्च सुभगा व्यापी स्यात् कालरात्रियुक् ।
गणेश्वरः कालिकेति प्रोक्ता विघ्नेशमातृका ॥१५५३॥

त्वगादियोगो यादीनां पूर्ववत् परिकीर्तितः ।
कलायुग् मातृकायास्तु प्रजापतिऋषिः स्मृतः ॥१५५४॥

छन्द उक्तं तु गायत्री देवता शारदाभिधा ।
तारैः षडङ्गं कुर्वीत ह्रस्वदीर्घान्तरस्थितैः ॥१५५५॥

शंखचक्राब्जपरशूकपालेणाक्षमालिकाः ।
पुस्तकामृतकुम्भौ च त्रिशूलं दधती करैः ॥१५५६॥

श्वेतपीतासितश्वेतरक्तवर्णैस्त्रिलोचनैः ।
पञ्चास्यैः संयुतां चन्द्रमाकान्ति शारदां भजे ॥१५५७॥

ध्यात्वैवं तारपूर्वां तां न्यसेन् ङेऽन्तकलान्विताम् ।
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिरनन्तरम् ॥१५५८॥

इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा ।
सूक्ष्मासूक्ष्मामृताज्ञानामृता चाप्यायनी ततः ॥१५५९॥

व्यापिनी व्योमरूपा चानन्ता सृष्टिः स ऋद्धिका ।
स्मृति र्मेधा कान्तिर्लक्ष्मी द्युतिश्चैव स्थिरा तथा ॥१५६०॥

स्थितिः सिद्धि र्जरा चैव पालिनी शान्तिरीश्वरी ।
रतिश्च कामिका चैव वरदाऽऽह्लादिनी तथा ॥१५६१॥

प्रीति र्दीर्घा तथा तीक्ष्णा रौद्री प्रोक्ता तथाऽभया ।
निद्रा तन्द्रा क्षुधा चैव क्रोधिनी च तथा क्रिया ॥१५६२॥

उत्कारी च तथा मृत्युः पीताश्वेतारुणासिता ।
अनन्ता च तथा ज्ञेया प्रोक्तेयं मातृकाकला ॥१५६३॥

तत्तद्भक्तो न्यसेदित्थं मातृकां विश्वमातृकाम् ।
विन्यसेच्च ततः पीठमातृकां देवतामयीम् ॥१५६४॥

ऋषिः स्याद् दक्षिणामूर्तिः पङ्क्तिश्छन्दस्तथा स्मृतः ।
मातृकापीठशक्तिश्च देवता परिकीर्तिता ॥१५६५॥

हलो बीजानि प्रोक्तानि स्वराः शक्तय ईरिताः ।
अव्यक्तं कीलकमिति नियोगो देहशोधने ॥१५६६॥

अङ्गक्लृप्ति र्मातृकावदथो ध्यायेत् समाहितः ।
सिताऽसितारुणश्यामहरित्पीतान्यनुक्रमात् ॥१५६७॥

पुनः पुनः क्रमादेव पंचाशत्पीठसंचयः ।
पीठानि संस्मरेद् विद्वान् सर्वकामार्थसिद्धये ॥१५६८॥

कामरूपस्तथा वाराणसी नेपाल इत्यथ ।
पौंड्रवर्धनपुरस्थितौ कान्यकुब्जस्ततः स्मृतः ॥१५६९॥

पूर्णशैलोऽर्बुदाख्यश्च तथैवाम्रातकेश्वरः ।
एकाम्रत्रिस्रोतसौ च कामकोटस्तथापरः ॥१५७०॥

कैलासो भृगुनगरकेदारौ चन्द्रश्रीपुरौ ।
ओंकारोऽपि तथा जालन्धरो मालवतस्तथा ॥१५७१॥

कुलान्तको देविकोटो गोकर्णो मारुतेश्वरः ।
अट्टहासश्च विरजस्तथा राजगृहः स्मृतः ॥१५७२॥

महापथः कोलापुरमेलापुरमतः परम् ।
कालेश्वरो जयन्ती च तथाचोज्जयिनी स्मृतः ॥१५७३॥
चरित्रापुरपीठश्च तथा स्यात् क्षीरपीठकः ।
हस्तिनापुरमुड्डीशप्रयागौ च ततः परम् ॥१५७४॥

षष्टीशश्च तथा मायापुरं चैव जलेश्वरम् ।
मलयाख्यं गिरिं तद्वत् श्रीशैलं मेरुनामकम् ॥१५७५॥

गिरिं गिरिवरं पश्चान्महेन्द्रगिरिपीठतः ।
स्याद् वामनपुरं तद्वत् हिरण्यपुरसंज्ञकम् ॥१५७६॥

महालक्ष्मीपुरं तद्वदोड्याणं च ततः परम् ।
क्षायाक्षत्रपुरं ज्ञेयं पीठान्तं मातृकादिकम् ॥१५७७॥

ङेऽन्तं न्यसेन्मातृकोक्तस्थानेषु क्रमतः सुधीः ।
तत ऋष्यादिकं न्यासं कुर्यात् कल्पोक्तवर्त्मना ॥१५७८॥

महेश्वरमुखाद् ज्ञात्वा यः साक्षात् तपसा मनुम् ।
संसाधयति शुद्धात्मा स तस्य ऋषिरीरितः ॥१५७९॥

गुरुत्वान्मस्तके चास्य न्यासस्तु परिकीर्तितः ।
सर्वेषां मन्त्रतत्त्वानां छादनाच्छन्द उच्यते ॥१५८०॥

अक्षरत्वात् पदत्वाच्च मुखे छन्दः समीरितम् ।
सर्वेषामेव जन्तूनां भाषणात् प्रेरणात् तथा ॥१५८१॥

हृदयाम्भोजमध्यस्था देवता तत्र तां न्यसेत् ।
ऋषिच्छन्दोऽपरिज्ञानान्न मन्त्रः फलभाग् भवेत् ॥१५८२॥

दौर्बल्यं याति मन्त्राणां विनियोगमजानताम् ।
ऋषिं न्यसेन् मूर्ध्नि देशे छन्दस्तु मुखपङ्कजे ॥१५८३॥

देवतां हृदये चैव बीजं तु गुह्यदेशके ।
शक्तिं तथा पादयोश्च सर्वाङ्गे कीलकं न्यसेत् ॥१५८४॥ इति ।

ऋष्यादयस्तु स्वस्वकल्पोक्ता एव । येषु येषु मन्त्रेषु ऋष्यादीनामभावस्तत्साङ्गत्वसिद्धये ऋष्यादिकल्पना कार्या ।

तथाचोक्तं प्रयोगसारे—

चतुर्विधे बीजशक्ती सर्वमन्त्रेषु चिन्तयेत् ।
परमेष्ठी समस्तस्य ऋषिरुक्तो मनीषिभिः ॥१५८५॥

तत् शक्तिरेव गायत्रीछन्दः सर्वत्र निश्चितम् ।
ईश्वरो जगतां बीजमाद्यं ब्रह्म तदुच्यते ॥१५८६॥

तस्य माया समाख्याता शक्ति र्गुणमयी तु सा ।
स एव भगवान् देवो बुद्धिसाक्षी द्वितीयकम् ॥१५८७॥

बीजमत्र समाख्यातं बुद्धिः शक्तिरुदाहृता ।
उदानश्चित्समायुक्तस्तृतीयं बीजमुच्यते ॥१५८८॥

शक्तिः कुण्डलिनी तत्र सामान्यं त्रितयं त्विदम् ।
ज्ञातव्यं सर्वमन्त्रेषु बीजशक्ती ततो निजे ॥१५८९॥ इति ।

ऋषिच्छन्दो देवतानां विन्यासेन विना यतः ।
जप्यते साधकोऽप्येषस्तत्र तन्निष्फलं भवेत् ।
एवमृष्यादिकं न्यस्य कुर्यादङ्गानि देशिकः ॥१५९०॥ इति ।
गौतमेन षडंगकरणप्रयोजनमप्युक्तम्–
ईज्यमानो हृदात्माऽयं हृदये स्याच्चिदात्मकः ।
क्रियते तत्परत्वं तु हृन्मंत्रेण नृदेशिकैः ॥१५९१॥
सर्वज्ञादिगुणोत्तुङ्गे संविद्रूपे परात्मनि ।
क्रियते विषयाहारः शिरोमन्त्रेण धीमता ।
हृत्शिरोरूपचिद्धाम्नि संयता भावना दृढ़ा ॥१५९२॥
क्रियते निजदेहस्य शिखामन्त्रेण सादरम् ।
मन्त्रात्मकस्य देहस्य मन्त्रवाच्येन तेजसा ॥१५९३॥
सर्वतो वर्म्ममन्त्रेण क्रियते तनुसंवृतिः ।
यद् ददाति परं ज्ञानं संविद्रूपे परात्मनि ॥१५९४॥
हृदयादिमयं तेजः स्यादेतन्नेत्रसंज्ञकम् ।
आध्यात्मिकादिरूपं यत् साधकस्य विनाशयेत् ॥
अविद्याजातमस्त्रं तत् परधाम समीरितम् ॥१५९५॥ इति ।

मन्त्रमहोदधौ–

अंगुष्ठादिस्वङ्गुलीषु करस्य तलपृष्ठयोः ।
अंगुष्ठाभ्यां तर्जनीभ्यां नम इत्यादिकं वदन् ॥१५९६॥
हृदयादिष्वथाङ्गानि जातियुक्तानि विन्यसेत् ।
स्वस्वमुद्राभिरधुना प्रोच्यन्ते जातयश्च ताः ॥१५९७॥
हृदयाय नमश्चेति शिरसे स्वाहया युतम् ।
शिखायै वषडन्तं स्यात् कवचाय हुमित्यपि ॥१५९८॥
नेत्रत्रयाय वौषट् स्यादस्त्राय फडितीरितम् ।
जातिषट्कं द्विनेत्रे तु नेत्राभ्यां वौषडश्चरेत् ॥१५९९॥
पश्चाङ्गे नेत्रसंत्यागो मुद्राऽङ्गानामथोच्यते ।
प्रसारितमनङ्गुष्ठं तर्जन्यादिचतुष्टयम् ॥१६००॥

हृदि मूर्धनि चांगुष्ठहीना मुष्टिः शिखातले ।
स्कन्धमारभ्य नाभ्यन्तं दशांगुल्यस्तु वर्मणि ॥१६०१॥

तर्जन्यादित्रयं नेत्रत्रये नेत्रद्वये द्वयम् ।
प्रसारिताभ्यां हस्ताभ्यां कृत्वा तालत्रयं सुधीः ॥१६०२॥

तर्जन्यंगुष्ठयोरग्रे स्फालयन् बंधयेद् दिशः ।
एषा मुद्रा तु श्रीविष्णोरंगमुद्रा प्रकीर्तिता ॥१६०३॥

हृद्यंगुलीत्रयं न्यस्येत् तर्जन्यादिद्वयं तु के ।
शिखाप्रदेशेऽथांगुष्ठं दशांगुल्यस्तु वर्मणि ॥१६०४॥

हृद्वन्नेत्रं पूर्वमस्त्रं शक्तेरंगस्य मुद्रिका ।
मुष्टीविनिर्गतांगुष्ठौ संयुक्तौ हृदि विन्यसेत् ॥१६०५॥

निस्तर्जनी तादृशौ तु शिरस्यथ शिखातले ।
निरंगुष्ठकनिष्ठौ तु निरंगुष्ठप्रदेशिनी ॥१६०६॥

मुष्टी पृथक्कृतौ स्कन्धाद् हृदन्तं वर्मणि स्मृतौ ।
तर्जन्यादित्रयं नेत्रे तालास्फोटोऽस्त्र ईरितः ॥१६०७॥
शैवे षडंगमुद्रोक्ता वर्णन्यासमथाचरेत् ।

स्वस्वमूलवर्णन्यासमिति ।

जप्तापि विफला मंत्रा गदिता न्यासमंतरा ।
विद्यान्यासमथो कुर्याद् ध्यायन् देवमनन्यधीः ॥१६०८॥

नवरत्नेश्वरे–

मूर्ध्नि मूले च हृदये नेत्राणां त्रय एव च ।
श्रोत्रयोश्च नसो देवि मुखे च भुजयोः पुनः ॥१६०९॥

पृष्ठे जानुनि नाभौ च विद्यान्यासं समाचरेत् ।
एवं न्यासे कृते देवि साक्षात् पशुपतिः स्वयम् ॥१६१०॥

प्रणवं संपुटीकृत्य मूलेन व्यापकं चरेत् ।
पंचधा नवधा वापि चाष्टधा सप्तधा तथा ॥१६११॥

शीर्षादिपादपर्यन्तं पादादि च शिरोऽन्तकम् ।
हृदयादिमुखान्तं च व्यापकन्यासमाचरेत् ॥१६१२॥

प्राणायामं षडङ्गं च कृत्वा ध्यात्वा निजेश्वरम् ।
समाप्य मानसं यागं बहिर्यागमथाचरेत् ॥१६१३॥

यस्मिन् मंत्रे षडङ्गाभावस्तत्रैवं कार्यम् । तथा च भैरवतंत्रे-

अङ्गन्यासकरन्यासौ मायया दीर्घया चरेत् ।
यद् बीजाद्याथवा विद्या तद्बीजेनांगकल्पना ॥
कुर्यात् षड्दीर्घयुक्तेन सर्वसाधारणो विधिः ॥१६१४॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे न्यासकथनं नाम दशमः पटलः ॥१०॥

एकादशः पटलः ।

अथानन्तरं मंत्रमालायंत्रादीनां संस्कारावश्यकत्वादेतानि लिख्यन्ते ।

अथ मंत्रसंस्कारो यथा शारदायाम्-

छिन्नादिदुष्टा मंत्रा ये पालयन्ति न साधकम् । इति ।

अन्यत्रापि-

छिन्ना रुद्धाः कीलिताः स्तंभिता ये सुप्ता मत्ता मूर्च्छिता हीनवीर्याः ।
दग्धास्त्रस्ता शत्रुपक्षे स्थिता ये बाला वृद्धा गर्विता यौवनेन ॥१६१५॥
ये निर्वीया ये च सत्त्वेन हीना खण्डीभूताश्चाङ्गमंत्रैर्विहीनाः ।
एते मुद्राबंधनेनैव योन्या मंत्राः सर्वे वीर्यवन्तो भवन्ति ॥१६१६॥

योनिमुद्रालक्षणं यथा योगशास्त्रे-

पार्ष्णिभागात् तु संपीड्य योनिमार्गं तथा गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकर्षेन्मूलबंधो निगद्यते ॥१६१७॥
गुदमेढ्रान्तरं योनिस्तामाकुंच्य प्रबंधयेत् ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥१६१८॥

योनिस्थानमुद्रणाद् योनिमुद्रात्वमस्य ।

सेयं मयोक्ता खलु योनिमुद्रा बंधश्च देवैरपि दुर्लभोऽस्याः ।
अनेन बंधेन न साध्यते यन्नास्त्येव तत् साधकपुंगवस्य ॥१६१९॥
ये साधका योनिमुद्राऽनभिज्ञास्तद्वद् ये च प्राणरोधेऽप्यशक्ताः ।
तेषामर्थे संस्कृतिः पङ्क्तिरुक्ता यस्मादेते वीर्यवन्तो भवन्ति ॥१६२०॥

ते संस्काराः पिङ्गलामते, शारदायां, गौतमीये च–

जननं जीवनं पश्चात् ताडनं बोधनं तथा ।
अथाऽभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः ॥१६२१॥

तर्पणं दीपनं गुप्ति र्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः ।
स्वर्णादिपत्रे संलिख्य मातृकायन्त्रमुत्तमम् ॥१६२२॥

काश्मीरचन्दनेनाथ भस्मना वाथ सुव्रते ।
काश्मीरं शक्तिसंस्कारे चन्दनं वैष्णवे मनौ ॥१६२३॥

शैवे भस्म समाख्यातं मातृकायन्त्रलेखने ।
मन्त्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम् ॥१६२४॥

तच्च गान्धर्वतन्त्रे–

भूमौ गोमयलिप्तायां विलिख्याष्टदलान्वितम् ।
चतुरस्रं चतुर्द्वारं तार्त्तीयं कर्णिकागतम् ॥१६२५॥

तार्त्तीयं सौरिति ।

कादिमान्ताः पञ्चवर्गाः पूर्वादिक्रमतो न्यसेत् ।
यादिवान्ताः सादिहान्ताः लक्षमीशे प्रविन्यसेत् ॥१६२६॥

प्राणान् स्थाप्य प्रपूज्याथ ध्यायन् देवमथोद्धरेत् ।
एतज्जननमित्याहुरथो तज्जीवनं चरेत् ॥१६२७॥

पङ्क्तिक्रमेण विधिना मुनिभिस्तन्त्रनिश्चितम् ।
प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णान् जपेत् सुधीः ॥१६२८॥

प्रत्येकं शतवारं तु तज्जीवनमुदाहृतम् ।
मन्त्रवर्णान् समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा ॥३६२९॥

प्रत्येकं वायुबीजेन पूर्ववत् ताडनं मतम् ।
पृथक् शतं वा दशधा बोधयेत् तं मनुं ततः ॥१६३०॥

विलिख्य मन्त्रवर्णांस्तु प्रसूनैः करवीरजैः ।
तन्मन्त्रवर्णसंख्याकै र्हन्याद् रेफेण बोधनम् ॥१६३१॥

तत्तन्मन्त्रोक्तविधिना अभिषेकः प्रकीर्तितः ।
अश्वत्थपल्लवैः सिञ्चेन्मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया ॥१६३२॥

शतधा वाष्टधा तद्वत् प्रत्येकमभिषेचनम् ।
शुद्धोदकेन दुग्धेन अभिषेकमुदाहृतम् ॥१६३३॥

पिङ्गलामते विशेषः-

मालतीकलिकाभिस्तु न्यस्याणुं कर्णिकोपरि ।
अश्वत्थपल्लवैः शुद्धैस्तन्मन्त्राक्षरसम्मितैः ॥
अभिषेकं प्रकुर्वीत स्वमन्त्रे विहितं यथा ॥ १६३४॥ इति ।

स्वमन्त्रकल्पोक्तमार्गेणेत्यर्थः ।

विमलीकरणं कुर्यादथो देशिकसत्तमः ।
सञ्चिन्त्य मनसा मन्त्रं सुषुम्णामूलमध्यतः ॥१६३५॥

ज्योतिर्मंत्रेण विधिवन्निर्दहेत् तन्मलत्रयम् ।
तारं व्योमाग्निमनुयुक् दण्डी ज्योति र्मनुर्मतः ॥१६३६॥

तारं प्रणवं, व्योम ह, अग्नि र, मनुरौकारः, दण्डी अनुस्वारः, तेन ॐ ह्रौं इति।

एवं तं विमलीकृत्य चरेदाप्यायनं पुनः ।
कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः ।
तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायनं मतम् ॥१६३७॥

तेन ज्योतिर्मंत्रेणेति केचन व्याचक्षते । तदयुक्तं ग्रन्थान्तरविरोधात् । तेन मूलेनेत्यर्थः ।

पिङ्गलामते-

अष्टोत्तरशता लब्धं विशुद्धं कुशवारिणा ।
आप्यायितो भवेन्मन्त्रः प्रत्यर्णं प्रोक्षितो यदि ॥१६३८॥

एवमाप्यायनं कृत्वा कुर्याच्च तर्पणं ततः ।
मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं मतम् ॥१६३९॥

अमुकमन्त्रं तर्पयामि नम इत्यम्भसा शतम् ।
मधुना शक्तिमन्त्रेषु वैष्णवे चेन्दुमज्जलैः ॥१६४०॥

शैवे घृतेन दुग्धेन तर्पणं सम्यगीरितम् ।
एवं च तर्पणं कृत्वा मनोर्दीपनमाचरेत् ।
तारमायारमायोगात् मनो दींपनमुच्यते ॥१६४१॥

अत्रैवं विधिः—

तारं मायां रमामादौ दत्वान्ते मूलमुच्चरेत् ।
शतमष्टोत्तरेणैव दीपयेत् साधकोत्तमः ॥१६४२॥
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ।
एते च दशसंस्काराः मन्त्रदोषविनाशकाः ॥१६४३॥ इति ।

अन्यत्र मन्त्रमहोदधिश्रीक्रमसंहितादिष्वपरः प्रकारः—

छिन्नत्वादिकदोषा ये पञ्चाशन्मन्त्रसंस्थिताः ।
तै र्दोषैः सकला व्याप्ता मनवः सप्तकोटयः ।
अतस्तद्दोषशान्त्यर्थं संस्कारदशकं चरेत् ॥१६४४॥
भूर्जपत्रे लिखेत् सम्यक् त्रिकोणं रोचनादिभिः ।
वारुणं कोणमारभ्य सप्तधा विभजेत् समम् ॥१६४५॥
एवमीशाग्निकोणाभ्यां जायन्ते तत्र योनयः ।
नववेदमितास्तत्र विलिखेन्मातृकां क्रमात् ॥१६४६॥
अकारादिहकारान्तानीशादिवरुणावधि ।
देवं तत्र समावाह्य पूजयेच्चन्दनादिभिः ॥१६४७॥
ततः समुद्धरेन्मन्त्रं जननं तदुदीरितम् ।
जपो हंसपुटस्यास्य सहस्रं दीपनं स्मृतम् ॥१६४८॥
नभोवह्नीन्दुयुक्तार्घीसम्पुटस्य जपो मनोः ।
सहस्रपञ्चकमितो बोधनं तत् स्मृतं बुधैः ॥१६४९॥
सहस्रं तं जपेदस्त्रपुटितं ताडनं तु तत् ।
वाक्हंसतारै र्जप्तेन सहस्रं पाथसा मनुम् ॥१६५०॥
अभिषिञ्चेत वागाद्यैरभिषेकोऽयमीरितः ।
हरिवह्न्यन्वितस्तारो वषडन्तो ध्रुवादिकः ॥१६५१॥
सहस्रं तत्पुटं जप्त्वा विमलीकरणं मनोः ।
स्वधावषट्पुटं जप्त्वा सहस्रं जीवनं मनोः ॥१६५२॥
क्षीराज्ययुतपाथोभिस्तर्पणैस्तर्पयेन्मनुम् ।
जपेन्मायापुटं मन्त्रं सहस्रं गोपनं हि तत् ।
बालातार्त्तीयबीजेन गगनाद्येन सम्पुटम् ॥१६५३॥

सहस्रं प्रजपेन्मन्त्रमेतदाप्यायनं मतम् ।
संस्कारदशकं प्रोक्तं मनूनां दोषनाशकम् ॥१६५४॥

इति मन्त्रसंस्कारः । उभयोरप्येकतमः सम्प्रदायप्राप्तः साध्यः ।

एवं मन्त्रं तु संस्कृत्य मालां वै शोधयेत् ततः ।
सा ज्ञेया त्रिविधा माला मातृकाद्या ततो परा ॥
करमालेति विख्याता मणिमाला ततः परम् ॥१६५५॥

तच्च परारहस्ये–

मातृकामालिकां देवि शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ।
माला शिवमयी प्रोक्ता सूत्रं शक्तिमयं च यत् ॥१६५६॥

वर्णाः शिवमयास्ते च स्वराः शक्तिमया यतः ।
पञ्चाशद्वर्णिका प्रोक्ता सूत्रं शक्तिशिवात्मकम् ।
कुण्डलीग्रथिता शक्तिः कलान्ते मेरुसंस्थितः ॥१६५७॥

अनुलोमविलोमेन मातृकानां शतं भवेत् ।
अकचटतपयशास्त्वष्टवर्गाः प्रकीर्तिताः ॥१६५८॥

अष्टवर्गं प्रकल्प्यान्ते अष्टोत्तरशती भवेत् ।
अष्टोत्तरशतीमाला सर्वकार्यार्थसिद्धिदा ॥१६५९॥

मन्त्रेणान्तरितान् वर्णान् वर्णेनान्तरितान् मनून् ।
कुर्याद् वर्णमयीं मालां सर्वमन्त्रप्रकाशिनीम् ॥१६६०॥

चरमार्णं मेरुरूपं लङ्घनं नैव कारयेत् ।
सबिन्दुं वर्णमुच्चार्य पश्चान्मन्त्रं जपेत् सुधीः ॥१६६१॥

श्रीशिवाक्षरमालेयं वर्णिता स्नेहतो मया ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वभि र्देवि योजयेत् सप्तभिर्ग्रहैः ॥१६६२॥

तत्त्वमालेयमाख्याता श्रीविद्याप्रीतिकारिणी ।
पञ्चषष्ट्यक्षरैश्चत्वारिंशद्भि र्भैरवैस्तथा ॥१६६३॥

त्र्यधिकै र्योजयेन्मालां भैरवीयमुदाहृता ।
सुप्तकीलितसंरुद्धाः छिन्ना व्याकीर्णयोनयः ॥१६६४॥

धनी वैरी वीर्यहीनः काणखञ्जादयोऽपि ये ।
तेऽपि सिद्धा भवन्त्येव मातृकामालया शिवे ॥१६६५॥

गुरोः पञ्च गणेशस्य त्रयं च परिकीर्तितम् ।
शेषमिष्टाय संदद्यात् तेन सिद्धीश्वरो भवेत् ॥१६६६॥

त्रयं गुरौ त्रयं देवि गणपे परिकीर्तितम् ।
न्यूनातिरिक्ते द्वितयं शेषमिष्टाय योजयेत् ॥१६६७॥

अष्टोत्तरशतीभेदः कथितः, कथ्यतेऽपरः ।
रुद्राणां तु शतं चैव भैरवाष्टकयोजितम् ॥१६६८॥

कृत्वा मेरुं महारुद्रं जपमालां च कारयेत् ।
न हन्याद् भैरवान् रुद्रैः रुद्रांश्च भैरवैस्तथा ॥१६६९॥

अन्यथा जपहानिः स्याद् रुद्रस्य वचनं त्विदम् ।
एतद् गुह्यतमं भद्रे तव स्नेहान्मयेरितम् ॥१६७०॥

मालारहस्यसर्वस्वं नाख्येयं यस्य कस्यचित् ।
करमालामथो वक्ष्ये सर्वमंत्रप्रबोधिनीम् ॥१६७१॥

नित्यं जपं करे कुर्यान्न तु काम्यं कदाचन ।
काम्यमपि करे कुर्यान्मालाऽभावे प्रियंवदे ॥१६७२॥

तन्नियमो यथा–

करमालां च संशोध्य त्रिधा तद्विद्यया पुनः ।
जपेन्मंत्रं निर्विकल्पस्तद्विद्यामधुनोच्यते ॥१६७३॥

काली कामः कृपा कुंती करमाले हरं वनम् ।
मंत्रोऽयं करमालायाः शुद्धिदः सर्वसिद्धिदः ॥१६७४॥

हृदये हस्तमारोप्य तिर्यक् कृत्वा करांगुलीः ।
आच्छाद्य वाससा हस्तौ दक्षिणेन सदा जपेत् ॥१६७५॥

अंगुलीर्न वियुञ्जीत किंचिदाकुंचिते तले ।
अंगुलीनां वियोगाच्च छिद्रे च स्रवते जपः ॥१६७६॥

अंगुल्यग्रेण यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलंघने ।
पर्वसंधिषु यज्जप्तं तत् सर्वं निष्फलं भवेत् ॥१६७७॥

असंख्यातेन यज्जप्तमित्यपि पाठः ।

कनिष्ठामूलपर्वादि क्रमेण करगाः सुराः ।
तान् शृणुष्व महादेवि यथावद् वर्ण्यते मया ॥१६७८॥

ईशानोऽग्नि निर्ऋतिश्च वायुरिन्दुर्यमस्तथा ।
वरुणश्च कुवेरश्च सूर्यः सोमो बुधो गुरुः ॥१६७९॥

सितमंदारराह्वन्ता ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
जपसिद्धिकरा देवि सकलाः करदेवताः ॥१६८०॥

दिवपालाश्च ग्रहाश्चाष्टौ शक्तिः षोडशपर्वसु ।
प्रलभ्य पर्वत्रितये त्रयो देवाः सदा स्थिताः ॥१६८१॥

क्रूरग्रहौ च मंदारौ दिक्पालौ यमनिर्ऋती ।
कुलिकश्चेति विख्यातो जपहानिकरो मतः ॥१६८२॥

कुलिकांशं त्यजेद् देवि मंत्री करजपे सदा ।
कुलिको मुद्गरो ज्ञेयो मुद्गरे तु महद्भयम् ॥१६८३॥

मुद्गरोल्लंघने शक्ति र्महारुद्रस्य केवलम् ।
कुलिकं तु महाकेतुं मेरुरूपं न लंघयेत् ॥१६८४॥

दिक्पालांशे ग्रहांशे च कुलिकांशं परित्यजेत् ।
अनामिकाद्वयं पर्व कनिष्ठादिक्रमेण तु ॥१६८५॥

तर्जनीमूलपर्यन्तं जपेद् दशसु पर्वसु ।
तर्जन्यग्रे च मध्ये च योजयेत् स तु पापकृत् ॥१६८६॥

अन्यत्रापि–

अनायामास्त्रयं पर्व कनिष्ठायास्त्रिपर्वकम् ।
मध्यमायास्त्रयं पर्व तर्जनीमूलपर्वणि ॥१६८७॥

प्रादक्षिण्यक्रमेणैव जपेद् दशसु पर्वसु ।
शक्तिमाला समाख्याता सर्वमन्त्रप्रदीपिका ॥१६८८॥

पर्वद्वयं तु तर्जन्याः मेरुं तद् विद्धि पार्वति ।
तर्जन्यग्रे तथा मध्ये यो जपेत् स च पामरः ॥
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्यायशोधनम् ॥१६८९॥

श्रीविद्यायां विशेषः-

अनामामध्ययोश्चैव मूलाग्रं च द्वयं द्वयम् ।
कनिष्ठायाश्च तर्जन्यास्त्रयं पर्व महेश्वरि ॥१६९०॥
अनामामध्यमायाश्च मेरुः स्याद् द्वितयं शुभे ।
प्रदक्षिणक्रमेणैव जपेत् त्रिपुरसुन्दरीम् ॥१६९१
दशांशं सञ्जपेद् देवि केवलं करमालया ।
अनामिकाद्वयं पर्व कनिष्ठादिक्रमेण तु ।
तर्जनीमूलपर्यन्तं जपेद् द्वादशपर्वसु ॥१६९२॥

अथवा-

कनिष्ठा च चतुःपर्वाऽनामापर्वत्रयं तथा ।
मध्यमापर्व देव्येकं तर्जन्याश्च चतुष्टयम् ॥१६९३॥
संयोज्य प्रजपेद् विद्यां मन्त्री द्वादशपर्वसु ।
शक्तिमालेयमाख्याता त्यक्त्वा पर्वचतुष्टयम् ॥१६९४॥
नवावृत्त्या जपेद् देवि सहस्राद्ययुतावधि ।
प्रोक्तेयं करमाला त्वं मणिमालामथो शृणु ॥१६९५॥
पद्मबीजादिभि र्माला बहिर्यागेष्वथो भवेत् ।
रुद्राक्षशंखपद्माक्षपुत्रजीवकमौक्तिकैः ॥१६९६॥
स्फाटिकै र्मणिरत्नैश्च सौवर्णै र्वैद्रुमैस्तथा ।
राजतैः कुशमूलैश्च गृहस्थस्याक्षमालिका ॥१६९७॥
पुत्रजीवै र्दशगुणं ततः शंखैः सहस्रकम् ।
प्रवालै र्मणिरत्नैश्च दशसाहस्रकं स्मृतम् ॥१६९८॥
तदेव स्फाटिकैः प्रोक्तं मौक्तिकै र्लक्षमुच्यते ।
पद्माक्षै र्दशलक्षं स्यात् सौवर्णैः कोटिरुच्यते ॥१६९९॥

कुशग्रन्थ्या कोटिशतं रुद्राक्षैः स्यादनन्तकम् ।
सर्वैं विरचिता माला नृणां मुक्तिफलप्रदा ॥१७००॥ इति ।

अन्यत्रापि–

वैष्णवे तुलसीमाला गणेशे गजदन्तजा ।
रुद्राक्षसम्भवा शम्भौ स्फाटिकी च तथा रवौ ॥१७०१॥

अथवा सर्वमन्त्रेषु शस्ता रुद्राक्षमालिका ।
पद्माक्षमालिका तद्वत् सर्वमन्त्रप्रबोधिनी ॥१७०२॥

सौवर्णी मौक्तिकी वाऽथ शंखजा वा प्रवालजा ।
रक्तचन्दनबीजोत्त्था शक्तिमाला प्रकीर्तिता ॥१७०३॥

सौवर्णेऽष्टगुणं विन्द्यात् स्फाटिके च दशाधिकम् ।
स्याच्छतं शंखमणिभिः प्रवालैश्च सहस्रकम् ।
अयुतं चन्दनैश्चैवानन्तं रुद्राक्षमालया ॥१७०४॥

कालिका छिन्नमस्ता च त्रिपुरा तारिणी तथा ।
एता रुद्राक्षमालाया जपे तोषं न यान्ति हि ॥१७०५॥

एतासां च जपं मन्त्री रुद्राक्षमालया चरन् ।
व्याधिमाप्नोति सततं निष्फलं तस्य तज्जपः ॥१७०६॥

विशेषोऽपि–

दिवा नैव प्रजप्तव्यं रुद्राक्षमालया क्वचित् ।
शक्तिमन्त्रं महेशानि कृते तन्निष्फलं भवेत् ॥१७०७॥

निष्फलत्वे हेतुमाह तन्त्रान्तरे–

शिवशक्तिसमायोगो रात्रावेव प्रकीर्तितः ।
रुद्राक्षे शिवरूपत्वं शक्तित्वं शक्तिमन्त्रके ॥१७०८॥ इति ।

द्वादश्यां वैष्णवी माला संस्कार्या सोपवासकैः ।
मन्त्रज्ञै विष्णुमन्त्रेण दिवाभागे प्रशस्यते ॥१७०९॥

चतुर्थ्यां च गणेशस्य सूर्यस्य सप्तमीतिथौ ।
अष्टम्यां वा नवम्यां वा चतुर्दश्यां तथैव च ।
शक्तीनामपि कर्तव्या रात्रावेव समाहितः ॥१७१०॥

त्रयोदश्यां तथा कुर्यात् शिवस्यापि सुरेश्वरि ।
अष्टोत्तरशतमणिभि र्निर्मिता या तु मालिका ॥१७११॥

राज्यं वितनुते नूनं देहान्ते मोक्षदायिनी ।
पञ्चविंशतिभि र्मोक्षं त्रिंशद्भि र्धनसिद्धिदम् ॥१७१२॥

चतुर्दशमयी मोक्षदायिनी भोगवर्द्धिनी ।
सर्वथा सप्तविंशत्या पञ्चदश्यभिचारके ॥१७१३॥

पञ्चाशद्भिः कार्यसिद्धिस्तथा च चतुरुत्तरैः ।
यथालाभं साधकेन्द्रो ह्यक्षान्यादाय यत्नतः ॥१७१४॥

अन्योन्यसमरूपाणि नातिस्थूलकृशानि च ।
कीटादिभिरदुष्टानि तथा जीर्णानि सुन्दरि ॥१७१५॥

द्विजस्त्रीनिर्मितं सूत्रं कर्पासभवमुत्तमम् ।
शुक्लं रक्तं तथा कृष्णं पट्टसूत्रमथापि वा ॥१७१६॥

शान्तिवश्याभिचारेषु मोक्षैश्वर्यजयेषु च ।
सर्वेषामेव वर्णानां रक्तं सर्वेप्सितप्रदम् ॥
आश्रमेषु तथा चैवं रक्तं सर्वसमृद्धिदम् ॥१७१७॥ इति ।

अन्यच्च हंसपारमेश्वरे–

उच्चाटने मार्कटमेव सूत्रं लोहस्य सूत्रं खलु मारणे च ।
पट्टस्य सूत्रं तु महद्वशीये कर्पाससूत्रं खलु सर्वसिद्ध्यै ॥१७१८॥

सनत्कुमारीये तु–

त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य ग्रंथयेत् शिल्पशास्त्रतः ।
एकैकं मातृकावर्णं सतारं प्रजपन् सुधीः ॥
मणिमादाय सूत्रेण ग्रंथयेन्मध्यभागतः ॥१७१९॥

ब्रह्मग्रंथिं विधायेत्थं मेरुं च ग्रंथिसंयुतम् ।
ग्रंथयित्वा पुरो मालां ततः संस्कारमाचरेत् ॥१७२०॥

अत्र कस्यचिन्मते मूलविद्यया ग्रन्थनं विधेयम् ।

तथा च एकवीराकल्पे-

मातृकामंत्रतो ग्रंथिं विद्यया वा प्रकारयेत् ।
सुवर्णादिगुणै र्वापि ग्रंथयेत् साधकोत्तमः ॥१७२१॥

ब्रह्मग्रंथिं ततो दद्यान्नागपाशमथापि वा ।
कवचेन च बध्नीयान्मालां ध्यानपरायणः ॥१७२२॥

सर्वशेषे ततो मेरुं सूत्रद्वयसमन्वितम् ।
ग्रंथयेत् तारयोगेन बध्नीयात् साधकोत्तमः ।
सर्वस्माच्च स्थूलतरं मेरुं कुर्यात् सजातिकम् ॥१७२३॥

मुखे मुखं तु संयोज्य पुच्छे पुच्छं च योजयेत् ।
गोपुच्छसदृशी माला यद्वा सर्पाकृतिः शुभा ॥१७२४॥

आद्यं स्थूलं ततस्तस्मान्न्यूनान्न्यूनतरं तथा ।
विन्यसेत् क्रमतस्तत्र सर्पाकारा हि सा यतः ॥१७२५॥

मुखपुच्छनियमस्तु स्वच्छन्दमाहेश्वरे-

रुद्राक्षस्योन्नतं प्रोक्तं मुखं पुच्छं तु निर्मलम् ।
कमलाक्षस्य सूक्ष्मांशं सबिन्दुद्वितयं मुखम् ॥१७२६॥

सबिन्दुकस्य स्थूलांशं पृष्ठं श्लक्ष्णमिति स्मृतम् ।
एवं ज्ञात्वा मुखं पुच्छं रुद्राक्षाम्भोरुहाक्षयोः ॥१७२७॥

तत् सजातीयमेकाक्षं मेरुत्वेनाग्रतो न्यसेत् ।
एकैकं मणिमादाय ब्रह्मग्रंथिं प्रकल्पयेत् ॥१७२८॥

एकैकं मातृकावर्णं ग्रंथनादौ तु संजपेत् ।
त्रिवृत्तिग्रंथनैकेन तथार्द्धेन विधीयते ॥१७२९॥

सार्धद्वयावर्तनेन ग्रंथिं कुर्याद् यथा दृढम् ।
त्रिरावर्त्या मध्यमेन चार्धावर्त्या तु देशतः ॥
स्याद् ग्रंथि र्दक्षिणावर्त्तस्तद् ग्रंथि र्ब्रह्मसंज्ञकम् ॥१७३०॥

ग्रंथिहीना न कर्तव्या सापि कुत्रापि युज्यते ।
कालिका त्वरितायाश्च वज्राख्या षट्कभेदके ॥१७३१॥

तथा च वनवासिन्या वाराह्याश्च तथेश्वरि ।
चंडिकाया महेशानि ग्रंथिहीनापि शस्यते ॥१७३२॥

एवं निर्माय मालां वै प्रतिष्ठां च ततश्चरेत् ।
अप्रतिष्ठितमालाभि र्नित्यं जपति यो नरः ॥१७३३॥

सर्वं तन्निष्फलं विद्यात् क्रुद्धा भवति देवता ।
तस्मात् प्रतिष्ठां प्रोक्तेन कुर्यान्मार्गेण साधकः ॥१७३४॥

नित्यकर्म समाप्याथ प्रणम्य गुरुदैवतम् ।
अश्वत्थपत्रनवकैः पद्माकारं तु कल्पयेत् ॥१७३५॥

तन्मध्ये स्थापयेन्मालां मातृकां मूलमुच्चरन् ।
क्षालयेत् पंचगव्येन सद्योजातेन सज्जलैः ॥१७३६॥

पंचगव्यनिर्माणं तु तन्त्रान्तरे–

गोसकृद् द्विगुणं मूत्रं सर्पि र्दद्याच्चतुर्गुणम् ।
क्षीरमष्टगुणं प्रोक्तं पंचगव्ये तथा दधि ॥१७३७॥

गायत्र्यादाय गोमूत्रं गंधद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राम्णऋचा दधि ॥१७३८॥

तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।
वरुणश्चैव गोमूत्रे गोमये हव्यवाहनः ।
दध्नि वायुः समुद्दिष्टः सोमः क्षीरे घृते रविः ॥१७३९॥ इति ।
चंदनागरुपुष्पाद्यै र्वामदेवेन घर्षयेत् ।

धूपयेत् तामघोरेण लिंपेद् तत्पुरुषेण तु ॥१७४०॥
मंत्रयेत् पंचमेनैव प्रत्येकं तु शतं शतम् ।
सकृद्वापि तथा मेरुं तेनैव च शतं पुनः ॥१७४१॥

तेत पंचमेन ईशानेनेति ।

तत्रावाह्य यजेद् देवं यथाविभवविस्तरैः ।
संस्कृत्यैवं वुधो मालां तत्प्राणांस्तत्र स्थापयेत् ॥१७४२॥

तत्प्राणानाराध्यदेवताप्राणान् ।

ततो देवं प्रपूज्याथ परिवारगणैः सह ।
अनुलोमविलोमेन मातृकार्णेन मंत्रयेत् ॥१७४३॥
ततः प्रेतेन समन्त्र्य तां नयेद् देवतात्मिकाम् ।
प्रेतेन प्रेतबीजेनेत्यर्थः ।
मूलमंत्रेण तां मालां पूजयेत् साधकोत्तमः ॥१७४४॥

मूलमंत्रस्तु वाराहीतंत्रे–

ॐ माले माले महामाले सर्वतत्त्वस्वरूपिणि ।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ॥१७४५॥
प्रणवादिद्विठान्तोऽयं सर्वमालाविशोधनः ।
वह्निं सम्पूज्य विधिवदष्टोत्तरशतं हुनेत् ॥१७४६॥
हुतशेषं प्रतिहुतौ प्रदद्याद् देवताधिया ।
होमकर्मण्यशक्तश्चेद् द्विगुणं जपमाचरेत् ॥१७४७॥
इत्थं सा संस्कृता माला जपकर्मणि सर्वदा ।
प्रयोक्तव्या साधकेन सर्वाभीष्टफलप्रदा ।
एवं संस्कृत्य मालां च गोमुख्यां स्थापयेद् बुधः ॥१७४८॥

गोमुखीलक्षणं मायातंत्रे यथा–

चतुर्विंशांगुलमितं पट्टवस्त्रादिसम्भवम् ।
निर्मायाष्टांगुलमुखं ग्रीवां तत् षड्दशांगुलम् ॥१७४९॥
ज्ञेयं गोमुखयन्त्रं च सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
तन्मुखे स्थापयेन्मालां ग्रीवामध्यगतः करः ।
प्रजपेद् विधिना गुह्यं वर्णमालाधिकं प्रिये ॥१७५०॥ इति ।

मुंडलालातंत्रे–

गोमुखे गोपयेन्मालां एवं सिध्यति साधकः ।
जपादौ पूजयेन्मालां तोयैरभ्यर्च्य यत्नतः ।
मालामूलेन देवेशि मूलमन्त्रेण साधकः ॥१७५१॥

मालामन्त्राः यामलेषूक्ताः-

मालामन्त्रान् प्रवक्ष्येऽहं शृणुष्वावहितं प्रिये ।
तारं तारात्रयं तारं वधूं तुलसि वैष्णवि ॥१७५२॥
वौषड् वनं महामन्त्रस्तुलसीशोधने मतः ।
तारमब्धिरमामायासिन्धुं रुद्राक्षमालिनि ॥१७५३॥
शुद्धाभव वनं मन्त्रो देवि रुद्राक्षशोधनः ।
तारमादौ समुच्चार्य सूर्याख्यं बीजमुत्तमम् ॥१७५४॥
अर्कमाले हरं नीरं मन्त्रः स्फाटिकशुद्धिकृत् ।
तारं च वायुपूज्यां च तारं पद्माक्षमालिनि ॥१७५५॥
हरितं ठद्वयं मन्त्रो देवि पद्माक्षशोधनः ।
वेदाद्यं कमलां कुन्तीं वाग्बीजं कामशक्तिकम् ॥१७५६॥
सुवर्णमाले शक्त्याख्यो मन्त्रोऽयं स्वर्णशोधनः ।
तारं लज्जायुगं तारं मुक्तामालिनि मायुगम् ।
ठद्वयं मन्त्रराजोऽयं मुक्तामालाविशोधनः ॥१७५७॥
तारं रमा रमा तारं शंखिनीति पदं वदेत् ।
तारं रमा तारमन्ते मन्त्रोऽयं शंखमालिकः ॥१७५८॥
सम्पूज्य च ततो मालां गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
हृत्समीपे समानीय न तु वामेन संस्पृशेत् ॥१७५९॥
मध्यमाया मध्यभागे स्थापयित्वा समाहितः ।
अङ्गुष्ठमध्यभागेन चालयेच्च मणीन् क्रमात् ।
अक्षाणां चालनेऽङ्गुष्ठे नान्यमक्षं तु संस्पृशेत् ॥१७६०॥
जपकाले सदा विद्वान् मेरुं नैव विलङ्घयेत् ।
परिवर्तनकाले च सङ्घट्टं नैव कारयेत् ॥१७६१॥
एवं सर्वं परिज्ञाय मालायां जपमाचरेत् ।
अङ्गुष्ठाग्रेण यज्जप्तं निष्फलं तद्धि पार्वति ॥१७६२॥
अशुचि नं स्पृशेन्मालां करभ्रष्टां न कारयेत् ।
तर्जन्या न स्पृशेदेनां गुरोरपि न दर्शयेत् ॥१७६३॥

भुक्तौ मुक्तौ तथा पुष्टौ मध्यमायां सदा जपेत् ।
अंगुष्ठानामिकाभ्यां तु यजेदुत्तमकर्मणि ॥१७६४॥

अंगुष्ठामध्यमाभ्यां तु जपेदाकृष्टकर्मणि ।
तर्जन्यंगुष्ठयोगेन विद्वेषोच्चाटने मतः ॥१७६५॥

अंगुष्ठमध्यमायोगान्मंत्रसिद्धिः सुनिश्चितम् ।
ज्येष्ठाकनिष्ठायोगेन शत्रूणां नाशनं मतम् ॥१७६६॥

एकैकं च मणिं देवि चालयन् प्रजपेदथ ।
जपन् देवमनुध्यायन् भावयेदखिलान्मणीन् ॥१७६७॥

प्रदक्षिणं पुनः कृत्वा प्राग्वदेवं समाचरेत् ।
कासे क्षुते च जृंभायामेकमावर्त्तकं त्यजेत् ॥१७६८॥

प्रमादात् तर्जनीस्पर्शो भवेदावर्त्तकं त्यजेत् ।
अदीक्षितानां स्पर्शे च पुनः शोधनमाचरेत् ॥१७६९॥

न धारयेन् मूर्ध्नि कण्ठे कर्णे च जपमालिकाम् ।
ऊरूपादाधरस्पृष्टा वामहस्तप्रचालिता ॥१७७०॥

अगुप्ता च तथा भूस्था पुनः संस्कारमर्हति ।
जीर्णे सूत्रे पुनश्छिन्ने ग्रंथयित्वा शतं जपेत् ॥१७७१॥

प्रतिष्ठितायां तस्यां तु मंत्रं जप्यादनन्यधीः ।
एवं प्रतिष्ठितायां तु अन्यं नैव जपेन्मनुम् ॥१७७२॥

येन प्रतिष्ठिता माला तमेव तु मनुं जपेत् ।
अन्यमंत्रजपाविद्धा न कार्या कर्हिचिद् बुधैः ॥१७७३॥

जपमाला मया देवि ! कथिता देवदुर्लभा ।
सदा गोप्या प्रयत्नेन यथा त्वं मम वल्लभा ॥१७७४॥

एवं कर्तुमशक्तश्चेदित्थं कुर्यादतन्द्रितः ।
भूतशुद्ध्यादिपूजान्तं समाप्य तत्र पूजयेत् ॥१७७५॥

गणेशसूर्यविष्णवीशान् दुर्गामावाह्य मंत्रवित् ।
पंचगव्ये ततः क्षिप्त्वा मूलमंत्रेण मंत्रवित् ॥१७७६॥

मंत्रेण मालामूलमंत्रेण ।

तस्मादुत्तोल्य तां मालां स्वर्णपात्रे निधाय च ।
पयो दधि घृतं क्षौद्रं शर्कराद्यैरनुक्रमात् ॥१७७७॥

तोयधूपान्तरैः कृत्वा पंचामृतविधिं बुधः ।
क्रमात् तत्रैव संस्थाप्य स्थापयेत् शीतले जले ॥१७७८॥

ततः चंदनसौगंधकस्तूरीकुंकुमादिभिः ।
तामालिप्य प्रेतमंत्रमष्टोत्तरशतं जपेत् ॥१७७९॥

प्रेतमंत्रं हकारदन्त्यसकारचतुर्दशस्वरविसर्गयोगेन ह्सौरिति ।

तस्यां नवग्रहाँश्चैव दिक्पालांश्च प्रपूजयेत् ।
ततः संपूज्य च गुरुं गृह्णीयान्मालिकां शुभाम् ॥१७८०॥

एवं मालां च संस्कृत्य यंत्रसंस्कारमाचरेत् ।
विना यंत्रेण पूजायां देवता न प्रसीदति ॥१७८१॥

सर्वेषामपि देवानां यंत्रे पूजा प्रशस्यते ।
देहात्मनो यथाऽभेदो मंत्रदेवतयोस्तथा ॥१७८२॥

तथा यंत्रं मंत्रमयं मंत्रात्मा देवतेति च ।
कामक्रोधादिदोषोत्थसर्वदुःखनियंत्रणात् ।
यंत्रमित्याहुरेतस्मिन् देवः प्रीणाति पूजितः ॥१७८३॥

संहितायामपि–

यंत्रं मंत्रमयं प्राहुर्देवता मंत्ररूपिणी ।
यंत्रेणापूजितो देवः सहसा न प्रसीदति ॥१७८४॥

सर्वेषामपि देवानां यंत्रे पूजा प्रशस्यते ।
सौवर्णे राजते ताम्रे स्फाटिके वैद्रुमे तथा ॥१७८५॥ इति ।

तंत्रराजे–

रत्ने हेमनि रौप्ये वा ताम्रे दृषदि च क्रमात् ।
कृत्वा चक्रस्य निर्माणं स्थापयेत् पूजयेदपि ॥१७८६॥

दृषदि गंडकीशिलायाम् ।

तथा च यामले-

गंडकीभवपाषाणे स्वर्णे रजतताम्रयोः ।
विद्रुमे रचिते यंत्रे पद्मरागेऽथवा प्रिये ॥
इन्द्रनीलेऽथ वैडूर्ये महामारकतेऽपि वा ॥१७८७॥ इति ।

अथ धातुविशेषे कालसंख्या लक्षसागरे-

यावज्जीवं सुवर्णे स्यात् रूपे द्वाविंशतिः प्रिये ।
ताम्रे द्वादशकं वर्षं स्फाटिकादौ तु सर्वदा ॥१७८८॥ इति ।

अन्यच्च-

सौवर्णं राजतं ताम्रं श्रेष्ठं मध्यं तथोत्तमम् ।
ताम्रे लक्षगुणं प्रोक्तं रौप्ये कोटिगुणं भवेत् ।
सौवर्णेऽनन्तफलदं स्फाटिके च तथा समम् ॥१७८९॥

फलं च लक्षसागरे-

भूमौ सिन्दूररजसा रचितं सर्वकामदम् ।
सुवर्णरचितं यंत्रं सर्वराजवशंकरम् ॥१७९०॥
राजतेन कृतं यंत्रमायुरारोग्यकामदम् ।
ताम्रे तु रचितं यंत्रं सर्वैश्वर्यप्रदं मतम् ॥१७९१॥
यंत्रं हि स्फाटिकं देवि मनोऽभिलषितप्रदम् ।
माणिक्यरचितं यंत्रं राज्यदं भुक्तिदं मतम् ॥१७९२॥
गोमेदरचितं यंत्रं सर्वैश्वर्यप्रदं मतम् ।
क्लृप्तं मरकते यंत्रं सर्वशत्रुविनाशनम् ॥
लोहत्रयोद्भवं यंत्रं सर्वसिद्धिकरं परम् ॥१७९३॥

लोहत्रयस्य लक्षणं तत्रैव-

भागा दश सुवर्णस्य रजतस्य च षोडश ।
ताम्रस्य रविभागेन पीठं कुर्यान्मनोहरम् ॥१७९४॥
चक्रेऽस्मिन् पूजयेद् यो हि स सौभाग्यमवाप्नुयात् ।
अणिमाद्यष्टसिद्धीनामधिपो जायतेऽचिरात् ॥१७९५॥

निषिद्धधातवस्तत्रैव—

वंगेऽथ शीशके लोहे न कर्तव्यं कदाचन ।
फलकायां पटे भित्तौ स्थापयेन्न कदाचन ॥१७९६॥
कुलं वित्तमपत्यं च निर्मूलयति सर्वथा ।

अथ प्रस्तारभेदेन त्रैविध्यं चक्रस्य तत्रैव—

त्रैविध्यं शृणु चक्रस्य भूप्रस्तारोर्ध्वमेरुकम् ॥१७९७॥
पातालवासिनां देवि प्रस्तारो निम्नरेखकः ।
ऊर्ध्वरेखं महेशानि मर्त्यलोकनिवासिनाम् ॥१७९८॥
स्वर्गलोकनिवासीनां यंत्रराराजमेरुसंज्ञकः ।
भूपुरं तु समारभ्य बैन्दवान्तं महेश्वरि ॥१७९९॥
क्रमात् समुन्नतं सर्वं मेरुरूपं मयोदितम् ।
समोर्ध्वरेखं नवकमूर्ध्वरेखं प्रकीर्तितम् ॥१८००॥

नवकमिति केवलं श्रीचक्रे न त्वन्यत्र ।

एतस्मिन् विषये भूतभैरवे—

योऽस्मिन् यंत्रे महेशानि केशराणि प्रकल्पयेत् ।
योगिनीसहितास्तस्य हिंसां कुर्वन्ति भैरवाः ॥१८०१॥ इति ।
निम्नरेखा समायोगात् भूप्रस्तारो मयोदितः ।
एकतोलं द्वितोलं वा त्रितोलं पंचतोलकम् ॥१८०२॥
रसतोलं चतुस्तोलं सप्ततोलमथापि वा ।
पलप्रमाणं कर्तव्यमर्वाक्पीठं मनोहरम् ॥१८०३॥
अग्निरंगुलविस्तारं प्राक् प्रत्यग् दक्षिणोत्तरम् ।
यवार्धोच्चं प्रकुर्वीत चतुरस्रं समंततः ॥१८०४॥

चत्वारिंशन्माषकाः पलम् । अंगुलं तिर्यक्स्थापितैरष्टभिर्यवैः । ऋजुस्थापितैः शालिभिर्वा ।

एतदुक्तं कपिलपंचरात्रे—

विन्यस्तैस्तिर्यगष्टाभि र्यवै र्मानान्तरांगुलम् ।
शालिभि र्वा ऋजुन्यस्तैस्त्रिभि र्मानान्तरं भवेत् ॥१८०५॥ इति ।

सौत्रामणीये–

ऋजुरेखा भवेल्लक्ष्मी र्वक्ररेखा दरिद्रकृत् ।
अग्निरंगुलविस्तारो यवार्धेनोच्छ्रिति र्भवेत् ॥१८०६॥

हेम्नश्च रजतस्याथ मानं ताम्रस्य कीर्तितम् ।
माणिक्यपुष्परागादौ नीलादौ च यथेच्छया ॥१८०७॥

लक्षसागरेऽपि–

यंत्रराजस्वरूपं ते मया स्नेहात् प्रकाशितम् ।
गोपनीयं त्वया भद्रे स्वगुह्यमिव संततम् ॥१८०८॥

अथ प्रतिष्ठाकालो ज्योतिषशास्त्रतो बोध्यः ।

स्थापनं तु प्रवक्ष्यामि सर्वकामप्रसाधनम् ।
सर्वकाले प्रकर्तव्यं कृष्णपक्षे विशेषतः ॥१८०९॥

देव्याः शिवस्य शुक्ले तु स्थिरांशे स्थिरलग्नके ।
सौम्यायने च देवानां तच्छक्तीनां च दक्षिणे ॥१८१०॥

अत्र किञ्चिद् विशेषो देवीपुराणे–

मातृभैरववाराहनरसिंहत्रिविक्रमाः ।
महिषासुरहन्त्री च स्थाप्या वै दक्षिणायने ॥१८११॥

प्रतिष्ठा तन्त्रराजे–

क्षौद्राज्यदुग्धैः प्रथमं नारिकेलाम्भसा ततः ।
अभिषिच्याथ तोयेन क्वथितेनाक्षरौषधैः ॥१८१२॥

आवाह्याभ्यर्च्य सल्लग्ने चक्रे संस्थाप्य पूजयेत् ।
नित्यातत्त्वाम्बिकालोत्थविद्ययाऽभ्यर्च्य तत् क्रमात् ॥१८१३॥

स्पृशन् जपेत् कराग्रेण श्रीचक्रं पूजयेदपि ।
एवं दिनत्रयं कृत्वा ततो नित्यक्रमं भजेत् ॥१८१४॥

गन्धैः पुष्पै र्धूपदीपै र्नैवेद्यैस्तर्पणैस्तथा ।
त्रिरात्रं पूजयेद् देवीं योगिनीयोगिभिः समम् ॥
एवं देवि ! प्रतिष्ठायाः क्रमः सान्निध्यकारकः ॥१८१५॥

देवीमित्युपलक्षणम् । अक्षरौषधैरिति पञ्चाशद्वर्णौषधैः ।

ता यथा कादिमते-

चन्दनागरुकर्पूरोशीररोगजलघु (?) करणाः।
कक्कोलजातीमांसीमुरचोरग्रन्थिरोचनापत्राः ॥१८१६॥

पिप्पलबिल्वगुहारुणतृणवल्कलवङ्गार्ककुम्भवन्दिन्यः ।
सौदुम्वरिकास्मरिकास्थिराब्जदरपुष्पिकामयूरशिखाः ॥१८१७॥

प्लक्षाग्निमन्थसिंही कुशाह्वदर्भाश्च कृष्णदरपुष्पी ।
रोहिणटुंटुकबृहतीपाटलिचित्रातुलस्यपामार्गाः ॥१८१८॥

शतमखलताद्विरेफाविष्णुक्रान्तामुशल्यथाञ्जलिनी ।
दूर्वाश्रीदेविसहे तथैव लक्ष्मी सदा भद्रे ॥१८१९॥

आदीनामिति कथिता वर्णानां क्रमादथौषधयः ।

केचितु अक्षरौषधैरिति स्थाने सर्वौषधिजलैरिति पठन्ति ।

तन्मते सर्वौषधयस्तु-

लाजा कुष्टं वला चैव प्रियंगुघनसर्षपाः ॥१८२०॥

हरिद्रादेवदारुश्च पुंखा लोध्रं तथा जलम् ।
सर्वविघ्नहरं चैव सर्वौषधमितीरितम् ॥१८२१॥

वर्णौषधयस्तु श्रीविद्यायामेव । अन्यत्र सर्वौषधयः ।

अथ क्रमः संमोहनतंत्रे-

यथा मंत्रस्य संस्कारस्तथा यंत्रस्य कल्पयेत् ।
असंस्कृतौ मंत्रयंत्रौ रोगशोकभयप्रदौ ॥१८२२॥

कथितो मंत्रसंस्कारो दशधा सर्वतंत्रके ।
यंत्रसंस्कारमधुना शृणु देवि समाहिता ॥१८२३॥

चक्रराजं विनिर्माय तत्तत्संस्कारमाचरेत् ।
प्रतिष्ठा विधिना देवि ! तां शृणु त्वं समाहिता ॥१८२४॥

गुरोराज्ञां समादाय नित्यकृत्यं समाप्य च ।
प्रणवं तत्सदद्येति मासपक्षतिथीरपि ॥१८२५॥

अमुकोऽमुकगोत्रोऽहं पूजार्थं प्रीतये तथा ।
चक्रेऽस्मिन्नमुकीदेव्याः प्राणजीवेन्द्रियाणि च ॥१८२६॥

प्रतिष्ठाकर्मशब्दान्ते करिष्ये प्रागुदङ्मुखः ।
ततो गुरुं च वृणुयात् वस्त्रालंकारचन्दनैः ॥१८२७॥

भूतशुद्ध्यादिन्यासान्तं मंत्रन्यासं समाप्य च ।
पञ्चगव्ये निजै र्मन्त्रैः शिवमंत्रेण मंत्रितम् ॥१८२८॥

तस्मिन् चक्रं क्षिपेन्मंत्री प्रणवेन विलोडयेत् ।
ततश्चक्रं समुद्धृत्य स्थापयेत् तच्च भाजने ॥१८२९॥

शंखतोयेन देवेशि ! तथा पुण्योदकेन च ।
वारिणा चन्दनेनाऽपि स्नापयेत् परमेश्वरि ॥१८३०॥

नारिकेलोदकैश्चैव सर्वौषधिजलैरपि ।
पञ्चामृतैः पञ्चगव्यैः स्नापयेत् परमेश्वरि ॥१८३१॥

नातितप्तं नातिशीतं कवोष्णं स्नपने मतम् ।
अत्युष्णं वज्रतुल्यं स्यादनुष्णं जाड्यकृद् भवेत् ॥१८३२॥

घृतं क्षीरं तथा नीरं शर्करामधुसंयुतम् ।
पञ्चामृतमिदं ख्यातं प्रत्येकं तु पलं पलम् ॥१८३३॥

एवं स्नाप्य ततो मन्त्री स्थापयेत् स्वर्णपीठके ।
तत्रैव पीठं संपूज्य चार्घ्यपात्रादिकं चरेत् ॥१८३४॥

स्पृष्ट्वा यन्त्रं कुशाग्रेण गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ।
अष्टोत्तरशतं देवि देवताभावसिद्धये ॥१८३५॥

प्रणवं यन्त्रराजाय विद्महे तदनन्तरम् ।
महायन्त्राय धीमहि तन्नो यन्त्रः प्रचोदयात् ॥१८३६॥

आवाह्य पञ्चमुद्राभिः प्राणस्थापनमाचरेत् ।
वं बीजेनाऽमृतीकृत्य ततश्च धेनुमुद्रया ॥१८३७॥

प्राणानथो प्रतिष्ठाप्य प्राणमन्त्रेण देशिकः ।
स्वकल्पोक्तविधानेन पूजां कुर्यात् समाहितः ॥१८३८॥

उपचारैः षोडशभि र्देवीं च पूजयेत् क्रमात् ।
देव्यङ्गे तत्परीवारान् पूजयेत् परमेश्वरि ॥१८३९॥

ततो जपेत् सहस्रं तु शतमष्टोत्तरं प्रिये ।
बलिदानं ततो दत्वा प्रणमेत् चक्रराजकम् ॥१८४०॥

अष्टोत्तरशतं होमं कुर्याच्च साधकोत्तमः ।
मूलमन्त्रेण देवेशि जुहुयाच्चक्रसिद्धये ॥१८४१॥

आहुत्यन्ते चक्रराजे सम्पाताज्यं विनिःक्षिपेत् ।
पूर्णाहुतिं ततो दत्वा तज्जलैरभिषेचयेत् ॥१८४२॥

मन्त्राभिषिक्तं चक्रन्तु सर्वेषां सिद्धिदायकम् ।
होमकर्मण्यशक्तश्चेद् द्विगुणं जपमाचरेत् ॥१८४३॥

गुरवे दक्षिणां दद्याद् यथाविभवविस्तरैः ।
एवं दिनत्रये पूज्य षोडशैरुपचारकैः ॥१८४४॥

संहारमुद्रया देव्या विसर्जनमतःपरम् ।
ब्राह्मणान् भोजयेत् सम्यक् प्रतिष्ठान्ते तु भक्तितः ॥१८४५॥

प्रतिष्ठयेच्चक्रराजमनेन विधिना यदि ।
पुरश्चर्याफलं तस्य भवेद् विधियुतस्य च ॥१८४६॥

गुरोराज्ञां समादाय यन्त्रशुद्धिमुपाचरेत् ।
एवं विशोध्य यन्त्रं तु गोपयेन्न प्रकाशयेत् ॥१८४७॥

यन्त्रमन्त्रप्रकाशेन क्रुद्धा भवति देवता ।
निजमन्त्राभिषिक्तं तु गुरोरपि न दर्शयेत् ॥१८४८॥

प्रतिमापटयन्त्राणां नित्यं स्नानं न कारयेत् ।
कारयेत् पर्वदिवसे तथा मलनिवारणम् ॥१८४९॥

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
ग्रहणं मन्त्रयन्त्राणां शुभदं तत् प्रकीर्तितम् ॥१८५०॥

ईशानशिवेनाप्युक्तम्–

शक्तिं निजैक्येन तथैव चक्रे चित्रे पटे वा यजनं न भूमौ ।
मोहादसौ स्थण्डिलगां यजेच्चेत् भ्रश्येत् त्रिवर्गादपि मन्त्रसिद्धः॥१८५१

यन्त्राभावे तु प्रतिमां कृत्वा देवस्वरूपिणीम् ।
पूजयेत् तं प्रतिष्ठाप्याथवाऽन्यत्र प्रपूजयेत् ॥१८५२॥

लिङ्गस्थां पूजयेद् देवीं पुस्तकस्थां तथैव च ।
मण्डलस्थां जलस्थां च शिलास्थां वा प्रपूजयेत् ॥१८५३॥

यत्राऽपराजितापुष्पं जवापुष्पं च विद्यते ।
करवीरं तथा रक्तं शुक्लं वा द्रोणपुष्पकम् ।
तत्र देवी वसेन्नित्यमस्मात् तेषु प्रपूजयेत् ॥१८५४॥

श्रीविष्णुपूजायां विशेषो नारदीये गौतमीये च-

शालग्रामे मणौ यन्त्रप्रतिमामण्डलेषु वा ।
नित्यपूजा हरेः कार्या न तु केवलभूतले ॥१८५५॥

शालग्रामशिलास्पर्शात् कोटिजन्माऽघनाशनम् ।
किं पुनरर्चनं तत्र हरिसान्निध्यकारकम् ॥१८५६॥

बहुभि र्जन्मभिः पुण्यै र्यदि कृष्णशिलां लभेत् ।
गोपदेन तु चिह्नेन तेन न प्राप्यते जनुः ॥१८५७॥

आपोऽग्निहृदयं विष्णोश्चक्रं क्षेत्रसमुद्भवम् ।
यन्त्रं च प्रतिमास्थानमाधारत्वेन वै विभोः ॥१८५८॥ इति ।

इति श्रीमदागमरहस्ये मन्त्र-माला-यन्त्रसंस्कारकथनं नाम एकादशः पटलः ॥११॥

द्वादशः पटलः ।

इत्थं यन्त्रं तु संस्कृत्य पुरश्चर्यामथाचरेत् ।
पुरश्चरणसम्पन्नो मन्त्रो हि फलदायकः ॥१८५९॥

किं होमैः किं जपैश्चैव किं मन्त्रन्यासविस्तरैः ।
रहस्यानां हि मन्त्राणां यदि न स्यात् पुरस्क्रिया ॥१८६०॥

पुरस्क्रिया हि मन्त्राणां प्रधानं जीवमुच्यते ।
वीर्यहीनो यथा देही सर्वकर्मसु न क्षमः ॥१८६१॥

पुरश्चरणहीनोऽपि तथा मन्त्रः प्रकीर्तितः ।
आदौ पुरस्क्रियां कर्तुं स्थाननिर्णय उच्यते ॥१८६२॥

पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं गुहा पर्वतमस्तकम् ।
तीर्थप्रदेशाः सिन्धूनां सङ्गमः पावनं वनम् ॥१८६३॥

उद्यानानि विविक्तानि विल्वमूलं तटं गिरेः ।
तुलसीकाननं गोष्ठं वृषशून्यं शिवालयम् ॥१८६४॥
अश्वत्थामलकीमूलं गोशाला जलमध्यतः ।
देवतायतनं कूलं समुद्रस्य निजं गृहम् ॥१८६५॥
गृहे शतगुणं प्रोक्तं गोष्ठे लक्षगुणं भवेत् ।
कोटि देवालये पुण्यमनन्तं शिवसन्निधौ ॥१८६६॥

वायवीयसंहितायामपि–

सूर्यस्याग्ने गुरोरिन्दो दीपस्य ज्वलितस्य च ।
विप्राणां च गवां चैव सन्निधौ शस्यते जपः ॥१८६७॥
अथवा निवसेत् तत्र यत्र चित्तं प्रसीदति ।

तथा–

म्लेच्छदुष्टमृगव्यालशङ्कातङ्कविवर्जिते ।
एकान्ते पावने निन्दारहिते भक्तसंयुते ॥१८६८॥
सुदेशे धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
रम्ये भक्तजनस्थाने निवसेन् न पराश्रये ॥१८६९॥
राजानः सचिवाः राजपुरुषाः प्रभवो जनाः ।
चरन्ति येन मार्गेण न वसेत्तत्र तत्त्ववित् ॥१८७०॥
जीर्णदेवालयोद्यानगृहवृक्षतलेषु च ।
नदीकूलाद्रिकुञ्जेषु भूच्छिद्रादिषु नो वसेत् ॥१८७१॥
एषामन्यतमं स्थानमाश्रित्य जपमाचरेत् ।
यत्र ग्रामे वसेन्मन्त्री तत्र कूर्मं विचिन्तयेत् ॥१८७२॥
पर्वते सिन्धुतीरे वा पुण्यारण्ये नदीतटे ।
यदि कुर्यात् पुरश्चर्यां तत्र कूर्मं न चिन्तयेत् ॥१८७३॥

देवीयामलेऽपि–

कुरुक्षेत्रे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ।
महाकाले च काश्यां वा दीपस्थानं न चिन्तयेत् ॥१८७४॥

ग्रामे वा यदि वा वास्तौ गृहे वा तं विचिन्तयेत् ।
कूर्मचक्रमविज्ञाय यः कुर्याज्जपयज्ञकम् ॥१८७५॥
तस्य यज्ञफलं नास्ति तथाऽनर्थाय कल्प्यते ।
पीठे क्षेत्रे पुरे वापि ग्रामे च नगरे तथा ॥१८७६॥
कूर्मं विशोधयेन्मन्त्री दीपज्ञानपुरःसरम् ।
कादिनान्तं भवेत् क्षेत्रं ग्रामः स्याद् यादिमान्तकः ॥१८७७॥
यादिषान्तं पुरं सम्यक् प्रोक्तं देशिकसत्तमैः ।
सहान्तं नगरं प्रोक्तमेतत् क्षेत्रस्य लक्षणम् ॥१८७८॥
ककारादिक्षकारान्ता वर्णाः स्यु र्दीपसंज्ञकाः ।
स्वराः षोडशपीठाख्या ज्ञातव्या मन्त्रिणां वरैः ॥१८७९॥ इति ।

एतच्च ब्रह्मयामले–

पीठसंज्ञा स्वराणां च दीपाः स्यु र्व्यञ्जनानि हि ।
स्थानं दीपाक्षरं यस्मिन् कोष्ठे तिष्ठति तद् भवेत् ॥१८८०॥
दीपस्थानं तदेतत् स्यात् कूर्मचक्रे न संशयः ।
पूर्वापरायते रेखे द्वे रेखे दक्षिणोत्तरायते ।
नवकोष्ठानि जायन्ते तत्र वर्णान् समालिखेत् ॥१८८१॥

तथा च ज्ञानार्णवे–

वर्त्तुलं रचयेद् देवि कूर्माकारं सुलोचने ।
तन्मध्ये नवकोष्ठानि कृत्वा वर्णान् समालिखेत् ॥१८८२॥
पूर्वकोष्ठं समारभ्य स्वरयुग्मक्रमेण हि ।
अवर्गः कथितो देवि कवर्गादिकसप्तकम् ॥१८८३॥
पूर्वादिक्रमतो देवि कुबेरान्तं लिखेत्ततः ।
लक्षवर्णौ शम्भुकोणे विलिखेत् कूर्मसंज्ञके ॥१८८४॥
क्षेत्रपाला नवैतेषु दीपेशा नवकोष्ठके ।
अमृतो वृषभः शैलराजो वासुकिरर्थकृत् ॥१८८५॥
शक्तिपूः पद्मयोनिश्च महाशंखश्च ते नव ।
च्छायाच्छत्रगणोपेतान् मध्यात् पूर्वादितो यजेत् ॥१८८६॥

यस्मिन् कोष्ठे क्षेत्रनाम मुखं तद् विद्धि पार्वति ।
ततः पार्श्वद्वये हस्तौ तदधः कुक्षिमीरितम् ॥१८८७॥
ततः पादद्वयं विद्धि तदन्ते पुच्छमीश्वरि ।
मुखस्थो लभते सिद्धिं करस्थः क्लेशसञ्चयम् ॥१८८८॥
उदासीनः कुक्षिसंस्थः पादयो र्हानिमाप्नुयात् ।
पुच्छस्थः पीड्यते मन्त्री बन्धनोच्चाटनादिभिः ॥१८८९॥
तस्मान्मुखं समाश्रित्य सर्वकर्म समारभेत् ।
तदभावे करं वापि कूर्मस्यान्यं न संश्रयेत् ॥१८९०॥
स्थानसाधकयो र्नाम्नोररित्वं यत्र विद्यते ।
तदक्षशास्त्रतो ज्ञात्वा तत्तत् स्थानं परित्यजेत् ॥१८९१॥
अरित्वमद्वयस्योक्तं गकारेण परस्परम् ।
ऋद्वयस्य ठकारेण ठकारस्य च ऋद्वयम् ॥१८९२॥
लृद्वयस्य पकारेण पकारस्यापि लृद्वयम् ।
ओद्वयस्य षकारेण षकारस्यौयुगेन च ॥१८९३॥
जकारस्य टकारेण झकारस्य खकारतः ।
डकारस्य तकारेण फकारस्य धकारतः ॥१८९४॥
भकारस्य रकारेण यकारस्य सकारतः ।
अरित्वमेषां वर्णानामन्येषां मित्रभावना ।
कूर्मचक्रे रिपुस्थानं साधको यत्नतस्त्यजेत् ॥१८९५॥

अथोदाहरणं तत्रैव–

यथा गर्गस्य वैरं स्यादट्टहासं महत्पुरम् ।
गयामरेश्वरस्यैवमाकाराद्येषु योजयेत् ।
ऋजुभद्रस्य ठक्कारं लृतकस्यापि पद्मकम् ॥१८९६॥
ओड्डियाणं षण्मुखस्य औड्रं षड्गुणकस्य च ।
जयन्ती टंकणस्यारिः खंधारं झंझणस्य च ॥१८९७॥
डाकदेवस्य ताराख्यं धर्माख्यं फंभकस्य च ।
भद्रस्य रम्यकं सोमनगरं यज्ञशर्मणः ॥१८९८॥

एवं क्रमेण संशोध्य वैरिस्थानं त्यजेद् बुधः ।
तेषामाद्यान्वितं वर्णं पूर्वमार्गेषु योजयेत् ॥१८९९॥

यदि तद् व्यंजनारूढं तदाद्यं पीठवर्जितम् ।
नामाक्षराणि सर्वाणि पीठयुक्तानि वर्जयेत् ॥१९००॥

तदादिकानि मार्गेण तद् गृहीत्वा स्वरं त्यजेत् ।
ग्रामनामाक्षरेष्वादिमध्यान्तार्णान् विहाय च ॥१९०१॥
द्वितीयमक्षरं यत्र कोष्ठे तिष्ठति तन्मुखम् । इति ।

अन्यत्रापि-

तत्तन्नामद्वितीयार्णो यत्र तिष्ठति तन्मुखम् ॥१९०२॥ इति ।

इदं तु स्वरादिनामविषयम् ।

नामादौ संयोगाक्षरे सति विशेषमाह-

अक्षरत्रितयं यत्र ग्रामनामादिषु क्वचित् ।
स्वरो मध्याक्षरारूढो यत्र तिष्ठति तन्मुखम् ॥१९०३॥

भवतो यदि वर्णौ द्वौ ग्रामनामादिषु स्फुटम् ।
आद्यस्वरो यत्र तिष्ठत्यदो वदनमिष्यते ॥१९०४॥

क्षेत्रसाधकमंत्राणामेकमेवाद्यमक्षरम् ।
यदि स्यात् स ध्रुवं मंत्रः सर्वसिद्धिफलप्रदः ॥१९०५॥

मोक्षार्थं वदने कुर्याद् दक्षिणे त्वभिचारकम् ।
श्रीकामः पश्चिमे भूत्वा उत्तरे शान्तिदो भवेत् ॥१९०६॥

ईशाने शत्रुनाशः स्यादाग्नेयः शत्रुदाहकः ।
नैऋते शत्रुभीतिः स्याद् वायव्ये तु पलायनम् ॥१९०७॥

कूर्मचक्रमिदं प्रोक्तं साधकानामभीष्टदम् ।
कूर्ममेवं परिज्ञाय दीपस्थानसमाश्रितः ॥१९०८॥

आसनं कल्पयेन्मंत्री यथायुक्तं विधानतः ।
आसनं सर्वथा कार्यमभावे मानसं चरेत् ॥१९०९॥

तदाह गौरीयामले-

सलिलस्थो यदा कुर्याज्जपं पूजां च साधकः ।
कल्पयित्वाऽऽसनं सम्यगासीनो नोत्थितश्चरेत् ॥१९१०॥

रक्तासनोपविष्टस्तु लाक्षारुणगृहे स्थितः ।
मनःकल्पितरक्तो वा साधकः स्थिरमानसः ॥१६११॥

तृणवल्कलवस्त्राणां सिंहव्याघ्रमृगाजिनम् ।
कल्पयेदासनं धीमान्न च कुर्यादनास्तृते ॥१६१२॥

कौशेयं वाथ चार्मं वा चैलं तार्णमथापि वा ।
शणजं पत्रजं वापि तूलं कम्बलदारुजौ ॥
कृष्णाजिनं भवेत् तद्वत् सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥१६१३॥

कृष्णाजिनं गृहस्थातिरिक्तसाधकपरम् ।

तथा च ब्रह्मसंहितायाम्–

नादीक्षितो विशेद् यत्तु कृष्णसाराजिने गृही ।
विशेद् यति र्वनस्थश्च ब्रह्मचारी तथा मुने ॥१६१४॥

वस्त्रासने व्याधिनाशः कम्बले दुःखमोचनम् ।

यत्तु-'वस्त्रासनं जपध्यानतया हानिकरं मतम् ।' तच्च केवलं वस्त्रमात्रम् ।

सर्वसिद्ध्यै व्याघ्रचर्म ज्ञानसिद्ध्यै मृगाजिनम् ॥१६१५॥

वस्त्रासनं रोगहरं वेत्रजं श्रीविवर्धनम् ।
कौशेयं पौष्टिकं प्रोक्तं काम्बलं दुःखमोचनम् ॥१६१६॥

अभिचारे कृष्णवर्णमारक्तं वश्यकर्मणि ।
शांतिके धवलं प्रोक्तं चित्रकं सर्वकर्मसु ॥१६१७॥

स्तम्भने गजचर्म स्यान्मारणे माहिषं तथा ।
मेषीचर्म तथोच्चाटे खड्गजं वश्यकर्मणि ॥१६१८॥

विद्वेषे जाम्बुकं प्रोक्तं भवेद् गोचर्मशान्तिके ।
वंशासने च दारिद्र्यं, दौर्भाग्यं दारुकासने ॥१६१६॥

धरण्यां दुःखसंभूतिः, पाषाणे व्याधिसंभवः ।
तृणासने यशोहानिः, पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
इष्टिकायामथाधिः स्यादेतत् साधारणे जपे ॥१६२०॥

अतश्च तन्त्रे–

वंशाश्मधरणीदारुतृणवल्कलनिर्मितम् ।
वर्जयेदासनं धीमान् दारिद्र्यव्याधिदुःखदम् ॥१६२१॥

अन्यच्च–

आम्रनिम्बकदम्बानामासनं सर्वनाशनम् ।
वकुलं किंशुकञ्चैव पनसं च विभीतकम् ।
वर्जयेदासनं मन्त्री दारिद्रयव्याधिदुःखदम् ॥१६२२॥

शस्तं तिलकजं दार्वं रक्तचन्दनजं तथा ।
गामरीनिर्मितं शस्तमन्यद् दार्वं विवर्जयेत् ॥१६२३॥

चतुर्विंशांगुलं दीर्घमेवं काष्ठासनं भवेत् ।
षोडशांगुलविस्तीर्णमुच्छ्रायं चतुरंगुलम् ॥१६२४॥

काम्बलं चार्मजं शैलं महामायाप्रपूजने ।
प्रशस्तमासनं प्रोक्तं कामाख्यायास्तथैव च ॥१६२५॥

त्रिपुराया रक्तवस्त्रं विष्णोश्चैव कुशासनम् ।
शैवे व्याघ्राजिनं शस्तं रोमजं सर्वतुष्टिकृत् ॥१६२६॥

कुशाजिनाम्बरेणाढ्यं चतुरस्रं समन्ततः ।
एकहस्तं द्विहस्तं वा चतुरंगुलमुच्छ्रितम् ॥१६२७॥

आसनं च तथा कुर्यान्नातिनीचं न चोच्छ्रितम् ।
तत्र स्थित्वा जपेन्मंत्री बद्धपद्मासनादिकः ॥१६२८॥

पद्मासनं स्वस्तिकाख्यं भद्रं वज्रासनं तथा ।
वीरासनमिति प्रोक्तं क्रमादासनपञ्चकम् ॥१६२९॥

सव्यपादमुपादाय दक्षोपरि न्यसेत्ततः ।
तथैव दक्षिणं सव्यस्योपरिष्टाद् विधानवित् ॥१६३०॥

पद्मासनमिति प्रोक्तं जपकर्मसु शस्यते ।
जानुनोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ॥१६३१॥

ऋजुकायो विशेन्मन्त्री स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते ।
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥१६३२॥

पार्श्वे पादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम् ॥१६३३॥

मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यगुल्फं तथोपरि ।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य वज्रासनमितीरितम् ॥१९३४॥

एकपादमधः कृत्वा विन्यस्योरौ तथेतरम् ।
ऋजुकायो विशेन्मन्त्री वीरासनमितीरितम् ॥१९३५॥

ऊर्ध्वपादस्थितो देवि ! शिरोऽधः परिकीर्तितः ।
सर्वासनानां श्रेष्ठोऽयं देवैरपि सुदुष्करः ॥१९३६॥

न युक्तमन्यथा पाददर्शनं सुरपूजने ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं पूजनं स्मृतम् ॥१९३७॥

नित्यार्चनरतो मन्त्री कुर्यान्नैमित्तिकार्चनम् ।
नैमित्तिकार्चने सिद्धे कुर्यात् काम्यमतन्द्रितः ॥१९३८॥

यत् कुर्यादनिशं नित्यं नैमित्तिकमतःपरम् ।
पर्वोत्सवादिकं चान्यत् काम्यं कामकृतं हि यत् ॥१९३९॥

शिवपूजा दिवा शस्ता शक्तिपूजा निशास्वपि ।
दिवारूपी शिवः साक्षान्निशा स्यात् शक्तिरूपिणी ॥१९४०॥

शिवेत्युपलक्षणं पुंदेवतामात्रपरम् ।

शक्तिपूजायां विशेषो यामले–

रात्रौ पूजां सदा कुर्यात्तत्र सिद्धि र्न संशयः ।
सकला रजनीपूजा दिवापूजा च निष्फला ॥१९४१॥

शक्तिमन्त्रं जपेद् रात्रौ दिवापि पूजनं शुचिः ।
विशेषतो निशीथे तु तत्रातिफलदो जपः ॥१९४२॥

बृहन्नीलातन्त्रे–

निशायां योऽर्चयेत् कालीं तारां च भैरवीं तथा ।
आसमुद्रक्षितीशानां श्रेष्ठो भवति साधकः ॥१९४३॥

अन्यत्रापि–

मातङ्गीं च तथा बालां चामुण्डां छिन्नमस्तकाम् ।
भद्रकालीं तथा दुर्गां जयदुर्गां तथैव च ॥१९४४॥

आसां जपश्च पूजा च रात्रौ चेत् क्रियते यदा ।
भुक्त्वा भोगानशेषांस्तु सोऽवश्यं याति रुद्रताम् ॥१९४५॥

समयातन्त्रे–

दिवा प्रपूजनं देवि यथोक्तफलदं भवेत् ।
पूजनं लक्षगुणितं निशि नीरजलोचने ! ॥१९४६॥

अर्धरात्रात् परं यच्च मुहूर्त्तद्वयमेव हि ।
सा महारात्रिरुद्दिष्टा कृत्वा तत्राक्षयो भवेत् ॥१९४७॥

गते तु प्रथमे यामे तृतीयप्रहरावधि ।
निशायां च प्रजप्तव्यं रात्रिशेषे जपेन्न हि ।
प्रकटे शक्तिमन्त्रे तु हानिः स्यादुत्तरोत्तरम् ॥१९४८॥

शिवधर्मोत्तरे–

सर्वेषामेव यज्ञानां जपयज्ञो विशिष्यते ।
जपेन देवता शीघ्रं प्रत्यक्षमुपयाति हि ॥१९४९॥

प्रसन्ना विपुलान् भोगान् दद्यान्मुक्तिं च शाश्वतीम् ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च ग्रहाः सर्पाश्च भीषणाः ।
जापिनं नोपसर्पन्ति भयभीताः समन्ततः ॥१९५०॥

अन्यत्रापि–

यावन्तः कर्मयज्ञाः स्युः प्रदिष्टानि तपांसि च ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥१९५१॥

जपः स्यादक्षरावृत्ति र्मानसोपांशुवाचिकैः ।
धिया यदक्षरश्रेणीं वर्णस्वरपदात्मिकाम् ॥१९५२॥

उच्चरेदर्थमुद्दिश्य मानसः स जपः स्मृतः ।
जिह्वोऽष्ठौ चालयेत् किंचित् देवतागतमानसः ।
किंचित् श्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः ॥१९५३॥

विशुद्धेश्वरे–

निजकर्णागोचरस्तु मानसः कथितो बुधैः ।
उपांशु निजकर्णस्य गोचरः परिकीर्तितः ॥१९५४॥

निगदस्तु जनै र्वेद्यस्त्रिविधो जप ईरितः ।
वाचा समुच्चरेन्मन्त्रं वाचिकः स जपः स्मृतः ॥१९५५॥
माहात्म्यं वाचिकस्यैव जपयज्ञस्य कीर्तितम् ।
तस्मात् शतगुणोपांशुः सहस्रो मानसः स्मृतः ॥१९५६॥
मानसः सिद्धिकामानां पुष्टिकामैरुपांशुकः ।
वाचिको मारणे चैव प्रशस्तो जप ईरितः ॥१९५७॥
जिह्वाजपः स विज्ञेयः केवलं जिह्वया बुधैः ।
मनः संहृत्य विषयान् मन्त्रार्थगतमानसः ॥१९५८॥
मन्त्रमुच्चारयेन्मन्त्री ईषदोष्ठं प्रचालयेत् ।
संध्यायन्नक्षरश्रेणीं वर्णात् वर्णं पदात् पदम् ॥१९५९॥
ध्यानमन्त्रसमायुक्तः शीघ्रं सिद्ध्यति साधकः ।
अतिह्रस्वो व्याधिहेतुरतिदीर्घो वसुक्षयः ॥१९६०॥
अक्षराक्षरसंयुक्तं जपेन्मौक्तिकहारवत् ।
शनैः शनैरविस्पष्टं न द्रुतं न विलम्बितम् ।
क्रमेणोच्चारयेद् वर्णानाद्यन्तक्रमयोगतः ॥१९६१॥
मनसा यः पठेत् स्तोत्रं वचसा यो मनुं जपेत् ।
उभयं विफलं देवि भिन्नभाण्डोदकं यथा ॥१९६२॥
यस्य यस्य च मन्त्रस्य उद्दिष्टा या च देवता ।
चिन्तयित्वा तदाकारं मनसा जपमाचरेत्
भावनादक्षरश्रेण्या ब्रह्म साक्षान्न संशयः ॥१९६३॥
अक्षरे दूषणं नास्ति शपादि कमलानने ।
दूषणं यत् कृतं देवि हृदये भावय प्रिये ॥१९६४॥
गोपनार्थं हि देवानां शिवः शपादिकं व्यधात् ।
पामरा क्लेशयिष्यन्ति देवानर्थपराः प्रिये ॥१९६५॥
शप्तं न हि शिवे ! विद्धि कीलितं न हि सुन्दरि ।
सन्देहं त्यज देवेशि मन्त्रमात्रे ममाज्ञया ॥
जपात् सिद्धि र्जपात् सिद्धि र्जपात् सिद्धि र्विधानतः ॥१९६६॥

कुलार्णवे-

तन्निष्ठस्तद्गतप्राणस्तच्चित्तस्तत्परायणः ।
तत्पदार्थानुसन्धानं कुर्वन्मन्त्रं जपेत् प्रिये ॥१९६७॥

रुद्रयामले-

कथं मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति मन्त्रार्थज्ञानिनां प्रिये

मन्त्रार्थं मन्त्रदेवतयोरभेदज्ञानम् ।

तच्च यामले-

मन्त्रार्थं देवतारूपं चिन्तनं परमेश्वरि ।
मन्त्रात्मकस्य देहस्य मन्त्रवाच्येन देवता ॥१९६८॥

वाच्यवाचकभावेन अभेदं मन्त्रदेवयोः ।
देवता वाच्य इत्युक्तो मन्त्रो हि वाचकः स्मृतः ॥१९६९॥

वाचके विधिना ज्ञाते वाच्य एव प्रसीदति ।
ध्यानेन परमेशानि यद्रूपं समुपस्थितम् ॥१९७०॥

तदेव विद्धि मन्त्रार्थं येन सिद्ध्यति वै मनुः ।
मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः ॥१९७१॥

शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धि र्न जायते ।
मन्त्राश्चैतन्यसहिताः सर्वसिद्धिकराः स्मृताः ॥१९७२॥

चैतन्यरहिता मन्त्राः केवलं वर्णरूपिणः ।
फलं नैव प्रयच्छन्ति कल्पकोटिशतैरपि ॥१९७३॥

लुप्तबीजा भवन्मन्त्राः न दास्यन्ति फलं प्रिये ।
स्थानस्था वरदा मन्त्राः ध्यानस्थाश्च वरप्रदाः ॥१९७४॥

ध्यानस्थानविनिर्मुक्ताः सुसिद्धा अपि वैरिणः ।
मन्त्रस्थानं प्रवक्ष्यामि सावधानाऽवधारय ॥१९७५॥

सकलं निष्कलं सूक्ष्मं तथा सकलनिष्कलम् ।
कलाभिन्नं कलातीतं षोढा मन्त्रं शिवोऽब्रवीत् १९७६॥

सकलं ब्रह्मरन्ध्रस्थं तदधो विद्धि निष्कलम् ।
मानसं सूक्ष्मनामानं हृत्स्थं सकलनिष्कलम् ॥१९७७॥

बिन्दुस्थितं कलाभिन्नं कलातीतं तदूर्ध्वतः ।
षट्स्थानसंस्थिता मन्त्राः स्थानस्थाः परिकीर्तिताः ॥१९७८॥

एवं स्थानं निगदितं चैतन्यस्य क्रमं शृणु ।
चैतन्यरहितं मन्त्रं यो जपेत् स तु पापकृत् ॥१९७९॥

चैतन्यं सर्वमन्त्राणां शृणुष्व कमलानने ।
सौषुम्णाध्वन्युच्चरिता प्रभुत्वं प्राप्नुवन्ति ते ॥१९८०॥

मन्त्राक्षराणि चिच्छक्तौ प्रोतानि परिभावयेत् ।
सा चैव परमव्योम्नि परमानन्दबृंहिते ॥१९८१॥

दर्शयत्यात्मसद्भावं पूजाहोमादिभि र्विना ।
इत्येतत् कथितं देवि मन्त्रचैतन्यमुत्तमम् ॥१९८२॥

सौरे गाणपते शैवे शक्तिमन्त्रेऽथ वैष्णवे ।
मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रामुपाचरेत् ॥१९८३॥

उपविश्यासने मन्त्री प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
षट्चक्रं चिन्तयेद् देवि प्राणायामपुरःसरः ॥१९८४॥

पार्ष्णिभागात् सुसम्पीड्य योनिमार्गं तथा गुदम् ।
अपानमूलमाकृष्य मूलबन्धं विधाय च ॥१९८५॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम् ।
मणिपूरं दशदलं द्वादशारमनाहतम् ॥१९८६॥

विशुद्धं षोडशदलं भ्रूमध्यं द्विदलं तथा ।
सहस्रारं ब्रह्मरन्ध्रं सदाशिवपुरं स्मृतम् ॥१९८७॥

शिवशब्देन स्वोपास्यदेवस्थानम् ।

आधारकन्दमध्यस्थं त्रिकोणमतिसुन्दरम् ।
त्रिकोणमध्ये देवेशि कामराजं सुलक्षणम् ॥१९८८॥

कामबीजोद्भवं तत्र स्वयंभूलिङ्गमुत्तमम् ।
तस्योपरि पुन र्ध्यायेत् चित्कलां हंसमाश्रिताम् ॥१९८९॥

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिताम् ।
चित्कलां कुण्डलिनीं च तेजोरूपां जगन्मयीम् ॥१९९०॥

मन्त्रस्वरूपिणीं सर्वदेवरूपप्रकाशिनीम् ।
हंसेन मनुनोत्थाप्य भित्त्वा चक्राणि देशिकः ॥१९९१॥

ब्रह्मरन्ध्रं नयेद् योगी सुषुम्णावर्त्मना ततः ।
सदाशिवेन संयोज्य सामरस्यं विभावयेत् ॥१९९२॥

ततस्तु परमेशानि अक्षमालां विचिन्तयेत् ।
विचित्रबिसतन्त्वाभा ब्रह्मनाडीगतान्तरा ॥१९९३॥

तया संग्रथितां ध्यायेत् साक्षाज्जाग्रत्स्वरूपिणीम् ।
अनुलोमविलोमेन मन्त्रवर्णविभेदतः ॥१९९४॥

मन्त्रेणान्तरितान् वर्णान् वर्णेनान्तरितान् मनून् ।
जपेल्लयपरो धीमान् यावत् चित्तं समासते ॥१९९५॥

सामरस्यामृतं तत्र जायते जतुसन्निभम् ।
तेनामृतेन देवेशि तर्पयेत् परदेवताम् ॥१९९६॥

षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया ।
आनयेत् तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः ॥१९९७॥

योनिप्रबन्धनाद् देवि योनिमुद्रेयमीरिता ।
तव स्नेहान्महेशानि कथिता देवदुर्लभा ॥१९९८॥

शृणु मन्त्रशिखां देवि मन्त्रचैतन्यरूपिणीम् ।
येन विज्ञानमात्रेण क्षिप्रं सिद्ध्यति मन्त्रराट् ॥१९९९॥

मूलकन्दे तु या देवी भुजगाकाररूपिणी ।
तद्भ्रमावर्त्तवातो यः प्राण इत्युच्यते बुधैः ॥२०००॥

झिल्ली चाव्यक्तमधुरा कूजन्ती सततोत्थिता ।
गच्छन्ती ब्रह्मरन्ध्रं सा प्रविशन्ती स्वकेतनम् ॥२००१॥

यातायातक्रमेणैव कुर्यात्तत्र मनोलयम् ।
तेन मन्त्रशिखा याता सर्वमन्त्रप्रदीपिका ॥२००२॥

तमःपूर्णगृहे यद्वन्न किञ्चित् प्रतिभासते ।
शिखाहीनस्तथा मन्त्रो न सिद्ध्यति कदाचन ॥२००३॥

शिखोपदेशः सर्वत्र गोपितः परमेश्वरि ।
तस्मात् त्वयापि गिरिजे गोपनीयः प्रयत्नतः ॥२००४॥

अथो संकेतदशकं जपयज्ञविधौ शृणु ।
यमकृत्वा नरो देवि सिद्धिं प्राप्नोति वै जपात् ॥२००५॥

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः ।
न सिद्ध्यति वरारोहे कल्पकोटिजपादपि ॥२००६॥

संकेतदशकं विद्धि सूतकद्वयमोचनम् ।
ततश्च कुल्लुकां सेतुं महासेतुं वरानने ॥२००७॥

निर्वाणं मन्त्रचैतन्यं मन्त्राणां च नवांकदाम् ।
वासनाश्च मनूनां हि मन्त्रतत्त्वविमर्शनम् ॥२००८॥

सामरस्यं च मन्त्राणां संकेतदशकं त्विदम् ।
मुखशुद्धिस्तथैवात्र कीर्तितैकादशोऽपरः ॥२००९॥

एतज्ज्ञानं विना भद्रे जपयज्ञं करोति यः ।
वृथा श्रमेण किं तस्य सिद्धि र्नैव च नैव च ॥२०१०॥

शाक्ते सौरे तथा शैवे वैष्णवेऽन्ये तथा मनौ ।
संकेतदश संयुक्तो जपन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१०११॥

तत्क्रमेणेह गिरिजे कथयामि समासतः ।
मन्त्रोच्चारणवेलायां सम्भवेज्जातसूतकम् ॥२०१२॥

समाप्तौ च तथा देवि सम्भवेन्मृतसूतकम् ।
सूतकद्वयसंयुक्तो यो मन्त्रः स न सिद्ध्यति ॥२०१३॥

तस्मात्तु परमेशानि सूतकद्वयमोचनम् ।
कृत्वा जपेद् वरारोहे मन्त्रं स्वाभीष्टसिद्धये ॥२०१४॥

प्रणवान्तरितं कृत्वा सप्तवारं जपेन्मनुम् ।
आदावन्ते भवेद् देवि सूतकद्वयवर्जितः ॥२०१५॥

सूतकद्वयसंत्यक्तो मन्त्रः सर्वसमृद्धिदः ।
चतुर्दशस्वरं पुण्यं दीर्घप्रणवमुच्यते ॥२०१६॥

तस्मात् सर्वत्र शूद्रस्तु दीर्घप्रणवयुग् जपेत् ।
कुल्लुकां शृणु देवेशि मन्त्रसिद्धिप्रदायिनीम् ॥२०१७॥

एनां जपेन्मूर्ध्नि देशे दशधा साधकोत्तमः ।
वाग्भवं पूर्वमुद्धृत्य मन्मथं तदनन्तरम् ॥२०१८॥

भृगुबीजं समुद्धृत्य भृगुबीजयुतं कुरु ।
बालात्रिपुरसुन्दर्याः कुल्लुकेयं महेश्वरि ॥२०१९॥

कामधेनुं समुद्धृत्य लोकवन्द्यां ततः परम् ।
वामनीयकबीजं तु पुनरुद्धृत्य सुन्दरि ॥२०२०॥

इदं बीजत्रयं भद्रे भैरवीकुल्लुका मता ।
तारायाः कुल्लुका देवि महानीलसरस्वती ॥२०२१॥

पञ्चाक्षरी कालिकायास्तदुद्धारं शृणु प्रिये ।
काली कूर्चं वधूमायाफडन्ता परमेश्वरि ॥२०२२॥

छिन्नायाश्च महेशानि कुल्लुकाष्टाक्षरी मता ।
वज्रवैरोचनीये च ततो वर्म प्रकीर्तितम् ॥२०२३॥

सम्पत्प्रदायाः प्रथमं भैरव्याः कुल्लुका मता ।
श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्याः कुल्लुका द्वादशाक्षरी ॥२०२४॥

वाग्भवं प्रथमं बीजं कामराजमनन्तरम् ।
लज्जाबीजमथोच्चार्य त्रिपुरेति प्रकीर्तयेत् ॥२०२५॥

ततः स्याद् भगवतिपदमन्ते ठद्वयमुद्धरेत् ।
मायाबीजं च भुवना कुल्लुका परिकीर्तिता ॥२०२६॥

सरस्वत्या वाग्भवं तु आनन्दाया अनङ्गकम् ।
आद्यन्ते परमेशानि कूर्चबीजद्वयं कुरु ।
महिषघ्न्यास्तदा देवि ! कुल्लुका भवति प्रिये ॥२०२७॥

तथान्यासां तु विद्यानां सर्वासां च महेश्वरि ।
मायाबीजं च देवेशि कुल्लुका परिकीर्तिता ॥२०२८॥
श्रीकृष्णस्य च सम्प्रोक्ता कुल्लुका कामबीजकम् ।
श्रीरामे हनुमन्मन्त्रो द्वादशार्णश्च कुल्लुका ॥२०२९॥
वायुसूनोश्च रामस्य मन्त्रराजः षडक्षरः ।
नमो नारायणायेति प्रणवाद्या च कुल्लुका ॥२०३०॥
विष्णुमन्त्रे द्वादशार्णो सः स्यादष्टाक्षरे मनौ ।
शिवे प्रासादबीजं तु मञ्जुघोषे षडक्षरम् ॥२०३१॥
शरभे तु नृसिंहस्य नृसिंहे शरभस्य च ।
गणेशे कुल्लुका प्रोक्ता बीजं तस्यैव भामिनि ॥२०३२॥
सावित्री सूर्यमन्त्रे तु कुल्लुका परिकीर्तिता ।
अपराणां च देवानां मन्त्रमात्रं प्रकीर्तितम् ॥२०३३॥
आदावन्ते जपस्याथ कुल्लुकामनिशं शिवे ।
मूर्ध्नि हस्तं समाधाय जपेदेनामतन्द्रितः ॥२०३४॥
अज्ञात्वा कुल्लुकां देवि महामन्त्रं जपेत्तु यः ।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्या यशो धनम् ॥२०३५॥
अथातः सम्प्रवक्ष्यामि तच्छृणुस्व प्रियंवदे ।
यस्याज्ञानेन विफलं जपस्तोत्रादिकं भवेत् ॥२०३६॥
जपादौ च जपान्ते च दशकृत्वः सदा जपेत् ।
विप्राणां प्रणवः सेतुः क्षत्रियाणां तथैव च ।
वैश्यानां तु फडर्णः स्यान्माया शूद्रस्य कथ्यते ॥२०३७॥
स्रवत्यरुद्धः पूर्वं हि परस्ताच्च विशीर्यते ।
निःसेतुः सलिलं यद्वत् क्षणान्निम्नं प्रसर्पति ॥२०३८॥
मन्त्रस्तथैव निःसेतुः क्षणात् क्षरति जापिनम् ।
अजप्त्वा हृदि देवेशि यो वै मन्त्रं समुच्चरेत् ॥२०३९॥
न तस्य जायते सिद्धिः कालेनापि महेश्वरि ।
आदौ जपेन्महासेतुं ततः सेतुं ततो मनुम् ॥२०४०॥

महासेतुश्च देवेशि सुन्दर्या भुवनेश्वरी ।
कालिकायाः स्वबीजं तु तारायाः कूर्चमुच्यते ॥२०४१॥

अन्यासां च वधूबीजं गोपालेऽनङ्गबीजकम् ।
ग्लौं बीजं गजवक्त्रे स्यान्नारसिंहे नृसिंहकम् ॥२०४२॥

श्रीरामे रामबीजं च शिवे प्रासादमम्बिके ।
सूर्यादौ भुवनेशीति महासेतु वरानने ॥२०४३॥

महासेतुं विना देवि न जप्तव्यं कदाचन ।
सेतुविद्या महेशानि साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपिणी ॥२०४४॥

पार्श्वयोः सेतुमादाय जपकर्म समाचरेत् ।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सुन्दर्याः सेतुमुत्तमम् ॥२०४५॥

मायाबीजं समुद्धृत्य सौभाग्यं च ततः परम् ।
पुनर्मायां समुद्धृत्य विद्येयं त्र्यक्षरी परा ॥२०४६॥

सुन्दरीविषये सेतुः कथितः परमेश्वरि ।
अथ वक्ष्ये महेशानि भैरव्याः सेतुमुत्तमम् ॥२०४७॥

आकाशबीजमुद्धृत्य सकारं च ततः परम् ।
औदर्यसंयुतं कृत्वा बिन्द्वर्धं संयुतं कुरु ॥२०४८॥

इयं विद्या वरारोहे भैरव्याः सेतुरूपिणी ।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य हृल्लेखां तदनन्तरम् ॥२०४९॥

एषा च द्व्यक्षरी विद्या तारायाः सेतुरुच्यते ।
ऐश्वर्यं बीजमुद्धृत्य बिन्द्वर्धसंयुतं कुरु ॥२०५०॥

कूर्चबीजं ततो देवि पुनरैश्वर्यमुद्धरेत् ।
सेतुरेषो महेशानि श्यामायाः परिकीर्तितः ॥२०५१॥

भुवनायाश्च प्रणवं हृल्लेखां तदनन्तरम् ।
ततश्च परमेशानि प्रणवद्वयमुद्धरेत् ।
भुवनेशीं वह्निजायां सर्वसेतौ नियोजयेत् ॥२०५२॥

अथवा देवदेवीषु प्रणवं सेतुरूपिणम् ।
सर्वेषां शूद्रजातीनामौकारः सेतुरुच्यते ॥२०५३॥

यत्र यत्र विनिर्दिष्टं सेतुमन्त्रं शुचिस्मिते ।
तन्मन्त्रं त्रिगुणं कृत्वा सेतुमन्त्रं कुरु प्रिये ॥२०५४॥
सेतुः स्यात् कवचादीनां मन्त्रत्वेन महेश्वरि ।
सेतुं विना महेशानि कवचादीन् पठेच्च यः ॥२०५५॥
स भक्ष्यो जायते देवि योगिनीनां शुचिस्मिते ।
वैष्णवे गाणपत्ये च शैवे शाक्ते महेश्वरि ।
आदावन्ते महासेतुं दत्त्वा स्वकवचं पठेत् ॥२०५६॥
अथ वक्ष्यामि निर्वाणं महासिद्धिकरं शिवे ।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य मातृकार्णान् समुच्चरेत् ॥२०५७॥
ततो मूलं महेशानि ततो वाग्भवमुच्चरेत् ।
मातृकार्णान् समुच्चार्य पुनः प्रणवमुच्चरेत् । ॥२०५८॥ इति श्रीकुले

कालीकुले तु–

प्रणवं मातृकां कूर्चं मायां लक्ष्मीं ततो मनुम् ।
प्रणवं मातृकां कूर्चं मायां लक्ष्मीं च सप्तधा ।
एवं पुटितमन्त्रं तु प्रजपेन्मणिपूरके ॥२०५९॥
अयं निर्वाण उदितः साक्षान्निर्वाणदायकः ।
चैतन्यं संप्रवक्ष्यामि मन्त्राणां परमेश्वरि ॥२०६०॥
हृदयेऽष्टदलं चिन्त्य तन्मध्ये मूलदेवताम् ।
ध्यानोक्तरूपां सञ्चिन्त्य मानसैः पूज्य तां नमेत् ॥२०६१॥
आज्ञामादाय देवेशि मूलाधारं ततो यजेत् ।
तत्रस्थां परमां देवीं कुण्डलीं मन्त्रमातरम् ॥२०६२॥
गत्वोत्थाप्य स्वयं गच्छेद् ब्रह्मरन्ध्रे तया सह ।
कुण्डलिन्या समाश्लिष्टं पूज्यपादं प्रणम्य च ॥२०६३॥
ब्रह्मरन्ध्रं समासाद्य संविशेत् साधकोत्तमः ।
ब्रह्मरन्ध्रगतान् ताँस्तान् मत्वा साधकसत्तमः ॥२०६४॥
ब्रह्मनिस्पन्दनिर्धूतान्यक्षराणि मनोः प्रिये ।
प्रक्षालितानि मत्वा तु चिच्छक्तौ ग्रथितानि वै ॥२०६५॥

सहस्रदलतो मूलं मूलादाब्रह्मरन्ध्रकम् ।
सुषुम्णामध्यगान्येव ध्यात्वा सप्तावृतीर्नरः २०६६॥

जपेत् स्वस्थमना बुद्धचा गुरुमण्डलगः सुधीः ।
अनेन क्रमयोगेन मन्त्रश्चैतन्यगो भवेत् ॥२०६७॥

नवाङ्कनं तु मन्त्राणां संकेतगहनं शिवे ।
ज्ञेयं पूज्यमुखाम्भोजात् लिखितुं नैव शक्यते ॥२०६८॥

देवताभेदतो नानामन्त्रास्तेषां तु वासनाः ।
अर्थाः श्रीनाथतो बोध्याः सर्वसाधारणं शृणु ॥२०६९॥

उच्यते देवदेवेशि मन्त्रतत्त्वविवेचनम् ।
यद् ज्ञात्वा साधकश्रेष्ठो मन्त्रतत्त्वमवाप्नुयात् ॥२०७०॥

यतोऽक्षराद् यदुत्पन्नं तत्त्वं तत्त्वनिभाक्षरम् ।
भूतशुद्धिविधौ प्रोक्तं तादृक् ध्येयं मनोरमे ॥२०७१॥

तेजोरूपास्ततो वर्णा विभाव्यास्तदनु प्रिये ।
तत्तेजोभिः समुद्भूतं स्वेष्टदेवाकृतिं स्मरेत् ॥२०७२॥

एवं मन्त्रं दशावृत्त्या जपादौ भावयेत् प्रिये ।
इति ते कथितं देवि मन्त्रतत्त्वविवेचनम् ।
यत् कृत्वा मन्त्रविद् देवि लभते मन्त्ररूपताम् ॥॥२०७३॥

अथोच्यते महेशानि सामरस्यं मनोः शिवे ।
यद् विधाय नरा यान्ति कैवल्यपदमुत्तमम् ॥२०७४॥

उपास्य देवताकारं प्रथमं वर्णमम्बिके ॥२०७५॥

ध्यात्वा तेजोमयो भूत्वा विचिन्तेदग्रिमाक्षरम् ।
द्वितीयमपि चार्वङ्गि ! स्वेष्टरूपं विभावयेत् ॥२०७६॥

तेजो भूत्वा ततो देवि प्रविशेदग्रिमाक्षरम् ।
एवमन्त्यान्त्यमबले भाव्यं साधकसत्तमैः ॥२०७७॥

तेजो भूत्वा समग्राणां वर्णानां वरवर्णिनि ! ।
प्रविष्टं निजदेहे तदिति मत्वा विशालधीः ॥२०७८॥

चिन्तयेद् देवताबीजाकारं देवि कलेवरम् ।
तदनन्तरतो भद्रे स्वकीयं विग्रहं पुनः ॥२०७९॥

स्वेष्टरूपसमानाभं ध्यात्वा साधकसत्तमः ।
अनुकूलं जपेन्मंत्रं तत्रेदं शृणु पार्वति ॥२०८०॥

अनेकमिहिराभासमुच्चारानुपदं शिवे ।
निःसरेत् प्रथमं कान्तेऽक्षरं स्वीयमुखाम्बुजात् ॥२०८१॥

एवमेव द्वितीयं च तृतीयं च चतुर्थकम् ।
अन्त्यावधि वरारोहे दासभावेन भामिनि ॥२०८२॥

भाव्यं जप्त्वा विशेषेण मन्त्रार्थगतचेतसा ।
मन्त्रास्ते स्वामिभावत्वं सामरस्यमिदं स्मृतम् ॥१०८३॥

कवचाभ्यां पुटीकृत्य मन्त्रार्थगतमानसः ।
मन्त्रमावर्तयेन्नित्यमचिराद् देवतामियात् ॥२०८४॥

इति ते कथितं देवि रहस्यातिरहस्यकम् ।
जननीजारवद् भद्रे ! नो वक्तव्यं कदाचन ॥२०८५॥

लोभान्मोहात् कामतश्च नाशिष्येषु विनिर्दिशेत् ।
देवताशापमाप्नोति दत्ते त्वनधिकारिणे ॥२०८६॥

लीनं स्यादुदके यद्वल्लवणं हि तथा गुरौ ।
शिष्यो लीनं भवेत् देवि सोऽधिकारी न चापरः ॥२०८७॥

मुखशोधनकं देवि वक्ष्ये शृणु समाहिता ।
यदकृत्वा महेशानि जपयागादिकं वृथा ॥२०८८॥

शाक्तो वा वैष्णवो वापि गाणपः सौर एव वा ।
शैवो वा त्वन्यभक्तो वा मुखशोधनमाचरेत् ।
मुखशोधनमात्रेण जिह्वाऽमृतमयी भवेत् ॥२०८९॥

अन्यथादूषिता जिह्वा मिथ्यासम्भाषणादिभिः।
भक्ष्याभक्ष्यैश्च कलहैरतः संशोधनं चरेत् ॥२०९०॥

दशवारजपेनास्य जिह्वाऽमृतमयी भवेत् ।
लक्ष्मीं च प्रणवं चैव त्रिधोच्चार्य महेश्वरि ॥२०९१॥

इदं षडक्षरं मन्त्रं सुन्दरीविषये स्मृतम् ।
वाग्भवं च तथा मायां वाग्भवं त्र्यक्षरीविधौ ॥२०६२॥

प्रणवं प्रेतबीजं च पुनः प्रणवमुद्धरेत् ।
त्र्यक्षरोऽयं समुद्दिष्टो भैरवीमुखशोधने ॥२०६३॥

कुन्तीत्रयं तथा तारत्रयं कुन्तीत्रयं तथा ।
एषा नवाक्षरी विद्या श्यामामुखविशोधने ॥२०६४॥

मायात्रयं महेशानि विद्धि तारास्यशोधने ।
वाग्भवत्रयमीशानि भुवनामुखशोधने ॥२०६५॥

अंकुशं च तथा वाणीमंकुशं त्र्यक्षरो मनुः ।
मातङ्गीप्रीतिजनकः कथितो मुखशोधनः ॥२०६६॥

वाग्भवं च तथा मायां वाग्भवं ङेयुतं तथा ।
दुर्गापदं वनं मायां वाग्भवद्वयमुच्चरेत् ॥२०६७॥

इयं दशाक्षरी विद्या दुर्गामुखविशोधिनी ।
प्रणवं च तथा लक्ष्मी धनदामुखशोधनः ॥२०६८॥

प्रणवद्वयगं धूं च प्रोक्तो धूमावतीविधौ ।
अन्यदेवेषु सर्वेषु देवीषु च वरानने ॥२०६९॥

दशधा प्रणवं चोक्त्वा मुखशोधनमाचरेत् ।
देवो यदि जपेन्मन्त्रमकृत्वा मुखशोधनम् ॥२१००॥

सर्वं तस्य वृथा देवि मन्त्रसिद्धि र्न जायते ।
अथान्यदपि किञ्चित् ते रहस्यं कथयामि ह ॥२१०१॥

जपकाले यदा मन्त्रो निद्रितो भवति प्रिये ।
तदा तद्बोधनं कर्म कृत्वा जपमथारभेत् ॥२१०२॥

शक्तिमन्त्रः सदा शेते दक्षनाड्यां निशासु च ।
पुंदेवमन्त्रो दिवसे शेते चन्द्रसमाश्रितः ॥२१०३॥

एषा ते कथिता देवि निद्राया लक्षणं प्रिये ।
प्रजपेद् यदि निद्रायां वृथा तस्य परिश्रमः ॥२१०४॥

अरण्यरोदनमिव तज्जपं हि भवेत् सति !।
तस्मात् कामकलाबीजपुटं मन्त्रं तदा जपेत् ॥२१०५॥

विनिद्रश्च भवेन्मन्त्रस्तत्क्षणादेव पार्वति ।
इयं कामकलायोनि र्नात्र कार्या विचारणा ॥२१०६॥

योनिमन्त्रं मनो दत्त्वा आद्यन्ते परमेश्वरि ।
सप्तवारं जपेन्मन्त्रं दीपिनीयमुदाहृता ॥२१०७॥

तुर्यस्वरं बिन्दुयुतं नादेन परिपूरितम् ।
एतत् कामकलामन्त्रं गुह्याद् गुह्यतरं शिवे ॥२१०८॥

एवं तु मन्त्रसंकेतमज्ञात्वा यः समाचरेत् ।
जपयज्ञं वृथा तस्य श्रमोऽनर्थाय कल्प्यते ॥२१०९॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे पुरश्चरणविधावासनजपसंकेतकथनं नाम द्वादशः पटलः ॥१२॥

त्रयोदशः पटलः ।

अथ पुरश्चरणम् ।

अगस्त्यसंहितायाम्–

अथ वक्ष्ये महादेवि पौरश्चरणिकं विधिम् ।
विना येन न सिद्धः स्यान्मन्त्रो वर्षशतैरपि ॥२११०॥

तत् पुरश्चरणं नाम मन्त्रसिध्यर्थमात्मनः ।
यथोक्तनियमं कृत्वा स्वकल्पोक्तजपस्य हि ।
करणं द्विजयागान्तं प्रोक्तं देशिकसत्तमैः ॥२१११॥ इति ।

तत्रादौ भक्ष्यादिनियमः गौतमीये–

पुरश्चरणकृन्मन्त्री भक्ष्याभक्ष्यं विवर्जयेत् ।
अन्यथा भोजनाद् दोषात् सिद्धिहानिः प्रजायते ॥२११२॥

शस्तान्नं च समश्नीयान्मत्रसिद्धिसमीहया ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शस्तान्नाशी भवेन्नरः ॥२११३॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

दधि क्षीरं घृतं गव्यमैक्षवं गुडवर्जितम् ।
तिलाश्चैव सितामुद्गाः कन्दः केमुकवर्जितः ॥२११४॥

नारिकेलफलं चैव कदली लवली तथा ।
आम्रमामलकं चैव पनसं च हरीतकी ॥२११५॥

तिंतिणी जीरकं चैव नागरङ्गकमेव च ।
अतैलपक्वं मुनयो हविष्यान्नं प्रचक्षते ॥२११६॥

व्रतान्तरप्रशस्तं च हविष्यं मन्यते बुधः ।
भुञ्जानो वा हविष्यान्नं शाकं यावकमेव वा ॥२११७॥

पयोमूलं फलं वापि यत्र यच्चोपलभ्यते ।
नेन्द्रियाणां यथा वृद्धिस्तथा भुञ्जीत साधकः ॥२११८॥

अन्यत्र विहितशाकान्ने यथा—

कलायकं गुनीवारा वास्तुकं हिलमोचिका ।
हैमन्तिकं सितास्विन्नं धान्यं मुद्गयवास्तिलाः ।
मूलं केमुकर्कीद्रूनां वर्जयन् विहितं परम् ॥२११९॥

यत्तु योगिनीतन्त्रे—

चिञ्चां च नालिकाशाकं कलायं लकुचं तथा ।
कदम्बं नारिकेलं च व्रते कूष्माण्डकं त्यजेत् ॥२१२०॥

इति तूपवासरूपव्रतान्तरे बोध्यम् ।

अवैष्णवमसभ्यं च यत् प्रशस्तं व्रतान्तरे ।
त्याज्यमेवात्र तत् सर्वं यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ॥२१२१॥ इति ।

अथ वर्ज्याणि—

वर्जयेन्मधुकं क्षारलवणं तैलमेव च ।
ताम्बूलं कांस्यपात्रं च दिवा भोजनमेव च ॥२१२२॥

मांसं च गृञ्जनं चापि वर्जयेन् नियमस्थितः ।

गृञ्जनमिति लहसुन इति प्रसिद्धः । यच्च राजनिघण्टौ-'गृञ्जनं'स्यात् रसोनक इति ।

माषाढकीमसूरांश्च कोद्रवांश्चणकानपि ॥२१२३॥

ताम्बूलं च द्विभुक्तं च दुःसंवासं प्रमत्तताम् ।
श्रुतिस्मृतिविरुद्धं च जपं रात्रौ च वर्जयेत् ॥२१२४॥
कौटिल्यं क्षौरमभ्यंगमनिवेदितभोजनम् ।
असङ्कल्पितकृत्यं च वर्जयेन्मर्दनादिकम् ॥२१२५॥
स्नायाच्च पञ्चगव्येन केवलाऽऽमलकेन वा ।
मन्त्रजप्तान्नपानीयैः स्नानाचमनभोजनम् ॥२१२६॥
कुर्याद् यथोक्तविधिना त्रिसन्ध्यं देवतार्चनम् ।
अपवित्रकरो नग्नः शिरसि प्रावृतोऽपि वा ।
प्रलपन् प्रजपेद् यावत् तावन्निष्फलमुच्यते ॥२१२७॥

कुलार्णवे–

यस्यान्नपानपुष्टाङ्गः कुरुते धर्मसञ्चयम् ।
अन्नदातुः फलस्यार्धं कर्तुरर्धं न संशयः ॥२१२८॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन परान्नं वर्जयेत् सुधीः ।
पुरश्चरणकाले तु सर्वकर्मसु शांभवि ! ॥२१२९॥
जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धि र्वरानने ॥२१३०॥

परान्नं भिक्षेतरपरम् ।

वैदिकाचारयुक्तानां शुचीनां श्रीमतां सताम् ।
सत्कुलस्थानजातानां भिक्षाशीलाग्रजन्मनाम् । ॥२१३१॥

इत्युक्ते भिक्षाया न निषेधः ।

विहाय वह्निं न हि वस्तु किञ्चिद् ग्राह्यं परेभ्यः सति संभवेऽपि ।
असंभवे तीर्थबर्हिर्विशुद्धाद् याचेत यावाङ्गुनमात्रभक्षात् ।
गृह्णाति रागादधिकं न सिद्धिः प्रजायते कल्पशतैरमुष्य ॥२१३२॥
सकृदुच्चरिते शब्दे प्रणवं समुदीरयेत् ।
प्रोक्ते पामरशब्देऽपि प्राणायामं सकृच्चरेत् ॥२१३३॥
बहुप्रलापे चावश्यं न्यस्याङ्गानि ततो जपेत् ।
क्षुतेऽप्येवं तथास्पृश्यस्थानानां स्पर्शने तथा ॥२१३४॥

एवमादींश्च नियमान् पुरश्चरणकृच्चरेत् ।
विण्मूत्रोत्सर्गशङ्कादियुक्तः कर्म करोति यः ॥२१३५॥
जपार्चनादिकं सर्वमपवित्रं भवेत् प्रिये ।
मलिनाम्बरकेशादि मुखदौर्गन्ध्यसंयुतः ॥२१३६॥
यो जपेत् तं दहत्याशु देवता गुप्तसंस्थिता ।
मार्जारं कुक्कुटं क्रौञ्चं श्वानं शूद्रं कपिं खरम् ॥२१३७॥
दृष्ट्वाऽऽचम्य जपेत् शेषं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ।
आलस्यं जृम्भणं निद्रां क्षुतं निष्ठीवनं भयम् ॥२१३८॥
नीचाङ्गस्पर्शनं कोपमधोवायुं विवर्जयेत् ।
जपकाले भवेद् दैवादाचम्य प्राणसंयमम् ॥२१३९॥
षडङ्गं प्रविधायाशु पुनर्जपमुपारभेत् ।
एवमुक्तविधानेन विलम्बं त्वरितं विना ॥२१४०॥
उक्तसंख्यं जपं कुर्यात् पुरश्चरणसिद्धये ।
देवतागुरुमन्त्राणामैक्यं संभावयन् धिया ॥२१४१॥
जपेदेकमनाः प्रातःकालान्मध्यं दिनावधि ।
यत्संख्यया समारब्धं तत् कर्तव्यं दिने दिने ॥२१४२॥
यदि न्यूनाधिकं कुर्याद् व्रतभ्रष्टो भवेन्नरः ।
न्यूनाधिकं न कर्तव्यमासमाप्ति सदा जपेत् ॥२१४३॥
न्यूनातिरिक्तकर्माणि न फलन्ति कदाचन ।
यथाविधि कृतान्येव तत्कर्माणि फलन्ति हि ॥२१४४॥
कृते जपस्तु कल्पोक्तस्त्रेतायां द्विगुणो जपः ।
द्वापरे त्रिगुणः प्रोक्तश्चतुर्गुणजपः कलौ ॥२१४५॥
मन्त्रं साधयमानस्तु त्रिसन्ध्यं देवमर्चयेत् ।
द्विकालमेककालं वा न मन्त्रं केवलं जपेत् ॥२१४६॥
भूशय्या ब्रह्मचारित्वं मौनचर्यानसूयता ।
नित्यं त्रिषवणस्नानं क्षुद्रकर्मविवर्जनम् ॥२१३७

नैमित्तिकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयोः ।
नित्यपूजा नित्यदानं देवतास्तुतिकीर्तनम् ॥२१४८॥

सत्येनापि न भाषेत जपहोमार्चनादिषु ।
असद्भाषणमत्यर्थं वर्जयेदन्यपूजनम् ।
वाङ्मनःकर्मभि र्नित्यं निस्पृहो वनितादिषु ॥२१४९॥

मैथुनं तत् कथालापस्तद्गोष्ठीः परिवर्जयेत् ।
अन्यथानुष्ठितं सर्वं भवत्येव निरर्थकम् ॥२१५०॥

पुरश्चरणकाले तु यदि स्यान्मृतसूतकम् ।
तथापि कृतसंकल्पो जपं नैव परित्यजेत् ॥२१५१॥

योगिनीहृदयेऽपि–

शयीत कुशशय्यायां शुचिव्रतधरः सदा ।
प्रत्यहं क्षालयेत् शय्यामेकाकी निर्भयः स्वपेत् ॥२१५२॥

असत्यभाषणं वाचं कुटिलानां विवर्जयेत् ।
वर्जयेत् गीतवाद्यादिश्रवणं नृत्यदर्शनम् ॥२१५३॥

अभ्यंगं गन्धलेपं च पुष्पधारणमेव च ।
त्यजेदुष्णोदकस्नानं सुगन्धाऽऽमलकादिकम् ॥२१५४॥

शिरोङ्गं पञ्चगव्येन पावयेद् बहिरन्तरम् ।
नैकवासा जपेन्मंत्रं बहुवस्त्राकुलोऽपि वा ॥२१५५॥

उपर्यधोविपर्यासे वस्त्रे विघ्ना भवन्ति हि ।
मनःसंहरणं शौचं मौनं मंत्रार्थचिन्तनम् ॥२१५६॥

अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसम्पत्तिहेतवः ।
प्रारम्भो विहिते कालेऽविहितं परिवर्जयन् ॥२१५७॥

चन्द्रतारानुकूले च शुक्लपक्षे शुभेऽहनि ।
आरभेन्मकरादौ च हरौ सुप्ते न चाचरेत् ॥२१५८॥

कार्तिकाश्विनवैशाखमाघेषु मार्गशीर्षके ।
फाल्गुने श्रावणे चैव पुरश्चर्या प्रशस्यते ॥२१५९॥

ग्रहणे च महातीर्थे न कालमवधारयेत् ।
ज्येष्ठाषाढौ भाद्रपदं पौषं तु मलमासकम् ॥२१६०॥

अङ्गारं शनिवारं च व्यतीपातं च वैधृतिम् ।
अष्टमीं नवमीं षष्ठीं चतुर्थीं च त्रयोदशीम् ॥२१६१॥

चतुर्दशीममावास्यां प्रदोषं च तथा निशि ।
यमाग्निरुद्रसर्पेन्द्रवसुश्रवणजन्मभम् ॥२१६२॥

मेषकर्कतुलाकुम्भान् मकरालिकलग्नकम् ।
सर्वाण्येतानि वर्ज्याणि पुरश्चरणकर्मणि ॥२१६३॥

शस्तान्यन्यानि सततं जपयज्ञे निरन्तरम् ।
आरम्भात् प्राक् चतुर्थेऽह्नि कृत्वा क्षौरादिकं सुधीः ॥२१६४॥

निरामिषमेकवारं भुक्त्वा रात्रौ यथाविधि ।
हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्याचम्य प्राणसंयमम् ॥२१६५॥

कृत्वा शयीत शय्यायां कुशमय्यां जपन्मनुम् ।
ॐ भगवन् देव देवेश शूलभृद् वृषवाहन ।
इष्टानिष्टे समाचक्ष्व मम सुप्तस्य शाश्वत ॥२१६६॥

तारो हिलिद्वयं शूलपाणये द्विठ ईरितः ।
स्वप्नमाणवमंत्रोऽयं शम्भुना परिकीर्तितः ॥२१६७॥

नमोऽजाय त्रिनेत्राय पिंगलाय महात्मने ।
वामाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥२१६८॥

स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्वकार्येष्वशेषतः ।
क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर ! ॥२१६९॥

मंत्रतंत्रप्रकाशे—

ॐ हृतसकललोकाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
विश्वाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥
स्वप्नमाणवमंत्रोऽयं कथितो नारदादिभिः ॥२१७०॥

नारदीये—

परब्रह्मस्वरूपस्त्वमन्तश्चरसि विश्वधृक् ।
शुभाशुभगतिं देव ! स्वप्ने मे विनिवेदय ॥२१७१॥

अन्यत्रापि—

देवि दुर्गे नमस्तुभ्यं सर्वकार्यप्रदर्शिनि ।
सिद्धिं कार्यस्य वासिद्धिं सत्यं स्वप्ने प्रदर्शय ॥
मायाद्यः स्वप्नमंत्रोऽयमभीष्टस्य प्रकाशकः ॥२१७२॥

योगिनीतंत्रे—

यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं ऋचं जपेद् यः प्रयतो निशायाम् ।
लब्ध्वैकभुग् दक्षिणपार्श्वशायी स्वप्नं परीक्षेत तथा निशान्ते ॥२१७३॥

एषु कश्चिन्मन्त्रो यथोपदेशेन साध्यः ।

मंत्रं जप्त्वा नमस्कुर्याज्जानुभ्यामवनीं गतः ।
प्रसन्नो वाग्यतस्तस्मिन् शयीतेष्टं विचिन्तयन् ॥२१७४॥

त्रिविधं दर्शनं तस्य यथार्थमयथार्थकम् ।
अपाकजं यत् स्वस्थानां संयतानां हि दर्शनम् ॥२१७५॥

यथार्थमयथार्थं तदस्वस्थानां विकारजम् ।
अपाकजं मानसं च यथार्थफलमुच्यते ॥२१७६॥

फलमागमसिद्धान्ते--

आद्ये वर्षात् वत्सरार्धाद् द्वितीये यामे पाको यो हि दृष्टस्तृतीये ।
मासैः रामैश्चैकतस्तुर्ययामे सद्यः पाको यो विसर्गेषु दृष्टः ॥२१७७॥

स्वप्नं दृष्टं निशि प्रात गुरवे तन्निवेदयेत् ।
तमन्तरेण मंत्रज्ञः स्वयं स्वप्नं विचारयेत् ॥२१७८॥

स्वप्ने पश्यति देवेशं निजेष्टं सर्वतोमुखम् ।
गुरुं प्रसादसुमुखं निर्मलं चन्द्रमण्डलम् ॥२१७९॥

गङ्गां भागीरथीं भानुं लिंगिनं लिंगमैश्वरम् ।
प्राप्तां तत्र विजानीयात् सिद्धिं स्वप्ननिदर्शने ॥२१८०॥

क्षितिलाभं च क्षतजाब्धितरणं चाग्निपूजनं ।
होमश्च ज्वलिते वह्नौ संग्रामविजयस्तथा ॥
हंसकाकमयूराणां रथारोहणमेहने ॥२१८१॥

नारदपंचरात्रेऽपि—

कन्यां क्षत्रं रथं दीपं प्रासादं कमलं नदीम् ।
कुंजरं वृषभं माल्यं समुद्रं फलिनं द्रुमम् ॥२१८२॥
पर्वतं च हयं मेध्यमाममांसं सुरासवम् ।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥२१८३॥
यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥२१८४॥
नदीसमुद्रतरणमाकाशगमनं तथा ।
भास्करोदयनं चैव प्रज्वलन्तं हुताशनम् ॥२१८५॥
ग्रहनक्षत्रताराणां चन्द्रमण्डलदर्शनम् ।
हर्म्यस्यारोहणं चैव प्रासादशिरसोऽपि वा ॥२१८६॥
नागाश्ववृषभेन्द्राणां तरुशैलाग्ररोहणम् ।
विमानगमनं चैव सिद्धमंत्रस्य दर्शनम् ॥२१८७॥
स्वप्ने तु मदिरापानमाममांसस्य भोजनम् ।
कृमिविष्ठानुलेपं च रुधिरेणाभिषेचनम् ॥२१८८॥
भोजनं दधिभक्तस्य श्वेतवस्त्रानुलेपनम् ।
सिंहासनं रथं यानं ध्वजं राज्याभिषेचनम् ।
रत्नान्याभरणादीनि दृष्ट्वा स्वप्ने प्रसीदति ॥२१८९॥

नारदपंचरात्रे—

गुरु र्देवो द्विजः कन्या गोगजाश्वाश्च केसरी ।
दर्पणं शंखभेर्यौ च तंत्रीवाद्यं च रोचनाम् ॥२१९०॥
ताम्बूलभक्षणं चैव तथा दध्यभिवन्दनम् ।
सिद्धान्नमाममांसश्च मद्यस्त्रीमदिरारसाः ।
छत्रं यानं सितं वस्त्रं तथान्यत् श्वेतचन्दनम् ॥ २१९१ ॥
माल्यं मुक्ताफलं हारः पूर्णः समुदितः शशी ।
प्रचण्डकिरणः सूर्यो निम्नगाऽथ महोदधिः ॥ २१९२ ॥

प्रफुल्लपादपः शालिरोचनाकुंकुमं मधु ।
लाजाः सिद्धार्थकाबीजं नवभाण्डं च पायसम् ॥ २१९३ ॥
उपसन्नोऽथवाचार्यो गायत्रीवरसंयुता ।
सर्वे स्वप्नाः शुभाः प्रोक्ताः सिद्धिमोक्षफलप्रदाः ॥ २१९४ ॥

नारदीये—

गहनं तु पुरंध्रीणामगम्यागमनं तथा ।
दंशनं श्वेतनागेन बन्धनं शृंखलादिभिः ॥ २१९५ ॥
रोदनं ताडनं चैव धावनं चांगघातनम् ।
मृल्लोहत्रपुकांस्यस्य सीसकस्याप्यकुत्सितात् ॥ २१९६ ॥
धातो र्लाभस्तथा पुष्पफलरत्नभुवामपि ।
व्यजनं स्वयमन्येन धमनं च विभावसोः ॥ २१९७ ॥
एवमादीनि चान्यानि शुभान्याहु र्मनीषिणः ।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २१९८ ॥

अथाशुभाः—

अतोऽन्ये विपरीता ये मनसः खेदकारकाः ।
गर्हिता लोकविद्विष्टाः स्वप्नास्ते ह्यशुभा मताः ॥ २१९९ ॥
चाण्डालं करभं काकं गर्त्तं शून्यममङ्गलम् ।
तैलाभ्यंगं नरं नग्नं शुष्कवृक्षं सकण्टकम् ॥ २२०० ॥
प्रासादमतुलं दृष्ट्वा नरो रोगमवाप्नुयात् ।
भक्षणं मधुमांसस्य कर्णनासादिकर्त्तनम् ॥ २२०१ ॥
वेष्टनं कृष्णसर्पेण रक्तमाल्येन वेष्टनम् ।
आलिंगनं च कुस्त्रीणां हसनं नर्तनं तथा ।
खरोष्ट्रमहिषाणां च दर्शनाऽऽरोहणं तथा ॥ २२०२ ॥
यातनावेशनाभ्यङ्गं दक्षिणाशागमं तथा ।
वमनं रुधिरादीनां लाभस्तेषां तथैव च ॥ २२०३ ॥
अंगभंगोऽथ निद्रा च यमकिंकरदर्शनम् ।
दिव्यभौमान्तरिक्षाणामुत्पातानां च दर्शनम् ॥ २२०४ ॥

नृपगोगुरुविप्राणां भर्त्सनं विषभक्षणम् ।
दर्शनं भीमसर्पाणां पुंसि मैथुनमेव च ॥ २२०५ ॥

एवमादीनि स्वप्नानि गर्हितानि विदुर्बुधाः ।
दृष्ट्वा दुःस्वप्नकं चैव होमात् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २२०६ ॥

पिंगलामते-

शुभे शुभं भवेत् तस्य हुतात् स्यादशुभे शुभम् ।
एवं समाचरेद् होमं दंतकाष्ठोदिते मुने ।
केवलेनाथवाऽऽज्येन सिंहमंत्रेण शान्तये ॥ २२०७ ॥

सिंहमंत्रस्तु निबन्धे--

वेदादि वज्रनखतः पदं दंष्ट्रायुधाय च ।
सिंहाय वर्म चास्त्रान्ते हृदयं समुदीरयेत् ॥ २२०८ ॥

सिंहमंत्रोऽयमाख्यातो होममेतेन कारयेत् ।
शतं सहस्रं जुहुयादष्टोत्तरमनन्यधीः ॥ २२०९ ॥

गुरुस्तत्प्रतिकाराय सहस्रं प्रजपेन्मनुम् ।
तिलैः सहस्रं जुहुयादतः शान्तिर्भवेद् ध्रुवम् ॥२२१०॥

तदग्रिमदिने स्नात्वा संध्याकर्म विधाय च ।
भूमेः परिग्रहं कुर्यात् परिमाणं विधाय च ॥ २२११ ॥

ग्रामे क्रोशमितं स्थानं नद्यादौ स्वेच्छया मितम् ।
नगरादावपि क्रोशं क्रोशयुग्ममथापि वा ॥ २२१२ ॥

आहारादिविहारार्थं तावतीं भूमिमाक्रमेत् ।
आदावमुकमंत्रस्य पुरश्चरणसिद्धये ॥ २२१३ ॥

मयेयं गृह्यते भूमि र्मन्त्रो मे सिद्धयतामिति ।
भूमेः परिग्रहं कृत्वा परिमाणं च सर्वशः ॥ २२१४ ॥

दीपस्थानं समाश्रित्य वातातपसहां कुटीम् ।
निर्माय विधिवत् तत्र जपयज्ञं समाचरेत् ॥ २२१५ ॥

कुटीलक्षणं हठयोगे--

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्त्तपिठरं नात्युच्चनीचायितं
सम्यग् गोमयसान्द्रलिप्तविमलं निःशेषजन्तूज्झितम् ।
बाह्ये मंडपवप्रकूपसहितं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥ २२१६ ॥

प्रातः स्नानादिकं कृत्वा कीलानादाय साधकः ।
कुटीनिकटमागत्य कुर्यात् तंत्रोदितां क्रियाम् ॥ २२१७ ॥

क्षीरवृक्षोद्भवान् कीलानस्त्रमंत्राभिमंत्रितान् ।
निखनेद् दशदिग्भागे तेष्वस्त्रं च प्रपूजयेत् ॥ २२१८ ॥

अस्त्रमन्त्रस्तु तत्तदङ्गभूतः, न केवलफट्काररूप इति संप्रदायविदः ।

क्षेत्रे तु कीलिते मंत्री न विघ्नैः परिभूयते ।
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटाश्च क्षीरशाखिनः ॥
क्षेत्रपालं पूजयित्वा बलिं दद्याद् विधानतः ॥२२१९॥

अत्र विशेषस्तु प्रयोगसारे—

भेदा एकोनपंचाशत् क्षेत्रपालस्य कीर्तिताः ।
मातृकाबीजभेदेन संभिन्ना नामभेदतः ॥ २२२० ॥

अजरश्चापकुम्भश्च इन्द्रसूतिस्ततोऽपरः ।
ईडाचारश्चोक्षसंज्ञ ऊष्माद ऋषिसूदनः ।
ॠमुक्तो लृप्तकेशश्च लृपकश्चैकदंष्ट्रकः ॥ २२२१ ॥

ऐरावतश्चौव्वबन्धुरौषधिघ्नस्तथैव च ।
अंजनश्चास्त्रबाहुश्च कंवलः खरखानलः ॥ २२२२ ॥

गोमुखश्चैव घण्टादो ङ्गानश्चंडचारणः ।
छटाटोपो जटालाख्यो झंकारोऽथ ञाठश्चरः ॥ २२२३ ॥

टंकपाणिस्तथा चान्यष्ठाणबन्धुश्च डामरः ।
ढंकारवोणकर्णश्च तडिद्दाहः स्थिरस्तथा ॥ २२२४ ॥

दन्तुरो धनदश्चाथ नतिक्रान्तः प्रचंडकः ।
फट्कारो वीरसन्धश्च भृङ्गाख्यो मेघभासुरः ॥ २२२५ ॥

युगान्तो रौरवश्चाथ लंबोष्ठो वसवस्तथा ।
शुकनंदः षडालाख्यः सुनामा हंध्रकस्तथा ॥ २२२६ ॥

एते भेदाः समाख्याता मातृकाक्षरयोनिजाः ।
नामपद्यस्य वर्णानां यो वर्णो मातृकान्तरे ॥ २२२७ ॥

दृश्यते प्रथमं यत्र तत्रायं क्षेत्रपालकः ।
यत्र तत्र विशिष्टाश्च भेदैरेतै र्व्यवस्थिताः ॥ २२२८ ॥

ततो विशिष्टो यष्टव्यः क्षेत्रपालस्तु सर्वतः ।
क्षेत्रपालमसम्पूज्य यः कर्म कुरुते क्वचित् ॥ २२२९ ॥

तस्य कर्मफलं हन्ति क्षेत्रपालो न संशयः ।
वर्णान्त्यमौ विंदुयुक्तं क्षेत्रपालाय हृन्मनुः ॥ २२३० ॥

ताराद्यो वसुवर्णोऽयं क्षेत्रपालस्य कीर्तितः ।
ऋषि र्ब्रह्मा भवेदस्य गायत्रं छंद ईरितम् ॥ २२३१ ॥

क्षेत्रपालो देवता स्यात् क्षौं बीजं लायशक्तिकम् ।
सर्वविघ्नविनाशार्थे रक्षार्थे विनियोगकः ॥ २२३२ ॥

ऋष्यादींश्च यथास्थाने न्यस्यांगान्यस्य विन्यसेत् ।
षड्दीर्घभाजा बीजेन देवं ध्यायेत् समाहितः ॥ २२३३ ॥

नीलांजनाद्रिनिभमूर्ध्वपिसंगकेशं वृत्तोग्रलोचनमुपात्तगदाकपालम् ।
आशाम्वरं भुजगभूषणमुग्रदंष्ट्रं क्षेत्रेशमद्भुततनुं प्रणमामि देवम् ॥२२३४॥

एवं ध्यात्वा जपेन्मंत्रं भक्त्या संपूज्य मानसैः ।
ततो जपं समर्प्यास्मै बाह्यपूजामथारभेत् ॥२२३५॥

भूमावष्टदलं पद्मं भूपुरैकं लिखेदथ ।
मंडूकादीन् यजेत् तत्र परतत्त्वान्तमीरितान् ॥२२३६॥

शैवे पीठे यजेद् देवं क्षेत्रपालं समाहितः ।
वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री काली कलपदादिका ॥२२३७॥

विकिरिण्याह्वया प्रोक्ता बलाद्या विकिरिण्यपि ।
बलप्रमथनी पश्चात् सर्वभूतदमन्यथ ॥२२३८ ॥

मनोन्मनीति संप्रोक्ताः शैवपीठस्य शक्तयः ।
नमो भगवते पश्चात् सकलादि वदेत् पुनः ॥२२३९॥

गुणात्मशक्तियुक्ताय ततोऽनन्ताय तत्परम् ।
योगपीठात्मने भूयो नमस्तारादिको मनुः ॥२२४०॥

अनेन मनुना दद्यादासनं क्षेत्रस्वामिनः ।
मूर्त्ति संकल्प्य मूलेन यजेद् रक्तोपचारकैः ॥२२४१॥

अङ्गानि परितोऽभ्यर्च्य ततः पत्रे क्रमाद् यजेत् ।
अनलाख्यमग्निकेशं करालं तदनन्तरम् ॥२२४२॥

घंटारवं महाकोपं पिशिताशनसंज्ञकम् ।
पिंगलाक्षमूर्ध्वकेशं पत्रेषु परितो यजेत् ॥२२४३॥

प्रधानमूर्त्तिप्रतिमान् नानालंकारवन्धुरान् ।
लोकपालान् तदस्त्राणि यथापूर्वं च भूपुरे ॥२२४४॥

एवं पूज्य बलिं तत्र माषभक्तं दिशेत् ततः ।
तस्मै सपरिवाराय मनुनानेन साधकः ॥२२४५॥

पूर्वमेहिद्वयं पश्चाद् विदुषि स्यात् पुरुद्वयम् ।
भंजयद्वितयं भूयो नर्तयद्वितयं पुनः ॥२२४६॥

ततो विघ्नपदद्वन्द्वं महाभैरवतत्परम् ।
क्षेत्रपालबलिं गृह्णद्वयं पावकसुन्दरी ॥२२४७॥

बलिमन्त्रोऽयमाख्यातः सर्वकामफलप्रदः ।
सोपदंशं बृहत्पिण्डं कृत्वा रात्रिषु साधकः ॥२२४८॥

स्मृत्वा यथोक्तं क्षेत्रेशं तत् करस्थे कपालके ।
दद्यादनेन सन्तुष्टः क्षेत्रपालः प्रयच्छति ॥२२४९॥

कान्तिमेधाबलारोग्यतेजःपुष्टियशःश्रियः ।
बलिं दत्वा प्रार्थयेत् तं बद्धाञ्जलिरुदारधीः ॥२२५०॥

तीक्ष्णदंष्ट्र महाकाय कल्पान्तदहनोपम ।
भैरवाय नमस्तुभ्यमनुज्ञां दातुमर्हसि ॥२२५१॥

इत्यनुज्ञामुपादाय दिक्पतीन् कीलकस्थले ।
माषभक्तबलिं दद्यात् पूज्य लब्धोपचारकैः ॥२२५२॥

वास्त्वीशं पूर्ववन्मध्ये पूज्य तस्मै समर्प्य च ।
बलिं सम्प्रार्थयेन्मन्त्रैस्तत्रस्थान् देवतागणान् ॥२२५३॥

ये रौद्रा रौद्रकर्माणो रौद्रस्थाननिवासिनः ।
मातरोऽप्युग्ररूपाश्च गणानामधिपाश्च ये ॥२२५४॥

विघ्नभूतास्तथा चान्ये दिग्विदिक्षु समाश्रिताः ।
सर्वे ते प्रीतिमनसः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ॥२२५५॥

भूतानि यानीह वसन्ति भूमौ बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम् ।
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु क्षमन्तु तान्यत्र नमोऽस्तु तेभ्यः ॥२२५६॥

प्रणवाद्या इमे मन्त्राः कीर्तिता बलिप्रार्थने ।
ततोच्चरेदिमं मन्त्रं दशदिक्षु स्फुटाक्षरैः ॥२२५७॥

ये चात्र विघ्नकर्तारो दिवि भुव्यन्तरिक्षगाः ।
विघ्नभूतास्तथा चान्ये मम मन्त्रस्य सिद्धिषु ॥२२५८॥

मयैतत् कीलितं क्षेत्रं परित्यज्य विदूरतः ।
अपसर्पन्तु ते सर्वे निर्विघ्ना सिद्धिरस्तु मे ॥२२५९॥

एवं प्रार्थ्य शुभे स्थाने निशायां शयनं चरेत् ।
ततो निशान्ते सम्बुद्ध्य प्रातःकृत्यादिकं तथा ॥२२६०॥

स्नानसन्ध्यादिकं कर्म कृत्वा वेदोक्तवर्त्मना ।
ज्ञाताज्ञातस्य पापस्य क्षयार्थं प्रथमं ततः ॥२२६१॥

सावित्रीं प्रजपेद् विद्वानयुतं वा तदर्धकम् ।
त्रिसहस्रं सहस्रं वा जपेदष्टोत्तरं सुधीः ॥२२६२॥

तद्दशांशं प्रजुहुयात् तिलैर्गोघृतसंप्लुतैः ।
विप्रान् संभोजयेत् पश्चात् परमान्नैश्च दक्षिणाम् ॥२२६३॥

दत्त्वा विसर्जयेत् तांस्तु गुरुं संप्रीणयेत् ततः ।
स्वयं हविष्यं भुञ्जीत ध्यायन् देवमनाकुलः ॥२२६४॥

निशां व्यतीय मतिमान् प्रातर्बुद्ध्वा समाप्य तत् ।
क्रियां च कृतशौचादिः स्नात्वा तीर्थे विधानतः ॥२२६५॥
सन्ध्यादिकं समाप्याथ गृहीत्वा जलकुम्भकम् ।
यागभूमिमथागत्य धौतपादादिकः सुधीः ॥२२६६॥
दिक्पालांश्च प्रणम्यादौ सामान्यार्घं विधाय च ।
गणेशं पूजयेदादौ सर्वविघ्नविनाशनम् ॥२२६७॥
ततो यजेद् द्वारपांश्च जपस्थानं प्रविश्य तु ।
वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ॥२२६८॥
तेनैव ताडनं दर्भै र्वर्मणाभ्युक्षणं ततः ।
कुर्यात् प्रतिज्ञां मतिमान् यथावदभिधीयते ॥२२६९॥
ततः कुशाक्षतजलान्यादाय प्रागुदङ्मुखः ।
प्रणवं तत्सदद्येति मासपक्षतिथीरपि ।
अमुकोऽमुकगोत्रोऽहं मूलमुच्चार्य तत्परम् ॥२२७०॥
सिद्धिकामोऽस्य मन्त्रस्य इयत्संख्याजपस्ततः ।
दशांशं हवनं होमात् दशांशं तर्पणं ततः ।
दशांशं मार्जनं तस्मात् दशांशं विप्रभोजनम् ॥२२७१॥
पुरश्चरणमेवं हि करिष्ये प्रागुदङ्मुखः ।
गुरून् गणेशं नत्वादौ स्वकल्पोक्तविधानतः ॥२२७२॥
भूतशुद्धिं विधायाथ प्राणायामं समाचरेत् ।
ऋष्यादिकं ततः कृत्वा कल्पोक्तन्यासमाचरेत् ॥२२७३॥
ततः संक्षेपविधिना सम्पूज्य निजदैवतम् ।
मुखशुद्धिं विधायाथ चिन्त्य सेतुं च कुल्लुकाम् ॥२२७४॥
महासेतुं च निर्वाणं कामबीजं ततो मनुम् ।
जपेन्मालां च सम्पूज्य ध्यानस्थोऽनन्यभावनः ॥२२७५॥
शनैः शनैरविस्पष्टं न द्रुतं न विलम्बितम् ।
क्रमेणोच्चारयेद् वर्णानाद्यन्तक्रमयोगतः ॥२२७६॥
देवतां चित्तगां कृत्वा तथा च हृदयं स्थिरम् ।
आमध्याह्नं जपं कुर्यादुपांशुर्वाथ मानसम् ॥२२७७॥

यामले—

गणनाविधिमुल्लंघ्य यो जपेत्तु जपं यतः ।
गृह्णन्ति राक्षसास्तेन गणयेत् सर्वथा बुधः ॥२२७८॥
नाक्षतैं र्हस्तपर्वै र्वा न धान्यै र्नच पुष्पकैः ।
न चंदनै र्मृत्तिकया जपसंख्यां तु कारयेत् ॥२२७९॥
लाक्षां कुशीतं सिन्दूरं गोमयं च करीषकम् ।
एभि र्विलोड्य गुटिकां कृत्वा संख्यां तु कारयेत् ॥२२८०॥

कुशीतं रक्तचन्दनम् ।

आसनं प्रोक्षयेन्नित्यं जपादुत्थाय साधकः ।

यच्च तंत्रान्तरे—

अप्रोक्षिते जपस्थाने शुक्रो हरति तज्जपम् ।
व्याहृत्या च विलोमेन तिलकं प्रोक्ष्य कारयेत् ॥२२८१॥
हविष्यं निशि भुंजीत त्रिःस्नाय्यभ्यंगवर्जितः ।
व्यग्रताऽऽलस्यनिष्ठीवक्रोधपादप्रसारणम् ॥२२८२॥
अन्यभाषां त्यजेत् क्षुच्च जपकाले सदा सुधीः ।
स्त्रीशूद्रभाषणं निन्दां ताम्बूलं शयनं दिवा ॥२२८३॥
प्रतिग्रहं नृत्यगीते कौटिल्यं वर्जयेत् सदा ।
भूशय्यां ब्रह्मचर्यं च त्रिकालं देवतार्चनम् ॥२२८४॥
नैमित्तिकार्चनं देवस्तुतिं विश्वासमाश्रयेत् ।
प्रत्यहं प्रत्यहं तावन्नैव न्यूनाधिकं चरेत् ।
एवं जपं समाप्यान्ते दशांशं हवनं चरेत् ॥२२८५॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे पुरश्चर्याविधि र्नाम त्रयोदशः पटलः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः पटलः ।

अथो होमविधिं वक्ष्ये सर्वतंत्रानुसारतः ।

यदकरणे व्यंगतोक्ता पिंगलामते—

नाध्यातो नार्चितो मंत्रः सुसिद्धोऽपि प्रसीदति ॥२२८६॥

नाजप्तः सिद्धिदानेच्छुर्नाहुतः फलदो भवेत् ।
पूजां ध्यानं जपं होमं तस्मात् कर्मचतुष्टयम् ।
प्रत्यहं साधकः कुर्यात् स्वयं चेत् सिद्धिमिच्छति ॥२२८७ इति ।

तच्च चिदंबरे–

कुंडे वा स्थंडिले वापि यथोक्तविधिना चरेत् ।
तत्तत्कल्पोदितै द्रंव्यैस्तद्विधानमुदीर्यते ॥२२८८॥

प्राणायामं षडंगं च कृत्वा मूलेन मन्त्रवित् ।
कुंडे वा स्थंडिले कुर्यात् संस्काराणां चतुष्टयम् ॥२२८९॥

मूलेनेक्षणमस्त्रेण प्रोक्षणं ताडनं कुशैः ।
वर्मणा मुष्टिनासिच्य लिखेद् यन्त्रं तदन्तरे ॥२२९०॥

वह्निकोणषडस्राष्टदलभूमन्दिरात्मकम् ।
मध्ये तारपुटां मायां लिखित्वा पीठमर्चयेत् ।
मंडूकश्चाथकालाग्निरुद्र आधारशक्तियुक् ॥२२९१॥

कूर्मो धरा सुधासिन्धुश्च तद्वोपसुराङ्घ्रिपाः ।
मणिहर्म्यं हेमपीठं धर्मो ज्ञानं विरागता ॥२२९२॥

ऐश्वर्यं धर्मपूर्वास्तु चत्वारस्ते नञादिकाः ।
धर्मादयः स्मृताः पादाः पीठगात्राणि चेतरे ॥२२९३॥

मध्येऽनन्तं तत्त्वपद्ममानन्दमयकन्दकम् ।
सम्विन्नालं ततः प्रोक्ता विकारमयकेसराः ॥२२९४॥

प्रकृत्यात्मकपत्राणि पञ्चाशद्वर्णकर्णिकाः ।
सूर्यस्येन्दोः पावकस्य मंडलत्रितयं ततः ॥२२९५॥

सत्त्वं रजस्तमः पश्चादात्मायुक्तोऽन्तरात्मना ।
परमात्माऽथ ज्ञानात्मा तत्त्वे मायाकलादिके ॥२२९६॥

विद्यातत्त्वं परं तत्त्वं पीठशक्ती जयादिकाः ।
जयाख्या विजया पश्चादजिता चापराजिता ।
नित्या विलासिनी दोग्ध्री अघोरा मंगलान्तिमा ॥२२९७॥

वागीशीवागीश्वरयो र्योगपीठात्मने नमः ।
मायादिकः पीठमन्त्रस्तयोस्तेनासनं दिशेत् ॥२२९८॥

यजेत् तौ तारमायाभ्यां गन्धाद्यैरुपचारकैः ।
लक्ष्मीनारायणावर्चेद् वैष्णवे होमकर्मणि ॥२२९९॥

सूर्यकान्तादरणितः श्रोत्रियागारतोऽपि वा ।
पात्रेण पिहितं पात्रे वह्निमादापयेत् ततः ॥२३००॥

अस्त्रेणादाय तत्पात्रं वर्मणोद्घाटयेच्च तम् ।
अस्त्रमन्त्रेण नैर्ऋत्ये क्रव्यादांशं ततस्त्यजेत् ॥२३०१॥

मूलेन पुरतो धृत्वा संस्कारान् चतुरश्चरेत् ।
वीक्षणाद्यान् पुरा प्रोक्तानल्पं प्रोक्षणमाचरेत् ॥२३०२॥

परमात्मनाऽनलेनाथ जाठरेणापि वह्निना ।
स्मरन्नैक्यं वह्निजीवाच्चैतन्यं योजयेत् ततः ॥२३०३॥

तारेण चाभिमन्त्र्याग्निं सुधया धेनुमुद्रया ।
अमृतीकृत्य संरक्षेदस्त्रमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥२३०४॥

मुद्रया त्ववगुण्ठिन्या कवचेनावगुंठयेत् ।
कुंडोपरि ततो वह्निं भ्रामयेत् त्रिर्ध्रुवं पठन् ॥२३०५॥

शय्यागतां ऋतुस्नातां नीलेन्दीवरधारिणीम् ।
देवेन भुज्यमानां तां स्मृत्वा तद्योनिमण्डले ॥२३०६॥

ईशरेतोधिया वह्निं स्थापयेदात्मसंमुखम् ।
मूलं नवार्णं च पठन् जानुस्पृष्टधरातलः ॥२३०७॥

रेफार्घीशेन्दुसंयुक्तं गगनं वह्निचै ततः ।
तन्याय हृदयान्तोऽयं नवार्णोऽग्निनिधापने ॥२३०८॥

विश्राण्याचमनं देवीदेवयोर्ज्वालयेद् वसुम् ।
चतुर्विंशतिवर्णेन घृतेन श्रयणादिभिः ।
चित् पिंगल हनद्वन्द्वं दहयुग्मं पचद्वयम् ॥२३०९॥
सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा मंत्रो वेदभुजाक्षरः ।
प्रदर्श्य ज्वालिनीं मुद्रामुत्थाय विहिताञ्जलिः ॥२३१०॥

श्लोकरूपेण मंत्रेण उपतिष्ठेद् हुताशनम् ।
अग्निं प्रज्वलितं वंदे जातवेदं हुताशनम् ॥२३११॥
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम् ।
अथाग्निमन्त्रं विन्यस्येत् तद्विधानमुदीर्यते ॥२३१२॥
वैश्वानरान्ते जातेति वेदांते स्यादिहावह ।
लोहिताक्षपदात् सर्वकर्माण्यन्ते तु साधय ॥२३१३॥
वह्निप्रियान्तो मंत्रोऽयं षड्विंशत्यक्षरान्वितः ।
ऋषिश्छन्दो देवतास्य भृगुगायत्रिपावकाः ॥२३१४॥
रं वीजं ठद्वयं शक्ति र्हवने विनियोजनम् ।
लिंगे पायौ मूर्ध्नि वक्त्रे नसिनेत्रेऽखिलांगके ।
वह्ने र्जिव्हा स्वबीजाद्या न्यसेत् ङेन्ता नमोऽन्विताः ॥२३१५॥
दीपिकानलवायुस्थाः साद्या वर्णा विलोमतः ।
सेन्दवः सप्तजिव्हानां क्रमाद् वै वीजतां गताः ॥२३१६॥
जिव्हास्तास्त्रिविधाः प्रोक्ता गुणभेदेन कर्मसु ।
हिरण्या गगना रक्ता कृष्णान्या सुप्रभा मता ।
वहुरूपातिरक्ता च सात्विवर्चो यागकर्मसु ॥२३१७॥
पद्मरागा सुवर्णान्या तृतीया भद्रलोहिता ॥२३१८॥
लोहिता च तथा श्वेता धूमिनी च करालिका ।
राजस्यो रसना वह्ने र्विहिता काम्यकर्मसु ॥२३१९॥
विश्वमूर्तिस्फुलिंगिन्यौ धूम्रवर्णा मनोजवा ॥
लोहितान्या करालाख्या कालीतामस्य ईरिताः ॥२३२०॥
एताः सप्त नियुज्यन्ते क्रूरकर्मसु देशिकैः ।
स्वस्वनामसमानाः स्युर्जिव्हाः कल्याणरेतसः ॥२३२१॥
गीर्वाणपितृगंधर्वयक्षनागपिशाचकाः ।
राक्षसश्चेति जिव्हानां देवतास्तत्स्थले न्यसेत् ॥२३२२॥
न्यासेऽर्चने व्युत्क्रमः स्यात् वहुरूपातिरक्तयोः ।
नेत्रेऽतिरक्ता न्यस्तव्या सर्वाङ्गे बहुरूपिका ॥२३२३॥

वह्नेरंगमनून् न्यस्येत् तनावुक्तेन वर्त्मना ।
सप्तार्चिषेति हृदयं स्वस्तिपूर्णाय मस्तकम् ॥२३२४॥
उत्तिष्ठ पुरुषायेति शिखामन्त्रोऽयमीरितः ।
धूमान्ते व्यापिने वर्म सप्तजिह्वाय नेत्रकम् ॥२३२५॥
अस्त्रं धनुर्धरायेति जात्याङ्गानि समाचरेत् ।
मूर्ध्नि वामांसके पार्श्वे कटौ लिंगे कटौ पुनः ॥२३२६॥
दक्षपार्श्वांसके न्यस्येन् मूर्तीरष्टौ विभावसोः ।
ताराग्नये पदाद्यास्तु चतुर्थी हृदयान्तिकाः ॥२३२७॥
जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहन इत्यपि ।
अश्वोदरजसंज्ञोऽन्यस्तथा वैश्वानराह्वयः ॥२३२८॥
कौमारतेजाः स्याद् विश्वमुखदेवमुखावपि ।
ततो न्यसेन्निजे देहे पीठं हाटकरेतसः ॥२३२९॥
वह्निमण्डलपर्यन्तं मण्डूकादि यथोदितम् ।
पीता श्वेतारुणाकृष्णा धूम्रा तीव्रा स्फुलिंगिनी ॥२३३०॥
रुचिरा ज्वालिनी चेति कृशानोः पीठशक्तयः ।
रं वह्न्यासनायेति हृदन्तः पीठमन्त्रकः ।
एवं विन्यस्य पीठान्तं पावकं चिन्तयेत् तनौ ॥२३३१॥
त्रिनेत्रमारक्ततनुं सुशुक्लवस्त्रं सुवर्णस्रजमग्निमीडे ।
वराभयं स्वस्तिकशक्तिहस्तं पद्मस्थमाकल्पसमूहयुक्तम् ॥२३३२॥
एवं ध्यात्वार्चनं कुर्यान् मानसं विधिवद् वसोः ।
परिषिंचेत् ततस्तोयैः कुण्डं स्थंडिलमेव वा ॥२३३३॥
दर्भैः परिस्तरेदग्निं प्रागग्रैरुदगग्रकैः ।
प्रत्यग्दक्षिणसौम्यासु न्यसेत् त्रीन् परिधीन् क्रमात् ॥२३३४॥
पालाशबिल्वखदिरांस्तेषु ब्रह्मविष्णुशिवान् यजेत् ।
वह्नौ तत् पीठमभ्यर्च्याऽऽवाहयेत् स्वहृदोऽनलम् ॥२३३५॥
गन्धादिभिः समभ्यर्च्य पूजयेत् पावकावृतीः ।
षट्सु कोणेषु मध्ये च जिह्वास्तद्देवताः यजेत् ॥२३३६॥

ईशानादिषु वाय्वन्तकोणेषु षट् समर्चयेत् ।
हिरण्याद्यतिरिक्ता ता मध्ये तु बहुरूपिणीम् ॥२३३७॥

केसरेष्वङ्गपूजा स्याद् दलेष्वष्टसु मूर्तयः ।
मातरोऽष्टौ दलान्तेषु भैरवाः स्युस्तदग्रतः ॥२३३८॥

धरापुरे तु शक्राद्या वज्राद्यायुधसंयुताः ।
एवमावरणै र्युक्तं सप्तभिः पावकं यजेत् ॥२३३९॥

असितांगो रुरुश्चण्डः क्रोध उन्मत्तसंज्ञकः ।
कपाली भीषणश्चैव संहारश्चाष्टभैरवाः ॥२३४०॥

वामे कुशानथास्तीर्य तत्र वस्तूनि निःक्षिपेत् ।
प्रणीताप्रोक्षणीपात्रे आज्यस्थालीं स्रुचं स्रुवम् ॥२३४१॥

अधोमुखानि चैतानि होमद्रव्यं घृतं कुशान् ।
समिधः पञ्चपालाशीरन्यदप्युपयोगि यत् ॥२३४२॥

कृत्वा पवित्रे मूलेन प्रोक्षेत् तानि शुभाम्भसा ।
उत्तानानि विधायाथ प्रणीतां पूरयेज्जलैः ॥२३४३॥

तीर्थमन्त्रेण तीर्थानि शृण्या तत्राह्वयेत् सुधीः ।
पवित्रेष्वक्षताँस्तत्र निःक्षिप्योत्पवनं चरेत् ॥२३४४॥

अथोदीच्यां निधायैतां प्रोक्षिण्यां तज्जलं क्षिपेत् ।
हवनीयं द्रव्यजातमुक्षेत् तोयैः पवित्रगैः ॥२३४५॥

मूलेन मूलगायत्र्या यद्वा हृदयमन्त्रतः ।
दक्षिणे पीठमासाद्य तत्र ब्रह्माणमाह्वयेत् ॥२३४६॥

अणिमाद्याः सिद्धयोऽष्टौ ब्रह्मणः पीठदेवताः ।
तारहृत्पूर्वको ङेन्तो ब्रह्ममन्त्रोऽस्य पूजने ।
हस्ताभ्यां स्रुक्स्रुवौ धृत्वा तापयेत् त्रिरधोमुखौ ॥२३४७॥

वामहस्तेन तौ धृत्वा दर्भै र्दक्षेण मार्जयेत् ।
संप्रोक्ष्य प्रोक्षणीतोयैः प्रताप्य पूर्ववत् पुनः ॥२३४८॥

न्यस्याग्नौ मार्जनान् दर्भांस्तयोः शक्तित्रयं न्यसेत् ।
इच्छाज्ञानक्रियासंज्ञं चतुर्थी नमसान्वितम् ॥२३४९॥

दीर्घत्रयेन्दुयुग्व्योमपूर्वकं स्थानकत्रये ।
हृदा स्रुचि न्यसेत् शक्तिं स्रुवे शम्भुं ततस्तु तौ ॥२३५०॥
सूत्रत्रयेण संवेष्ट्य सम्पूज्य कुसुमादिभिः ।
कुशोपरि न्यसेद् दक्षे तयोः संस्कार ईरितः ॥२३५१॥
अस्त्रोक्षितायामाज्यस्य स्थाल्यामाज्यं विनिःक्षिपेत् ।
वीक्षणादिकसंस्कारसंस्कृतं मूलमन्त्रतः ॥२३५२॥
गोमुद्रयामृतीकृत्य षट्संस्कारांस्ततश्चरेत् ।
कुण्डोद्धृते वायुकोणस्थितेऽगारे विनिःक्षिपेत् ॥२३५३॥
हृदेति तापनं प्रोक्तं दर्भयुग्मं प्रदीपितम् ।
आज्यं क्षिप्त्वा हृदा वह्नौ पवित्रीकरणं त्विदम् ॥२३५४॥
आज्यं नीराजयेद् दीप्तदर्भयुग्मेन वर्मणा ।
अभिद्योतनमुक्तं तद्दीप्तं दर्भत्रयं घृते ॥२३५५॥
दर्शयेदस्त्रेणोद्योतो गृहीत्वा घृतपात्रकम् ।
संयोज्याग्नौ तदंगारं सलिलं संस्पृशेत् सुधीः ॥२३५६॥
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु दर्भानादाय निःक्षिपेत् ।
त्रिरग्निसम्मुखं त्वाज्यमस्त्रेणोत्पवनं चरेत् ॥२३५७॥
हृदात्मसम्मुखं तद्वदाज्याक्षेपस्तु संप्लवम् ।
नीराजनादिसंस्कारेष्वग्नौ दर्भान् विनिःक्षिपेत् ॥२३५८॥
दर्भद्वयं ग्रन्थियुतं घृतमध्ये विनिःक्षिपेत् ।
वामदक्षिणयोः पक्षौ स्मृत्वा नाडीत्रयं स्मरेत् ।
दक्षिणाद् वामतो मध्याद् हृदादाय घृतं सुधीः ॥२३५९॥
अग्नयेऽग्निप्रिया सोमाय स्वाहेत्यग्निनेत्रयोः ।
जुहुयादग्निसोमाभ्यां स्वाहेत्यक्षिण तृतीयके ॥२३६०॥
पातयेदाहुतेः शेषमाहुतिग्रहणस्थले ।
भूयो हृदा दक्षभागादादायाज्यं मुखं यजेत् ॥२३६१॥
अग्नये त्विष्टकृते तदास्यस्योद्घाटनं मतम् ।
नरसिंहं विना विष्णुमन्त्रे नेत्रद्वयं यजेत् ॥२३६२॥

नरसिंहादिदेवेषु वह्नेर्नेत्रत्रयं स्मृतम् ।
महाव्याहृतिभि र्व्यस्तसमस्ताभिश्चतुष्टयम् ॥२३६३॥

आहुतीनां त्रयं वह्निमन्त्रेण च ततश्चरेत् ।
घृताहुतिभिरष्टाभिरेकैकां संस्कृतिं चरेत् ॥२३६४॥

ओमस्याग्ने अमुं संस्कारं करोम्यनलवल्लभा ।
इत्थं मनुं जपेद् गर्भाधानं पुंसवनं ततः ॥२३६५॥

सीमन्तोन्नयने जातकर्म कृत्वा ततश्चरेत् ।
वह्नौ पंचसमिद् होमान्नालापनयनं वसोः ॥२३६६॥

कुर्याद् देवाभिधानेन पूर्ववन्नामशुष्मणः ।
नामानन्तरमेतस्य पितरौ स्वेऽर्पयेद् हृदि ।
अन्नप्राशं तथा चौलोपनयौ दारयोजनम् ॥२३६७॥

संस्काराः स्यु र्विवाहान्ताः मृत्य्वन्ताः क्रूरकर्मणि ।
एकैकामाहुतिं कुर्याद् वह्नेर्जिह्वांगमूर्त्तिभिः ॥२३६८॥

इन्द्रादिभिश्च वज्राद्यैर्द्विठान्तै र्जुहुयात् ततः ।
स्रुवेणाज्यं चतुर्वारं निधाय स्रुचितं सुधीः ॥२३६९॥

अपिधाय स्रुवेणैव गृह्णीयात् करयुग्मतः ।
तिष्ठन् मूलं तयोर्नाभौ कृत्वाग्नौ निःक्षिपेत् समम् ॥२३७०॥

वामस्तनान्तं तन्मूलं कृत्वाग्निमनुना सुधीः ।
जुहुयाद् वौषडन्तेन संपत्त्यर्थमतन्द्रितः ॥२३७१॥

महागणेशमन्त्रेण व्यस्तेन दशधा ततः ।
जुहुयाच्च समस्तेन चतुर्वारं घृताहुतीः ॥२३७२॥

पूर्वपूर्वयुतं बीजषट्कं बाणाश्च सायकाः ।
मुनयो मार्गणाश्चेति विभागस्तन्मनोः स्मृतः ॥२३७३॥

तारो लक्ष्मी र्गिरिसुता कामो भू र्गणनायकः ।
चतुर्थ्यन्तो गणपति र्वरान्ते वरदेति च ॥२३७४॥

सर्वान्ते जनमित्युक्त्वा मेवशान्ते तु मानय ।
स्वाहान्तो वसुयुग्मार्णो महागणपते र्मनुः ॥२३७५॥

एवं कृत्वाग्निसंस्कारं पीठं देवस्य योजयेत् ।
तत्रेष्टदेवमावाह्य मुद्रा आवाहनादिकाः ॥२३७६॥
प्रदर्श्य वह्निरूपस्य देवस्य वदने पुनः ।
मूलेन जुहुयात् पंचनेत्रसंख्या घृताहुतीः ॥२३७७॥
इष्टदेवस्यावृतोनामेकैकाहुतिमाचरेत् ।
ततस्तु मूलमन्त्रेण दशधा जुहुयाद् घृतम् ॥२३७८॥
ततः कल्पोक्तद्रव्येण दशांशं जुहुयाज्जपात् ।
होमं समाप्य विधिवत् कुर्यात् पूर्णाहुतिं सुधीः ॥२३७९॥
होमावशिष्टेनाज्येन पूरयित्वा स्रुचं सुधीः ।
फलं पुष्पं निधायाग्रे स्रुवेणाच्छाद्य तं पुनः ॥२३८०॥
उत्थितो वौषडन्तेन मूलेन जुहुयाद् वसौ ।
तद्द्रव्येणावृतीनां च जुहुयादाहुतिं पृथक् ॥२३८१॥
देवं विसृज्य स्वहृदि वह्नेे जिह्वांगमूर्त्तिभिः ॥
जुहुयाद् व्याहृती हुत्वा प्रोक्षेत् तं प्रोक्षणीजलैः ॥२३८२॥
संप्रार्थ्यानेन मनुना नत्वा तं विसृजेद् हृदि ।
भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक ॥२३८३॥
कर्मान्तरेऽपि संप्राप्ते सान्निध्यं कुरु सादरम् ।
वह्नौ पवित्रे निःक्षिप्य प्रणीताम्बु भुवि क्षिपेत् ॥२३८४॥
विधिं विसृज्य सकुशान् परिधीन् विन्यसेद् वसौ ।
एवं होमं समाप्यान्ते तर्पयेद् देवतां जलैः ॥२३८५॥
अथवा हेमपात्रादौ यंत्रं कृत्वा ततः परम् ।
पूजयित्वा स्वेष्टदेवं परिवारगणान्वितम् ॥२३८६॥
तर्पयेत् तं परं देवं तत्प्रकारमिहोच्यते ।
तर्पयित्वा गुरूनादौ मूलदेवं च तर्पयेत् ॥२३८७॥
मूलान्ते नाम चोच्चार्य तर्पयामि ततः परम् ।
स्वाहान्तं तर्पयेन्मन्त्री होमसंख्यादशांशतः ॥२३८८॥

योगिनीहृदये-

तर्पणं च प्रकुर्वीत द्वितीयान्तमथोच्चरन् ।
एकैकमञ्जलिं कृत्वा संतर्प्य रश्मिवृन्दकम् ॥२३८९॥

तर्पणद्रव्यं विशुद्धेश्वरे, कुलार्णवे च-

जले देवं समावाह्य पाद्याद्यैरुदकात्मकैः ।
सम्पूज्य विधिवद् भक्त्या परिवारसमन्वितम् ॥२३९०॥

एकैकमञ्जलिं तोयं परिवारान् प्रतर्पयेत् ।
ततो होमदशांशेन तर्पयेत् परदैवतम् ॥२३९१॥

तर्पणं चेन्दुमत् तोयैस्तीर्थतोयैस्तथा पुनः ।
गुरूपदिष्टविधिना मधुना वाऽथ तर्पयेत् ॥२३९२॥

तंत्रान्तरे-

तीर्थतोयेन दुग्धेन सर्पिषा मधुनापि वा ।
गंधोदकेन वा कुर्यात् सर्वत्र साधकोत्तमः ॥२३९३॥

कालागरुद्रवोपेतैर्वशयेज्जगदादिकम् ।
सचन्दनेन तोयेन सौभाग्यं लभते नरः ॥२३९४॥

तोयैः कुंकुममिश्रैश्च स्तम्भयेदखिलं जगत् ।
सितामिश्रिततोयेन बृहस्पतिसमो भवेत् ॥२३९५॥

कर्पूरात्तजलेनैव सर्वानाकर्षयेद् ध्रुवम् ।
रोचनायुक्ततोयेन मुच्यते सर्वदुर्ग्रहात् ॥२३९६॥

ध्यात्वा देवं मुखे तस्य तर्पणं च समाचरेत् ।
सर्वशास्त्रेषु कथितं तर्पणं शुभदायकम् ॥२३९७॥

एवं तु तर्पणं कृत्वाभिषेकं तद्दशांशतः ।
आत्मानं देवता बुद्ध्या सम्पूज्य तन्मयः सुधीः ॥२३९८॥

नमोऽन्तं मूलमुच्चार्य तदन्ते देवताभिधाम् ।
द्वितीयान्तमहं पश्चादभिषिचाम्यनेन तु ।
अभिषिञ्चेत् स्वमूर्धानं तोयैः कुम्भाख्यमुद्रया ॥२३९९॥

शक्तिविषये—

मूलविद्यां समुच्चार्य तदन्ते देवताभिधाम् ।
तदन्ते चाभिषिंचामि नमोऽन्तमभिषेचनम् ॥२४००॥
'तर्पणे मार्जनेऽपि स्यात् नमसोऽन्ते पुन र्नमः ।

इति शक्तिसंगमवचनात् नमोऽन्तेषु मंत्रेषु पुनर्नम इति योजनीयम् ।

स्वमूर्ध्नीत्थं चिन्तयित्वा यन्त्रमध्यगतां पराम् ॥२४०१॥
तर्पणस्य दशांशेनाभिषिंचेच्च जगन्मयीम् ।
ततो नानाविधैरन्नैस्तर्पयेद् द्विजसत्तमान् ॥२४०२॥
इष्टरूपान् समाराध्य तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् ।
न्यूनं सम्पूर्णतामेतिब्राह्मणाराधनान् नृणाम् ।
देवताश्च प्रसीदन्ति सम्पद्यन्ते मनोरथाः ॥२४०३॥

यामले-

ब्राह्मणान् भोजयेद् देवि तथा चैव कुमारिकाः ।
साधकः पशुतामेति कुमारीभोजनादृते ॥२४०४॥
तत्तन्मन्त्रयुतान् विप्रान् भोजयेद् देवताधिया ।
ततः सम्पूजयेद् भक्त्या सद्भावै र्विविधै र्गुरुम् ॥२४०५॥
दक्षिणां गुरवे दद्याद् यथाविभवविस्तरैः ।
सिद्धमन्त्रो भवेन्मन्त्री नात्र कार्या विचारणा ॥२४०६॥
विभवे सति यो मोहात् न कुर्याद् विधिविस्तरम् ।
नैतत् फलमवाप्नोति देवद्रोही स उच्यते ॥२४०७॥

मुण्डमालायाम्-

यद्यदंगं विहीयेत तत् तस्य द्विगुणो जपः ।
कर्तव्यः साङ्गसिद्धयर्थं तदशक्तेन भक्तितः ॥२४०८॥
होमकर्मण्यशक्तानां विप्राणां द्विगुणो जपः ।
इतरेषां तु वर्णानां त्रिगुणादि समीरितः ॥२४०९॥

वैष्णवविषये गौतमीये-

होमाभावे जपः कार्यो होमसंख्या चतुर्गुणा ।
विप्राणां क्षत्रियाणां च रससंख्याभिधीयते ॥२४१०॥

वैश्यानां वसुसंख्याकमेषां स्त्रीणामयं विधिः ।
तावत्संख्या जपेनैव ब्राह्मणाराधनेन च ।
अव्याहता भवेत् सिद्धि र्नात्र कार्या विचारणा ॥२४११॥

अन्यच्च संहितायाम् शिववाक्यम्–

न गृही ज्ञानमात्रेण परत्रेह च मङ्गलम् ।
प्राप्नोति चन्द्रवदने दानहोमादिभि र्विना ॥२४१२॥

गृहस्थो यदि दानादि दद्यान् न जुहुयादपि ।
पूजयेद् विधिना नैव कः कुर्यादेतदन्वहम् ॥२४१३॥

न ब्रह्मचारिणो दातुमधिकारोऽस्ति भामिनि ।
गुरुभ्योऽपि च सर्वेभ्यः को वा दास्यत्यपेक्षितम् ॥२४१४॥

नारण्यवासिनां शक्ति र्न ते सन्ति कलौ युगे ।
परिव्राट् ज्ञानमात्रेण दानहोमादिभि र्विना ॥२४१५॥

सर्वदुःखपिशाचेभ्यो मुक्तो भवति नान्यथा ।
परिव्राडविरक्तश्च विरक्तश्च गृही तथा ॥२४१६॥

कुम्भीपाकेषु सज्जेते द्वावुभौ कमलानने ।
पुरा याः स्त्रियो गृहस्थाश्च मङ्गलै र्मङ्गलार्थिनः ॥२४१७॥

पूजोपकरणैः कुर्यु र्दद्यु र्दानानि चार्हणाम् ।
वानप्रस्थाश्च यतयो यद्येवं कुर्युरन्वहम् ॥२४१८॥

संसारान्न निवर्तन्ते विध्यन्ति क्रमदोषतः ।
आरूढपतिता ह्येते भवेयु र्दुःखभाजनम् ॥ २४१९॥ इति ।

अथ वक्ष्ये महादेवि होमकर्मसु सिद्धिदम् ।
अग्निचक्रं वरारोहे सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ॥२४२०॥

नित्ये नैमित्तिके दुर्गाहोमादौ न विचारयेत् ।
नवग्रहमयो वह्निस्ते च वह्निमया ग्रहाः ॥२४२१॥

अतस्तेषां स्थितिं ज्ञात्वा वह्नौ होमं समाचरेत् ।
शान्तिके पौष्टिके वृद्धौ क्रूरेष्वपि च कर्मसु ॥२४२२॥

तेषां स्थितिक्रमं वक्ष्ये नक्षत्रेषु यथाविधि ।
सूर्यो बुधो भृगुश्चैव शनिश्चन्द्रो महीसुतः ॥२४२३॥
जीवो राहुश्च केतुश्च नवैते देवि खेचराः ।
त्रीणि त्रीणि च ऋक्षाणि क्रमात् तेषु निधापयेत् ॥२४२४॥
सूर्यभाच्चन्द्रभं यावद् गणयेच्च महेश्वरि ।
आदित्ये च भवेत् शोको बुधे चैव धनागमः ॥२४२५॥
शुक्रे लाभं विजानीयात् शनौ पीडा न संशयः ।
चन्द्रे लाभः कुजे बन्धो गुरौ धनसमागमः ।
राहौ हानिस्तथा केतौ मृत्युरेवं फलं भवेत् ॥२४२६॥
सौम्यग्रहमुखे सौम्यं होमं क्रूरेऽथ क्रूरकम् ।
कुर्यादेवं महेशानि काम्यहोमं समाहितः ॥२४२७॥
अन्यथा क्रियमाणे तु नैष्फल्यं चात्मनाशनम् ।

अथापरः प्रकारो गणेशविमर्शिन्याम्-

नवकोष्ठं समालिख्य क्रमादीशानरक्षसोः ।
वारुण्यैन्द्रयो र्वायुवन्ह्योर्दक्षिणोत्तरयो र्न्यसेत् ॥२४२८॥
सूर्यादीन् मध्यकोष्ठे तु केतुं न्यस्य फलं दिशेत् ।
आदित्ये च भवेत् शोको बुधे धनसमागमः ॥२४२९॥
शुक्रस्थानेऽर्थलाभः स्यात् शनि र्हानिकरो भवेत् ।
चन्द्रे लाभं विजानीयाद् भौमे च वधबन्धनम् ॥२४३०॥
गुरावर्थस्य लाभः स्याद् राहु र्हानिकरो मतः ।
केतुना मृत्युमाप्नोति वह्निचक्रेष्वयं क्रमः ॥२४३१॥
त्रयं त्रयं च गणयेत् सूर्यर्क्षाद् दिनभावधि ।

सू.	बु.	शु.	श.	चं.	भौ.	गु.	रा.	के.
अ.	रो.	पुन.	म.	ह.	वि.	मू.	श्र.	पू.
भ.	मृ.	पु.	पू.	चि.	अ.	पू.	ध.	उ.
कृ.	आ.	श्ले.	उ.	स्वा.	ज्ये.	उ.	श.	रे.

पू०

ई०				अ०
	रवि अ० भ० कृ०	बुध म० पू० उ०	शुक्र वि० अनु० ज्ये०	
उ०	राहु श्र० ध० श०	केतु पू० उ० रे०	शनि मू० पू० उ०	द०
	गुरु ह० चि० स्वा०	भौम पुन० पु० श्ले०	चंद्र रो० मृ० आ०	
वा०				नै०

प०

अथ वह्निस्थितिं वक्ष्ये काम्यहोमसु सिद्धये ॥२४३२॥
स्वर्गलोके च पाताले भूमौ तिष्ठति हव्यवाट् ।
तत्प्रकारमहं वक्ष्ये साधकानां शुभावहम् ॥२४३३॥

सधृतिस्तिथिवारांश्च तथाष्टाविंशति र्भवेत् ।
संपिण्ड्य त्रिर्हरेद् भागमेकशेषे च स्वर्गके ॥२४३४॥

द्विके पातालगो वह्निः शून्ये भूमध्यगो भवेत् ।
उत्पातः स्वर्गलोकस्थे पातालस्थे धनक्षतिः ॥२४३५॥

मर्त्यलोकस्थितो वह्नि र्होमेऽभीष्टफलप्रदः ।
इत्थं विज्ञाय मंत्रज्ञो होमकर्म समाचरेत् ॥२४३६॥

वह्ने र्जिह्वासु देवानां तत् तत् कार्यसमाप्तये ।
जुहुयाद् वाञ्छितां सिद्धिं दद्युस्ता देवता मताः ॥२४३७॥

रुद्रेन्द्रवह्निमांसादवरुणानिलमध्यके ।
हिरण्याद्या स्थिता वह्ने रसनाः सप्त कीर्तिताः ॥२४३८॥

त्रिशिखा मध्यमा जिह्वा बहुरूपा समाह्वया ।
फलं तु कामनाभेदे क्रमादासामुदीर्यते ॥२४३९॥

वश्याकर्षणयोराद्या गगना स्तंभने मता ।
विद्वेषमोहयो रक्ता कृष्णा मारणकर्मणि ॥२४४०॥

सुप्रभा शांतिके पुष्टौ सुरक्तोच्चाटने मता ।
एकैव वहुरूपा तु सर्वकामफलप्रदा ॥२४४१॥

एधांसि च हिरण्यायां गगनायां चरुं घृतम् ।
सिद्धार्थं बहुरूपायां रक्तायां तु यवास्तथा ॥२४४२॥

कृष्णायां तु हुनेल्लाजा सुप्रभायां तु सक्तुभिः ।
तिलांश्चैवातिरक्तायां कनकायां तु सर्वदा ।
सर्वद्रव्याणि जुहुयात् साधकः सर्वकर्मसु ॥२४४३॥

अग्निज्वालने विशेषः, मन्त्रतन्त्रप्रकाशे–

जुहूषुश्च हुताग्निश्च पाणिशूर्पस्त्रुवादिभिः ।
न कुर्यादग्निधमनं न कुर्याद् व्यजनादिना ॥२४४४॥

मुखेनैव धमेद् वह्निं मुखादेषो ह्यजायत ।
नाग्निं मुखेनेति तु यत् लौकिके योजयेत्तु तत् ॥२४४५॥

अथ द्रव्याणि फेत्कारिणीतन्त्रे–

अथ द्रव्याणि वक्ष्यामि तत्तत्कर्मानुरूपतः ।
शान्तिके तु पयः सर्पिस्तिलाः क्षीरद्रुमेधिकाः ॥२४४६॥

अमृताख्या लता चैव पायसं तत्र कीर्तितम् ।
पौष्टिके विल्वपत्रैश्च जातिपुष्पै र्नृपो भवेत् ॥२४४७॥

कन्यार्थी जुहुयाल्लाजैः श्रीकामः कमलैस्तथा ।
दध्ना च श्रियमाप्नोति अन्नैरन्नं घृतप्लुतैः ॥२४४८॥

क्षीरेण सर्पिषा वापि कमलै र्मधुरप्लुतैः ।
समृद्धौ जुहुयान् मन्त्री महानैर्धन्यशान्तये ॥२४४९॥

लक्षहोमाल्लभेत् शान्तिं घृतै र्विल्वदलै र्निधिम् ।
आकर्षणे तु लवणं प्रियंगुं विल्वजं फलम् ॥२४५०॥

जातीपलाशकुसुमैः सर्वैरेकैकमेव वा ।
राजीलवणकै र्वश्यं पौष्टिकं वश्यकोदितैः ॥२४५१॥

वश्यार्थी जातिकुसुमैराकृष्टौ करवीरजैः ।
कार्पासबीजैस्तक्राक्तै र्नरकेशैरथापि वा ॥२४५२॥

एकीकृत्य हुनेन्मन्त्री शत्रुमारणकाङ्क्षया ।
जुहुयात् सार्षपैस्तैलैरथवा शत्रुमारणे ॥२४५३॥

रोहीबीजैस्तिलोपेतैरुत्सादे जुहुयान् नरः ।
मुखकण्टकसंयुक्तै र्बीजैः कार्पासिकैरपि ॥२४५४॥

सर्षपैस्तिलसंमिश्रै र्हुनेत् सर्वाभिचारके ।
काकोलूकच्छदैः क्रूरैः कारस्करविभीतकैः ॥२४५५॥

मरिचैः सर्षपैः शुद्धैरर्कक्षीरैः कटुत्रयैः ।
कटुतैलैः स्नुहीक्षीरैः कुर्यान्मारणकर्मणि ॥२४५६॥

वनदुर्गाकल्पे-

आयुष्कामो घृततिलै र्दूर्वाभिश्चाम्रपल्लवैः ।
पयोक्तैराम्रपत्रैश्च ज्वरं सद्यो विनाशयेत् ॥२४५७॥

गुडूची मृत्युञ्जयने तथा शान्तौ गजाश्वयोः ।
गौरैस्तु सर्षपै र्हुत्वा सद्यो रोगं हरेज्ज्वरी ॥२४५८॥

पुष्टिकामो वेतसीसमिद्भिः पत्रकैस्तथा ।
हुत्वा पुष्टिमवाप्नोति पुत्रजीवैस्तु पुत्रकम् ॥२४५९॥

घृतगुग्गुलुहोमेन वाक्पतित्वं प्रजायते ।
मल्लिकाजातिकुसुमै र्नागपुंनागसम्भवैः ॥२४६०॥

पुष्पैः सरस्वतीसिद्धिस्तथा सर्वार्थसाधनम् ।
पयसा लवणै र्वापि हुनेद् वृष्टिनिवारणे ॥२४६१॥

रक्तपुष्पैरपामार्गैरङ्कोलैश्च सुभद्रकैः ।
त्रिभि र्मधुरसंयुक्तै र्मन्त्री कुर्याच्च वश्यकम् ॥२४६२॥

वातोद्धूतैः शुष्कपत्रैः काष्ठैरशनिपातितैः ।
उष्ट्रास्थ्ना च वचाङ्गारैः शत्रोरुच्चाटनं भवेत् ॥२४६३॥

दूर्वागुडूच्योद्रव्येण सर्पिषा तिलतण्डुलैः ।
अन्नैः समिद्भिः पालाशैः शान्ति कुर्याद् विचक्षणः ॥२४६४॥

गणेशविमर्शिण्याम्-

घृतहोमे धनावाप्तिः सिद्धार्थैः कीर्तिरुत्तमा ।
किंशुकैः सर्वकामाप्तिः फलहोमे सुखं भवेत् ।

गुडेन प्रियता प्रोक्ता चम्पकैः पाटलै रमा ।
पुत्रजीवे सुतावाप्तिः करवीरैः स्त्रियो वशाः ॥२४६५॥

आयुःकरी भवेद् दूर्वा गुडूची रोगशान्तिदा ।
तिला अपि तथा प्रोक्ता सौभाग्यं गंधहोमतः ॥२४६६॥

श्रीफलै बिल्वपत्रैश्च तथा जलरुहैरपि ।
भ्रष्टराज्यस्य राज्याप्ति र्मल्लिका कीर्तिदा मता ॥२४६७॥

कर्णिकारैः किंशुकैश्च भवेयु विबुधा वशाः ।

काशमर्दैं र्नृपा वश्याः कृतमाले विशो वशाः ॥२४६८॥

शूद्राः स्युः पाटलै र्वश्याः नीलपद्मै र्भवेद् रमा ।
जातिपुष्पै र्भवेद् वाणी मधुरैरिष्टसम्पदः ॥२४६९॥

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षसमिद्भि र्वाञ्छिताप्तयः ।
विशीर्णा द्विदला ह्रस्वा वक्राः स्थूलाः कृशास्तथा ॥२४७०॥

कृमिदष्टाश्च दीर्घाश्च वित्वचो दुःखकारकाः ।
सक्षीरा नाधिका न्यूनाः समिधः सर्वकामदाः ॥२४७१॥

आर्द्रत्वचं समच्छेदां तर्जन्यंगुलिवर्त्तुलाम् ।
ईदृशीं होमयेत् प्राज्ञः प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ॥२४७२॥

श्रौते स्मार्ते च तन्त्रोक्ते समिधः परिकीर्तिताः ।
श्लेष्मान्तकपिशाचोत्थं त्यक्त्वान्येभ्यः समाहरेत् ॥२४७३॥

इष्टद्रव्यै र्भवेदिष्टं यवैश्च व्रीहिभिस्तथा ।
माषैररीणां मूकत्वं कोद्रवै र्व्याधिसम्भवः ॥२४७४॥

कलायहोमतोऽरीणां भीतिः स्यान्महती ध्रुवम् ।
विभीतकसमिद्भिः स्यादुन्मत्तं द्विषतां कुलम् ।
शाल्मलीसमिधा शत्रुपक्षनाशो भवेद् ध्रुवम् ॥ २४७५॥

अथात्र होमद्रव्याणां प्रमाणमभिधीयते ।
कर्षमात्रं घृतं होमे शुक्तिमात्रं पयः स्मृतम् ॥२४७६॥

उक्तानि पञ्चगव्यानि तत्समानि मनीषिभिः ।
तत् समं मधुदुग्धान्नमक्षमात्रमुदाहृतम् ॥२४७७॥

दधिप्रसृतिमात्रं स्याल्लाजाः स्यु र्मुष्टिसम्मिताः ।
पृथुकास्तत्प्रमाणाः स्युः सक्तवोऽपि तथा मताः ॥२४७८॥

गुडं पलार्धमानं स्यात् शर्करापि तथा मता ।
ग्रासार्धं चरुमानं स्यादिक्षुः पर्वावधि मंतः ॥२४७९॥

एकैकं पत्रपुष्पाणि तथापूपानि कल्पयेत् ।
कदलीफलनारङ्गफलान्येकैकशो विदुः ॥२४८०॥

मातुलुङ्गं चतुःखण्डं पनसं दशधा कृतम् ।
अष्टधा नारिकेलानि द्विधा तालं विदु र्बुधाः ॥२४८१॥

त्रिधाकृतं फलं बैल्वं कपित्थं खण्डितं त्रिधा ।
उर्वारुकफलं होमे चोदितं खण्डित त्रिधा ॥२४८२॥

फलान्यन्यान्यखण्डानि समिधः स्यु र्दशांगुलाः ।
दूर्वात्रयं समुद्दिष्टं गुडूची चतुरङ्गुला ॥२४८३॥

खण्डत्रयं तु मूलानां सूक्ष्माणि पंच होमयेत् ।
कन्दानामष्टमं भागं लतानामंगुलद्वयम् ॥२४८४॥

व्रीहयो मुष्टिमात्राः स्यु र्मुद्गा माषा यवा अपि ।
तण्डुलाः स्युस्तदर्द्धांशाः कोद्रवा मुष्टिसम्मिताः ॥२४८५॥

गोधूमा रक्तकलमा विहिता मुष्टिमानतः ।
तिलाश्चुलकमात्राः स्युः सर्षपास्तत्प्रमाणकाः ॥२४८६॥

शुक्तिप्रमाणं लवणं मरिचान्येकविंशतिः ।
पुरं बदरमानं स्यात् रामठं तत्समं स्मृतम् ॥२४८७॥

चंदनागरुकर्पूरकस्तूरीकुंकुमानि च ।
तिंतिणी बीजमानानि समुद्दिष्टानि देशिकैः ॥२४८८॥

मानलक्षणं तंत्रान्तरे—

गुंजाभि र्दशभि र्माषः शाणो माषचतुष्टयम् ।
द्वौ शाणौ घटकः कोलो वदरं द्रंक्षणश्च यः ॥२४८९॥
तौ द्वौ पाणितलं कर्षं सुवर्णं कवलग्रहः ।
पिचु र्विडालपदकं तिंदुकोऽक्षश्च तद् द्वयम् ॥२४९०॥
शुक्तिरष्टमिका ते द्वे पलं विल्वं चतुर्थिका ।
मुष्टिमात्रं प्रकुंचोऽथ द्वे पले प्रसृतिस्तथा ॥२४९१॥
वैश्वानरं स्थितं ध्यायेत् समिद्होमेषु देशिकः ।
शयानमाज्यहोमेषु निषण्णं शेषवस्तुषु ॥२४९२॥
आस्यान्तर्जुहुयादग्ने र्विपश्चित् सर्वकर्मसु ।
यत्र काष्ठं तत्र श्रोत्रे यत्र धूमस्तु नासिके ॥२४९३॥
यत्राल्पज्वलनं नेत्रं यत्र भस्म तु तत् शिरः ।
यत्रैव ज्वलितो वह्निस्तत्र जिह्वा प्रकीर्तिता ॥२४९४॥
सर्वकार्यप्रसिध्यर्थं जिह्वायां तत्र होमयेत् ।
कर्णहोमे भवेद् व्याधि र्नेत्रेऽन्धत्वमुदीरितम् ॥२४९५॥
नासिकायां मनःपीडा मस्तके धनसंक्षयः ।
शत्रुनाशकहोमे तु यदंगे जुहुयात् नरः ॥२४९६॥
तदङ्गं नाशयेत् क्षिप्रमिति शास्त्रस्य निश्चयः ।
स्वर्णसिन्दूरबालार्ककुंकुमक्षौद्रसन्निभः ॥२४९७॥
सुवर्णरेतसो वर्णः शोभनः परिकीर्तितः ।
भेरीवारिदहस्तीन्द्रध्वनि र्वह्नेः शुभावहः ॥२४९८॥
नागचंपकपुंनागपाटलायूथिकानिभः ।
पद्मेन्दीवरकह्लारसर्पि र्गुग्गुलुसंनिभः ॥२४९९॥
पावकस्य शुभो गंध इत्युक्तस्तंत्रवेदिभिः ।
प्रदक्षिणास्त्यक्तकम्पाः छत्राभाः शिखिनः शिखाः ।
शुभदा यजमानस्य राज्यस्यापि विशेषतः ॥२५००॥
कुन्देन्दुधवलो धूमो वह्नेः प्रोक्तः शुभावहः ।
कृष्णः कृष्णगते र्वर्णो यजमानं विनाशयेत् ॥२४०१॥

श्वेतो राष्ट्रं निहन्त्याशु वायसस्वरसंनिभः ।
खरश्वरसमो वह्ने र्ध्वनिः सर्वविनाशकृत् ॥२५०२॥

पूतिगंधो हुतभुजो होतु र्दुःखप्रदो भवेत् ।
छिन्नावर्ता शिखा कुर्यान् मृत्युं धनपरिक्षयम् ॥२५०३॥

शुकपक्षनिभो धूमः पारावतसमप्रभः ।
हानिं तुरगजातीनां गवां च कुरुतेऽचिरात् ॥२५०४॥

एवंविधेषु दोषेषु प्रायश्चित्ताय देशिकः ।
मूलेनाज्येन जुहुयात् पंचविंशतिमाहुतीः ॥२५०५॥

अत्र स्रुवधारणनियमस्तन्त्रान्तरे-

अग्निः सोमस्तथा सूर्यो रुद्रश्चैव प्रजापतिः ।
षष्ठश्चैव यमो देवः स्रुवे तिष्ठति सर्वदा ॥२५०६॥

स्रुवाग्रे वसते वह्नि र्विभागश्चतुरंगुलैः ।
अग्निस्थानेऽग्निसन्तापः सोमे क्लेश उदाहृतः ॥२५०७॥

सूर्ये पशुविनाशः स्याद् रौद्रे भयमवाप्नुयात् ।
प्रजापतौ प्रजावृद्धि र्यमे मृत्यु र्भवेद् ध्रुवम् ॥२५०८॥

यमभागं त्यजेन् मूलं षोडशांगुलमग्रतः ।
प्रजाभागे स्रुवं धार्यं सर्वकर्मसमृद्धये ॥२५०९॥ इति ।

होमे मुद्रात्रयं प्रोक्तं मृगी हंसी च शूकरी ।
शूकरी हस्तसंकोची मृगी मुक्तकनिष्ठिका ॥२५१०॥

हंसी स्यात् तर्जनीमुक्ता त्रिधा मुद्रा प्रकीर्तिता ।
शान्तिके च मृगी ज्ञेया हंसी पौष्टिककर्मणि ।
अभिचारे शूकरी स्याद् विद्वेषोच्चाटनादिषु ॥२५११॥

आकर्षणं वश्यवत् स्यात् शुभं शान्तिवदीरितम् ।
उग्रं मारणवद् ज्ञेयं कर्म सर्वत्र साधकैः ॥२५१२॥

नमोऽन्ते च नमो दद्यात् स्वाहान्ते द्विठमेव च ।
पूजायामाहुतौ चापि सर्वत्रायं विधिः स्मृतः ॥२५१३॥

एतदेव शक्तिसंगमे-

मन्त्रान्ते वह्निजाया या सा तु मन्त्रस्वरूपिणी ।
तदन्तेऽन्यां प्रयुञ्जीत सा होमांगतया मता ॥२५१४॥ इति ।

स्वाहान्तमन्त्रे स्वाहान्तरयोजनं नास्तीति प्राचीनानां लेखो निर्मूलत्वादनादेयः ।
स्रुक् स्रुवौ वायवीयसंहितायाम्-

स्रुक्स्रुवौ तैजसौ ग्राह्यौ न कांस्यायससीसकौ ।
यज्ञदारुमयौ वापि तान्त्रिकैः शिल्पिसम्मतौ ॥२५१५॥

पर्णे वा ब्रह्मवृक्षादेरच्छिद्रं मध्य उच्छ्रितम् ।
पलाशपर्णाभावेऽपि पर्णै र्वा पिप्पलोद्भवैः ॥२५१६॥

अन्यत्रापि-

पलाशपत्रे निश्छिद्रे रुचिरे स्रुक्स्रुवौ मुने ।
विदध्याद् वाश्वत्थपत्रे संक्षिप्ते होमकर्मणि ॥२५१७॥

तल्लक्षणं शारदायाम्-

प्रकल्पयेत् स्रुचं यागे वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
श्रीपर्णी शिंशपाक्षीरशाखिष्वेकतमं गुरुः ॥२५१८॥

गृहीत्वा विभजेद् हस्तमात्रं षट्त्रिंशता पुनः ।
विंशत्यंशै र्भवेद् दण्डो वेदिस्तैरष्टभि र्भवेत् ॥२५१९॥

एकांशेन मितः कण्ठः सप्तभागमितं मुखम् ।
वेदी त्र्यंशेन विस्तारः कण्ठस्य परिकीर्तितः ॥२५२०॥

अग्रं कण्ठस्य मानं स्यात् मुखे मार्गं प्रकल्पयेत् ।
कनिष्ठांगुलिमानेन सर्पिषो निर्गमाय च ॥२५२१॥

वेदीमध्ये विधातव्या भागेनैकेन कर्णिका ।
विदधीत बहिस्तस्या एकांशेनाभितो वटम् २५२२॥

तस्य मानं त्रिभि र्भागै र्वृत्तमर्धांशतो बहिः ।
अंशेनैकेन परितो दलानि परिकल्पयेत् ॥२५२३॥

मेखला मुखवेद्योः स्यात् परितोऽर्धांशमानतः ।
दण्डमूलाग्रयोः कुम्भौ गुणवेदांगुलैः क्रमात् ॥२५२४॥

गंडीयुगं यमांशैः स्याद् दण्डस्यानाह ईरितः ।
षड्भिरंशैः पृष्ठभागे वेद्याः कूर्माकृति र्भवेत् ॥२५२५॥

हंसस्य वा हस्तिनो वा पोत्रिणो वा मुखं खनेत् ।
मुखस्य पृष्ठभागस्य संप्रोक्तं लक्षणं स्रुचः ॥२५२६॥

स्रुचश्चतुर्विंशतिभि र्भागैरारचयेत् स्रुवम् ।
द्वाविंशतया दण्डमानमंशैरेतस्य कीर्तितम् ॥२५२७॥

चतुर्भिरंशैरानाहः कर्षाज्यग्राहि तत् शिरः ।
अंशद्वयेन निखनेत् पंके मृगपदाकृतिः ॥२५२८॥

दण्डमूलाग्रयो गण्डी भवेत् कंकणभूषिता ।
स्रुवस्य विधिराख्यातः सर्वागमसुसंमतः ॥२५२९॥ इति ।

आज्यस्थाली, प्रणीताप्रोक्षण्योः यथा लिङ्गपुराणे–

आज्यस्थाली प्रोक्षणी च प्रणीता तिस्र एव च ।
सौवर्णी राजती वापि ताम्री वा मृण्मयी तु वा ॥२५३०॥

अन्यथा नैव कर्त्तव्यं शान्तिके पौष्टिके शुभे ।
आयसी त्वभिचारे तु शान्तिके मृण्मयी तु वा ॥२५३१॥

षडंगुलं सुविस्तीर्णं पात्राणां मुखमुच्यते ।
प्रोक्षणी द्व्यंगुलोत्सेधा प्रणीता द्व्यंगुलाधिका ।
आज्यस्थाली ततस्तस्या उत्सेधा द्व्यंगुलाधिका ॥२५३२॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे होमादिविधान कथनं
नाम चतुर्दशः पटलः ॥१४॥

पंचदशः पटलः ।

वक्ष्येऽथ सर्वदेवानां पवित्रदमनार्पणे ।
पवित्रैः श्रावणे पूजा चैत्रे दमनकैरपि ॥२५३३॥

प्रत्यब्दं विधिवत् कुर्याद् वर्षार्च्चा फलसिद्धये ।
चैत्रो दमनपूजायाः मुख्यकालः प्रकीर्तितः ॥२५३४॥

मध्यमो माधवो ज्येष्ठः शुचिस्त्वधम उच्यते ।
चातुर्मास्ये प्रविष्टे तु यः कुर्याद् दामनं विधिम् ॥२५३५॥
न तस्य दुर्मतेः सिद्धि र्विपरीतं च जायते ।
प्रतिसम्वत्सरे चैव यो न कुर्वीत साधकः ॥२५३६॥
तस्य वर्षकृता पूजा व्यर्थीभवति मानिनि ।
कृतामपि विलुम्पन्ति भूतप्रेतादयो गणाः ॥२५३७॥
चैत्रशुक्लचतुर्दश्यां दमनैः पूजयेद् हरम् ।
नारायणं तु द्वादश्यामष्टम्यां गिरिनन्दिनीम् ॥२५३८॥
सप्तम्यां भास्करं देवं चतुर्थ्यां गणनायकम् ।
एवं तत् तत्तिथौ तं तं पवित्रं श्रावणेऽर्चयेत् ॥२५३९॥
पूर्वाह्ने दमनार्चाहात् कृत्वा नित्यार्चनं विभोः ।
गत्वा दमनकारामं गृह्णीयात् तं क्रयार्पणात् ॥२५४०॥
उपविश्य शुचौ देशे मनुनानेन चार्थयेत् ।
अशोकाय नमस्तुभ्यं कामस्त्रीशोकनाशन ।
शोकार्त्तिहर मे नित्यं आनन्दं जनयस्व मे ॥२५४१॥
इति संप्रार्थ्य तत्राच्चेद्रतिकामौ स्वमन्त्रतः ।
कामदेवाय कामादिहृदन्तोऽष्टाक्षरो मनुः ॥२५४२॥
कामस्य माया रत्यंहृत् पंचार्णास्तु रते र्मनुः ।
इष्टदेवस्य पूजार्थं नेष्यामि त्वामिमं ब्रुवन् ॥२५४३॥
उत्पाट्य पंचगव्येनाभिषिच्य क्षालयेज्जलैः ।
गंधादिभि र्हृदाम्यर्च्य छादयेत् सितवाससा ॥२५४४॥
निधाय वंशपात्रे तं गीतवादित्रनिस्वनैः ।
गृहमानीय सद्देशे स्थापयेद्देवतां स्मरन् ॥२५४५॥
ततो देवस्य पुरतः कृत्वाष्टादलमम्बुजम् ।
सितकृष्णरक्तपीतवर्णैः सम्पूरयेत् ततः ॥२५४६॥
भूपुरं तद्बहिः कृत्वा पीतवर्णेन पूरयेत् ।
सितरक्तपीतवर्णं तद्बहि र्वर्त्तुलत्रयम् ॥२५४७॥

रक्तवर्णेन तद्बाह्ये विदध्यात् चतुरस्रकम् ।
एवं विरचिते रम्ये मण्डले सर्वकामिके ॥२५४८॥

यदि वा सर्वतोभद्रे मुंचेद् दमनभाजनम् ।
सायंकालीनपूजान्ते कुर्यात् तस्याधिवासनम् ॥२५४९॥

ताराद्याभ्यां कामरतिमंत्राभ्यां तत्र तौ यजेत् ।
दलेष्वष्टसु रत्याद्यानष्टौ कामान् पृथग्दले ॥२५५०॥

कामो भस्मशरीरश्च ततोऽनङ्गश्च मन्मथः ।
वसन्तसखसंज्ञश्च स्मर इक्षुधनुर्धरः ॥२५५१॥

पुष्पबाण इमे कामास्तान् यजेन्नामभि र्निजैः ।
प्रणवानङ्गबीजाद्यैश्चतुर्थीहृदयान्वितैः ॥२५५२॥

कर्पूररोचनान्यंकुनाभिजागरुकुंकुमैः ।
धात्रीफलैश्चन्दनेन पुष्पैः कामान् यजेत् क्रमात् ॥२५५३॥

दमनं गन्धपुष्पाद्यैरभिपूज्याभिमन्त्रयेत् ।
अष्टोत्तरशतं कामगायत्र्या मन्त्रवित्तमः ॥२५५४॥

कामदेवाय वर्णान्ते विद्महे पदमुच्चरेत् ।
पुष्पबाणाय च पदं धीमहीति ततो वदेत् ॥२५५५॥

तन्नोऽनङ्गः प्रचोवर्णा दयादिति मनोभुवः ।
गायत्र्येषा बुधैरुक्ता जप्ता जनविमोहिनी ॥२५५६॥

हृदा पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा मनुनाऽनेन तं नमेत् ।
ॐ नमोऽस्तु पुष्पबाणाय जगदानन्दकारिणे ॥२५५७॥

मन्मथाय जगन्नेत्रे रतिप्रीतिप्रदायिने ।
ततो निमन्त्रयेद् देवमनेन मनुना सुधीः ॥२५५८॥

आमन्त्रितोऽसि देवेश प्रातःकाले मया विभो ! ।
कर्त्तव्यं तु यथालाभं पूर्णं पर्व तवाज्ञया ॥२५५९॥

देवे पुष्पाञ्जलिं दत्वा दण्डवत् प्रणिपत्य च ।
दमने वर्मणास्त्रेण विदध्यादवगुंठनम् ॥२५६०॥

रक्षणं च क्रमादेतदधिवासनमीरितम् ।
ततो जागरणं कुर्याद् देवं गायन् स्तुवन् जपन् ॥२५६१॥
सद्योऽधिवासने वापि कुर्यात् तत्र न जागरम् ।
प्रातःस्नानादि निर्वर्त्य कृत्वा नित्यार्चनं विभोः ॥२५६२॥
संकल्पं दमनार्चाया विदध्याद् देवताज्ञया ।
गृहीत्वा दमनस्याऽथ हस्ताभ्यां मञ्जरीं शुभाम् ॥२५६३॥
हृदाभिमन्त्रयेन्मन्त्री ततः श्लोकमिदं पठेत् ।
सर्वरत्नमयीं दिव्यां सर्वगन्धमयीं शुभाम् ॥२५६४॥
गृहाण मञ्जरीं देव नमस्तेऽस्तु कृपानिधे ! ।
मूलमन्त्रेण घण्टादिघोषैर्देवस्य मस्तके ॥२५६५॥
समर्प्य तां ततः कुर्यान्मालां दमननिर्मिताम् ।
हृदाभिमन्त्र्य चानेन श्लोकेनाप्यभिमन्त्रयेत् ॥२५६६॥
सर्वरत्नमयीं नाथ दामनीं वनमालिकाम् ।
गृहाण देवपूजार्थं सर्वगन्धमयीं विभो ! ॥२५६७॥
मूलमन्त्रं जपन् देवमुकुटे तां समर्पयेत् ।
दमनेनेष्टदेवस्य परिवारान् समर्चयेत् ॥२५६८॥
ततो नैवेद्यताम्बूले दत्वा नत्वा च दण्डवत् ।
दमनार्चा कृतां तस्मै श्लोकेन विनिवेदयेत् ॥२५६९॥
देवदेव ! जगन्नाथ ! वाञ्छितार्थप्रदायक ।
कृत्स्नान् पूरय मे नाथ कामान् कामेश्वरीप्रिय ॥२५७०॥
जप्त्वा मूलमनुं वह्नि हुत्वा देवं विसृज्य च ।
गुरुं गत्वा दमनकै र्यजेत् तं तोषयेद् धनैः ॥२५७१॥
विप्रान् सम्भोज्य भुञ्जीत स्वदेवाय निवेदितम् ।
एवं कृते कृतार्थः स्याद् वर्षार्चाफलभाङ् नरः ॥२५७२॥
कथिता दमनार्चैषा पवित्रयजनं ब्रुवे ।
आषाढ उत्तमो मासः श्रावणो मध्यमः स्मृतः ॥२५७३॥

हीनो भाद्रपदो मासः पक्षौ सितसितेतरौ ।
प्रशस्तः शुक्लपक्षस्तु तदभावे सितेतरः ॥२५७४॥

स्वेषु स्वेष्वेव तिथिषु पवित्रार्पणमुत्तमम् ।
पवित्र यजनाहात्तु पूर्वस्मिन् वासरे सुधीः ॥२५७५॥

विदध्यान्नित्यपूजान्ते पवित्राणि यथाविधि ।
हेमदुर्वर्णताम्रोत्थतन्तुभिः पट्टसूत्रतः ॥२५७६॥

यद्वा कार्पाससूत्रैस्तु निर्मितै विप्रभार्यया ।
अन्यया वा सधवया सदाचारप्रसक्तया ॥२५७७॥

कर्तितैस्तानि कुर्वीत न पुंश्चल्यादिनिर्मितैः ।
त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य निर्माय नवसूत्रकम् ॥२५७८॥

सम्प्रोक्ष्य पञ्चगव्येन क्षालयेदुष्णवारिणा ।
प्रणवेनाभिषिञ्चेत मूलेनाष्टोत्तरं शतम् ।
मन्त्रयेन्मूलगायत्र्या तावदेव ततः सुधीः ॥२५७९॥

रचयेन्नवसूत्रीभिरष्टोत्तरशतेन च ।
तदर्धेन तदर्धेन जातूरूनाभिमानतः ॥२५८०॥

देवेशस्य पवित्राणि शुचौ देशे प्रसन्नधीः ।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तेषु ग्रंथीन् ददीत च ॥२५८१॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वमार्तण्डमितां ज्येष्ठादिषु क्रमात् ।
अष्टोत्तरसहस्रेण नवसूत्रविनिर्मितम् ॥२५८२॥

अष्टोत्तरशतग्रन्थि वनमालापवित्रकम् ।
कृत्वा तान् रंजयेद् ग्रन्थीन् रोचनाकुंकुमादिभिः ॥२५८३॥

वैणवे पटले तानि संछाद्य सितवाससा ।
स्थापयित्वा विनिर्मायादन्यान्यावरणार्चने ॥२५८४॥

सप्तविंशत्यष्टरविनवसूत्रीमितानि च ।
अद्रिनेत्रमिताभिस्तु कुर्याद् गुरुपवित्रकम् ॥२५८५॥

तावतीभिः कृशानोस्तत् षड्विंशत्या तदात्मनः ।
तत्र ग्रन्थि यथाशोभं दत्वा संरंजयेदपि ।
तानि पात्रान्तरे न्यस्य कुर्याद् गन्धपवित्रकम् ॥२५८६॥

द्वादशग्रन्थि तिग्मांशो र्नवसूत्रीविनिर्मितम् ।
निर्मायैवं पवित्राणि कुर्यात् पूजार्थमण्डलम् ॥२५८७॥

पङ्कजं षोडशदलं पूरयेदष्टवर्णकैः ।
नीलहारिद्रशोणाभमांजिष्ठश्वेतसंज्ञकैः ॥२५८८॥

सिन्दूरधूम्रकृष्णाख्यैस्तद्बहि र्मण्डलत्रयम् ।
सूर्यसोमाग्निसंज्ञं तु सितपीतारुणं क्रमात् ॥२५८९॥

तद्बाह्येऽष्टदलं कुर्यादरुणं यदि वा सितम् ।
एवं मण्डलमारच्य पूजयेत् कुसुमादिभिः ।
तस्योपरि निबध्नीयाद् वितानं समलंकृतम् ॥२५९०॥

मण्डले स्थापयेद् देवं प्रतिमां यदि वा घटम् ।
तत्रेष्टदेवं सम्पूज्य पायसं विनिवेदयेत् ॥२५९१॥

देवताग्रे पवित्राणां पात्रं न्यस्याधिवासयेत् ।
उक्तसंख्यस्य सूत्रस्यालाभे तानि यथारुचि ॥२५९२॥

ज्येष्ठादीनि पवित्राणि विदध्यात् सर्वदा सुधीः ।
तत्र द्वाविंशतीदेवानाहूय प्रतिपूजयेत् ॥२५९३॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानास्त्रिसूत्र्या देवताः स्मृताः ।
ओंकारचन्द्रमावह्निब्रह्मनागशिखिध्वजाः ॥२५९४॥

सूर्यः सदाशिवो विश्वे नवसूत्राधिदेवताः ।
क्रिया च पौरुषी वोरा चतुर्थी त्वपराजिता ॥२५९५॥

विजया जयया युक्ता मुक्तिदा च सदाशिवा ।
मनोन्मनी तु नवमी दशमो सर्वतोमुखी ॥२५९६॥

एताः पवित्रग्रन्थीनां देवताः परिकीर्तिताः ।
आवाहन्यादिनवभि र्मुद्राभिः साधकोत्तमः ॥२५९७॥

तदाह्वानादिकं तत्र कृत्वाऽर्चेच्चन्दनादिभिः ।
एवं पवित्राण्यभ्यर्च्य दद्याद् गन्धपवित्रकम् ॥२५९८॥

तद् धूपयित्वा तारेण हृदयेनाभिमन्त्रयेत् ।
प्रणम्य प्रार्थयेद्देवं श्लोकयुग्ममिमं पठन् ॥२५९९॥

आमन्त्रितोऽसि देवेश ! सार्धं देव्या गणेश्वरैः ।
मन्त्रेशै र्लोकपालैश्च सहितः परिचारकैः ॥२६००॥

आगच्छ भगवन्नीश विधिसंपूर्तिकारक ! ।
प्रातस्त्वां पूजयिष्यामि सान्निध्यं कुरु केशव ! ॥२६०१॥

ततो गन्धपवित्रं तत् पादयो र्विन्यसेत् प्रभोः ।
केशवेतिपदस्थाने कार्य ऊहोऽन्यदैवते ॥२६०२॥

भगवत्या पदेष्वत्र लिङ्गोहो मन्त्रवित्तमैः ।
अधिवासं विधायैवं निशि जागरणं चरेत् ॥२६०३॥

देवस्य स्तुतिनामानि वदेद् गायंश्च तद्गुणान् ।
प्रात र्नित्यार्चनं कृत्वा मूलेनाष्टोत्तरं शतम् ॥२६०४॥

कनिष्ठाख्यं पवित्रं तद् गृहीत्वा चाभिमन्त्रयेत् ।
घण्टावादित्रवेदानां कारयेद् घोषमुत्तमम् ॥२६०५॥

जयशब्दश्च देवस्य कण्ठे मूलेन चार्पयेत् ।
एवमेवार्पयेदन्ये पवित्रे मध्यमोत्तमे ॥२६०६॥

श्वेतं रक्तं क्रमात् पीतं ध्यायेद्देवं तदर्पणे ।
वनमालापवित्रं तु तावन्मूलेन मन्त्रितम् ॥२६०७॥

अर्पयेदिष्टदेवस्य मुकुटे मूलमुच्चरन् ।
ततः सुवर्णकुसुमं पुष्पैः शतमितैः सह ॥२६०८॥

मूलाभिमन्त्रितं देवमूर्ध्नि मूलेन चार्पयेत् ।
हृदान्यपटलस्थानि पवित्राण्यभिमन्त्र्य च ॥२६०९॥

तत्तन्नाम्ना नमोऽन्तेन परिवारसुरान् यजेत् ।
एवं पवित्रैः सम्पूज्य धूपादीनि प्रकल्पयेत् ॥२६१०॥

पावके देवमावाह्य नित्यहोमं विधाय च ।
मूलेनाग्निपवित्रं तदर्पयेद् देवतां स्मरन् ॥२६११॥

मूर्तौ देवं समुद्वास्य वह्निं संयोज्य चात्मनि ।
पुष्पाञ्जलिं विधायेशे कर्मानेन निवेदयेत् ॥२६१२॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं कृपानिधे ।
पूजनं पूर्णतामेतु पवित्रेणार्पितेन मे ॥२६१३॥

इति संप्रार्थ्य देवेशं योजयेद् हृदये निजे ।
गुर्वन्तिकं ततो गत्वा दत्वा पुष्पाञ्जलिं गुरौ ॥२६१४॥

स्वांगे षडङ्गं विन्यस्य गुरुदेहेऽपि विन्यसेत् ।
पाद्यं दत्वा तथैवार्घं वस्त्रालंकारचन्दनम् ॥२६१५॥

पुष्पैः सम्पूज्य मूलेन पवित्रं तद्गलेऽर्पयेत् ।
स्वशक्त्या दक्षिणां दत्वा दण्डवत् प्रणमेद् गुरुम् ॥२६१६॥

अन्येभ्यः शिष्टवृद्धेभ्यः पवित्राणि ददीत च ।
सर्वथैव गुरोः पूजा कर्त्तव्या मन्त्रिणा सदा ॥२६१७॥

अपूजिते गुरौ सर्वा पूजा भवति निष्फला ।
गुरोरभावे तत्पुत्रं तदभावे तदात्मजम् ॥२६१८॥

दौहित्रं तदभावेऽन्यं पूजयेद् गुरुगोत्रजम् ।
ततो धृत्वा पवित्रं स्वं भोजयित्वा द्विजोत्तमान् ॥२६१९॥

भुञ्जीत तदनुज्ञातो बन्धुभिस्तनयैः सह ।
यथाकथंचित् कुर्वीत पवित्राणि सुरार्चने ॥२६२०॥

विधेरुक्तस्य चाशक्त्या पूजासम्पूर्त्तिहेतवे ।
यस्यां कस्यां तिथौ कुर्यात् तिथावुक्ते कृतं न चेत् ॥२६२१॥

सर्वथा श्रावणे चैकमपि तन्तुं निवेदयेत् ।
प्रत्यब्दं साधको यस्तु पूजां कुर्वीत दैवते ॥२६२२॥

ऐश्वर्यारोग्यसंयुक्तोऽनेकवर्षाणि जीवति ।
सम्पूर्णे हायने पूजा देवतानां कृता तु या ॥२६२३॥

सर्वा सम्पूर्णतामेति पवित्रदमनार्पणात् ।
अन्येष्वप्युपरागार्धोदयसौम्यायनादिषु ॥२६२४॥

कुर्यादलभ्ययोगेषु विशेषाद् देवतार्चनम् ।
यथायथेष्टदेवेषु नृणां भक्तिः समेधते ॥२६२५॥

प्राप्यते तदयत्नेन मनोऽभीष्टं तथा तथा ।
शुचौ तत्तत् तिथौ कुर्याद्देवप्रस्वापनोत्सवम् ।
ऊर्जे तथैव देवानामुत्थापनविधिं सुधीः ॥२६२६॥

माघकृष्णचतुर्दश्यां विशेषात् शिवपूजनम् ।
आश्विनोत्थनवाहेषु दुर्गा पूज्या यथाविधि ॥२६२७॥

गोपालं पूजयेद् विद्वान् नभःकृष्णाष्टमीदिने ।
रामं चैत्रे सिते पक्षे नवम्यामर्चयेत् सुधीः ॥२६२८॥

वैशाखादिचतुर्दश्यां नरसिंहं प्रपूजयेत् ।
यजेत् शुक्लचतुर्थ्यां तु गणेशं भाद्रमाघयोः ॥२६२९॥

महालक्ष्मीं यजेद् विद्वान् भाद्रकृष्णाष्टमीदिने ।
माघस्य शुक्लसप्तम्यां विशेषाद्दिननायकम् ॥२६३०॥

या काचित् सप्तमी शुक्ला रविवारयुता यदि ।
तस्यां दिनेशं सम्पूज्य दद्यादर्घं यथोदितम् ॥२६३१॥

तत्तत्कल्पोदितानन्यान् देवताप्रीतिवर्धनान् ।
विशेषनियमान् ज्ञात्वा भजेद्देवमनन्यधीः ॥२६३२॥

आषाढ़ी कार्तिकी मध्ये किंचिन्नियममाचरेत् ।
देवसम्प्रीतये विद्वान् जपपूजापरायणः ॥२६३३॥

यो विना नियमं मर्त्यो व्रतं वा जपमेव वा ।
चातुर्मास्यं नयेन्मूढो जीवन्नपि मृतो हि सः ॥२६३४॥

एवं यो भजते विष्णुं रुद्रं दुर्गां गणाधिपम् ।
भास्करं श्रद्धया नित्यं स कदाचिन्न सीदति ॥२६३५॥

स्वधर्ममाचरन् नित्यं देवपूजापरायणः ।
जितेन्द्रियोऽखिलान् भोगान् प्राप्येहानन्ततां व्रजेत् ॥२६३६॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे दमनपवित्रार्चाकथनं
नाम पञ्चदशः पटलः ॥१५॥

षोडशः पटलः ।

अथो कुमारीयजनं वक्ष्येऽभीष्टप्रदं नृणाम् ।
सर्वे देवा न तुष्यन्ति कुमारीभोजनादृते ॥२६३७॥

यामलेऽपि-

कुमारी योगिनी साक्षात् कुमारी परदेवता ।
असुराश्च तथा नागा ये ये दुष्टग्रहा अपि ॥२६३८॥
भूतवेतालगन्धर्वा डाकिनी यक्षराक्षसाः ।
याश्चान्या देवताः सर्वा भूर्भुवः स्वश्च भैरवाः ॥२६३९॥
पृथिव्यादीनि सर्वाणि ब्रह्माण्डं सचराचरम् ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥२६४०॥
ते तुष्टाः सर्वतुष्टाश्च कुमारीपूजनात् शिव ! ।
कुमारिका ह्यहं नाथ सदा त्वं च कुमारिका ॥२६४१॥
अष्टोत्तरशतं वापि एकां वापि प्रपूजयेत् ।
पूजिताः प्रतिपूज्यन्ते निर्दहत्यवमानिताः ॥२६४२॥
न तथा तुष्यते देवो बलिहोमस्तुतीरणैः ।
कुमारीपूजनेनात्र यथा सद्यः प्रसीदति ॥२६४३॥
न केवलं पूजयेच्च भोजयेच्चापि यत्नतः ।
व्यंगता चाप्यकरणात् पूजायाः परिकीर्तिता ॥२६४४॥
करणात् सांगतापि स्यादन्यस्मिन् न कृतेऽपि हि ।
स्मार्त्तानां निशि पूजोक्ता श्रौतानामपराह्णिकी ॥२६४५
नित्या तु शारदार्चायां काम्या नैमित्तिकी परा ।
महापर्वसु सर्वेषु विशेषाच्च पवित्रके ॥२६४६॥

पूजयेद् भक्तिभावेन यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ।
द्विवर्षाद्या दशाब्दान्ताः कुमारीः परिपूजयेत् ॥२६४७॥

अभावे षोडशाब्दान्ता विना पुष्पं कुमारिका ।
नाधिकाङ्गीं न हीनाङ्गीं कुष्ठिनीं च व्रणांकिताम् ॥२६४८॥

अन्धां काणां केकरां च कुरूपां रोमयुक्तनुम् ।
दासीजां दन्तुरां रुग्णां दुष्टां कन्यां न पूजयेत् ।
पितृमातृमतीं दिव्यां मनोनयननन्दिनीम् ॥२६४९॥

विप्रां सर्वेष्टसंसिध्द्यै यशसे क्षत्रियोद्भवाम् ।
वैश्यजां धनलाभाय पुत्राप्त्यै शूद्रजां यजेत् ॥२६५०॥

सन्ध्यैकवर्षा सम्प्रोक्ता द्विवर्षा च सरस्वती ।
त्रिधा मूर्तिस्त्रिवर्षा च चतुरब्दा तु कालिका ॥२६५१॥
सुभगा पंचवर्षा तु षड्वर्षा च उमा स्मृता ।
मालिनी सप्तवर्षा च अष्टवर्षा कुब्जिका ॥२६५२॥
नवाब्दा कालसंकर्षा दशवर्षाऽपराजिता ।
एकादशाब्दा रुद्राणी द्वादशाब्दा तु भैरवी ॥२६५३॥
तत्परा स्यान्महालक्ष्मीस्तत्परा पीठनायिका ।
क्षेत्रज्ञा तत्परा प्रोक्ता षोडशाब्दा च चण्डिका ॥२६५४॥

एवं पूज्या क्रमेणैव पूजाक्रममिहोच्यते ।
गीतवादित्रनिर्घोषैरानन्दादरपूर्वकम् ॥२६५५॥

पूजागृहद्वारि नीत्वा कुमारीं हृष्टमानसः ।
नित्यकृत्यं समाप्याथ कल्पितार्चनसम्भृतिः ॥२६५६॥
प्राणायामं विधायाथ गुरुं वामे गणेश्वरम् ।
दक्षे मध्ये कुमारीं च नत्वा दिग्बन्धनं चरेत् ॥२६५७॥
तालत्रयैश्छोटिकाभिस्ततस्तां स्वेष्टरूपिणीम् ।
ध्यायन् पादौ च प्रक्षाल्य तज्जलं शिरसि क्षिपेत् ॥२६५८॥
स्वोत्तरीयांशुकेनास्याः पादौ संशोध्य हृष्टधीः ।
भूतापसारणं कुर्यात् ततस्तालत्रयेण च ॥२६५९॥

प्रणवं च तथा पाशं मायां कूर्चं तथास्त्रकम् ।
भूतानि प्रवदेत् तद्वदपसारय शब्दतः ॥२६६०॥
विघ्नान् नाशय हृत्स्वाहा मन्त्रमेनं समुच्चरन् ।
अक्षतान् प्रक्षिपेत् पश्चात् कुमारी दक्षिणं करम् ।
गृहीत्वा वामहस्तेन दक्षपादपुरस्सरम् ॥२६६१॥
शनैः शनै र्नमन्नमौलिः पूजागृहमथानयेत् ।
ध्यायन् देवं पठन् मन्त्रं स्वपृष्ठेन प्रवेशयन् ॥२६६२॥
त्वमम्ब जगतामाद्ये जगदाधाररूपिणि ।
कुमारीरूपमास्थाय प्रविशेदं गृहं मम ॥२६६३॥
भवत्याः कीदृशं रूपं जाने मातरहं नहि ।
कुमारीरूपमेवेदं पश्यामि नरचक्षुषा ॥२६६४॥
भक्तिं मदीयां विज्ञाय त्वत्पादाम्बुजयोः शिवे ।
त्वया प्रकटितं रूपमीदृशं सर्वसिद्धये ॥२६६५॥
दृष्टिः कार्या न मे पापेऽसञ्चारे नासतः पथि ।
दृढायां केवलं भक्तौ दातव्या सुरवन्दिते ॥२६६६॥
शिवाद्यास्तव रूपं हि कीदृशं नेति जानते ।
ज्ञास्यामि को वराकोऽहं पांचभौतिकविग्रहः ॥२६६७॥
एवं पठन् पञ्चमन्त्रानासने सूपवेश्य च ।
कुमारी दक्षिणे भागे बलिं दद्यान्मनुं पठन् ॥२६६८॥
प्रणवं देवयोनिभ्यो नम अष्टाक्षरो मनुः ।
त्रिकोणमण्डले भूमौ दत्वान्नेन बलिं ततः ॥२६६९॥
न्यासं कुर्यात् कुमार्यङ्गे ष्वक्षतै र्भावयन् धिया ।
चण्डयोगेश्वरीं के च महापूर्वां प्रविन्यसेत् ॥२६७०॥
मुखे सिद्धिकरालीं च नेत्रयोर्विकरालिकाम् ।
महापूर्वां कर्णयोश्च महामारीं प्रविन्यसेत् ॥२६७१॥
नसो न्र्यसेत् साधकेन्द्रस्तथा वज्रकपालिनीम् ।
कपोलयो र्मुण्डमालामोष्ठयोश्चाट्टहासिनीम् ॥२६७२॥

दन्तपङ्क्त्योश्चण्डकालीं कालचक्रेश्वरीं ततः ।
स्कन्धयो र्हृदये गुह्यकालीं कात्यायनीं तथा ।
बाह्वोस्तथा च कामाक्षीं जठरे पृष्ठदेशके ॥२६७३॥

चामुण्डां सिद्धिलक्ष्मीं च न्यसेदूर्वोश्च कुब्जिकाम् ।
जान्वोश्च जङ्घयोस्तद्वन्मातङ्गीं पादयोस्तथा २६७४॥

चण्डेश्वरीं च सर्वाङ्गे कुमारीं विन्यसेद् बुधः ।
ङेऽन्तां नमोऽन्तां विन्यस्य पञ्चाङ्गानि न्यसेत् ततः ॥२६७५॥

मुद्रया भावयन् देवीं कुमार्यङ्गे विचक्षणः ।
सम्बुध्यन्ता जातियुक्ता तथा कुलकुमारिका ॥२६७६॥

हृदये शिरसि प्रोक्ता तथैव कुलनायिका ।
शिखायां कुलशब्दाद्या भैरवी परिकीर्तिता ॥२६७७॥

कुलवागीश्वरी तद्वद् वर्मणि प्रथिता सदा ।
कुलपालिकास्त्रे सम्प्रोक्ता ततो वक्त्राणि विन्यसेत् ॥२६७८॥

वामावर्त्तेन पूर्वादि दक्षिणान्तं तदीयके ।
बीजपूर्वाणि शिरसि बीजानि तु क्रमाद् ब्रुवे ।
वाग्भवं भुवनेशानीं श्रियं त्रींकूर्चशक्तिकैः ॥२६७९॥

बीजानां फलं भैरवतन्त्रे—

वाग्भवे तु परक्षोभं मायाबीजे गुणाष्टकम् ।
श्रीबीजेन श्रियो लाभं त्रींबीजेनाधिसंक्षयः ॥२६८०॥

कूर्चेनैव तु बीजेन खगत्वमुपजायते ।
शक्तिबीजेन शक्तित्वं सर्वशक्तिप्रदायकम् ॥२६८१॥

बीजषट्कं सिद्धिजये पूर्ववक्त्राय हृत् ततः ।
जये चोत्तरवक्त्राय हृदयं कुब्जिके ततः ॥२६८२॥

वदेत् पश्चिमवक्त्राय नमः स्यादथ कालिके ।
दक्षवक्त्राय हृदयं प्रत्येकं बीजपूर्वकम् ॥२६८३॥

इत्थं विन्यस्य तद्देहे कल्पोक्तं न्यासजालकम् ।
स्वीये शरीरे विन्यस्य तथार्घं स्थाप्य शोध्य च ।
पूजोपकरणं सर्वं कुमारीपश्चिमे ततः २६८४॥

पूजयेदक्षतैः पुष्पै रक्तचन्दनमिश्रितैः ।
विशुद्धां बालिकां चैव ललितां मालिनीं ततः ॥२६८५॥

वसुन्धरां पञ्चमीं च षष्ठीं चैव सरस्वतीम् ।
रमां गौरीं तथा दुर्गां नवशक्तीः क्रमादिमाः ॥२६८६॥

वाङ्मायाश्रीत्रिबीजाद्या ङेऽन्ताश्चैव नमोऽन्तिकाः ।
तद्दक्षे च गणेशानं नववर्षमितं वटुम् ॥२६८७॥

यजेच्च वटुकं तद्वत् पञ्चवर्षमितं शिशुम् ।
एवं पूज्य वरारोहे कुमारीं पूजयेत् ततः ॥२६८८॥

तत्तद्वर्षविभेदेन तत्तन्नाम्ना यथाविधि ।
चतुर्थ्यन्तं नमोऽन्तं च नाममन्त्रमुदीरितम् ॥२६८९॥

आसनं वाग्भवाद्येन पाद्यं मायादिकेन च ।
श्रीबीजाद्येन चार्घं स्यात् त्रीमाद्यं गन्धदानके ॥२६९०॥

कूर्चाद्येन तथा पुष्पमालां तस्यै निवेदयेत् ।
धूपं दीपं च नैवेद्यं वस्त्राण्याभरणानि च ॥२६९१॥

वस्तूनि सुमनोज्ञानि यावच्छक्यानि प्रीतये ।
शक्तिबीजेन वै दद्यात् सुप्रसन्नां विभाव्य च ॥२६९२॥

पूजयेदथ पञ्चाशच्छक्तीः तस्याः कलेवरे ।
पुष्पाक्षतै र्गन्धयुतैश्चतुर्थीनमसान्वितैः ॥२६९३॥

प्रणवाद्यै र्नाममन्त्रैः क्रमात् साधकसत्तमः ।
तास्त्वाद्या च जया चैव विजया ऋद्धिदा तथा ।
माया कला सिद्धिदा च सूक्ष्मा चैव प्रभा तथा ॥२६९४॥

सुप्रभा विद्युता तद्वद् विशुद्धा नन्दिनी पुनः ।
ज्ञेया विभूतिरपराजिता च ललिता तथा ।
लक्ष्मी गौरी तथा मेधा गायत्री च ततः परम् ॥२६९५॥

सावित्री च स्वधा स्वाहा तथेच्छा च क्रिया स्मृता ।
विद्या प्रज्ञा तथा दीप्ता चेतना भद्रिणी ततः ॥२६६६॥

ज्येष्ठाऽथोमा शिवा तद्वन्मुदिता च क्षमा ततः ।
शुद्धाख्या विमला चैव कौमुदी विशदा ततः ॥२६६७॥

अशोका ज्ञानदा चैव बलदा राज्यदा ततः ।
मैत्री तथा च रुद्राणी भवानी च मृडान्यपि ॥२६६८॥

सर्वज्ञा चण्डिका चैव कुमार्यन्ताः प्रकीर्तिताः ।
प्रपूज्य चैतास्तद्देहे तथैवान्या क्रमाद् यजेत् ॥२६६९॥

भैरवाष्टसमाख्याता भैरव्यश्चाष्ट तत्समाः ।
पूज्याः पुष्पाक्षतै र्देहे तस्या विघ्नविनाशकाः ॥२७००॥

वटुकः क्षेत्रपालश्च योगिन्यो भूतनायकाः ।
प्रेता यक्षाश्च डाकिन्यः पूज्यास्तद्वच्च शक्तयः ॥२७०१॥

महामाया कालरात्रिस्ततश्च सर्वमङ्गला ।
पूज्या डमरुका तद्वद् राजराजेश्वरी तथा ॥२७०२॥

संपत्प्रदा भगवती कुमारी स्यादतः परम् ।
तत्त्रिकोणे तथा पूज्या वामावर्त्तेन शक्तयः ॥२७०३॥

कामेशी चैव वज्रेशी तथा च भगमालिनी ।
द्वन्द्वशश्च पुनः पूज्यास्तत्रैव शक्तयश्च षट् ॥२७०४॥

अनङ्गाद्यास्तथा सर्वाः कुसुमा मन्मथा तथा ।
मदना कुसुमाद्या स्यात् तुरा च मदनातुरा ॥२७०५॥

शिशिरेति च विज्ञेया प्रणवाद्या नमोऽन्तिकाः ।
एवं पूजां विधायाथ कुमारी पुरतो बुधः ॥२७०६॥

वर्तुलं मण्डलं कृत्वा मध्ये कामकलां लिखेत् ।
ध्रुवादि शुभदायै हृन्मन्त्रेण कुसुमाक्षतैः ॥२७०७॥

पूज्य तत्र यथालाभं पात्रस्थान्नं चतुर्विधम् ।
निधाप्य च ततो मन्त्री कुमारीदक्षिणं करम् ॥२७०८॥

गृहीत्वोत्तानकं तत्र स्थापयेच्छक्तिमुच्चरन् ।
निवेदयेत् तं नैवेद्यं भावयन् हृदि देवताम् ॥२७०९॥
इदमन्नं तथा नाम चतुर्थ्यन्तं नमं पदम् ।
उच्चार्य भुङ्क्ष्व देवीति ब्रूयादर्घजलं क्षिपन् ॥२७१०॥
भक्षयन्त्यां च तत्सूक्तैस्तुवीत च कृताञ्जलिः ।
जयकालि महाभीमे भीमरावे भयापहे ॥२७११॥
संसारदावाग्निशिखे वृजिनार्णवतारिणि ।
ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रभूतेशप्रभृत्यमरवन्दिते ॥२७१२॥
सर्गपालनसंहारकारिण्यहितमारिणि ।
गुह्यकालि परानन्दरसपूरितविग्रहे ॥२७१३॥
परब्रह्मरसास्वादकैवल्यानन्ददायिनि ।
गुणातीतेऽपि सगुणे महाकल्पान्तनर्तकि ॥२७१४॥
कुमारीरूपमास्थाय विज्ञाप्याज्ञास्वरूपिणि ।
आगतासि ममागारं शारद्यर्चासमाप्तये ॥२७१५॥
सांवत्सरिककल्याणसूचनाय तथैव च ।
धन्योऽस्मि कृतकृत्योऽस्मि सफलं जीवितं मम ॥२७१६॥
यस्मात् त्वमीदृशं कृत्वा कौमारं रूपमुत्तमम् ।
कालि समायाताब्दिकपूजाजिघृक्षया ॥२७१७॥
त्वमेवैतेन रूपेण देवेभ्यः प्रार्थिता पुरा ।
दत्तवत्यसि साम्राज्यं वरानपि समीहितान् ॥२७१८॥
मह्यमप्यद्य देवेशि वरं देहि सुपूजिता ।
ब्रह्मणे सृष्टिसामर्थ्यं त्वं पुरा दत्तवत्यसि ॥२७१९॥
विष्णवे च त्वमेवादौ तथा पालनशक्तिताम् ।
महारुद्राय संहारकर्तृत्वमददः शिवे ॥२७२०॥
देवेभ्यश्चापि दैत्यानां नाशनं दक्षतामपि ।
अन्तर्यामिन्यसीशानि त्रिलोकीवासिनामपि ॥२७२१॥

निवेदयामि किं तेऽहं सर्वकर्मैकसाक्षिणि ।
शत्रुनाशं राज्यलाभं शरीरारोग्यमेव च ॥२७२२॥
त्वत्पादाम्बुजयो र्भक्तिं याचेऽहं चतुरो वरान् ।
नमस्ते भगवत्यम्ब नमस्ते भक्तवत्सले ॥२७२३॥
नमस्ते जगदाधाररूपिणि त्राहि मां सदा ।
मात र्न वेद्मि रूपं ते न शरीरं न वा गुणम् ॥२७२४॥
भक्त्या हृत्स्थितया पूजां तव जानाम्यनन्यधीः ।
त्वं माता त्वं पिता बन्धुस्त्वमेव जगदीश्वरि ॥२७२५॥
त्वं गतिः शरणं त्वं च स्वर्गस्त्वं मोक्ष एव च ।
विहाय त्वां जगन्मातर्नान्यां पश्यामि देवताम् ॥२७२६॥
नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमो नमः ।
एवं स्तुत्वा भोजनान्ते दद्यादाचमनीयकम् ॥२७२७॥
ताम्बूलं विनिवेद्याथ कृत्वा चैव प्रदक्षिणाम् ।
वारत्रयं ददेत् तस्यै दक्षिणां भक्तिनिर्भरः ॥२७२८॥
स्वर्णं वा रजतं वापि यथाशक्त्या प्रणम्य ताम् ।
विसृज्य सफलां पूजां भावयेत् साधकोत्तमः ॥२७२९॥
विवाहयेत् स्वयं कन्यां स्वेष्टदेवस्य प्रीतये ।
कन्यादानेन यत्पुण्यं तद्वक्तुं नैव शक्यते ॥२७३०॥
यथेष्टं लोकमाप्नोति कन्यादानानुभावतः ।
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु यत्फलम् ।
तत्फलं समवाप्नोति कन्यादानेन शंकर ॥२७३१॥

अथ शिवाबलिः, तत्र कुलचूडामणौ–

राजादिभयमापन्ने देशान्तरभयादिके ।
शुभाशुभानि कर्माणि विचिन्त्य बलिमाहरेत् ॥२७३२॥
कार्याकार्यविचारे च स्वेष्टतुष्ट्यै शिवाबलिम् ।
पर्वण्यभीष्टवारे वा दद्यात् साधकसत्तमः ॥२७३३॥

यामले-

अवश्यमन्नदानेन नियतं तोषयेत् शिवाम् ।
नित्यश्राद्धं यथा सन्ध्यावन्दनं पितृतर्पणम् ॥२७३४॥
तथेयं देवदेवीनां प्रीतये नित्यता स्मृता ।
पशुरूपां शिवां देवी यो नार्चयति निर्जने ॥२७३५॥
शिवारावेण तस्याशु सर्वं नश्यति निश्चितम् ।
जपपूजाविधानानि यत् किञ्चित् सुकृतानि च ॥२७३६॥
गृहीत्वा च तथा शापं दत्त्वा रोदति निर्जने ।
नरशक्तिः पशुशक्तिः पक्षिशक्तिस्तथैव च ॥२७३७॥
आसां प्रपूजनाद्देवि शक्तिमान् साधको भवेत् ।
बिल्वमूले नदीतीरे श्मशाने वापि साधकः ॥२७३८॥
मांसप्रधानं नैवेद्यं गृहीत्वा च निशामुखे ।
गत्त्वोत्तरमुखो भूत्वा प्राणायामं षडङ्गकम् ॥२७३९॥
विधायार्घं च संस्थाप्य मुक्तकेशः समुत्थितः ।
कालि कालीति संरावैराह्वयेदुच्चमुच्चरन् ॥२७४०॥
परिवारैः सहायाति तत्रोमा पशुरूपिणी ।
बलिं पात्रे च संस्थाप्य मनुनानेन निर्दिशेत् ॥२७४१॥
ॐ गृह्ण देवि महाभागे शिवे कालाग्निरूपिणि ।
शुभाशुभफलव्यक्तिं ब्रूहि गृह्ण बलिं तव ॥२७४२॥
अर्घोदकेन चोत्सृज्य कियद्दूरं ततो बुधः ।
अपसृत्य च वै दद्याद् बल्यष्टकमुदारधीः ॥२७४३॥
प्रणवादिनमोऽन्तेभ्यो देवेभ्यो हृष्टमानसः ।
संहारभैरवश्चैव बटुकोऽथ विनायकः ॥२७४४॥
मातरः क्षेत्रपालाश्च योगिन्यो डाकिनीगणाः ।
शिवदूत्यश्च विज्ञेयाः शिवानुबलिभागिनः ॥२७४५॥
एभ्यो दत्त्वा मुक्तकेशो मीलिताक्षो दिगम्बरः ।
गन्धपुष्पाञ्जलिर्धीरः स्तवेनोत्थाय तोषयेत् ॥२७४६॥

ॐ शिवारूपधरे देवि गुह्यकालि नमोऽस्तु ते ।
उल्कामुखि ललज्जिह्वे घोररावे शृगालिनि ॥२७४७॥
श्मशानवासिनि प्रेते शवमांसप्रियेऽनघे ।
अरण्यचारिण्यनघे शिवे जम्बुकरूपिणि ॥२७४८॥
नमोऽस्तु ते महामाये जगत्तारिणि कालिके ।
मातङ्गि कुक्कुटे रौद्रि महाकालि नमोऽस्तु ते ॥२७४९॥
सर्वसिद्धिप्रदे भीमे भयंकरि भयापहे ।
प्रसन्ना भव देवेशि मम भक्तस्य चण्डिके ॥२७५०॥
संसारतारणतरि जय सर्वशुभंकरि ।
विध्वस्तचिकुरे चण्डि चामुण्डे मुण्डमालिनि ॥२७५१॥
संहारकारिणि क्रुद्धे सर्वसिद्धिं प्रयच्छ मे ।
दुर्गे किरातशबरि प्रेतासनगतेऽभये ॥२७५२॥
अनुग्रहं कुरु सदा कृपया मां विलोकय ।
राज्यं प्रयच्छ विकटे वित्तमायुः सुतान् स्त्रियम् ॥२७५३॥
शिवाबलिप्रदानेन त्वं प्रसन्ना भवेश्वरि ! ।
नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥२७५४॥
एवं स्तुत्वा ततो देवि शेषमन्नं सभाजनम् ।
भूमौ निखन्येष्टदेवं स्थानमागत्य पूजयेत् ॥२७५५॥
एकापि भुज्यते तत्र साधकार्थप्रकाशिनी ।
तदैव सर्वशक्तीनां प्रीतिः परमदुर्लभा ।
भुक्त्वा रौति यदैशान्यां मुखमुत्तोल्य सुस्वरम् ॥२७५६॥
तदैव मंगलं तस्य नान्यथा भवति ध्रुवम् ।
यदि नो गृह्यते नूनं तदा नैव शुभं भवेत् ॥२७५७॥
शुभं यदि भवेत्तत्र भुज्यते तदशेषतः ।
यदंशं भुज्यतेऽन्नं च तदंशं कार्यनिश्चयः ।
एवं ज्ञात्वा महेशानि शान्ति स्वस्त्ययनं चरेत् ॥२७५८॥

इति शिवाबलिः ।

अथो बलिविधिं वक्ष्ये कर्मसाङ्गत्वसिद्धये ।
यज्ञकर्म विना येन न पूर्त्तिमुपयाति हि ॥२७५९॥

तत्र प्रकृतिखण्डे-

त्रिविधो बलिराख्यातः सात्विको राजसस्ततः ।
तामसश्चैव विज्ञेयस्तेषां भेदमथो शृणु ॥२७६०॥

सात्विकः फलपुष्पादिः प्राणी तु राजसः स्मृतः ।
स्वीयदेहोद्भवो यश्च तामसः परिकीर्तितः ।
निवृत्तिमार्गनिष्ठानां सात्विको बलिरीरितः ॥२७६१॥

तथा च महाकालसंहितायाम्-

सात्त्विको जीवहत्यां हि कदाचिदपि नो चरेत् ।
इक्षुदण्डं तु कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम् ॥२७६२॥

क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद् बलिम् ।
तत्तत्फलविशेषेण तत्तत्पशुमुपानयेत् ॥२७६३॥

कूष्माण्डं महिषत्वेन छागलत्वेन कर्कटीम् ।
वृन्ताकं कुक्कुटत्वेन मेषत्वेन च तुम्बिकाम् ॥२७६४॥

रम्भापुष्पं बीजपूरं पिण्डवाजिबलौ भवेत् ।
मानुष्यत्वेन पनसं मत्स्यत्वेनेक्षुदण्डकम् ॥२७६५॥

शूरणत्वेन शलकं तथा कोशातकीं मृगे ।
पटोलं शूकरत्वेन शर्करा वालुषा तथा ॥२७६६॥

माषाः सर्वबलित्वेन सर्वेषां कृशरान्नतः ।
दद्याद् यथोक्तमार्गेण यथेष्टफलसिद्धये ॥२७६७॥

प्रवृत्तिमार्गनिष्ठानां राजसो बलिरीरितः ।
कृष्णसारं तथा छागं मृगान्नानाविधानपि ॥२७६८॥

मेषं च महिषं घृष्टिं तथा पंचनखानपि ।
कपोतं टिट्टिभं हंसं चक्रवाकं च लावकम् ॥२७६९॥

शरालिं तित्तिरं मत्स्यान् कलविंकं चकोरकम् ।
अनुक्तं नैव दातव्यं द्विजवर्गान् कदाचन ॥२७७०॥

सिंहं व्याघ्रं नरं तद्वत् क्षत्रियः परिकल्पयेत् ।
विहाय कृष्णसारं च क्षत्रियादे र्भवेद् बलिः ॥२७७१॥

सिंहं व्याघ्रं नरं हत्वा ब्राह्मणो ब्रह्महा भवेत् ।
मूषं मार्जारकं चाषं शूद्रो दत्वा पतत्यधः ॥२७७२॥

चन्द्रहासेन खड्गेन हन्यादेकप्रहारतः ।
उत्थाय हननं कुर्यान्नोपविश्य कदाचन ॥२७७३॥

स्वहस्तेन पशुं हत्वा पशुयोनिमवाप्नुयात् ।
किंच त्रिपक्षतो न्यूनं महिषादीन् त्रिवर्षतः ॥२७७४॥

अन्यत् त्रिमासतो न्यूनं वर्षोनावविमेषकौ ।
न दद्यात् फलमेतेषां लक्षणानि ब्रवीम्यहम् ॥२७७५॥

वृद्धं वा विकृताङ्गं वा न कुर्याद् बलिकर्मणि ।
हीनाङ्गमधिकाङ्गं बा शिशुं चापि विवर्जयेत् २७७६॥

स्वगात्ररुधिरं चैव स्वोत्तमांगार्पणं तथा ।
तापसं कथितं सद्भि र्देवप्रीतिकरं नहि ।
विधिवद् बलिदानेन चतुर्वर्गफलं लभेत् ॥२७७७॥

अविधाने दोषमाह कुलार्णवे-

अविधानेन यो हन्यादात्मार्थं प्राणिनं प्रिये ।
निवसेन्नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः ॥२७७८॥

स्वरक्तबिन्दुपाती च तिर्यग् योनिषु जायते ।
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ॥२७७९॥

संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ।
धनेन क्रयिको हन्ति खादिता चोपभोगतः ।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येवं त्रिविधो वधः ॥२७८०॥

यामले-

पितृदैवतयज्ञेषु वेदे हिंसा विधीयते ।
अहिंसा परमो धर्मो नास्त्यहिंसा परं सुखम् ॥२७८१॥
विधिना या भवेद् हिंसा सा त्वहिंसा प्रकीर्तिता ।
वृथा न हिंसा कर्तव्या क्वापि देवि ! मनीषिभिः ॥२७८२॥
बलिदानं बिना हिंसा वर्जनीया सदा शिवे ।
चेत् पापजनिका हिंसा तत् कथं स्वर्गसाधनम् ।
अश्वमेधादियज्ञेषु वाजिहत्यां कथं चरेत् ॥२७८३॥

दृष्टान्तस्तत्रैव-

येनैव विषखण्डेन म्रियन्ते सर्वजन्तवः ।
तेनैव विषखण्डेन भेषजो नाशयेद् विषम् ॥२७८४॥
यथाविधि मतो दद्याद् बलिं स्वोपास्यप्रीतये ।
सर्वावयवसम्पन्नं बलिं तत्र सुशोभनम् ॥२७८५॥
तरुणं सुन्दरं कृष्णं क्षतादिदोषवर्जितम् ।
स्नापयित्वा बलिं तत्र भूषयेत् पुष्पचन्दनैः ॥२७८६॥
भूषयेद् रक्तमाल्येन सिंदूरेण विशेषतः ।
उत्तराभिमुखो भूत्वा बलिं पूर्वमुखं तथा ॥२७८७॥
समानीय स्ववामे च मूलेन प्रोक्षणं चरेत् ।
अर्घोदकेन च फडिति सरक्ष्यावगुण्ठयेत् ।
कवचेन तु मूलेनामृतीकृत्य च मुद्रया ॥२७८८॥
धेन्वा तद् दक्षिणे कर्णे गायत्रीं तस्य त्रिः पठेत् ।
प्रणवं पशुपाशाय विद्महे विश्वशब्दतः ॥२७८९॥
कर्मणो धीमहीत्युक्त्वा तन्नो जीवः प्रचोदयात् ।
एवं श्राव्यविधानेन बलिं सम्पूजयेत् ततः ॥२७९०॥
ब्रह्मरंध्रे च ब्रह्माणं तत्त्वमायां च मेदिनीम् ।
कर्णयोश्च तथाकाशं जिह्वायां सर्वतोमुखम् ॥२७९१॥

ज्योतिषी नेत्रयो र्विष्णुं वदने परिपूजयेत् ।
ललाटे पूजयेच्चक्रं चक्रं दक्षिणगण्डके ॥२७९२॥
वामगण्डे तथा वह्निं ग्रीवायां समवर्तनम् ।
रोमकूपे धृतिं चैव भ्रुवो र्मध्ये प्रचेतसम् ॥२७९३॥
नासामूले च श्वसनं स्कन्धमध्ये महेश्वरम् ।
हृदये सर्पराजान्तं पूजयित्वा पठेदिदम् ॥२७९४॥
ओं महातपोभि र्दानैश्च यज्ञै र्यत् साध्यते नरैः ।
तन्मे देहि महाभाग ! सत्वरं चाप्नुहि श्रियम् ॥२७९५॥
शिवबुद्ध्या सुसम्पूज्य उत्सृज्य च ततः परम् ।
ततो देवं समुद्दिश्य काममुद्दिश्य चात्मनः ॥२७९६॥
संकल्प्य च बलिं पश्चात् करवालं प्रपूजयेत् ।
ध्रुवं मायां कालियुग्मं वज्रेश्वरि ततः परम् ॥२७९७॥
लोहान्ते च तथा दंडायै नमोऽष्टादशाक्षरः ।
मन्त्रोऽनेन च सम्पूज्य खड्गं सम्पूजयेत् पुनः ॥२७९८॥
अग्रभागे च सम्पूज्यौ ब्रह्मा वागीश्वरी ततः ।
मध्ये तथैव सम्पूज्यौ लक्ष्मीनारायणावपि ॥२७९९॥
मूले च पूजयेन्मन्त्री उमया सह शंकरम् ।
एवं पूजां विधायाथ खड्गं ध्यायेत् समाहितः ॥२८००॥
कृष्णं पिनाकपाणिं च कालरात्रिस्वरूपिणम् ।
रक्ताक्षं रक्तवस्त्रं च सपाशं पीतशोणितम् ॥२८०१॥
कृताञ्जलि र्नमस्कुर्यादेनं मन्त्रं समुच्चरन् ।
ओं असि र्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः ॥२८०२॥
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपाल नमोऽस्तु ते ।
एवं प्रणम्य तत् खड्गमुत्तोल्य साधकोत्तमः ॥२८०३॥
छेत्ता पूर्वमुखो भूत्वा बलिमुत्तरवक्त्रकम् ।
ओं यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥२८०४॥

अतस्त्वां घातयिष्यामि तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः ।
शिवायत्तमिदं पिण्डमतस्त्वं शिवतां गतः ॥२८०५॥

उद्बुद्धयस्व पशो त्वं हि नाशिवस्त्वं शिवोऽसि हि ।
पाशं कूर्चं समुच्चार्य हन्यादेकप्रहारतः ॥२८०६॥

ततो बलीनां रुधिरं तोयसैन्धवसत्फलैः ।
मधुभि र्गन्धपुष्पैश्च स्वधिवास्य प्रयत्नतः ॥२८०७॥

गन्धपुष्पान्वितं कृत्वा चोत्सृजेन्मन्त्रमुच्चरन् ।
प्रणवं वाग्भवं लक्ष्मीं ततः कौशिकि शब्दतः ॥२८०८॥

रुधिरेण ततः पश्चादाप्यायतां समुच्चरेत् ।
निवेद्य रुधिरं देवि दद्यात् शिरसि दीपकम् ॥२८०९॥

ततो निवेदयेन्मन्त्री ताम्बूलं सुमनोहरम् ।
नापसव्ये शिरोरक्तं दद्याद् देवस्य सम्मुखे ॥२८१०॥

छागं तु वामतो दद्यान्महिषं वितरेत् पुरः ।
पक्षिणां वामतो दद्यादग्रतो देहशोणितम् ॥२८११॥

यदा कटकटाशब्दो दन्तानां श्रावयेत् क्वचित् ।
तदा तु मरणं विद्याद् हानिं वा तस्य निर्दिशेत् ॥२८१२॥

यदाश्रु कृष्यते नेत्रे तदा हानिं विनिर्दिशेत् ।
पूर्वे चोत्तरदिग्भागे पतते यदि मस्तकम् ॥२८१३॥

ततः स्वल्पेन कालेन सर्वसिद्धि र्भवेद् ध्रुवम् ।
ईशाग्नेयमध्यभागे पतते यदि मस्तकम् ॥२८१४॥

सर्वसम्पत्करं विद्याद् राज्ञो राज्यं विनिर्दिशेत् ।
यदि वायव्यदिग्भागे नैर्ऋत्यां दक्षिणेऽपि वा ॥२८१५॥

मस्तकं पतते यत्तु तदा हानिं विनिर्दिशेत् ।
तद्दोषस्याशु शान्त्यर्थं तन्मांसेन यथाविधि ॥२८१६॥

जुहुयाद् घृतयुक्तेन तदा पंचदशाहुतिम् ।
ग्राहाणां कच्छपानां च गोधायाश्च विशेषतः ॥२८१७॥

मत्स्यानां पक्षिणां चैव दीपं नो शिरसि न्यसेत् ।
शिरसि प्रज्वलद्दीपं यावत्कालं प्रवर्तते ॥२८१८॥

तावत्कालं वसेत् स्वर्गे तस्माद् यत्नेन दापयेत् ।
घ्रात्वा लोमोद्भवं गन्धं शीघ्रं देवो प्रसीदति ।
तस्मात् प्रवर्धयेद्दीपं पात्रं तत्र विवर्जयेत् ॥२८१९॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे कुमारीपूजनादि-
कथनं नाम षोडशः पटलः ॥१६॥

सप्तदशः पटलः ।

अथ मन्त्रसिद्धेरुपायाः गौतमीये–

सम्यगनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धि र्न जायते ।
पुनस्तेनैव कर्तव्यं ततः सिद्धो भवेद् ध्रुवम् ॥२८२०॥

एवं पुनः पुनश्चेव कृते सिद्धि र्न चेद् भवेत् ।
उपायास्तत्र कर्तव्याः सप्त शंकरभाषिताः ॥२८२१॥

भ्रामणं बोधनं वश्यं पीडनं पोथशोषणे ।
दहनान्तं क्रमात् कुर्यात् ततः सिद्धो भवेद् ध्रुवम् ॥२८२२॥

भ्रामणं वायुबीजेन प्रथमक्रमयोगतः ।
तन्मन्त्रयन्त्रमालिख्य सिल्हकर्पूरकुंकुमैः ॥२८२३॥

उशीरचन्दनाभ्यां तु मन्त्रं संग्रथितं लिखेत् ।
पूजनाज्जपनाद् होमाद् भ्रामितः सिद्धिदो भवेत् ॥२८२४॥

भ्रामितो यदि नो सिद्धयेद् बोधनं तस्य कारयेत् ।
सारस्वतेन बीजेन सम्पुटीकृत्य तं जपेत् ॥२८२५॥

एवं रुद्धो भवेत् सिद्धो न चेदेतद् वशीकुरु ।
अलक्तं चन्दनं कुष्टं हरिद्रामलकं शिलाम् ।
एतैस्तु मन्त्रमालिख्य भूर्जपत्रे सुशोभने ॥२८२६॥

धार्यं कण्ठेन चेत् सिद्धः पीडनं तस्य कारयेत् ।
अधरोत्तरयोगेन पदानि परिजप्य वै ॥२८२७॥

ध्यायेच्च देवतां तत्र अधरोत्तररूपिणीम् ।
विद्यामादित्यदुग्धेन लिखित्वाक्रम्य चांघ्रिणा ॥२८२८॥

तथाभूतेन मन्त्रेण होमः कार्यो दिने दिने ।
पीडितो लज्जयाविष्टः सिद्धिः स्यान्नो च पोथयेत् ॥२८२९॥

बालायास्त्रितयं बीजमाद्यन्ते तस्य योजयेत् ।
गोक्षीरमधुनालिख्य विद्यां पाणौ विधारयेत् ॥२८३०॥

पोथितोऽयं भवेत् सिद्धो न चेत् कुर्वीत शोषणम् ।
द्वाभ्यां च वायुबीजाभ्यां मन्त्रं कुर्याद् विदर्भितम् ।
एषा विद्या गले धार्या लिखित्वा वरभस्मना ॥२८३१॥

शोषितोऽपि न सिद्धयेच्च दहनीयोऽग्निबीजतः ।
आग्नेयेन तु बीजेन मन्त्रस्यैकैकमक्षरम् ॥२८३२॥

आद्यन्तमध ऊर्ध्वं च योजयेद्दाहकर्मणि ।
ब्रह्मवृक्षस्य तैलेन मन्त्रमालिख्य धारयेत् ॥२८३३॥

कण्ठदेशे ततो मन्त्रसिद्धिः स्यात् शंकरोदितम् ।
इत्येतत् कथितं सम्यक् केवलं तव भक्तितः ॥२८३४॥

एकेनैव कृतार्थः स्याद् बहुभिः किमु सुव्रते ।
अथान्यत् सम्प्रवक्ष्यामि मन्त्रसिद्धेस्तु कारणम् ॥२८३५॥

मातृकापुटितं कृत्वा स्वस्वमन्त्रं जपेत् सुधीः ।
क्रमोत्क्रमात् शतावृत्त्या तदन्ते च मनुं जपेत् ॥२८३६॥

एवं तु प्रत्यहं कृत्वा यावल्लक्षं समाप्यते ।
निश्चितं मन्त्रसिद्धिः स्यादित्युक्तं तन्त्रवेदिभिः ॥२८३७॥

अथवान्यप्रकारेण पुरश्चरणमुच्यते ।
अष्टम्यां वा चतुर्दश्यां पक्षयोरुभयोरपि ॥२८३८॥

सूर्योदयात् समारभ्य यावत् सूर्योदयान्तरम् ।
तावज्जप्तो निरातंकः सर्वसिद्धीश्वरो भवेत् ॥२८३९॥
कृष्णाष्टमीं समारभ्य यावत् कृष्णाष्टमी भवेत् ।
सहस्रसंख्या जप्ते तु पुरश्चरणमिष्यते ॥२८४०॥
चतुर्दशीं समारभ्य यावदन्या चतुर्दशी ।
तावज्जप्ते महेशानि पुरश्चरणमिष्यते ॥२८४१॥
चन्द्रसूर्यग्रहं दृष्ट्वा कालातीतभयात्तथा ।
सर्वं विधिं च संत्यज्याचम्याभीष्टदिङ्मुखः ॥२८४२॥
संकल्पं मानसं कृत्वा ऋष्यादीन् न्यस्य वै जपेत् ।
ग्रासावधि विमुक्त्यन्तं तद्दशांशं च होमयेत् ।
तस्मिन् काले च यत् कुर्यान्मन्त्रं वा स्तोत्रमेव वा ॥२८४३॥
एकोच्चारेण देवेशि असंख्यं तज्जपं भवेत् ।
शाक्तं वा विष्णुमन्त्रं वा शैवं गाणपतं तथा ।
चन्द्रसूर्यग्रहे जप्त्वा सिद्धो भवति नान्यथा ॥२८४४॥

यद्वा–

ग्रहणे चन्द्रसूर्यस्य शुचिः पूर्वमुपोषितः ।
नद्यां समुद्रगामिन्यां नाभिमात्रे जले स्थितः ॥२८४५॥
यद्वा शुद्धोदके स्नात्वा शुचौ देशे समाहितः ।
स्पर्शाद् विमुक्तिपर्यन्तं जपं कुर्यादनन्यधीः ॥२८४६॥
अनन्तरं दशांशेन क्रमाद् होमादिकं चरेत् ।
तदन्ते महतीं पूजां कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् ॥२८४७॥
ततो मन्त्रस्य सिद्ध्यर्थं गुरुं सम्पूज्य तोषयेत् ।
ततः प्रयोगान् कुर्वीत मन्त्रवित् कल्पतोदितान् ॥२८४८॥
अथवान्यप्रकारेण पुरश्चरणमुच्यते ।
शरत्काले चतुर्थ्यादि नवम्यन्तं विशेषतः ॥२८४९॥
भक्तितः पूजयित्वा तु रात्रौ तावत्[1] सहस्रकम् ।
जपेदेकस्तु विजने केवलं तिमिरालये ॥२८५०॥

१–तावत् षट्सहस्रं जपेदष्टमीनवम्योरुपवासं कुर्यादित्यर्थः ।

अष्टम्यादिनवम्यन्तमुपवासपरो भवेत् ।
स भवेत् सर्वसिद्धीशो नात्र कार्या विचारणा ।।२८५१।।

यच्च-

शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी ।
तस्मिन् पक्षे विशेषेण पुरश्चरणतत्परः ।।२८५२।।
अष्टम्यादि नवम्यन्तमुपवासपरो भवेत् ।
पूजयेद् भक्तितो रात्रौ षट्सहस्रं जपं चरेत् ।।२८५३।।
अथवान्यप्रकारेण पुरश्चरणमुच्यते ।
यत् क्षणे कम्पते भूमिस्तत्क्षणं सिद्धिदायकम् ।।२८५४।।
प्रहराभ्यन्तरे यद् यत् कृतमक्षयमाप्नुयात् ।
ज्ञात्वा संक्षेपतः कृत्यं समाप्य प्रजपेन्मनुम् ।।२८५५।।
तदन्ते[1] हवनं कृत्वा सिद्धिमाप्नोति निश्चितम् ।
महामन्त्रं जपेन्नित्यं स्मरेद् वापि समाहितः ।।२८५६।।
तस्य गेहे वसेल्लक्ष्मी जिह्वायां च सरस्वती ।
हृदये च वसेद्देवो नारायण इति श्रुतिः ।।२८५७।।
ब्रह्मा स्यात् कण्ठदेशे च अहं तिष्ठामि सम्मुखे ।
मन्त्रदेवः सहैतैश्च सदा रक्षति साधकम् ।।२८५८।।
दहेत् तृणं यथा वह्निस्तथा शत्रून् जयेत् सदा ।
स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयं रुद्रो न संशयः ।।२८५९।।
अन्ते निरामयं ब्रह्म मन्त्री भवति नान्यथा ।
लक्षमेकं जपेद्देवि महापापैः प्रमुच्यते ।।२८६०।।
लक्षद्वयेन पापानि सप्तजन्मकृतान्यपि ।
लक्षत्रयेण पापानि हन्ति जन्मसहस्रकम् ।।२८६१।।
चतुर्लक्षजपान् मन्त्री वागीश्वरसमो भवेत् ।
पञ्चलक्षाद्दरिद्रोऽपि साक्षाद् वैश्रवणो भवेत् ।।२८६२।।

१ अत्र सर्वत्र हवनादि ब्राह्मणभोजनान्तं तत् तद् दशांशेन कार्यमिति सम्प्रदायः ।

लक्षषट्कजपात् देवि महाविद्याधरो भवेत् ।
जप्त्वैवं सप्तलक्षाणि खेचरीसिद्धिमाप्नुयात् ॥२८६३॥

अष्टलक्षप्रमाणं तु महामन्त्रं जपेत् तु यः ।
अणिमाद्यष्टसिद्धीशो जायते नात्र संशयः ॥२८६४॥

नवलक्षजपाद्देवि रुद्रमूर्तिरिवापरः ।
कर्ता हर्ता महादेवि लोकेऽप्रतिहतः प्रभुः ॥२८६५॥

दशलक्षफलं देवि वर्णितुं नैव शक्यते ।
साक्षान्मन्त्रमयी मूर्ति र्भवेत् साधकसत्तमः ॥२८६६॥ इति ।

अथ सिद्धिचिह्नानि नारदपंचरात्रे, तन्त्रशेखरे च-

मन्त्राराधनशक्तस्य प्रथमं वत्सरत्रये ।
जायन्ते बहवो विघ्ना जपतस्तस्य नारद ॥२८६७॥

नोद्वेगं साधको याति कर्मणा मनसा यदि ।
सेत्स्यतीति च विश्वासस्तुरीयेऽब्दे स सिद्धिभाक् ॥२८६८॥

सिद्धे मनौ च राजानः प्रभवोऽन्ये महीश्वराः ।
प्रार्थयन्तेऽनुरोधेन गर्विता अपि मानिनः ॥२८६९॥

प्रसादः क्रियतां नाथ ममोद्धारणकारण ।
प्रज्वलन्तं च पश्यन्ति तेजसा विभवेन च ॥२८७०॥

अतस्ते मुनिशार्दूल निष्ठुरं वक्तुमक्षमाः ।
नवमाद् वत्सरादूर्ध्वं स्वयं सिद्ध्यति मन्त्रराट् ॥२८७१॥

नानाश्चर्याणि हृदये मन्त्रसिद्धिमयानि वै ।
अत्यानन्दप्रदान्याशु प्रत्यक्षेण बहिस्तथा ॥२८७२॥

जडधीस्तु क्षणं विप्रः क्षणमस्ति प्रहर्षितः ।
क्षणं दुन्दुभिनिर्घोषं शृणोत्यप्यन्तरिक्षतः ॥२८७३॥

क्षणं च मधुरं वाद्यं नानागीतसमन्वितम् ।
आजिघ्रति क्षणं गन्धान् कर्पूरमृगनाभिजान् ॥२८७४॥

इत्यनन्तं क्षणं वापि पश्यत्यात्मानमात्मनः ।
चन्द्रार्ककिरणाकीर्णं क्षणमालोकयेन्नभः ॥२८७५॥
गजगोवृषनादांश्च शृणुयाच्च क्षणं द्विज ।
निर्भराम्बुदसंक्षोभं क्षणमाकर्णयत्यपि ॥२८७६॥
तारकाणि विचित्राणि योगिनो नभसि स्थितान् ।
पश्यत्युद्ग्राहयन्तं च क्षणं मन्त्रव्रती सदा ॥२८७७॥
क्षणं किलिकिलारावं हंसं च वर्हिणं तथा ।
क्षणं मेघोदयं पश्येत् क्षणं रात्रिं दिने सति ॥२८७८॥
रात्रौ च दिवसालोकं ससूर्यक्षणमीक्षते ।
बलेन परिपूर्णश्च तेजसा भास्करोपमः ॥२८७९॥
पूर्णेन्दुसदृशः कांत्या गमने विहगोपमः ।
शमेन युक्तः प्रौढेन गांभीर्येण सुखेन च ॥२८८०॥
स्वल्पाशनेन कृशता बहुनापि न खिद्यते ।
विण्मूत्रयोः स्यादल्पत्वं भवेन्निद्रा जयस्तथा ॥२८८१॥
जपध्यानपरो मंत्री न खेदमधिगच्छति ।
विना भोजनपानाभ्यां पक्षमासादिकं मुने ॥२८८२॥
इत्येवमादिभिश्चिह्नैर्महाविस्मयकारिभिः ।
प्रवृत्तैः संप्रबोद्धव्यं प्रसन्नो मंत्रराडिति ॥२८८३॥
ततोऽस्य प्रत्ययास्त्वेवं जायन्ते जपतो मनुम् ।
अधिष्ठितं निश्यदीपं निस्तमिस्रं गृहं भवेत् ॥२८८४॥
अर्काभस्तेजसाऽसौ भवति नलिनजा संततं किंकरी स्याद्
रोगा नश्यन्ति दृष्ट्या द्रुतमथ धनधान्याकुलं तत्समीपम् ॥
देवा नित्यं नमोऽस्मै विदधति फणिनो नैव दश्यन्ति पुत्रान्
पौत्रा मित्राणि वृद्धा न तु विपदिपरा धाम विष्णोः प्रयाति ॥२८८५॥

तथा च गौतमीये—

सिद्धयस्त्रिविधाः प्रोक्ता उत्तमामध्यमाधमाः ।
तासां क्रमाल्लक्षणानि यथावदवधारय ॥२८८६॥

मृत्यूनां हरणं तद्वद् देवतादर्शनं तथा ।
ऊर्ध्वंक्रामणमेवं हि चराचरपुरे गतिः ॥२८८७॥
खेचरी मेलकं चैव तत्कथाश्रवणादिकम् ।
भूछिद्राणि प्रपश्येत चैतदुत्तमलक्षणम् ॥२८८८॥
ख्यातिर्भूषणवाहादिलाभः सुचिरजीवनम् ।
नृपाणां तद्गणानां च वशीकरणमुत्तमम् ॥२८८९॥
सर्वत्र सर्वलोकेषु चमत्कारकरं सुधीः ।
रोगापहरणं दृष्टया विषापहरणं तथा ॥२८९०॥
पाण्डित्यं लभते मन्त्री चतुर्विधमयत्नतः ।
वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं त्यागिता सर्ववश्यता ॥२८९१॥
अष्टाङ्गयोगाभ्यसनं भोगेच्छापरिवर्जनम् ।
सर्वभूतानुकम्पा च सर्वज्ञादिगुणोदयः ॥२८९२॥
इत्यादि गुणसम्पत्ति र्मध्यसिद्धेस्तु लक्षणम् ।
ख्याति र्भूषणवाहादिलाभः सुचिरजीवनम् ॥२८९३॥
नृपाणां तद् गणानां च वात्सल्यं लोकवश्यता ।
महैश्वर्यं धनित्वं च पुत्रदारादिसम्पदः ॥२८९४॥
अधमा सिद्धयः प्रोक्ता मन्त्राणामथ भूमिकाः ।
सिद्धमन्त्रस्तु यः साक्षात् स शिवो नात्र संशयः ॥२८९५॥

तत्त्वसागरसंहितायां पूजाभेदाः—

पुनस्त्रिधा मताः पूजा उत्तमाधममध्यमाः ।
अधिकारिनिमित्ताभ्यां शतधा भिद्यते पुनः ॥२८९६॥
यागोपकरणैः कृत्स्नैः क्रियमाणोत्तमा मता ।
यथालब्धै विनिष्पाद्या दृष्टैः पूजा तु मध्यमा ॥२८९७॥
पत्रपुष्पाम्बुनिष्पाद्या पूजा चाधमसंज्ञिता ।
विदिताखिलवेदार्थै र्ब्रह्मर्षिभिरकल्मषैः ।
क्रियमाणा तु या पूजा सात्त्विकी सा विमुक्तिदा ॥२८९८॥

राजर्षिभिस्तपोनिष्ठैर्भगवत्तत्त्ववेदिभिः ।
या पूजा क्रियते सम्यग् राजसी सा सुखप्रदा ॥२८९९॥
स्त्रीबालवृद्धमूर्खाद्यै र्भक्तैरक्षुद्रमानसैः ।
या पूजा क्रियते नित्यं तामसी सा प्रकीर्तिता ॥२९००॥
अथोपचारं वक्ष्यामि शृणु पार्वति सादरम् ।
विनोपचारै र्या पूजा सा न सिद्ध्यति कुत्रचित् ॥२९०१॥

तथा च गौतमीये—

परिभाषामथो वक्ष्ये उपचारविधौ हरेः ।
द्रव्याणां यावती संख्या पात्राणां द्रव्यसंहृतेः ॥२९०२॥
हाटकं राजतं ताम्रमारकूटं मृदादिना ।
उपचारविधावेतद् द्रव्यमाहु र्मनीषिणः ॥२९०३॥
आसने पञ्चपुष्पाणि स्वागते षट्चतुःफलम् ।
जलं श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्तानि पञ्चशः ॥२९०४॥
पाद्ये चार्घ्ये जलं तावद् गन्धपुष्पाक्षतं जपा ।
दूर्वास्तिलाश्च चत्वारः कुशाग्रश्वेतसर्षपाः ॥२९०५॥
जातीलवङ्गकक्कोलतोयं च षट्पलं मतम् ।
प्रोक्तमाचमनं कांस्ये मधुपर्कं घृतं मधु ॥२९०६॥
दध्ना सह जलैः कर्तुं शुद्धं वारि तथाचमे ।
परिमाणं तु पञ्चाशत् पलं स्नानार्थमम्भसः ॥२९०७॥
निर्मलेनोदकेनाथ सर्वत्र परिपूर्णता ।
मलिनं पतितं सर्वं त्यजेत् पूजाविधौ हरेः ॥२९०८॥
वितस्तिमात्रादधिकं वासो युग्मं तु नूतनम् ।
स्वर्णाद्याभरणान्येव रत्नेन संयुतानि च ॥२९०९॥
चन्दनागरुकर्पूरपङ्कगन्धं पलावधि ।
नानाविधानि पुष्पाणि पञ्चाशदधिकानि च ॥२९१०॥
कांस्यादिनिर्मिते पात्रे धूपो गुग्गुलुकर्षभाक् ।
सप्तवर्त्या च संयुक्तो दीपः स्याच्चतुरंगुलः ॥२९११॥

यावद् भक्ष्यं भवेत् पुंसस्तावद् दद्याज्जनार्दने ।
नैवेद्यं विविधं वस्तु भक्ष्यादिकचतुर्विधम् ॥२६१२॥
कर्पूरादियुतावर्त्ति नवकर्पासनिर्मिता ।
शालिपिष्टावन्दनायां सप्तधावर्तयेन्नरः ॥२६१३॥
कार्या ताम्रादिपात्रे तत्प्रीतये हरिमेधसः ।
दूर्वाक्षतप्रमाणं तु विज्ञेयं च शताधिकम् ।
उत्तमोऽयं विधिः प्रोक्तो विभवे सति सर्वदा ॥२६१४॥
एषामभावे सर्वेषां यथाशक्त्या तु पूजयेत् ।
अनुकल्पं विवर्जेत द्रव्याणां विभवे सति ॥२६१५॥
अनेन विधिना यस्तु पूजयेदुपचारतः ।
सर्वभोगान्वितो भूत्वा व्रजेदन्ते हरेः पुरम् ॥२६१६॥

हरिरित्युपलक्षणम् । स्वोपास्यदेवपुरमित्यर्थः ।

अथ कालकथनं योगिनीतंत्रे–

मणिमुक्तासुवर्णानि देवे दत्तानि यानि वै ।
तन्निर्माल्यं द्वादशाब्दात् ताम्रपात्रं तथैव च ॥२६१७॥
पटी शाटी च षण्मासं नैवेद्यं दत्तमात्रतः ।
मोदकं कृसरं चैव यामार्धेन महेश्वरि ॥२६१८॥
पट्टसूत्रं त्रिमासाच्च यज्ञसूत्रं त्र्यहात् स्मृतम् ।
यावदन्नं भवेदुष्णं परमान्नं तथैव च ॥२६१९॥
मस्तकं रुधिरं चैव अहोरात्रेण पार्वति ।
मुहूर्त्तं दधि दुग्धं च आज्यं यामेन सुन्दरि ॥२६२०॥
करवीरमहोरात्रं विल्वपत्रं तथैव च ।
जवापुष्पं च माध्यं च निर्माल्यं सार्धयामके ॥२६२१॥
मानं वै करवीरस्य पद्मस्य बिल्वकस्य च ।
यामान्तेन महेशानि ताम्बूलं दत्तमात्रतः ॥२६२२॥

यामले—

सर्वं पर्युषितं वर्ज्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।

अवर्ज्यं जाह्नवीतोयमवर्ज्यं तुलसीदलम् ॥२६२३॥
अवर्ज्यं विल्वपत्रं स्यादवर्ज्यं जलजं तथा ।
पुष्पैः पर्युषितै र्देवि नार्चयेत् स्वर्णजैरपि ॥२६२४॥
बिल्वपत्रं च माध्यं च तमालामलकीदलम् ।
कह्लारं तुलसीपत्रं पद्मं च मुनिपुष्पकम् ॥२६२५॥
एतत् पर्युषितं न स्यादन्यच्च कलिकात्मकम् ।
तिष्ठेद् दिनत्रयं शुद्धपद्ममामलकं तथा ॥२६२६॥
दिनैकं करवीराणि योग्यानि भवति प्रिये ।
पद्मानि सितरक्तानि कुमुदान्युत्पलानि च ॥२६२७॥
एषां पर्युषितानां च त्यागः पंचदिनोर्ध्वतः ।
अन्येषां कुसुमानां च यावद् गन्धविपर्ययः ॥२६२८॥
पुष्पं च पंचगव्यं च उपचारांस्तथा परान् ।
घ्रात्वा निवेद्य देवेशि नरो नरकमाप्नुयात् ॥२६२९॥
अंगसंस्पृष्टमाघ्रातं त्यजेत् पर्युषितं बुधः ।
केशकीटोपविद्धानि छिन्नभिन्नानि पार्वति ॥२६३०॥
स्वयं पतितपुष्पाणि त्यजेदुपहृतानि च ।
शेफाली वकुलं चैव स्वयं शीर्णं च दुष्यति ॥२६३१॥
सर्वं भूमिगतं त्याज्यं शेफालीं वकुलं विना ।
कृमिभक्ष्याणि भग्नानि वर्ज्याणि पतितानि च ॥२६३२॥
तमालं च तथा पद्मं छिन्नं भिन्नं न दुष्यति ।
विष्णुक्रान्ता जवा नागकेशरं नागवल्लभम् ।
वन्धूकं चैव कह्लारं सवृन्तेन समर्चयेत् ॥२६३३॥

अन्यच्च—

पंचाहात् तुलसी त्याज्या त्र्यहाद् विल्वदलं तथा ।
गंगाम्बु च सहस्राहाद् दशाहात् पंकजं तथा ॥२६३४॥
न निर्माल्यं दाडिमं च तथा विल्वफलं प्रिये ।

सौगंधिकं च कदलीं प्रयत्नेन नियोजयेत् ।
कदलीं बीजपूरं च दुग्धं पक्वं निवेदयेत् ॥२६३५॥

अथोपचाराः, नवरत्नेश्वरे–

चतुःषष्ट्युपचाराणामभावेऽष्टादश स्मृताः ।
अष्टादशोपचाराश्च सर्वेषामुत्तमाः प्रिये ॥२६३६॥

षोडशातः प्रधानाश्च दशधा तदनु स्मृताः ।
पंचधा तदनु प्रोक्ता कर्तव्या भूतिमिच्छता ॥२६३७॥

अथाष्टादशोपचारा–

आसनं स्वागतं पाद्यं चार्घ्यमाचमनं तथा ।
स्नानं वासोपवीतं च भूषणानि च सर्वशः ॥२६३८॥

गंधं पुष्पं तथा धूपं दीपमन्नं च तर्पणम् ।
माल्यानुलेपनं चैव नमस्कारविसर्जने ।
अष्टादशोपचारैस्तु मंत्री पूजां समाचरेत् ॥२६३९॥

अथ षोडशोपचारा–

पाद्यार्घ्याचमनीयकं स्नानं वसनभूषणे ।
गंधं पुष्पं धूपदीपौ नैवेद्याचमने तथा ॥२६४०॥

ताम्बूलं च तथा स्तोत्रं तर्पणं च नमस्क्रिया ।
प्रयोजयेदर्चनायामुपचारांस्तु षोडश ॥२६४१॥

अथ दशोपचारा–

पाद्यार्घ्याचमनमधुपर्काण्याचमनं ततः ।
गन्धादयो निवेद्यान्ता उपचारा दश स्मृताः ॥२६४२॥

अथ पंचोपचारा–

गंधं पुष्पं च धूपं च दीपं नैवेद्यमेव च ।
प्रदद्यात् परमेशानि पूजा पंचोपचारिका ॥२६४३॥

पाद्यार्थमुदकं पाद्यं चन्दनागरुसंयुतम् ।
एतत् श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरीरितम् ॥२६४४॥
पाद्यं पाद्ये च दातव्यमर्घ्यं चैवार्घ्यपात्रके ।

गंधपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपाः ॥२६४५॥
दूर्वा च सर्वदेवानामष्टांगोऽर्घः समीरितः।
अन्तःशून्यां त्रिपत्रां च दूर्वामर्घ्ये विनिःक्षिपेत् ॥२६४६॥
जातीलवंगकक्कोलै र्दद्यादाचमनीयकम् ।
तत्तैजसेन पात्रेण शंखेनैवाथवा दिशेत् ॥२६४७॥
उदकं दीयते यद्यत् सुगन्धं फेनवर्जितम् ।
नारिकेलोदकं स्वल्पं सिताघृतसमन्वितम् ।
सर्वेषामधिकं क्षौद्रं मधुपर्के प्रयोजयेत् ॥२६४८॥

तथान्यच्च-

आज्यं दधि मधून्मिश्रं मधुपर्कं विदु र्बुधाः ।
तं दद्यात् कांस्यपात्रेण शोभनेन विशेषतः ॥२६४९॥
वस्वंगुलविहीनं तु न पात्रं कारयेद् बुधः ।
दद्यात् तु विमलं गंधं मूलमंत्रेण देशिकः ॥२६५०॥
गंधश्चंदनकर्पूरकालागरुभिरीरितः ।

गंधपदेन गंधाष्टकमिति केचिद् वदन्ति । तन्मते तु, विष्णु-शिवशक्ति-गणेश-भेदेन चतुर्विधम् ।

तद्यथा शारदायाम्-

चंदनागरुह्रीवेरकुष्ठकुंकुमसेव्यकाः ।
जटामासीमरुमिति विष्णो र्गंधाष्टकं स्मृतम् ॥२६५१॥
चंदनागरुकर्पूरतमालजलकुंकुमम् ।
कुशीतकुष्ठसंयुक्तं शैवं गंधाष्टकं स्मृतम् ॥२६५२॥
चंदनागरुकर्पूरचोरकुंकुमरोचनाः ।
जटामासी कपियुता शक्ते र्गंधाष्टकं स्मृतम् ॥२६५३॥

गणपतिसंहितायाम्-

स्वरूपं चंदनं चोरं रोचनागरुमेव च ।
मदं मृगद्वयोद्भूतं कस्तूरीचन्द्रसंयुतम्
अष्टगंधं विनिर्दिष्टं गणेशस्य महाविभोः ॥२६५४॥ इति ।

अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तु देवे पुष्पं निवेदयेत् ।
पुष्पैररण्यसंभूतैः पत्रै र्गिरिसमुद्भवैः ॥२९५५ ॥
अपर्युषिताविच्छिन्नैः प्रोक्षितै र्जलवर्जितैः ।
आत्मारामोद्भवैः पुष्पै र्देवं संपूजयेत् सदा ॥२९५६॥
परारोपितवृक्षेभ्यः पुष्पाण्यानीय योऽर्चयेत् ।
तमविज्ञाप्य सा पूजा विफला भवति ध्रुवम् ॥२९५७॥

ज्ञानमालायाम्–

उग्रगंधमगंधं च कृमिकेशादिदूषितम् ।
अशुद्धपात्रपाण्यंगवासोभिः कुत्सितादिभिः ॥२९५८॥
आनीतं नार्पयेद् देवं प्रमादादपि दोषकृत् ।
कलिकाभिस्तथा नेज्यं विना चंपकपंकजैः ॥२९५९॥
शुष्कै र्न पूजयेद् देवं याचितैः कृष्णवर्णकैः ।
अन्यार्थमाहृतं दुष्टं तथैवान्योपभुक्तकम् ॥२९६०॥
मल्लिकामुत्पलं रम्यं नागपुन्नागचंपकम् ।
अशोकं कर्णिकारं च द्रोणपुष्पं विशेषतः ॥२९६१॥
करवीरं शमीपुष्पं कुंकुमं नागकेशरम् ।
यः प्रयच्छति देवेभ्यः स गच्छेत् परमं पदम् ॥२९६२॥
स्वयं विकसितैः पुष्पैस्तथा च मासपुष्पकैः ।
माघादिसर्वमासेषु पूज्यपुष्पाणि द्वादश ॥२९६३॥
कुंदं कुरवकं केतकं वकं डिण्डीनकं तथा ।
नीलं च विकटं शीर्षं क्षुद्रं च भृंगराजकम् ॥
वकुलं रंगणं चैव नान्यमासे यजेत् क्वचित् ॥२९६४॥

अथान्यत्रापि–

मालती मल्लिका जाती यूथिका माधवी तथा ।
तगरः कर्णिकारश्च द्रोणश्चोत्पलचंपकौ ॥२९६५॥

अशोकः कुमुदश्चैव शेफालिककदंबकौ ।
केतकी नवमाला च कुसुंभकिंशुकौ तथा ॥२९६६॥
कह्लारं वकुलं चैव लवंगनागकेशरौ ॥
एतान्यपि प्रियाणि स्यु र्देवस्य सततं शिवे ॥२९६७॥
नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं तुलस्या न गणेश्वरम् ॥
न दूर्वया यजेद् दुर्गां सूर्यं तगरविल्वजैः ॥२९६८॥
दूर्वानिषेधे यदुक्तं तत् श्वेतदूर्वापरम् ।

यत्त यामले-

रक्तमाघ्यं श्वेतदूर्वां नीलकंठं कुरंटकम् ।
न दद्याच्च महादेव्यै यदीच्छेत् शुभमात्मनः ॥२९६९॥
पुष्पाभावे यजेत् पत्रैः पत्राभावे तु तत्फलैः ।
फलेऽप्यामलकं श्रेष्ठं बादरं तिंतिणीभवम् ॥२९७०॥
दाडिमं मातुलुगं च जंबीरं पनसोद्भवम् ।
कदलीचूतसंभूतं श्रेष्ठं जंबूफलं तथा ॥२९७१॥
यजेदेतैः सदा देवं पत्रपुष्पफलैरपि ।
अक्षतै र्वा जलै र्वापि न पूजां व्यतिलंघयेत् ॥२९७२॥
जलाभावे तु गंधाढ्यं दूर्वां वा श्रीफलच्छदम् ।
विना वै दूर्वया देवि पूजा नास्तीह कर्हिचित् ।
तस्माद् दूर्वा गृहीतव्या सर्वपुष्पमयी हि सा ॥२९७३॥

अन्यच्च-

शिवे केतकमुन्मत्तकुन्दार्काणि हरेस्तथा ।
देवीनामर्कमन्दारौ सूर्ये च तगरं तथा ॥२९७४॥

मंत्रतंत्रप्रकाशे-

पत्रेषु तुलसी श्रेष्ठा बिल्वं दमनकं तथा ।
मरुको देवकह्लारी विष्णुक्रान्ता तथैव च ॥२९७५॥
अपामार्गोऽथ गान्धारी पत्री सुरभिसंज्ञका ।

नागवल्लीदलं दूर्वा कुशपत्रं तथा मतम् ॥२६७६॥

पत्रं चागस्त्यवृक्षस्य पुण्यं धात्रीदलं तथा ।
देवेभ्यः सर्वगन्धानामभावे तुलसीदलम् ॥२६७७॥

तुलस्या पूजयेद् देवीं देवान् गणपतिं विना ।
विना तुलस्या स्नानादि श्राद्धं यज्ञार्चनं प्रिये ॥२६७८॥

न संपूर्णफलं प्राहुः सर्व एव विपश्चितः ।
दूर्वा वा तुलसी तस्माद् गृहीतव्या च साधकैः ॥२६७९॥

सुन्दरी भैरवी काली ब्रह्मविष्णुविवस्वतः ।
विना तुलस्या या पूजा सा पूजा विफला भवेत् ॥२६८०॥

शक्तियामले-

सावित्रीं च भवानीं च दुर्गां देवीं सरस्वतीम् ।
योऽर्चयेत्तुलसीपत्रै र्देवैः स्वर्गे स मोदते ॥२६८१॥

यामले-

रात्रौ रहस्यपूजायां तुलसीं वर्जयेत् सदा ।
तुलसी घ्राणमात्रेण रुष्टा भवति चंडिका ॥२६८२॥

तुलसी ब्रह्मरूपा च सर्वदेवमयी शुभा ।
सर्वतीर्थमयी सा तु गणेशस्य प्रिया न हि ।
लक्ष्म्यास्तथा च ताराया न प्रिया तुलसी मता ॥२६८३॥

सर्वद्देवमयं पुष्पं देवेभ्यः सर्वथार्पयेत् ।
सर्वदेवमयं पुष्पं करवीरमपराजिताम् ॥२६८४॥

तद्वज्जवां महेशानि विद्धि पुष्पगणेष्विह ।
एषां मूले वसेद् ब्रह्मा एषां मध्ये जनार्दनः ॥२६८५॥

एषामग्रे वसेद् रुद्रः सर्वे देवाः दले स्थिताः ।
पंचदेवमयं पुष्पं करवीरं मनोहरम् ॥२६८६॥

विष्णु र्लम्बोदरः सूर्यो ब्रह्मा च कालिका तथा ।
पंचदेवा पंचदले सदा तिष्ठन्ति नान्यथा ॥२६८७॥

तथैव विष्णुक्रान्ता च तथैव च जवा प्रिये ।
विष्णुस्तु पश्चिमदले उत्तरे गणनायकः ॥२६८८॥
ऐशान्यां सूर्यदेवश्च पूर्वे ब्रह्मा प्रकीर्तितः ।
दक्षिणे कालिका देवी या परा शक्तिरिष्यते ॥२६८९॥
यथा रक्तं तथा शुक्लं हरितं कृष्णमेव वा ।
गंगादिसर्वतीर्थानि तिष्ठन्ति बिन्दुगह्वरे ॥२६९०॥
तन्मध्ये शिवलिंगं च महाकुण्डलिनीयुतम् ।
शिवशक्तिमयं पुष्पं करवीरं जवा तथा ॥२६९१॥
विष्णुक्रान्तापि देवेशि देवतीर्थमयी सदा ।
एषां मूलं च यः सिंचेत् पूजिता तेन देवताः ॥२६९२॥
पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं वाधोमुखं च यत् ।
समर्पितं दुःखदं तद् यथोत्पन्नं तथार्पणम् ॥२६९३॥
स्नानं कृत्वा तु मोहेन पुष्पं चिन्वन्ति ये द्विजाः ।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति भस्मनीव यथा हुतम् ॥२६९४॥

एतत्तु मध्यान्हस्नानपरम् ।

यत्तु तंत्रे–

स्नात्वा मध्याह्नसमये न छिद्यात्कुसुमं बुधः ।
तत्पुष्पार्चनतो देवि नरके परिपच्यते ॥२६९५॥
न पुष्पच्छेदनं कुर्याद् देवार्थं वामहस्ततः ।
न दद्यात् तेन देवेभ्यः संस्थाप्य वामहस्तके ॥२६९६॥
अगरूशीरगुग्गुलुशर्करामधुचंदनैः ।
सामान्यः सर्वदेवानां धूपोऽयं परिकीर्तितः ॥२६९७॥

विशेषस्तंत्रान्तरे–

सिताज्यमधुसंमिश्रं गुग्गुल्वगरुचंदनम् ।
षडंगधूपमेतत्तु सर्वदेवप्रियं सदा ॥२६९८॥
गुग्गुलुं सरलं दारुपत्रं मलयसंभवम् ।
ह्रीवेरमगरुं कुष्ठं गुडं सर्ज्जरसंघनम् ॥२६९९॥

हरीतकीं नखीं लाक्षां जटामांसीं च शैलजम् ।
षोडशांगं विदु र्धूपं दैवे पैत्र्ये च कर्मणि ॥३०००॥

मधु मुस्तां घृतं गंधो गुग्गुल्वगरुशैलजान् ।
सरलं सिल्हसिद्धार्थौ दशांगो धूप इष्यते ॥३००१॥

सर्वेषामेव धूपानां दुर्गाया गुग्गुलुः प्रियः ।
घृतयुक्तो विशेषेण सततं प्रीतिवर्धनः ॥३००२॥

न भूमौ वितरेद् धूपं नासनेन घटे तथा ।
यथायथाधारगतं कृत्वा तं विनिवेदयेत् ॥३००३॥

राशीकृतेन चैकत्र एतै र्धूपै र्विधूपयेत् ।

मंत्रतंत्रप्रकाशे तु–

न दहेद्दूषितं धूपं कर्पासास्थिशिरोरुहैः ।
तुषाग्निवत् तथा कृत्वा न तत्फलमवाप्नुयात् ॥३००४॥

वर्त्या कर्पूरगर्भिण्या सर्पिषा तिलजेन वा ।
आरोप्य दर्शयेद् दीपानुच्चैः सौरभशालिनः ॥३००५॥

न मिश्रीकृत्य दद्यात्तु दीपं स्नेहान् घृतादिकान् ।
दत्वा मिश्रीकृतं स्नेहं तामिस्रं नरकं व्रजेत् ॥३००६॥

यामले–

वृक्षेषु दीपो दातव्यो न तु भूमौ कदाचन ।
कुरुते पृथिवीतापं दीपमुत्सृज्य यो नरः ॥३००७॥

तामिस्रं नरकं घोरं प्राप्नोत्येव न संशयः ।
सर्वंसहा वसुमती सहते न त्विदं द्वयम् ॥३००८॥

अकार्यपादघातं च दीपतापं तथैव च ।
तस्माद् यथा न पृथिवी तापमाप्नोति वै तथा ॥३००९॥

नैव निर्वापयेद् दीपं देवार्थमुपकल्पितम् ।
दीपहन्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत् ॥३०१०॥

दीपं घृतयुतं दक्षे तैलयुक्तं तु वामतः ।
दक्षिणे च सितावर्त्ति र्वामतो रक्तवर्त्तिकम् ॥३०११॥

पक्वापक्वविभेदेन नैवेद्येष्वेव तत् स्थितिः ।
पुरतो नियमो नास्ति दीपनैवेद्ययोः क्वचित् ॥३०१२॥

कंदुपक्वं स्नेहपक्वं घृतसंयुक्तपायसम् ।
मनःप्रियं च नैवेद्यं दद्याद् देवाय साधकः ॥३०१३॥

यद् यद् वांछितवस्तूनि तद् दद्याद् देवपूजने ।
बालप्रियं च नैवेद्यं दत्वा देवं प्रपूजयेत् ॥३०१४॥

स्त्रीणां प्रीतिकरं यत् तद् देव्यै दद्याद् विचक्षणः ।
ताम्बूलस्य प्रदानेन देवी प्रीतिमती भवेत् ॥३०१५॥

शंखहस्तेन सर्वत्र प्रदक्षिणं प्रकीर्तितम् ।
सकृद् द्विस्त्रिश्चरेद् देवि देवतायाः प्रदक्षिणम् ॥३०१६॥

एकं चण्ड्यां रवौ सप्त त्रीणि दद्याद् विनायके ।
चत्वारि केशवे दद्यात् शिवे चार्द्धं प्रदक्षिणम् ॥३०१७॥

दक्षिणाद् वायवीं गत्वा दिशं तस्माच्च शांभवीम् ।
ततो वै दक्षिणां गच्छेन्नमस्कारस्त्रिकोणतः ॥३०१८॥

त्रिकोणोऽयं नमस्कारस्त्रिपुराप्रीतिवर्धनः ।
नतिस्त्रिकोणिकाकारा तारादेव्याः समीरिता ॥३०१९॥

दर्शयन् दक्षिणं पार्श्वं नमसा च प्रदक्षिणम् ।
स च प्रदक्षिणो ज्ञेयः सर्वदेवोपतुष्टये ॥३०२०॥

पश्चात् कृत्वा तु यो देवं भ्रमित्वा प्रणमेन्नरः ।
तस्य चैवैहिकं नास्ति न परत्र दुरात्मनः ॥३०२१॥

नमनं मानसं प्रोक्तं कायिकं वाचिकं तथा ।
त्रिविधे च नमस्कारे कायिकश्चोत्तमः स्मृतः ॥३०२२॥

कायिकैस्तु नमस्कारैं र्देवास्तुष्यन्ति नित्यशः ।
जानुभ्यामवनीं गत्वा शिरसास्पृश्य मेदिनीम् ॥३०२३॥

क्रियते यो नमस्कार उत्तमः कायिकः स्मृतः ।
पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ॥३०२४॥
मनसा वचसा चैव प्रणामोऽष्टांग उच्यते ।
पद्भ्यां कराभ्यां शिरसा पंचांगा प्रणतिः स्मृता ॥३०२५॥
पुटीकृत्य करे शीर्षे दीयते तद्यथा तथा ।
अस्पृष्ट्वा शीर्षजानुभ्यां क्षितिं मध्यम उच्यते ॥३०२६॥
कायिकस्त्रिविधः प्रोक्तो अष्टांगादिविभेदतः ।
अष्टांग उत्तमः प्रोक्तः पंचांगो मध्यमः स्मृतः ॥३०२७॥
अधमः करशीर्षाभ्यां नमस्कारं विवर्जयेत् ।
अयमेव नमस्कारो दण्डादिप्रतिनामभिः ॥३०२८॥
प्रणाम इति विज्ञेयः स पूर्वं प्रतिपादितः।
यैः स्वयं गद्यपद्याभ्यां घटिताभ्यां नमस्कृतिः ।
क्रियते भक्तियुक्तेन वाचिकस्तु नमस्तु सः ॥३०२९॥
पौराणिकैं वैंदिकैं र्वा मंत्रै र्या क्रियते नतिः ।
स मध्यमो नमस्कारो भवेद् वै वाचिकः सदा ॥३०३०॥
यत्तु मानुषवाक्येन नमनं क्रियते तथा ।
स वाचिकोऽधमो ज्ञेयो नमस्कारेषु पार्वति ॥३०३१॥

अथ देवानां प्रीतिकथनम्–

स्तुतिप्रियो महाविष्णु र्गणेशस्तर्पणप्रियः ।
दुर्गाऽर्चनप्रिया नूनमभिषेकप्रियः शिवः ॥
दीपप्रियः कार्तवीर्यो मार्तण्डो नतिवल्लभः ॥३०३२॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे सपर्याकथनं नाम
सप्तदशः पटलः ॥१७॥

अष्टादशः पटलः ।

अथ प्रायश्चित्तम्, यामले—

निषिद्धाचरणे पुंसां विहिताकरणे तथा ।
प्रायश्चित्तोपपातः स्यादिति सत्यं न संशयः ॥३०३३॥

निषिद्धाचरणं तु गौतमीये तन्त्रान्तरे च-

यानै र्वा पादुकाभि र्वा यानं भगवतो गृहे ।
देवोत्सवे स्वसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः ॥३०३४॥
उच्छिष्टे च तथाशौचे देवस्य वन्दनादिकम् ।
एकहस्तप्रणामं च पुरस्तात् तत्प्रदक्षिणम् ॥३०३५॥
पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्यंकबन्धनम् ।
शयनं भक्षणं चापि मिथ्याभाषणमेव च ॥३०३६॥
उच्चैर्हासो मिथो जल्पो रोदनानि च विग्रहः ।
निग्रहानुग्रहौ चैव स्त्रीषु च क्रूरभाषणम् ॥३०३७॥
कम्बलावरणं चैव परनिन्दां परस्तुतिम् ।
अश्लीलभाषणं चैव अधोवायुविमोक्षणम् ॥३०३८॥
शक्तौ गौणोपचारस्तु अनिवेदितभक्षणम् ।
तत्तत्कालोद्भवानां च फलादीनामनर्पणम् ।
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यंजनस्य च ॥३०३९॥
स्पष्टीकृत्यासनं चैव परनिन्दा परस्तुतिः ।
गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा ॥३०४०॥
अपराधास्तथा विष्णो द्वात्रिंशत् परिकीर्तिताः ।

विष्णोरित्युपलक्षणम्, तेनेदं देवमात्रपरम् ।

यद् यत् कर्मणि वैगुण्यं नित्ये नैमित्तिके तथा ॥३०४१॥
सहस्रं प्रजपेन्मूलमंत्रं चायुतमेव वा ।
नित्ये सहस्रं प्रजपेन्नैमित्तिके तथायुतम् ॥३०४२॥

विष्णुविषयक एवायं विधिः ।

अन्यत्र तंत्रराजे-

नित्यादिकर्मदोषाणां शान्त्यै विद्यां शतं जपेत् ।
नैमित्तिकातिक्रमणे सहस्रं प्रजपेन्मनुम् ॥३०४३॥

पापसंकरे तु–

सर्वेषामेव पापानां संकरे समुपस्थिते ।
प्रायश्चित्तं तु तंत्रोक्तमयुतं संजपेन्मनुम् ॥३०४४॥

अन्यच्च यामले–

देवनिन्दापराणां च संकराणां सह प्रिये ।
शाक्तः शैवो वैष्णवो वा संसर्गं यत्नतस्त्यजेत् ॥३०४५॥

चेत् संसर्गो भवेद् देवि विद्यामेनां तदा जपेत् ।
कामसंपुटितां मायामष्टोत्तरसहस्रकम् ॥३०४६॥

जप्त्वा पापात् प्रमुच्येत संगदोषभवात् शिवे ।
जाम्बूनदस्य मालिन्यं परिशुद्धेद् यथाग्निना ॥३०४७॥

अनाचारस्य कलुषं प्रायश्चित्ताग्निना दहेत् ।
प्रायश्चित्ते तु पापानां मूलमष्टसहस्रकम् ।
गायत्रीं वा जपेद् देवि सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥३०४८॥

अथ धृतकवचनाशप्रायश्चित्तं यामले—

विधृतं कवचं देवि यदि नश्यति कर्हिचित् ।
तत्रोपायं प्रवक्ष्यामि शृणुष्व कमलानने ॥३०४९॥

उपविश्य तथाचम्य भूतशुद्धिं विधाय च ।
षट्चक्राणि विचिंत्याथ गुरुं शिरसि चिन्तयेत् ॥३०५०॥

अनुलोमविलोमाभ्यां मातृकाभ्यां च संपुटम् ।
कवचं प्रपठेद् देवि अर्कावृत्तिमनुक्रमात् ॥३०५१॥

ततो जपेन्महाविद्यां सहस्रं वा शतं क्रमात् ।
विलिख्य कवचं देवि नूतनं साधयेत् ततः ॥३०५२॥

तत्र प्राणान् प्रतिष्ठाप्य रक्तसूत्रेण वेष्टयेत् ।
वेष्टयित्वा महेशानि स्वर्णादौ स्थापयेद् बुधः ॥३०५३॥

पंचामृतैः पंचगव्यैः स्नापयित्वा शुभेऽहनि ।
प्राणप्रतिष्ठामंत्रेण प्राणांस्तत्र नियोजयेत् ॥३०५४॥

संपूज्य देवतारूपं कवचं धारयेत् ततः ।

अथ यंत्रनाशप्रायश्चित्तं नवरत्नेश्वरे—

यदि प्रतिष्ठितं यंत्रं दैवाद् देवि विनश्यति ।
उपोषणमहोरात्रमादरेण समाचरेत् ॥३०५५॥
येन स्वर्णादिना यंत्रं द्रव्येण परिनिर्मितम् ।
विलिख्य यंत्रं तत्पत्रे देवतां तत्र पूजयेत् ॥३०५६॥
यथालब्धोपचारैश्च अयुतं प्रजपेन्मनुम् ।
ततः प्रक्षाल्य तद् यंत्रं पीत्वान्ते भोजनं चरेत् ॥३०५७॥
तावत्कालं ब्रह्मचर्यं यावद् यंत्रं न लभ्यते ।
पुनर्नवं प्रतिष्ठाप्य यंत्रे पूज्य यथा सुखम् ॥
व्रतं समापयेद् धीमानतो देवः प्रसीदति ॥३०५८॥

अथ पूजाकाले यंत्रपतनप्रायश्चित्तम्—

यंत्रं यदि पतेद् देवि पूजाकाले कदाचन ।
लिंगं वापि शिला वापि तत् फलं शृणु पार्वति ॥३०५९॥
आयुर्बन्धु धनानां च हानिः स्यादुत्तरोत्तरम् ।
अतस्तत् पापशुद्धयर्थमेकरात्रं त्रिरात्रकम् ॥३०६०॥
उपवासपरो मूलं जपेत् साष्टसहस्रकम् ।
जवापुष्पं च जुहुयात् तद्दशांशं ततश्चरेत् ॥३०६१॥
तर्पणं मार्जनं विप्रभोजनं शक्तिपूर्वकम् ।
एवं कृते सुतुष्टः सन् देवोऽभीष्टं प्रदास्यति ॥३०६२॥

अथ मालानाशे पतने च प्रायश्चित्तम्—

माला यदि पतेद् हस्तादथ चैव विनश्यति ।
सहस्रं चैव संजप्य ब्राह्मणान् भोजयेत् ततः ॥३०६३॥
भोजनं ब्राह्मणानां तु सर्वारिष्टविनाशनम् ।
गायत्रीं वा जपेत् साष्टशतं भक्त्या समाहितः ॥३०६४॥

महापातकयुक्तोऽपि गायत्रीं प्रजपेद् यदि ।
सत्यं सत्यं महेशानि मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥३०६५॥
गायत्रीं स्वोपास्यगायत्रीम् ।
ततोऽपरां नवां मालां तज्जातीयां वरानने ।
गृह्णीयात् तत्कृते चैवं न विघ्नैरभिभूयते ॥३०६६॥

अथवा-

छिन्ना भवति चेन्माला हस्ताद् वा पतिता तथा ।
प्रतिष्ठां पूर्ववत् कृत्वा पुनर्मन्त्रं जपेत् सुधीः ॥३०६७॥

अथ श्रीगुरुक्रोधे प्रायश्चित्तम्—

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
उपवासं गुरुक्रोधे कृत्वा तं तु प्रसादयेत् ॥३०६८॥
यावत् प्रसत्ति नायाति न तावद् भोजनं चरेत् ।
गुरौ प्रसन्ने भुंजीत एवं दोषो न विद्यते ॥३०६९॥

अथ अनिवेदितभोजन-प्रायश्चित्तं मत्स्यसूक्ते—

अनिवेद्य न भुंजीत यदाहाराय कल्प्यते ।

यामले-

अनिवेद्य महेशानि भुंजानः पातकी भवेत् ।
यत् यदा भक्ष्यते भक्ष्यं तत्तदैव प्रदापयेत् ॥३०७०॥
अनिवेद्य तु भुंजीत प्रायश्चित्तीभवेन्नरः ।
फलं पुष्पं तु ताम्बूलमन्नपानादिकं च यत् ॥३०७१॥
अनिवेद्य न भोक्तव्यमापत्कालेऽपि पार्वति ।
भुक्त्वाष्टशतमूलं तु जप्त्वा पूतो भवेन्नरः ॥३०७२॥
यो यद् देवार्चनरतः स तन्नैवेद्यभक्षकः ।
शिवदत्तं विष्णुदत्तं गिरिजादत्तमेव वा ॥
प्राप्तमात्रेण भोक्तव्यमन्यथा पातकी भवेत् ॥३०७३॥

अग्निपुराणेऽपि-

शिवदत्तं विष्णुदत्तं गिरिजादत्तमेव वा ।
नैवेद्यमुदरे कृत्वा नरः सायुज्यमाप्नुयात् ॥३०७४॥

स्कंदपुराणे-

वाणलिगे स्वयंभूते स्फाटिके हृदि संस्थिते ।
अत्र शतक्रतोः पुण्यं शंभो नैवेद्यभक्षणात् ॥३०७५॥

आदित्यपुराणे-

निर्माल्यं धारयेद् यस्तु शिरसा पार्वतीपतेः ।
स राजसूययज्ञस्य फलमाप्नोत्यनुत्तमम् ॥३०७६॥ इति ।

अथ वैष्णवविषये गौतमीये-

शालग्रामशिलातोयमपीत्वा यस्तु मस्तके ।
प्रक्षेपणं प्रकुर्वीत ब्रह्महा स निगद्यते ॥३०७७॥
विष्णोः पादोदकं पीत्वा कोटिजन्माघनाशनम् ।
तदेवाष्टगुणं पापं भूमौ बिन्दुनिपातनात् ॥३०७८॥
विष्णुपादोदकात् पूर्वं विप्रपादोदकं पिबेत् ।
विरुद्धमाचरन् मोहादात्महा स निगद्यते ॥३०७९॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे ।
स सागराणि तीर्थानि पादे विप्रस्य दक्षिणे ॥३०८०॥

वासिष्ठे-

केशवाग्रे नृत्यगीतं न करोति हरे र्दिने ।
वह्निना किं न दग्धोऽसौ गतः किं न रसातलम् ॥३०८१॥

अगस्त्यसंहितायाम्-

हत्यां हन्ति यदंघ्रिजापि तुलसी स्तेयं च तोयं पदे
नैवेद्यं वहुमद्यपानजनितं गुर्वंगनासंगजम् ।
श्रीशाधीनमतिस्थितिर्हरिजनैस्तत्संगजं किल्विषं
शालग्रामशिलानृसिंहमहिमा कोप्येष लोकोत्तरः ॥३०८२॥

शालग्रामचिन्हंकथनं तत्रैव विष्णुधर्मोत्तरेऽपि-

शिव वाक्यम्-

कुत्र वासश्च ते विष्णो किमाधारः किमाश्रयः ।
कुत्र संपूजितोऽभीष्टं भक्तानां त्वं प्रदास्यसि ॥३०८३॥

विष्णोरुत्तरम्-

निवसामि सदा शंभो शालग्रामशिलान्तरे।
तत्रैव मे सुचिह्नानि तन्नामानि च संशृणु ॥३०८४॥
द्वारदेशे समे चक्रे दृश्यते नान्तरं यदि।
वासुदेवः स विज्ञेयः शुक्लश्चैवातिशोभनः ॥३०८५॥
सुषिरं छिद्रबाहुल्यं दीर्घाकारं तु तद् भवेत्।
अनिरुद्धस्तु पीताभो वर्तुलश्चातिशोभनः ॥३०८६॥
रेखात्रयांकितो द्वारि पद्मेनापि विचिह्नितः।
श्यामो नारायणो देवो नाभिचक्रे तथोत्तमे ॥३०८७॥
दीर्घरेखासमीपे तु दक्षिणे सुषिरान्वितः।
ऊर्ध्वं मुखं विजानीयात् सुषिरं हरिरूपिणम् ॥ ३०८८॥
कामदं मोक्षदं चैव अर्थदं च विशेषतः।
परमेष्ठी च शुक्लाभः पद्मचक्रसमन्वितः ॥३०८९॥
किं वाऽऽकृतिस्तथा पृष्ठे सुचिरं चातिपुष्कलम्।
कृष्णवर्णस्तथा विष्णु मूले चक्रे च शोभने ॥३०९०॥
द्वारोपरि तथा रेखा दृश्यते मध्यदेशतः।
कपिलो नरसिंहस्तु पृथक् चक्रेण शोभितः ॥३०९१॥
ब्रह्मचर्येण पूज्योऽसावन्येषां विघ्नदो भवेत्।
वराहशक्तिलिंगस्तु चक्रं च विषमं स्मृतम् ॥३०९२॥
इन्द्रनीलनिभं स्थूलं त्रिरेखान्वितमुत्तमम्।
दीर्घकांचनवर्णाभा बिन्दुत्रयविभूषिता ॥३०९३॥
मत्स्यनाम्नी शिला ज्ञेया भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।
कूर्मस्तथोन्नतः पृष्ठे वर्त्तुलावर्तभूषितः ॥३०९४॥
हरितं वर्णमाधत्ते कौस्तुभेन तु चिह्नितः।
हयग्रीवो हयाकारो रेखात्रयविभूषितः ॥३०९५॥
बहुबिन्दुसमाकीर्णः पृष्ठे नीलाभभूषितः।
तद् वैकुण्ठाधिपो नाम चक्रमेकं तथा ध्वजम् ॥३०९६॥

द्वारोपरि तथा रेखा गुंजाकारा सुशोभना ।
श्रीधरस्तु तथा देवश्चिह्नितो वनमालया ॥३०९७॥
कदम्बकुसुमाकारो रेखापंचविभूषितः ।
वर्तुलश्चातिह्रस्वश्च वामनः परिकीर्तितः ॥३०९८॥
अतसीकुसुमप्रख्यो विन्दुना परिशोभितः ।
सुदर्शनस्ततो देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः ।
वामपार्श्वे गदाचक्रे रेखैका दक्षिणे तथा ॥३०९९॥
दामोदरस्तथा स्थूलो मध्ये चक्रविभूषितः ।
दूर्वाभं द्वारि सम्पूर्णं पीतरेखं तथा स्मृतम् ॥३१००॥
नानावर्णो ह्यनन्तः स्यान्नानाचिह्नेन चिह्नितः ।
अनेकमूर्तिसंभिन्नः सर्वकामफलप्रदः ॥३१०१॥
दृश्यते शिखरे लिंगं शालग्रामशिलाभवम् ।
सः स्याद् योगेश्वरो देवो ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥३१०२॥
अतिरक्तः पद्मनाभः पद्मचक्रसमन्वितः ।
आपद्गतमपि कुर्यादीश्वरं दुःखवर्जितम् ॥३१०३॥
वक्राकृतिं हिरण्यांकं स्वर्णगर्भं विनिर्दिशेत् ।
सुवर्णरेखा बहुलं स्फटिकद्युतिभूषितम् ॥३१०४॥
अतिस्निग्धा सिद्धिकरी शिला कीर्तिं ददाति च ।
पांडुरा पापहरिणी पीता पुत्रफलप्रदा ॥३१०५॥
नीला प्रयच्छती लक्ष्मीं रक्ता रोगप्रदायिनी ।
रूक्षोद्वेगकरी नित्यं वक्रा दारिद्रयकारिणी ॥३१०६॥
सुदर्शनमेकचक्रं लक्ष्मीनारायणद्वयम् ।
त्रितयं चाच्युतं ज्ञेयं चतुश्चक्रं जनार्दनम् ॥३१०७॥
पंचचक्रं वासुदेवं षट्कं प्रद्युम्नसंज्ञकम् ।
संकर्षणं सप्तचक्रं अष्टयुक् पुरुषोत्तमम् ॥३१०८॥
अक्रूरं नवसंयुक्तं दशयुक्तं दशात्मकम् ।
एकादशं चानिरुद्धं द्वादशं द्वादशात्मकम् ।

चक्रसंख्याविभेदेन भिन्नं द्वादशरूपकम् ॥३१०९॥ इति ।

अथ द्वादशशुद्धिस्तु वैष्णवानामिहोच्यते ।
गृहोपसर्पणं चैव तथानुगमनं हरेः ॥३११०॥
भक्त्या प्रदक्षिणं चैव पादयोः शोधनं पुनः ।
पूजार्थं पत्रपुष्पाणां भक्तेन त्रोटनं हरेः ॥३१११॥
करयोः सर्वशुद्धीनामियं शुद्धि र्विशिष्यते ।
तन्नामकीर्तनं चैव गुणानामथ कीर्तनम् ॥३११२॥
भक्त्या श्रीकृष्णदेवस्य वचसः शुद्धिरिष्यते ।
तत्कथाश्रवणं चैव तस्योत्सवनिरूपणम् ॥३११३॥
श्रोत्रयो र्नेत्रयोश्चैव शुद्धिः सम्यगिहोच्यते ।
पादोदकं च निर्माल्यं मालानामपि धारणम् ॥३११४॥
उच्यते शिरसः शुद्धिः पुंसस्तस्य हरेः पुनः ।
आघ्राणं गंधपुष्पादे र्निर्माल्यस्य तपोधन ॥३११५॥
विशुद्धिः स्यादनन्तस्य घ्राणस्यापि विधीयते ।
पत्रपुष्पादिकं यच्च कृष्णपादयुगार्पितम् ॥
तदेकं पावनं लोके तद्धि सर्वं विशोधयेत् ॥३११६॥

तुलसीग्रहणे विशेषः-

वैधृतौ च व्यतीपाते भौमभार्गवभानुषु ।
पर्वद्वये च संक्रान्तौ द्वादश्यां सूतकद्वये ॥३११७॥
तुलसीं ये विचिन्विन्ति ते छिन्दन्ति हरेः शिरः ।
नैव छिद्याद् रवौ दूर्वां तुलसीं निशि संध्ययोः ॥३११८॥
धात्रीपत्रं कार्तिके च पुण्यार्थी मतिमान्नरः ।
द्वादश्यां तु दिवास्वापस्तुलस्यावचयस्तथा ।
विष्णोश्चैव दिवास्नानं वर्जनीयं सदा बुधैः ॥३११९॥

अथ वैष्णवतिलके विशेषः ब्रह्माण्डपुराणे, गौतमीये च-

ऊर्ध्वपुण्ड्रमृजुं सौम्यं ललाटे यस्य दृश्यते ।
स चाण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः ॥३१२०॥

अशुचिश्चाप्यनाचारो मानसं पापमाचरेत् ।
शुचिरेव भवेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रांकितो नरः ॥३१२१॥

मत्प्रियार्थं शुभार्थं वा रक्षार्थं चतुरानन ।
मद्भक्तो धारयेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रमतन्द्रितः ॥३१२२॥

ललाटे च गदा कार्या मूर्ध्नि चापं शरांस्तथा ।
नंदकं चैव हृन्मध्ये शंखं चक्रं भुजद्वये ॥३१२३॥

शंखचक्रांकितो विप्रः श्मशाने म्रियते यदि ।
प्रयागे या गतिः प्रोक्ता सा गतिस्तस्य नारद ॥३१२४॥ इति ।

तदंकनं तु गोपीचंदनादिना न तु तप्तांकनं, तत्कृते महद्विरोधापत्तिः ।

अथ शैवविषये, भविष्ये—

बाणलिंगानि राजेन्द्र रम्याणि भुवनत्रये ।
तेनैव च कृतार्थः स्याद् बहुभिः किमु सुव्रत ॥३१२५॥

न प्रतिष्ठा न संस्कारस्तेषामावाहनं तथा ।
बाणलिंगेषु चण्डांशो न हि निर्माल्यकल्पना ॥३१२६॥

सर्वं बाणार्पितं ग्राह्यं भक्त्या भवतेरनन्यया ।
बाणलिंगे स्वयंभूते चन्द्रकांते हृदि स्थिते ।
चान्द्रायणशतं ज्ञेयं शंभो नैवेद्यभक्षणात् ॥३१२७॥

तथा च हेमाद्रौ कालोत्तरे—

नर्मदायां देविकायां गंगायां मुनिसेवित ।
सन्त्यसंख्यानि पुण्यानि लिंगानि च षडानन ॥३१२८॥

इंद्रादिदेवपूज्यानि तच्चिह्नैश्चिह्नितानि च ।
सदा संनिहितस्तत्र शिवः सर्वार्थसाधकः ॥३१२९॥

पक्वजंबूफलाकारं कुक्कुटाण्डसमाकृतिम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं चैव बाणलिंगमुदाहृतम् ॥३१३०॥
कर्षके बाणलिंगे तु पुत्रदाराक्षयो भवेत् ।

चर्पटे पूजिते बाणे गृहभंगो भवेद् ध्रुवम् ।
लिंगे कलिकया युक्ते व्याधिमान् पूजको भवेत् ॥३१३१॥
अर्च्यं स्यात्कापिलं लिंगं मुनिभि र्मोक्षकाङ्क्षिभिः ।
लघुं वा कपिलं स्थूलं गृहस्थो नार्चयेत् क्वचित् ॥३१३२॥
तीक्ष्णाग्रं वक्रशीर्षं च बाणलिंगं विवर्जयेत् ।
अतिस्थूलं चातिकृशं स्वल्पं वा भूषणान्वितम् ॥३१३३॥
गृही विवर्जयेद् यत्नाद् भुक्तिमुक्त्यर्थकामुकः ।
पूजितव्यं गृहस्थेन बाणं च भ्रमरोपमम् ॥३१३४॥
तत्रापि शिवपीठं स्यान्मंत्रसंस्कारवर्जितम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं बाणं सर्ववर्णोत्तमोत्तमम् ॥३१३५॥

लिंगपरीक्षा सूतसंहितायाम्–

सप्तकृत्वस्तुलारूढो वृद्धिमेति न हीयते ।
बाणलिंगं तदाख्यातं शेषं नार्मदमुच्यते ॥३१३६॥
त्रिपंचवारं यस्यैव तुलासाम्यं न विद्यते ।
तदा बाणं समाख्यातं शेषं पाषाणसंभवम् ॥३१३७॥
नद्यां वा प्रक्षिपेद् भूयो यदा तदुपलभ्यते ।
बाणलिंगं तदा विद्धि चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥३१३८॥

केदारखण्डे–

रत्नलिंगं ततः स्थाप्यं बाणात् कोटिगुणं च यत् ।
सिद्धयो रत्नलिंगेषु अणिमाद्याः सुसंस्थिताः ॥३१३९॥
रत्नधातुमयान्येव लिंगानि कथितान्यपि ।
प्रशस्तान्येव पूज्यानि सर्वकामप्रदानि च ।
एतेषामपि सर्वेषां काश्मीरश्च विशिष्यते ॥३१४०॥
काश्मीरादिषु लिंगेषु बाणलिंगं विशिष्यते ।
बाणलिंगात् परं नान्यत् पवित्रमिह विद्यते ।
ऐहिकामुष्मिकं सर्वं पूजाकर्तुः प्रयच्छति ॥३१४१॥

लिंगमस्तकं पुष्पादि शून्यं न कुर्यात्, तच्चोक्तं लिंगपुराणे–

यस्य राष्ट्रे तु लिंगस्य मस्तकं शून्यलक्षणम् ।
तस्यालक्ष्मी र्महारोगो दुर्भिक्षं वाहनक्षयः ॥३१४२॥

तस्मात्परिहरेद् राजा धर्मकामार्थमुक्तये ।
शून्ये लिंगे स्वयं राजा राष्ट्रं चैव प्रणश्यति ॥३१४३॥इति ।

चिह्नानि यथा, वायवीयसंहितायाम्–

मधुपिंगलवर्णाभं कृष्णकुण्डलसंयुतम् ।
स्वयंभूर्लिंगमाख्यातं सर्वसिद्धनिषेवितम् ॥३१४४॥

नानावर्णसमाकीर्णं जटाशूलसमन्वितम् ।
नीलकण्ठं समाख्यातं लिंगं पूज्यं सुरासुरैः ॥३१४५॥

शुक्लाभं शुक्लकेशं च नेत्रत्रयसमन्वितम् ।
त्रिलोचनं च तल्लिंगं सर्वपापनिषूदनम् ॥३१४६॥

ज्वलत्पिंगजटाजूटं कृष्णाभं स्थूलविग्रहम् ।
कालाग्निरूद्रसंज्ञं तल्लिंगं तत्त्वनिषेवितम् ॥३१४७॥

मधुपिंगलवर्णाभं श्वेतयज्ञोपवीतकम् ।
त्रिपुरारीति विख्यातं प्रलयाब्धिसमन्वितम् ॥३१४८॥

शुभ्राभं पिंगलजटमिन्दुमालाधरं परम् ।
त्रिशूलधरमीशानं लिंगं सर्वार्थसाधकम् ॥३१४९॥

त्रिशूलं डमरुं चैव शुभ्रमर्धाङ्गभागकम् ।
अर्धनारीश्वराख्यातं सर्वदेवैरभिष्टुतम् ॥३१५०॥

ईषद्रक्तमयं कायं शूलदीर्घसमुज्ज्वलम् ।
महाकालं समाख्यातं धर्मकामार्थमोक्षदम् ।
इति ते कथितं गुह्यं लिंगचिह्नं महेशितुः ॥३१५१॥ इति ।

विना भस्म त्रिपुण्ड्रेण विना रुद्राक्षमालया ।
पूजितोऽपि महादेवो न स्यात्तस्य फलप्रदः ॥३१५२॥

व्रते पाशुपते नित्यं भस्मना यस्त्रिपुण्ड्रकम् ।

धारयेत् सततं मर्त्यः शिव एव न चापरः ॥३१५३॥
त्रिपुण्ड्रेन विना कुर्याद् यत्किंचिद् वैदिकीं क्रियाम् ।
सा निष्फला भवत्येव ब्रह्मणा च कृता यदि ॥३१५४॥
शैवो वा वैष्णवो वापि शाक्तो वा सौर एव वा ।
त्रिपुण्ड्रेण विना पूजां कुर्वाणो यात्यधोगतिम् ।
सर्वे त्रिपुण्ड्रकं कुर्युं र्भस्मनापि च सर्वदा[1] ॥३१५५॥ इति ।

ईशानसंहितायाम्, वायवीये च–

पंचभूतमयं भस्म तानि ब्रह्ममयानि च ।
तैरेव धारयन् मर्त्यस्तस्मिन् लीयेत वै ध्रुवम् ॥३१५६॥
सद्योजाताद् भवेत् पृथ्वी वामदेवाद् भवेज्जलम् ।
अघोराच्च भवेदग्निस्तत्पुरुषाद् वायुरुच्यते ॥३१५७॥
ईशानाद् गगनाकारं पंचब्रह्ममयं जगत् ।
शिवाग्ने र्भस्म संग्राह्यमग्निहोत्रोद्भवं तु वा ॥ ३१५८॥
वैवाह्याग्न्युद्भवं वापि पक्वं शुचि सुगन्धि च ।
कपिलायाः शकृत् शस्तं गृहीतं गगने पतत् ॥३१५९॥
न क्लिन्नं नातिकठिनं न दुर्गन्धि न चोषितम् ।
उपर्यधः परित्यज्य गृह्णीयात् पतितं यदि ॥३१६०॥
यद्वा धरामसंस्पृष्टं सद्येनानीय गोमयम् ।
वामेन पिंड्य संशोष्य ततोऽघोरेण निर्दहेत् ॥३१६१॥
तत्पुरुषेण समुद्धृत्य चेशानेन विशोधयेत् ।
इत्थं तु संस्कृतं भस्म मानस्तोकेन गृह्य च ॥३१६२॥
पंचभि र्मन्त्रयेत् तच्च अग्निरित्यादि मंत्रतः ।
विसृज्यांगानि संस्पृश्य पुनरादाय मंत्रतः ॥३१६३॥
तस्माद् ब्रह्मेति यजुषा मन्त्रयेद् रुद्रसंख्यया ।
प्रणवाद्यै चतुर्थ्यन्तै हृदन्तै र्नाममंत्रकैः ॥३१६४॥

(१) इदं भविष्ये, शिवधर्मे धर्मपुराणे च ।

तथा पंचाक्षराद्यैश्च ललाटादिषु धामसु ।
ललाटे ब्रह्म विज्ञेयो हृदये हव्यवाहनः ।
नाभौ स्कन्दो गले पूषा रुद्रो दक्षिणबाहुके ॥३१६५॥
आदित्यो बाहुमध्ये च शशी च मणिबन्धके ।
वामदेवो वामबाहौ बाहुमध्ये प्रभंजनः ॥३१६६॥
मणिबंधे च वसवः पृष्ठदेशे हरः स्मृतः ।
शंभुः ककुदि संप्रोक्तः परमात्मा शिरः स्मृतः ॥३१६७॥
मध्यमानामिकांगुष्ठैरेतत्स्थानेषु धारयेत् ।
त्र्यंबकं च पठेदन्ते शिवस्मरणपूर्वकम् ॥३१६८॥
वर्तुलेन भवेद् व्याधि र्दीर्घेण च तपक्षयः ।
ललाटयुगमानेन त्रिपुण्ड्रं कारयेद् बुधः ॥३१६९॥
आमध्याह्नं जलेनैव तदूर्ध्वं तु जलं विना ।
अपक्वमतिपक्वं च संत्याज्यं भसितं सितम् ॥३१७०॥
देगेऽनुद्वासिते यज्ञभस्मनो ग्रहणं मतम् ।
उद्वासने कृते यस्माच्चण्डभस्म प्रजायते ॥३१७१॥ इति ।

अथ रुद्राक्षधारणं यामले—

अरुद्राक्षधरो भूत्वा यद् यत् कर्म च वैदिकम् ।
करोति जपहोमादि तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥३१७२॥
निश्छिद्राश्च सुपक्वाश्च रुद्राक्षा धारणे स्मृताः ।
विना मंत्रं न बिभृयाद् रुद्राक्षान् भुवि मानवः ॥३१७३॥
पंचामृते पंचगव्ये स्नापयित्वा तु धारयेत् ।
रुद्राक्षस्य प्रतिष्ठायां मंत्रः पंचाक्षरः स्मृतः ॥३१७४॥
त्र्यंबकादिस्तथा मंत्रः प्रतिष्ठायां प्रयोजयेत् ।
प्रणवं चा समुच्चार्य मायान्ते मातृकां तथा ॥३१७५॥
पंचाक्षरं त्र्यंबकं चा समुच्चार्य कुशोदके ।
पंचगव्ये चा प्रक्षिप्य सद्योजातं पठेत्ततः ॥३१७६॥

शुद्धोदकेन प्रक्षाल्य वामेनालिप्य चंदनैः ।
धूपयेत्तामघोरेण अन्यं तत्पुरुषेण च ॥३१७७॥

ईशानं प्रजपेद् विद्वान् दशधा च मणिं प्रति ।
अघोरेण तथा मेरुं शतधा मंत्रयेत्सुधीः ॥३१७८॥

पूज्य पंचोपचारैस्तां धारयेद् देवताधिया ।
तुलसीकाष्ठजां चैव धारयेद् वैष्णवोत्तमः ॥३१७९॥

विष्णुमंत्रमनुस्मृत्य वर्जयेदन्यकाष्ठजाम् ।
अष्टोत्तरशतं कुर्याच्चतुःपंचाशदेव वा ॥३१८०॥

सप्तविंशतिमाना वा हीना माला न युज्यते ।
सप्तविंशतिरुद्राक्षमालया देहसंस्थया ॥३१८१॥

यः करोति नरः पुण्यं सर्वं कोटिगुणं भवेत् ।
शिखायां हस्तयोः कण्ठे कर्णयोश्चापि यो नरः ॥३१८२॥

रुद्राक्षं धारयेद् भक्त्या शैवं लोकमवाप्नुयात् ।
नववक्त्रन्तु रुद्राक्षं धारयेद् वामके भुजे ॥३१८३॥

चतुर्दशमुखं चैव शिखायां धारयेद् बुधः ।
एकवक्त्रः शिवः साक्षाद् ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥३१८४॥

द्विवक्त्रो हरगौरी स्याद् गोवधाद्यघनाशकृत् ।
त्रिवक्त्रोऽग्निस्त्रिजन्मोत्थपापराशिं प्रणाशयेत् ॥३१८५॥

चतुर्वक्त्रः स्वयं ब्रह्मा ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।
पंचवक्त्रस्तु कालाग्निरगम्याभक्ष्यपापनुत् ।
षड्वक्त्रस्तु ग्रहः प्रोक्तो गर्भहत्यां व्यपोहति ॥३१८६॥

सप्तवक्त्रस्त्वनंतः स्यात् स्वर्णस्तेयादिपापनुत् ।
विनायकोऽष्टवक्त्रः स्यात् सर्वाऽनृतविनाशकः ॥३१८७॥

भैरवो नववक्त्रस्तु शिवसायुज्यकारकः ।
दशवक्त्रः स्मृतो विष्णु र्भूतप्रेतपिशाचहा ॥३१८८॥

एकादशमुखो रुद्रो नानायज्ञफलप्रदः ।
द्वादशास्यो भवेदर्कः सर्वक्रतुफलप्रदः ॥३१८९॥
त्रयोदशमुखः कामः सर्वकामफलप्रदः ।
चतुर्दशास्यः श्रीकण्ठो वंशोद्धारकरः परः ॥३१९०॥

रुद्राक्षे देहसंस्थे तु कुक्कुरो म्रियते यदि ।
सोऽपि रुद्रपदं याति किं पुन र्मानवा गुह ! ॥३१९१॥
यो ददाति द्विजातिभ्यो रुद्राक्षं भुवि षण्मुख ! ।
तस्य प्रीतो भवेद् रुद्रः प्रयच्छति निजं पदम् ॥३१९२॥

अन्यच्च-

रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान् मस्तके विंशति द्वे
षट् षट् कर्णप्रदेशे करयुगलगता द्वादश द्वादशैव ।
बाह्वोरिन्दोः कलाभि र्नयनयुगकृते चैकमेकं शिखायां
वक्षस्यष्टाधिकं यः कलयति शतकं स स्वयं नीलकण्ठः ॥३१९३॥

सोमवारे त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां निशामुखे ।
संक्रान्तौ बिल्वपत्रं च नो छिंद्यान्मतिमान्नरः ॥३१९४॥

इति स्मृतिपुराणतंत्रेभ्यः संगृहीतम् ।

अथारिमंत्रप्रायश्चित्तम्-

यद्यज्ञानादरिर्मन्त्रो गृहीतः साधकेन च ।
त्यागस्तस्य प्रकर्तव्यः शास्त्रप्रोक्तेन वर्त्मना ॥३१९५॥

यथा मालिनीविजये-

अथारिमंत्रत्यागस्य विधिः सम्यक् प्रकाश्यते ।
शुचिः समाहितो भूत्वा प्रारभेत् प्रवरे दिने ॥३१९६॥
अशेषदुःखनाशाय देशिकः प्रवरं विधिम् ।
तत्रादौ रम्यभवने कुम्भं दीक्षाविधिक्रमात् ॥३१९७॥
मंडले स्थापयेद् विद्वान् पूरयेत् तं जलैः शुभैः ।
विलोममंत्रपाठेन तत्राऽऽवाह्य तु देवताम् ॥३१९८॥
सकलीकृत्य संपूज्यावरणानि प्रपूजयेत् ।
एवं सावरणामिष्ट्वा मंत्री मंत्रस्य देवताम् ॥३१९९॥

हुत्वा विलोममंत्रेण सर्पिषा गोरपि द्विजः ।
अष्टोत्तरसहस्रं वा अष्टोर्ध्वं वा शतं सुधीः ॥३२००॥
ब्रह्मार्पणेन मनुना तथान्ते तर्पयेत् प्रभुम् ।
ततो यथावद् दुग्धान्नै र्देवताभ्यो बलिं हरेत् ॥३२०१॥
विदिक्षु दिक्षु च तथा वक्ष्यमाणै र्मंतूत्तमैः ।
आयाहीन्द्र सुराधीश शतमन्यो शचीपते ॥३२०२॥
नमस्तुभ्यं गृहाणेमं पुष्पधूपादिकं बलिम् ।
आयाहि तेजसां नाथ हव्यवाह वरप्रद ॥३२०३॥
गृहाण पुष्पधूपादिबलिमेनं सुपूजितम् ।
प्रेतराज समायाहि भिन्नांजनसमप्रभ ॥३२०४॥
बलिं दत्तं गृहीत्वेमं सुप्रीतो वरदो भव ।
नमस्ते रक्षसां नाथ निर्ऋते त्वमिहागतः ॥३२०५॥
गृहाण बलिपूजादि मया भक्त्या निवेदितम् ।
एहि पश्चिमदिक्पाल जलनाथ नमोऽस्तु ते ॥३२०६॥
भक्त्या निवेदितां पूजां गृहीत्वा प्रीतिमावह ।
प्रभंजन प्राणपते त्वमेहि सपरिच्छदः ॥३२०७॥
मया प्रयुक्तं विधिवद् गृहाण बलिमादरात् ।
कुवेरतारकाधीशावागच्छेतां सुरोत्तमौ ॥३२०८॥
पुष्पधूपादिभिः प्रीतौ भवेतां वरदौ मम ।
ईशत्वमेव भगवन् सर्वविद्याश्रय प्रभो ॥३२०९॥
पूजितः पुष्पधूपाद्यैः प्रीतो भव विभूतये ।
आयाहि सर्वलोकानां नाथ ब्रह्मन् समर्चनम् ॥३२१०॥
गृहाण सर्वान् विघ्नान् मे निवर्तय नमोऽस्तु ते ।
आगच्छ वरदाव्यक्त विष्णो विश्वस्य नायक ।
पूजितः परया भक्त्या भव त्वं सुखदो मम ॥३२११॥
ततः सपरिवारां च पूजयेन्मंत्रदेवताम् ।
मंत्रेण विपरीतेन पुष्पदोपोपचारकैः ॥३२१२॥

ततस्तु प्रार्थयेद् विद्वान् पूजितां मंत्रदेवताम् ।
आनुकूल्यमनालोच्य मया तरलबुद्धिना ॥३२१३॥
यदुपात्तं पूजितं च प्रभो मंत्रस्वरूपकम् ।
तेन मे मनसः क्षोभमशेषं विनिवर्तय ॥३२१४॥
पापं प्रतिहतं चास्तु भूयात् श्रेयः सनातनम् ।
तनोतु मम कल्याणं भाविनी भक्तिरेव ते ॥३२१५॥
इति संप्रार्थ्य मंत्रेशं मंत्रं पत्रे विलोमतः ।
लिखित्वाऽमलकर्पूरचंदनेन समर्चयेत् ॥३२१६॥
कलशोपरि संस्थाप्य भक्त्या परमया युतः ।
तत्पत्रं मतिमान् पश्चाद् बद्ध्वा निजशिरस्यथ ॥३२१७॥
स्नायात् पूजितकुम्भस्य तोयै र्मन्त्रमयैः शुभैः ।
पुनश्चान्येन तोयेन कुंभमापूर्य संयतः ॥३२१८॥
तन्मध्ये मंत्रपत्रं च निःक्षिप्याथ प्रपूजयेत् ।
तं कुंभं निम्नगातीरे शुद्धे वाथ जलाशये ॥३२१९॥
निःक्षिपेदथ विप्रांश्च यथाशक्त्या प्रभोजयेत् ।
इत्थं कृतविधानस्य रिपुमंत्रोद्भवा रुजः ॥३२२०॥
नश्यन्त्येव न संदेहः क्रमाच्चित्तप्रसन्नता ।
जायतेऽतीव संपन्नो वर्धते तत्कुलं क्रमात् ॥३२२१॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे प्रायश्चित्तादिकथनं नाम
अष्टादशः पटलः ॥१८॥

एकोनविंशः पटलः ।

अथ मंत्रशुद्धिः ।
तद्यथा–

कुलाकुलं राशिताराकथहाकडमौ तथा ।
धनर्णं चेति षट्चक्रं प्रोक्तं वै मंत्रशोधने ॥३२२२॥

वाराहीतंत्रे—

ताराशुद्धि वैष्णवानां कोष्ठशुद्धिः शिवस्य च ।

ताराशुद्धिस्त्रैपुरेऽपि गोपालेऽकडमः स्मृतः ॥३२२३॥

तंत्रान्तरे—

पिण्डे तारे स्वप्नलब्धे षड्वर्णे प्रासादार्कत्रैपुरे नारसिंहे ।

मालामायामातृवाराहकामास्त्रे नो दोषः स्त्र्याप्तवेदेषु रत्ने॥३२२४॥

अन्यच्च—

गारुडादिषु सौरेषु वैष्णवे बौद्धजैनयोः ।

महाकूटेषु मंत्रेषु नैव सिद्धादिशोधनम् ॥३२२५॥

अन्यच्च—

आज्ञासिद्धास्तु ये मंत्राः योगिनीनां प्रसादतः ।

लब्धा ये केऽपि ते मंत्राः सर्वकामफलप्रदाः ॥३२२६॥

एतद् व्यतिरिक्तेष्वावश्यकं शोधनम् ।

यदुक्तं कादिमते—

मंत्रो वा यदि वा विद्या स्तवो वा सूक्तमेव वा ।

अर्थबंधुशरीराण्यशुद्धो नाशयति ध्रुवम् ॥३२२७॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन दुष्टं सर्वत्र वर्जयेत् ।

साधकस्य तु नामादि वर्णमारभ्य शोधयेत् ॥३२२८॥

मंत्राद्यक्षरपर्यन्तं सर्वत्रैष विनिश्चयः ।

जन्मोत्थं वा प्रसिद्धं वा नाम ग्राह्यं विचक्षणैः ॥३२२९॥

यच्च पिंगलामते—

प्रसिद्धं यद् भवेन्नाम किं वास्य जन्मनाम च ।

यतीनां पुष्पपातेन गुरुणा यत् कृतं भवेत् ।

नाम्नस्तस्यैव वर्णानि विभक्तानि च कारयेत् ॥३२३०॥

अन्यत्रापि—

सुप्तो जागर्त्ति येनाऽसौ दूरस्थश्च प्रभाषते ।

वदत्यन्यमनस्कोऽपि तन्नाम ग्राह्यमत्र तु ॥३२३१॥

राश्यर्णादिकमंत्राणां स राशि र्जन्मराशितः ।

विचार्यमनुराश्यन्तं रिपुहीनं मनुं जपेत् ॥३२३२॥

यदि राशिप्रकरणपठितं न भवति, तदा पूर्वसंमतमिति रहस्यम् ।

तच्च सनत्कुमारीये–

मातृपितृकृतं नाम त्यक्त्वा शर्मादिसेवकान् ।
श्रीवर्णं च ततो विद्वान् चक्रेषु योजयेत् क्रमात् ॥३२३३॥

तत्र–

कुलाकुलस्य भेदं हि वक्ष्यामि मंत्रिणामिह ।
वाय्वग्निभूजलाकाशाः पंचाशल्लिपयः क्रमात् ॥३२३४॥

पंच ह्रस्वाः पंच दीर्घा बिन्द्वन्ताः सन्धिसंभवाः ।
कादयः पंचशः षक्षलसहान्ताः समीरिताः ॥३२३५॥

तद्यथा–

१. अ आ ए क च ट त प य षा मारुताः ।
२. इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्षाः आग्नेयाः ।
३. उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल ळाः पार्थिवाः ।
४. ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व शा वारुणाः ।
५. लृ ल अं ङ ञ ण न म स हा नाभसाः ।

साधकस्याक्षरं पूर्वं मंत्रस्यापि तदक्षरम् ।
यद्येकभूतदैवत्यं जानीयात् स्वकुलं हि तत् ॥३२३६॥

भौमस्य वारुणं मित्रमाग्नेयस्यापि मारुतम् ।
मारुतं पार्थिवानां च शत्रुमाग्नेयमंभसाम् ॥३२३७॥

चकारात् आग्नेयं पार्थिवानां शत्रुः ।

तच्च रुद्रयामले–

पार्थिवे वारुणं मित्रं तैजसं शत्रुरीरितम् ।
नाभसं सर्वमित्रं स्याद् विरुद्धं नैव शीलयेत् ॥३२३८॥

अथ राशिचक्रं मंत्रकल्पद्रुमे–

रेखाद्वयं पूर्वपरेण कुर्यात् तन्मध्यतो याम्यकुवेरभेदात् ।
एकैकमीशाननिशाचरे तु हुताशवाय्वो र्विलिखेत् ततोऽर्णान् ॥३२३९॥

वेदाग्निवह्नियुगलश्रवणाक्षिसंख्यान्
पंचेषुबाणशरपंचचतुष्टयार्णान् ।
मेषादितः प्रविलिखेत् सकलांस्तु वर्णान्
कन्यागतान्प्रविलिखेदथ शादिवर्णान् ॥३२४०॥

यथा–

१. अ आ इ ई मेषः । २. उ ऊ ऋ वृषः ।

३. ॠ लृ ॡ मिथुनम् । ४. ए ऐ कर्कटः ।

५. ओ औ सिंहः । ६. अं अः श ष स ह ल क्षाः कन्यका ।

७. कवर्ग; तुला । ८. चवर्गो वृश्चिकः ।

९. टवर्गो धनुः । १०. तवर्गो मकरः ।

११. पवर्गः कुंभः । १२. यवर्गो मीनः ।

तंत्रान्तरे राशीनां संज्ञा–

लग्नं धनं भातृबंधुपुत्रशत्रुकलत्रकाः ।
मरणं धर्मकर्मायव्यया द्वादश राशयः ॥३२४१॥
नामानुरूपमेतेषां शुभाशुभफलं दिशेत् ।

वैष्णवे तु शत्रुस्थाने बंधुः, बंधुस्थाने शत्रुरिति पाठः ।

स्वराशे र्मन्त्रराश्यन्तं गणनीयं विचक्षणैः ।
राशीनां शुद्धता ज्ञेया त्यजेत् शत्रुं मृतिं व्ययम् ।
साध्याख्याक्षरराश्यन्तं गणयेत् साधकाक्षरात् ॥३२४२॥ इति ।

नारायणीये–

अज्ञाते राशिनक्षत्रे नामाद्यक्षरराशितः ।

वैष्णवे तु रामार्चनचंद्रिकायाम्–

एकपंचनवबांधवाः स्मृताः द्वौ च षट् च दशमाश्च सेवकाः ।
वह्निरुद्रमुनयस्तु पोषकाः द्वादशाष्टचतुरस्तु घातकाः ॥३२४३॥

शाक्ते तु तंत्रराजे–

तेन मंत्रादिवर्णेन नाम्नश्चाद्याक्षरेण च ।
गणयेद् यदि षष्ठं वाप्यष्टमं द्वादशं तु वा ॥३३४४॥
रिपु र्मन्त्राद्यवर्णं स्यात् तेन तस्याहितं भवेत् ।
षष्ठाष्टमद्वादशानि तस्माद् वर्ज्यानि यत्नतः ॥३२४५॥

इति राशिचक्रम् ।

अथ ताराचक्रं, पिंगलातंत्रे–

उत्तराद् दक्षिणाग्रां तु रेखां कुर्याच्चतुष्टयीम् ।
दश रेखाः पश्चिमाग्रा कर्तव्या वरवर्णिनि ॥३२४६॥

अश्विन्यादिक्रमेणैव विलिखेत्तारकाः पुनः ।
वक्ष्यमाणविधानेन तन्मध्ये वर्णकान् न्यसेत् ॥३२४७॥

पक्षैकत्र्यब्धिरूपावनिभुजशशियुग्युग्मभूयुग्मपक्षाः ।
युग्मैकद्वित्रिरूपानलशशिशशिभू द्व्येकपक्षाग्निचन्द्राः
वर्णाः क्रमात्स्वरांत्यौ तु रेवत्यंशगतावुभौ ।
जन्म-संपद्-विपत्-क्षेम-प्रत्यरिः साधको वधः ॥३२४८॥

मित्रं परममित्रं च गणनीयं स्वनामभात् ।
रसाष्टनवभद्राणि युगयुग्ममतान्यपि ।
इतराणि न भद्राणि परित्याज्या मनीषिभिः ॥३२४९॥

अत्र नक्षत्रात्मकत्वाद् गणयोनिमैत्र्योरावश्यकत्वम् ।

तथा च निबंधे–

पूर्वोत्तरात्रयं चैव भरण्यार्द्रा च रोहिणी ।
इमानि मानुषाण्याहु र्नक्षत्राणि मनीषिणः ॥३२५०॥

ज्येष्ठा शतभिषक् मूला धनिष्ठा कृत्तिका तथा ।
चित्रा मघा विशाखाः स्युस्तारा राक्षसदेवताः ॥३२५१॥

अश्विनी रेवती पुष्यः स्वाती हस्तः पुनर्वसुः
अनुराधा मृगशिरः श्रवणा देवतारकाः ॥३२५२॥

स्वजातौ परमा प्रीतिर्मध्यमा भिन्नजातिषु ।
देवराक्षसयोर्वैरं नाशं मानुषरक्षसोः ॥३२५३॥

अथ योनिमैत्री–

[1]अश्वेभाजि फणिद्वयं श्ववृषभुक् मेषौतवौ मूषकस्
चाखुर्गाः क्रमशस्ततोऽपि महिषी व्याघ्रः पुनः सैरभी ।
व्याघ्रेणौ मृगमंडलौ कपिरथो बभ्रुद्वयं वानरः
सिंहोऽश्वो मृगराट् पशुश्च करटी योनिश्च भानामियम् ॥३२५४॥

---

१. अत्र साभिजिताष्टाविंशतिः २८। इभः=हस्ती, वृषभुक्=मार्जारः, श्रोतुः=विडालः । सैरभी=महिषी । मंडलः=श्वा । पशुः=गौः । करटी=हस्ती । सर्पमूषकौ द्वौ द्वौ । मृगास्त्रयः । नकुलो द्वौ । अन्ये त्वेकैकाः ।

विरोधस्तु–

गोव्याघ्रं गजसिंहमश्वमहिषं श्वैणं च बभ्रूरगम् ।
वैरं वानरमेषकं च सुमहत् तद्वद् बिडालोन्दुरम् ॥ इति ।

यामले–

जन्मनक्षत्रयोन्या वै मारणानि यथातथम् ।
कृतानि न चिरेणैव सिद्धिदानि महेश्वरि ॥३२५५॥

इति नक्षत्रचक्रम् ।

अथ अकथहचक्रम्–

ऊर्ध्वगाः पंचरेखाः स्युः पंचतिर्यग्गताः पुनः ।
कोष्ठानि तत्र जायन्ते षोडशैवात्र संलिखेत् ॥३२५६॥

इन्द्वग्निरुद्रनवनेत्रयुगार्कदिक्षु
ऋत्वष्टषोडशचतुर्दशभौतिकेषु ।
पातालपंचदशविश्वमिते च कोष्ठे
वर्णान् लिखेल्लिपिभवान् क्रमशस्तु धीमान् ॥३२५७॥

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मंत्रादिमाक्षरम् ।
कोष्ठैश्चतुर्भिरेकैकमिति कोष्ठचतुष्टयम् ॥३२५८॥

यस्मिन् चतुष्के नामार्णस्तत्स्यात् सिद्धिचतुष्टयम् ।
प्रादक्षिण्यात् द्वितीयं तत् साध्याख्यं तत् तृतीयकम् ॥३२५९॥

सुसिद्धाख्यं चतुर्थं तु सपत्नाख्यं स्मृतं बुधैः ।
सिद्धः सिद्ध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः ॥३२६०॥

सुसिद्धो ग्रहणादेव रिपुर्मूलं निकृन्तति ।
सिद्धार्णा बांधवाः प्रोक्ता साध्यास्ते सेवकाः स्मृताः ॥३२६१॥

सुसिद्धाः पोषका ज्ञेयाः शत्रवो घातकाः स्मृताः ।
जपेन बंधुसिद्धिः स्यात् सेवकोऽधिकसेवया ॥३२६२॥

पुष्णाति पोषकोऽभीष्टघातको नाशयेद् ध्रुवम् ।
एककोष्ठे द्वयोर्वर्णे सिद्धसिद्धमुदाहृतः ॥३२६३॥

तद् द्वितीये मंत्रवर्णे सिद्धसाध्य उदाहृतः ।
तृतीये सिद्धसुसिद्धः सिद्धारिः स्याच्चतुर्थके ॥३२६४॥

नामार्णयुक् चतुःकोष्ठान् मन्त्रवर्णश्चेद् द्वितीयके ।
चतुष्के तत्र पूर्णं तु यत्र नामाक्षरं स्थितम् ॥३२६५॥

तच्च कोष्ठं समारभ्य गणयेद् दक्षमार्गतः ।
साध्यसिद्धः साध्यसाध्यस्तत्सुसिद्धश्च तद्रिपुः ॥३२६६॥

एवं ज्ञेयस्तृतीये चेच्चतुष्के मंत्रवर्णकः ।
तदा पूर्वोक्तया रीत्या क्रमो ज्ञेयो विचक्षणैः ॥३२६७॥

सुसिद्धसिद्धस्तत्साध्यः तत्सुसिद्धश्च तद्रिपुः ।
चतुर्थे तु चतुष्के स्यादरिसिद्धोऽरिसाधकः ।
तत्सुसिद्धोऽप्यरिः पश्चादेवं मंत्रं विचारयेत् ॥३२६८॥

सिद्धसिद्धो यथोक्तेन द्विगुणात् सिद्धसाधकः ।
सिद्धः सुसिद्धोऽर्धजपात् सिद्धारि र्हन्ति बान्धवान् ॥३२६९॥

साध्यसिद्धो द्विगुणतः साध्यसाध्यो निरर्थकः ।
द्विगुणजपात् तत्सुसिद्धः साध्यारि र्हन्ति गोत्रजान् ॥३२७०॥

सुसिद्धसिद्धोऽर्धजपात् तत्साध्यो द्विगुणाज्जपात् ।
तत्सुसिद्धो ग्रहादेव सुसिद्धारिः कुटुम्बहा ॥३२७१॥

अरिसिद्धः सुतं हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाम् ।
तत्सुसिद्धस्तु पत्नीघ्नस्तदरि र्हन्ति साधकम् ॥३२७२॥

पिंगलामते प्रत्यक्षरं सिद्धादि गणयेत् ।

तद्यथा–

मातृपितृकृतं नाम यच्चाप्यभिजनैः कृतम् ।
विश्लिष्य तस्य वै वर्णान् स्वरवर्णविभेदतः ॥३२७३॥

तथैव मंत्रबीजानि ततः शोधनमाचरेत् ।
नमः प्रणवसंयोगावपभ्रंशाक्षराणि च ।
वर्जयित्वैव गणनं कर्तव्यं च सुरेश्वरि ॥३२७४॥

---

१. अत्र केषामपि वर्णानां शोधनाभावः ।

अन्यत्रापि–

बिन्दुद्विबिन्दुकोपध्मानीयजिह्वांघ्रिसंभवान् ।
संहतोच्चारणप्राप्तमधिकाक्षरमेव च ॥३२७५॥

अपभ्रंशाक्षरं लक्षौ त्यक्त्वा षंढचतुष्टयम् ।
मंत्राक्षरैः सहैकत्र नामवर्णान् विशोधयेत् ॥३२७६॥

व्यंजनै र्व्यंजनान्येव स्वरैः सार्धं स्वरांस्तथा ।
आद्यमाद्येन संशोध्य द्वितीयेन द्वितीयकम् ॥३२७७॥

मंत्रे वाप्यथवा नाम्नि वर्णाः स्यु र्विषमा यदा ।
तदा मंत्रं समारभ्य समं यावत् प्रयोजयेत् ॥३२७८॥

आद्यन्तयोः सिद्धवर्णौ मंत्रे यस्मिन् वरानने ।
अचिरेणैव कालेन स तावत् सर्वसिद्धिदः ॥३२७९॥

साध्यन्तादियुतो यस्तु सोऽतिकृच्छ्रेण सिध्यति ।
आदावन्ते सुसिद्धस्तु सर्वकामविभूतिदः ॥३२८०॥

आदावन्ते रिपुर्यस्य भवेत् त्याज्यः स मंत्रकः ।
आदौ सिद्धोऽन्त्यसाध्यो यो द्विगुणेन स सिध्यति ॥३२८१॥

आदौ सिद्धः सुसिद्धान्तो यथोक्तात् सिध्यते जपात् ।
आदौ सिद्धोऽन्त्यशत्रु र्यः स त्याज्यो मन्त्रवित्तमैः ॥३२८२॥

साध्यादिश्चैव सिद्धान्तस्त्रिगुणात् सिध्यते जपात् ।
आदौ साध्यः सुसिद्धान्तः प्रोक्तमार्गेण सिध्यति ॥३२८३॥

आदौ साध्यस्त्वन्तशत्रु र्यत्नात् तं परिवर्जयेत् ।
सुसिद्धादिस्तु सिद्धान्तो यथोक्तादेव सिध्यति ॥३२८४॥

सुसिद्धादिस्तु साध्यान्तश्चतुर्गुणमपेक्षते ।
सुसिद्धादिश्चान्तशत्रु र्मध्यमः परिकीर्तितः ॥३२८५॥

आद्यादिस्त्वन्तसिद्धादिः सोऽपि त्याज्योऽत्र कर्मणि ।
आदौ मध्ये तथा चान्ते सिद्धः शुभफलप्रदः
सर्वसाध्य उदासीनः प्रोक्तस्तंत्रे स्वयंभुवा ॥३२८६॥

ईशानसंहितायामपि—

स्थानत्रितयसुसिद्धः सर्वानर्थांश्च साधयत्येव ।
स्थानत्रितयगतारि र्मन्त्रो मृत्यु र्न संदेहः ।।३२८७।।

सिद्धादिः साध्ययुग्मान्तो व्यर्थ इत्युच्यते बुधैः ।
सिद्धादिर्द्विसुसिद्धान्तः सर्वकार्यार्थसाधकः ।
सिद्धादिररियुग्मान्तो नाशकः संप्रकीर्तितः ।।३२८८।।

शत्रु र्भवति यदादौ मध्ये सिद्धस्तदंतके साध्यः ।
कष्टेन कार्यसिद्धिस्तस्य फलं स्वल्पमेव भवेत् ।।३२८९।।

अन्ते यदि भवति रिपुः प्रथमे मध्ये च भवति साध्ययुगम् ।
कार्यं विलंबितं स्यात् प्रणश्यति क्षिप्रमेवान्ते ।।३२९०।।

आद्यन्तयो र्यदा साध्यो मध्ये सिद्धः प्रजायते ।
आद्यन्तयो र्यदा सिद्धो मध्ये साध्यः प्रजायते ।।३२९१।।

तावुभौ साध्यसिद्धौ तु जपाधिक्येन सिद्धयतः ।
अरिसंपुटितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा भवेत् ।।३२९२।।

सर्वनाशकरो ज्ञेयः साधकस्य न संशयः ।
सिद्धान्तरितसाध्यस्तु सुसिद्धान्तरितोऽथवा ।।
शीघ्रं सिध्यति मंत्रोऽयमीशानः स्वयमब्रवीत् ।।३२९३।।

सिद्धान्तरितशत्रुश्च सुसिद्धेनापि चेद् भवेत् ।
नासौ रिपु र्भवेन्मंत्रं किंतु कृच्छ्रेण सिध्यति ।।३२९४।।

साध्यान्तरितसिद्धस्तु सुसिद्धोऽपि तथा यदि ।
सिध्यत्यतीवकष्टेन साधकस्य न चान्यथा ।।३२९५।।

रिपुणान्तरितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा यदि ।
ईदृशं लक्षणं दृष्ट्वा दूरतः परिवर्जयेत् ।।
रिपुणा दूषितो मंत्रो नैव देयः कदाचन ।।३२९६।।

निबन्धे तु-

नाम्नो मंत्रस्य वर्णांश्च लिखित्वा प्रतिवर्णकम् ।
सिद्धादिगणना कार्या यावन्मंत्रसमापनम् ॥३२६७॥

नाम्नो यदि समाप्तिः स्यात् पुन र्नाम लिखेत् सुधीः ।
एवं संशोधितेऽपि स्यु र्भूरयः साध्यवैरिणः ॥३२६८॥

अल्पाः सिद्धसुसिद्धाश्चेदशुभं व्युत्क्रमात् शुभम् ।
मतमित्थं तु केषांचित् तदपि प्राज्यसंमतम् ॥३२६९॥ इति ।

अथ अकडमचक्रम् ।

यामले-

रेखाद्वयं पूर्वपरेण कुर्यात् तन्मध्यतो याम्यकुवेरभेदात् ।
महेशरक्षोऽधिपतिक्रमेण तिर्यक् तथा वायुहुताशनेन ॥३३००॥

आदिहान्तान् लिखेद् वर्णान् क्लीबस्वरविवर्जितान् ।
पूर्वतो यावदीशांतमंकानेकादिद्वादशान् ॥३३०१॥

तत्र नामार्णमारभ्य मंत्राद्यर्णावधि क्रमात् ।
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिः पुनः सिद्धादयः पुनः ॥३३०२॥

नवैकपंचके सिद्धः साध्यः षड्दशयुग्मके ।
सुसिद्धस्त्रिसप्तके रुद्रे वेदाष्टद्वादशे रिपुः ॥३३०३॥

सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः ।
सुसिद्धः प्राप्तमात्रेण साधकं भक्षयेदरिः ॥३३०४॥

अथवान्यप्रकारेण वच्मि मंत्रांशकं मनाक् ।
अकारादि हकारान्तं मातृकाक्षरसंचयम् ॥३३०५॥

एकैकार्णं क्रमान् न्यस्य चतुष्कोष्ठेषु मंत्रवित् ।
सिद्धं साध्यं सुसिद्धं च वैरिणं गणयेत् क्रमात् ॥३३०६॥

यत्र कोष्ठे भवन्त्यर्णा नाममंत्रसमुद्भवाः ।
सिद्धसाध्यादिभेदेन वर्णैस्तै र्मन्त्रमादिशेत् ॥३३०७॥

अथवा मंत्रनामार्णकृते राशौ चतुर्हृते ।
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरि र्मन्त्र एकादिशेषके ॥३३०८॥
सिद्धादिशोधनं त्वित्थमथार्णधनशोधनम् ।
सप्त तिर्यग् लिखेद्रेखा द्वादशैवोर्ध्वगाः पुनः ॥३३०९॥
एवं कृते तु जायन्ते कोष्ठाः षट्षष्टिसंमिताः ।
आद्यपंक्तौ लिखेदंकान् ते कथ्यन्ते यथाक्रमात् ॥३३१०॥
मनुनक्षत्रनेत्रार्कतिथिषड्वेदवह्नयः ।
सायका वसवो नंदाः कोष्ठेषु क्रमतः स्थिता ॥३३११॥
द्वितीयपंक्तौ संलेख्याः पंचदीर्घान् विना स्वरान् ।
तृतीयपंक्तौ काद्यर्णाष्टकारांता शिवै र्मिताः ॥३३१२॥
ठादिफान्ताश्चतुर्थ्यान्तु पंचम्यां वादिहान्तिमाः ।
षष्ठ्यां पंक्तौ क्रमाल्लेख्या अंकाः कथ्यन्त एव ते ॥३३१३॥
दिक्चन्द्रमुनिवेदाष्टगुणसप्तेषु सागराः ।
रसा रामाश्च विज्ञेयाः क्रमादंका उदीरिताः ॥३३१४॥
मंत्रवर्णान् पृथक् कुर्यात् स्वरव्यंजनरूपतः ।
कोष्ठे यावति वर्णः स्याद् गुणयेत् तावदंतिकम् ॥३३१५॥
कोष्ठोपरिस्थेनांकेन सर्ववर्णेष्वयं विधिः ।
दीर्घाक्षराणामंकास्तु ज्ञेया लघ्वक्षरस्थिताः ॥३३१६॥
एकीकृत्वाखिलानंकानष्टभि र्विभजेत् पुनः ।
शेषोऽङ्को मंत्रराशिः स्यान्नामवर्णेष्वयं विधिः ॥३३१७॥
अधः पंक्तिस्थितैरंकै र्गुणनीयास्तु तेऽखिलाः ।
अधमर्णोऽधिको राशिरूनोराशि र्धनी स्मृतः ।
मंत्रो यदाऽधमर्णः स्यात् तदा ग्राह्यो धनी न तु ॥३३१८॥

अथवा–

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मंत्रादिमाक्षरम् ।
गणयेन्मातृकावर्णक्रमेण गुणयेत् त्रिभिः ॥३३१९॥

विभक्ते सप्तभिः शिष्टो नामराशिरुदीरितः ।
एवं मंत्रार्णमारभ्य यावन्नामादिमाक्षरम् ॥३३२०॥
गणयित्वा त्रिभि र्हत्वा विभजेत् सप्तभिः सुधीः ।
मंत्रराशिः स्मृतः शिष्टः पूर्ववद् धनितर्णता ॥३३२१॥
यद्वा मंत्राक्षराणीह स्वरव्यंजनरूपतः ।
पृथक्कृत्य द्विगुणयेद् योजयेत् साधकाक्षरैः ॥३३२२॥
तादृशैरष्टभिर्भक्ते मंत्रराशिरुदाहृतः ।
एवं नामार्णसंघोऽपि द्विगुणीकृत्य योजितः ॥३३२३॥
मंत्रार्णैरष्टभि र्भक्ते नामराशिः स्मृतो बुधैः ।
ऋणिता धनिता चात्र पूर्ववत् परिकीर्तिता ॥३३२४॥
शून्ये तु मृत्युमाप्नोति धने च विफलं भवेत् ।
ऋणी तु प्राप्तिमात्रेण सर्वसिद्धिं प्रयच्छति ॥३३२५॥
मंत्रो यद्यधिकांकः स्यात् तदा मंत्रं जपेत् सुधीः ।
समेऽपि च जपेन्मंत्रं न जपेत्तु ऋणाधिकम् ।
शून्ये मृत्युं विजानीयात् तस्मात् शून्यं विवर्जयेत् ॥३३२६॥
उक्तान्यतममार्गेण शोधनीयमृणं धनम् ।
यो मंत्रः पूर्वजनुषि सेवितो नो ददत्फलम् ॥३३२७॥
पापात् पापक्षये जाते फलावाप्तिरनेहसि ।
आयुःक्षयाद् गतो नाशं साधकोऽस्य भवान्तरे ॥३३२८॥
ऋणित्वात् प्राप्तमार्गेण मंत्रोऽभीष्टं प्रयच्छति ।
समांकौ यद्युभौ राशी तदा संसेवनात् फलम् ॥३३२९॥
धनीमंत्रस्तु संप्राप्तः फलत्यधिकसेवया ।
मंत्राणां शोधने भूयः प्रकारान्तरमुच्यते ॥३३३०॥
षट्कोणेषु लिखेत् पूर्वकोणादेकैकवर्णकान् ।
अकारादिहकारान्तान् नपुंसकविवर्जितान् ॥३३३१॥
नामाद्यक्षरमारभ्य मंत्रार्णावधि शोधयेत् ।
प्रथमे संपदुद्दिष्टा द्वितीये धनसंक्षयः ॥३३३२॥

तृतीये धनसंप्राप्तिश्चतुर्थे बंधुविग्रहः ।
पंचमे तु भवेदाधिः षष्ठे सर्वस्वसंक्षयः ।
एवं संशोधितं मंत्रं दद्यात् शिष्याय मान्त्रिकः ॥३३३३॥

वाराहीतंत्रे–

ताराचक्रं राशिचक्रं नामचक्रं तथैव च ।
तत्र चेत् सगुणो मंत्रो नान्यं चक्रं विचारयेत् ॥३३३४॥

एतदेव शारदायाम्–

स्वताराराशिकोष्ठानामनुकूलान् भजेन् मनून् ।

सारसंग्रहेऽपि–

दुष्टर्क्षराशिभूतादिवर्णप्रचुरमंत्रकम् ।
सम्यक् परीक्ष्य तं यत्नाद् वर्जयेन्मतिमान्नरः ॥३३३५॥

हंसस्याष्टाक्षरस्यापि तथा पंचाक्षरस्य तु ।
एकद्वित्र्यादिबीजस्य सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥३३३६॥

अन्यत्रापि–

एकत्रिपंचसप्तार्णनवरुद्रषडर्णके ।
द्वात्रिंशदक्षरे मंत्रे नांशकं परिगण्यते ॥
छिन्नादिदुष्टा मंत्रास्ते पालयन्ति न साधकम् ॥३३३७॥ इति ।

तच्च विश्वसारे शारदायां च–

छिन्नो रुद्धः शक्तिहीनः पराङ्मुख उदीरितः ।
वधिरो नेत्रहीनश्च कीलितः स्तंभितस्तथा ॥३३३८॥

दग्धस्त्रस्तश्च भीतश्च मलिनश्च तिरस्कृतः ।
भेदितश्च सुषुप्तश्च मदोन्मत्तश्च मूर्च्छितः ॥३३३९॥

हृतवीर्यश्च हीनश्च प्रध्वस्तो बालकः पुनः ।
कुमारस्तु युवा प्रौढो वृद्धो निस्त्रिंशकस्तथा ॥३३४०॥

निर्वीर्यः सिद्धिहीनश्च मंदः कूटस्तथा पुनः ।
निरंशकः सत्त्वहीनः केकरो बीजहीनकः ॥३३४१॥

धूमितालिंगितौ स्यातां मोहितश्च क्षुधार्त्तकः ।
अतिदृप्तोऽंगहीनश्च अतिक्रुद्धः समीरितः ॥३३४२॥

अतिक्रूरश्च सव्रीडः शांतमानस एव च ।
स्थानभ्रष्टश्च विकलो निस्नेहश्च प्रकीर्तितः ॥३३४३॥
अतिवृद्धः पीडितश्च वक्ष्याम्येषां च लक्षणम् ।
मनो यस्यादिमध्यान्ते चानिलं बीजमुच्यते ॥३३४४॥
संयुक्तं वा वियुक्तं वा स्वराक्रान्तं त्रिधा पुनः ।
चतुर्धा पंचधा वाऽथ स मंत्रश्छिन्नसंज्ञकः ॥३३४५॥
आदिमध्यावसानेषु भूबीजद्वयलांछितः ।
रुद्धमंत्रः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिविवर्जितः ॥३३४६॥
माया[1]त्रितत्त्वश्रीबीजरावहीनस्तु यो मनुः ।
शक्तिहीनः स कथितो यस्य मध्ये न विद्यते ॥३३४७॥
कामबीजं मुखे माया शिरस्यंकुशमेव वा ।
असौ पराङ्मुखः प्रोक्तो हकारो बिन्दुसंयुतः ॥३३४८॥
आद्यन्तमध्येष्विन्दुर्वा[2] न भवेद् वधिरः स्मृतः ।
पंचवर्णो मनु र्यः स्याद् [3]रेफार्केन्दुविवर्जितः ॥३३४९॥
नेत्रहीनः स विज्ञेयो दुःखशोकामयप्रदः ।
आदिमध्यावसानेषु [4]हंसप्रासादवाग्भवाः ॥३३५०॥
हकारो बिन्दुमान्[5] जीवो रावश्चापि चतुष्कलः ।
माया नमामि च पदं नास्ति यस्मिन् स कीलितः ॥३३५१॥
एकं मध्ये द्वयं मूर्ध्नि यस्मिन्नस्त्रपुरंदरौ[6] ।
न विद्येते स मंत्रः स्यात् स्तंभितः सिद्धिरोधकः ॥३३५२॥
वह्नि र्वायुसमायुक्तो यस्य मंत्रस्य मूर्धनि ।
सप्तधा दृश्यते तं तु दग्धं मन्येत मंत्रवित् ॥३३५३॥
अस्त्रं द्वाभ्यां त्रिभिः षड्भिरष्टाभि र्दृश्यतेऽक्षरैः ॥
त्रस्तः सोऽभिहितो यस्य मुखे न प्रणवः स्थितः ॥३३५४॥

---

१. त्रितत्त्वं कूर्चः प्रणवो वा । रावः ककाररेफएकादशस्वरबिन्दुरूपः । २. इन्दुः सकारः दन्त्यः । ३. इन्दुः दन्त्यसः । अर्को हः । ४. हंसः स्वरूपम् । प्रासादः हौं । वाग्भवः ऐं । ५. हं । जीवः दन्त्यसः । रावः क्रों । चतुष्कलो हूं । ६ अस्त्रं फट् । पुरंदरो लः ।

शिवो[1] वा शक्तिरथवा भीताख्यः सः प्रकीर्तितः ।
आदिमध्यावसानेषु भवेन्मार्णचतुष्टयम् ॥३३५५ ॥
यस्य मंत्रः स मलिनो मंत्रवित् तं विवर्जयेत् ।
यस्य मध्ये दकारोऽथ [2]क्रोधो वा मूर्धनि द्विधा ॥३३५६॥
अस्त्रं तिष्ठति मंत्रः स तिरस्कृत उदाहृतः ।
भ्यो द्वयं हृदये शीर्षे वषट् वौषट् च मध्यतः ॥३३५७॥
यस्याऽसौ भेदितो मंत्रस्त्याज्यः सिद्धिषु साधकैः ।
वर्णत्रयं भवेद् यत्र हंसहीनं स शंभुना ॥३३५८॥
सुषुप्त इति सिद्धान्ते प्रोक्तोऽभीष्टफलापहः ।
विद्या वा मंत्रराजो वा सप्ताधिकदशाक्षरः ॥३३५९॥
फट्काराः पंच पूर्वञ्चेदुन्मत्तः सः प्रकीर्तितः ।
तद्वदस्त्रं स्थितं मध्ये यस्य, मंत्रः स मूर्च्छितः ॥३३६०॥
अस्त्रमंत्रो भवेद् यस्य मध्ये प्रान्ते च शंभुना ।
हृतवीर्य इति ख्यातः स मंत्रो नैव सिध्यति ॥३३६१॥
आदावन्ते तथा मध्ये चतुर्धाऽस्त्रेण संयुतम् ।
अष्टादशाक्षरं मंत्रं [3]भीतं तं भैरवोऽब्रवोत् ॥३३६२॥
विंशत्येकोनवर्णश्च मायोंकारांकुशान्वितः ।
प्रध्वस्त इत्यसौ मंत्रः शंभुदेवेन कीर्तितः ॥३३६३॥
सप्ताक्षरो भवेद् बालः कुमारश्चाष्टवर्णकः ।
चत्वारिंशाक्षरः प्रौढस्तरुणः षोडशाक्षरः ॥३३६४॥
त्रिंशदर्णं शतार्णं वा चतुःषष्ट्यक्षरं तथा ।
चतुरूर्ध्वं शतं वापि वृद्ध इत्यभिधीयते ॥३३६५॥
नवाक्षरस्तु निस्त्रिंशो ध्रुवयुक्तोऽपि मृत्युदः ।
हृत् शिरोऽन्ते शिखावर्म मध्ये नेत्रास्त्रके तथा ।
शिवशक्त्यात्मकौ वर्णौ न स्तो यस्य स मंत्रराट् ॥३३६६॥

---

१. शिवो हः । शक्तिः सः । २. दकारः । क्रोधः हूं । ३. हीनमित्यपरे ।

निर्वीर्यश्च समाख्यात आदावोंकारवर्जितः ।
एषु स्थानेषु फट्कारः षोढा यस्मिन् प्रदृश्यते ।
स मंत्रः सिद्धिहीनः स्यान्मंदः पंक्त्यक्षरो मनुः ॥३३६७॥
कूट एकाक्षरो मंत्रः स एवोक्तो निरंशकः ।
द्विवर्णः सत्त्वहीनः स्याच्चतुर्वर्णस्तु केकरः ।
षडक्षरो बीजहीनः सार्धसप्ताक्षरो मनुः ॥३३६८॥
सार्धद्वादशवर्णो वा धूमित; स तु निंदितः ।
सार्धबीजत्रयस्तद्वदेकविंशतिवर्णकः ॥३३६९॥
विंशत्यर्णस्त्रिंशदर्णो य; स्यादालिंगितस्तु सः ।
द्वात्रिंशदक्षरो मंत्रो मोहित; परिकीर्तित; ॥३३७०॥
चतुर्विंशतिवर्णो यः सप्तविंशतिवर्णकः ।
क्षुधार्त्तः स तु विज्ञेयः चतुस्त्रिंशतिवर्णकः ॥३३७१॥
एकादशाक्षरो वापि पंचविंशतिवर्णकः ।
त्रयोविंशतिवर्णो वा मंत्रो दृप्त उदाहृतः ॥३३७२॥
षड्विंशत्यक्षरो मंत्रः षट्त्रिंशद्वर्णकस्तथा ।
त्रिंशदेकोनवर्णो वाप्यंगहीनोऽभिधीयते ॥३३७३॥
अष्टात्रिंशत्यक्षरो वा एकत्रिंशदथापि वा ।
अतिक्रूरः स कथितो निन्दितः सर्वकर्मसु ॥३३७४॥
चत्वारिंशतमारभ्य त्रिषष्टि यावदापतेत् ।
तावत् संख्यासु गदिता मंत्राः सव्रीडसंज्ञकाः ।
पंचषष्टयक्षरा ये स्यु मन्त्रास्ते शांतमानसाः ॥३३७५॥
एकोनशतपर्यन्तं पंचषष्टयक्षरादितः ।
ये मंत्रास्ते निगदिता स्थानभ्रष्टाह्वया बुधैः ॥३३७६॥
त्रयोदशाक्षरा ये स्यु मन्त्राः पंचदशाक्षराः ।
विकलास्तेऽभिधीयन्ते शतं सार्धशतं तथा ॥३३७७॥
शतद्वयं द्विनवतिरेकहीनाऽथवापि सा ।
शतत्रयं वा यत् संख्या निस्नेहास्ते समीरिताः ॥३३७८॥

चतुःशतान्यथारभ्य यावद् वर्णसहस्रकम् ।
अतिवृद्धः स योगेषु परित्याज्यः सदा बुधैः ॥३३७९॥
सहस्रार्णाधिका मंत्राः दंडकाः पीडिताह्वयाः ।
द्विसहस्राक्षरा मंत्राः खंडशः शतधाकृताः ।
ज्ञातव्या स्तोत्ररूपास्ते मंत्रा एते यथास्थिताः ॥३३८०॥
तथा विद्याश्च बोद्धव्या मंत्रिभिः काम्यकर्मसु ।
दोषानिमानविज्ञाय यो मंत्रं भजते जडः ।
सिद्धि र्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि ॥३३८१॥
छिन्नादिदुष्टा ये मंत्रास्तंत्रे तंत्रे निरूपिताः ।
ते सर्वे सिद्धिमायान्ति मातृकार्णप्रभावतः ॥३३८२॥
मातृकार्णैः पुटीकृत्य मंत्रं विद्यां विशेषतः ।
शतमष्टोत्तरं पूर्वं प्रजपेत् फलसिद्धये ॥३३८३॥
तदा मंत्रोऽथवा विद्या यथोक्तफलदा भवेत् ।
मातृकापुटितं कृत्वा मध्ये वर्णं निधाय च ॥३३८४॥
मंत्रवर्णान् ततः कुर्याद् बोधनं तंत्रसंमतम् ।
बद्ध्वा च योनिमुद्रां तां संकोच्याधारपंकजम् ॥३३८५॥
तदुत्पन्नान् मंत्रवर्णान् सर्वतश्च गतागतान् ।
ब्रह्मरंध्रावधि ध्यात्वा वायुमापूर्य कुंभयेत् ॥३३८६॥
सहस्रं प्रजपेन् मंत्रं मंत्रदोषोपशांतये ।
एषु दोषेषु प्राप्तेषु मायां काममथापि वा ॥३३८७॥
क्षिप्त्वा चादौ श्रियं चैव तद्दूषणविमुक्तये ।
तारसंपुटितो वापि दुष्टमंत्रोऽपि सिद्ध्यति ॥३३८८॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे मंत्रदोषशोधनादिकथनं नाम
एकोनविंशः पटलः ॥१९॥

विंशः पटलः ।

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि वास्तुयागपुरःसरम् ।
कृतेन येन मंत्रज्ञो दीक्षायाः फलमाप्नुयात् ॥३३८९॥

संहितायाम्–

पंचांगशुद्धदिवसे स्वोदये तिथिवारयोः ।
गुरुशुक्रोदये शुद्धलग्ने द्वादशशोधिते ॥३३९०॥

प्रवृद्धे सबलेऽनीचे शुक्रे देवगुरौ तथा ।
शुभे विधुसमायोगे शुभवर्गे शुभोदये ॥३३९१॥

इत्यादौ सर्वमंत्राणां संग्रहः सर्वसौख्यकृत् ।
पुण्यतीर्थे कुरुक्षेत्रे देवीपीठचतुष्टये ।
प्रयागे श्रीपुरे काश्यां दीक्षा शस्ता सुसिद्धये ॥३३९२॥

योगिनीतंत्रे–

गंगायां भास्करक्षेत्रे विरजे चन्द्रपर्वणि ।
चड्वले च मतंगे च तथा कण्वाश्रमेषु च ॥३३९३॥

न गृह्णीयात् ततो दीक्षां तीर्थेष्वेतेषु पार्वति ।
विषुवेऽप्ययनद्वन्द्वे आषाढ्यां दमनोत्सवे ।
दीक्षा कार्या तु कालेषु पवित्रारोपकर्मणि ॥३३९४॥

कालोत्तरे च–

दीक्षायामभिषेके च तथा मंत्रपरिग्रहे ।
व्रतग्रहणमोक्षे च द्रव्यारंभणकर्मणि ॥३९९५॥

कार्तिक्यां चैव वैशाख्यां स्वर्भानोरपि दर्शने ।
चंद्रसूर्योपरागे च षडशीतिमुखेषु च ॥३३९६॥

ग्रहनक्षत्रयोगेषु विषुवेषूत्सवेषु च ।
अयनेषु च सर्वेषु योगः सर्वार्थसिद्धिदः ॥३३९७॥

यामले–

सत्तीर्थेऽर्कविधुग्रासे तन्तुदामनपर्वणोः ।
मंत्रदीक्षां प्रकुर्वाणो मासर्क्षादीन् न शोधयेत् ॥३३९८॥

सनत्कुमारीये मासाः–

मंत्रारंभस्तु चैत्रे स्यात् समस्तपुरुषार्थदः ।
वैशाखे रत्नलाभः स्याज्ज्येष्ठे तु मरणं भवेत् ॥३३९९॥
आषाढे बन्धुनाशः स्यात् पूर्णार्थः श्रावणे भवेत् ।
पूजानाशो भवेद् भाद्रे आश्विने रत्नसंचयः ॥३४००॥
कार्तिके मंत्रसिद्धिः स्यान्मार्गशीर्षे तथैव च ।
पौषे तु शत्रुपीड़ा स्यान्माघे मेधाविवर्धनम् ।
फाल्गुने सर्वकामाः स्यु र्मलमासं विवर्जयेत् ॥३४०१॥

यच्च सिद्धान्तशेखरे–

शरत्काले च वैशाखे दीक्षा श्रेष्ठफलप्रदा ।
फाल्गुने मार्गशीर्षे च ज्येष्ठे दीक्षा च मध्यमा ॥३४०२॥
आषाढः श्रावणो माघः कनिष्ठः सद्भिराहृतः ।
निन्दितश्चैत्रमासस्तु पौषो भाद्रपदस्तथा ।
निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा ॥३४०३॥

कालोत्तरे च–

शरद्वसन्तयो र्योगो दीक्षाकर्मविधौ स्मृतः ।
तयोरसंभवे वर्षां विनाऽन्यत्र प्रशस्यते ।
विना पर्व न दीक्षा स्याद् वर्षासु मधुपौषयोः ॥३४०४॥

मासस्तु सौर एव ।
यत्तु गौतमीये–

सौरे मासि शुभा दीक्षा न चान्द्रे न च तारके । इति ।

पक्षस्तु कालोत्तरे–

भूतिकामैः सिते कार्या मुक्तिकामैस्तु कृष्णके ॥३४०५॥

अथ तिथयः आगमकल्पद्रुमे–

प्रतिपदि कृता दीक्षा ज्ञाननाशकरी मता ।
प्रतिपत्ति द्वितीयायां तृतीया शोकदा भवेत् ॥३४०६॥

चतुर्थ्यां वित्तनाशः स्यात् पंचम्यां बुद्धिवर्धनम् ।
षष्ठ्यां ज्ञानक्षयं सौख्यं लभते सप्तमीदिने ॥३४०७॥

अष्टम्यां बुद्धिनाशः स्यान्नवम्यां वपुषः क्षयः ।
दशम्यां राजसौभाग्यमेकादश्यां शुचं भवेत् ॥३४०८॥

द्वादश्यां सर्वसिद्धिः स्यात् त्रयोदश्यां दरिद्रता ।
तिर्यग्योनिश्चतुर्दश्यां हानि र्मासावसानके ।
पक्षान्ते धर्मवृद्धिः स्यादस्वाध्यायं विवर्जयेत् ॥३४०९॥

सारसंग्रहे–

द्वितीया पंचमी वापि षष्ठी वापि विशेषतः ।
द्वादश्यामपि कर्तव्यं त्रयोदश्यामथापि वा ॥३४१०॥

त्रयोदशीविधानं विष्णुपरम् ।
तत्त्वसारे तु–

तां तां तिथिं समालोच्य तद्भक्तांस्तत्र दीक्षयेत् ।
ब्रह्मणः पौर्णमास्युक्ता द्वादशी चक्रधारिणः ॥३४११॥

चतुर्दशी शिवस्योक्ता वाचः प्रोक्ता त्रयोदशी ।
द्वितीया तु श्रियः प्रोक्ता पार्वत्याश्च तृतीयका ॥३४१२॥

चतुर्थी गणनाथस्य भानोः प्रोक्ता तु सप्तमी ।
नित्यामार्गेषु पार्वत्या अष्टमी च चतुर्दशी ।
दिनच्छिद्राणि मुक्त्वा च या च स्युस्त्रिदिनस्पृशः॥३४१३॥

रत्नावल्यां वारनियमः-

आदित्यं मंगलं सौरिं त्यक्त्वा वारास्तु भूतये ।

कालोत्तरे–

रवौ गुरौ सिते सोमे कर्तव्यं बुधशुक्रयोः ।

एतेषां फलं सनत्कुमारीये–

रविवारे भवेद् वित्तं सोमे शांति र्भवेत् किल ।
आयुरंगारको हंति तत्र दीक्षां विवर्जयेत् ॥३४१४॥

बुधे सौंदर्यमाप्नोति ज्ञानं स्यात्तु बृहस्पतौ ।
शुक्रे सौभाग्यमाप्नोति यशोहानिः शनैश्चरे ॥३४१५॥

अथ नक्षत्रफलम्–

अश्विन्यां सुखमाप्नोति भरण्यां मरणं भवेत् ।
कृत्तिकायां भवेद् दुःखी रोहिण्यां वाक्पतिर्भवेत् ॥३४१६॥

मृगशीर्षे सुखावाप्तिरार्द्रायां बंधुनाशनम् ।
पुनर्वसौ धनाढ्यः स्यात् पुष्ये शत्रुविनाशनम् ॥३४१७॥

आश्लेषायां भवेन्मृत्यु र्मघायां दुःखमोचनम् ।
सौन्दर्यं पूर्वफाल्गुन्यां प्राप्नोति च न संशयः ॥३४१८॥

ज्ञानं चोत्तरफाल्गुन्यां हस्ते चैव धनी भवेत् ।
चित्रायां ज्ञानसिद्धिः स्यात् स्वात्यां शत्रुविनाशनम् ॥३४१९॥

विशाखायां सुखं चानुराधायां बंधुवर्धनम् ।
ज्येष्ठायां सुतहानिः स्यान्मूलायां कीर्तिवर्धनम् ॥३४२०॥

पूर्वाषाढोत्तराषाढे भवेतां कीर्तिदायिके ।
श्रवणे च भवेद् दुःखी धनिष्ठायां दरिद्रता ॥३४२१॥

बुद्धिः शतभिषायां स्यात् पूर्वाभाद्रे सुखीभवेत् ।
सौख्यं चोत्तरभाद्रे च रेवत्यां कीर्तिवर्धनम् ॥३४२२॥

रत्नावल्यां तु–

प्रतिपत् पूर्वाषाढा च पंचमी कृत्तिका तथा ।
पूर्वाभाद्रपदा षष्ठी दशमो रोहिणी तथा ॥३४२३॥

द्वादशी सार्पनक्षत्रमर्यम्णा च त्रयोदशी ।
नक्षत्रलुप्ता इत्येता देवानामपि नाशकाः ॥३४२४॥

अथ योगा रत्नावल्याम्–

योगाश्च प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः शोभनः शुभः ।
सुकर्मा च धृति र्वृद्धि र्ध्रुवः सिद्धिश्च हर्षणः ।
वरीयांश्च शिवः सिद्धो ब्रह्मा ऐन्द्रश्च षोडश ॥३४२५॥

अथ करणानि-

ववबालवकौलवतैतिलास्तदनंतरम् ।
करणानि शुभान्येव सर्वतंत्रेषु भामिनि ।
शकुन्यादीनि विष्टिं च विशेषेण विवर्जयेत् ॥३४२६॥

अथ राशयः-

चरः सर्वैं विवर्ज्यः स्यात् स्थिरराशिषु सिद्धिदः ।

अथ लग्नशुद्धिः-

त्रिषडायगताः पापाः शुभाः केन्द्रत्रिकोणगाः ।
दीक्षायां तु शुभाः सर्वे रन्ध्रस्थाः सर्वनाशकाः ॥३४२७॥

संध्यागर्जितनिर्घोषभूकम्पोल्कानिपातने ।
एतानन्यांश्च दिवसान् श्रुत्युक्तान् परिवर्जयेत् ॥३४२८॥ इति ।

अथ वास्तुस्वरूपं महाकपिलपंचरात्रे-

भूमेः परिग्रहे पूर्वं शिलायाः स्थापने तथा ।
जलाधारगृहार्थं च यजेद् वास्तुं विशेषतः ॥३४२९॥
वास्तुमंडलकं कुर्यात् सूत्रयित्वा समं गुरुः ।
सुसमं सुखदं वास्तु विषमं न शुभावहम् ॥३४३०॥
ब्रह्माद्यदितिपर्यन्तास्त्रिपंचाशच्च देवताः ।
राक्षसं वास्तुनामानं हत्वा तद्देहसंस्थिताः ।
तेभ्योऽदत्त्वा बलिं मंत्री मण्डपादीन् न कारयेत् ॥३४३१॥

वास्तुस्वरूपं तंत्रान्तरे-

देवैः स वास्तुपुरुषः स्थापितश्चतुरस्रकः ॥

सोमशंभौ--

आकुंचितकरं वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम् ।
स्मरेत् पूजासु कुड्यादिप्रवेशे त्वधराननम् ॥३४३२॥
जानुनी कूर्पराशक्ते दिशि वातहुताशयोः ।
पैत्र्यां पादपुटौ रौद्र्यां शिरोऽस्य हृदयेऽञ्जलिः ॥३४३३॥

ईशानशिवेऽपि–

पूज्याश्चतुःषष्टिपदेषु विप्रैरेकोत्तराशीतिपदे नृपाद्यैः ।। इति

हयग्रीवपंचरात्रे विशेषः–

एकाशीतिपदं वास्तु गृहकर्मणि शस्यते ।
चतुष्षष्टिपदं वास्तु प्रासादे ब्रह्मणा स्मृतः ।।३४३४।।

बलिमण्डलमाह शारदायाम्–

बलिमंडलमेतेषां यथावदभिधीयते ।
पूर्वापरायतं सूत्रं विन्यसेदुक्तमानतः ।।३४३५।।

अस्यार्थः–उक्तमानतः वास्तुशास्त्रे यन्मानमुक्तं तेनेत्यर्थः । क्वचित् 'हस्तमानतः' इत्यपि पाठः ।

तन्मध्यं किंचिदालम्ब्य द्वौ मत्स्यौ परितो लिखेत् ।
तयो र्मध्ये स्थितं सूत्रं विन्यसेत् दक्षिणोत्तरम् ।।३४३६।।

तन्मध्यमिति । तस्य मध्यं किंचिदालम्ब्य मध्यात् किंचिदधिकमवलम्ब्येत्यर्थः । कुत इत्यपेक्षायां सूत्राग्रादिति शेषः । एवं परित उभयतः उत्तरदक्षिणयोः प्राचीसूत्रस्येति शेषः । मत्स्यौ द्वौ चिह्नद्वयं संपादयेत् । तत्र प्रकारः–प्राचीसूत्रप्रागग्रे सूत्रादि निधाय मध्याधिकचिह्नात् सूत्राग्रं भ्रामयेत् । एवमपरादग्रादपि तत एको मत्स्यः । एवमपरत्रापीति द्वितीयो मत्स्य इति ।

द्वाभ्यां द्वाभ्यां तथाग्राभ्यां कोणेषु मकरान् लिखेत् ।

अस्यार्थः–तत्र द्वाभ्यामग्राभ्यामेकैको मत्स्यः । तथा पूर्ववत् । तद्यथा-प्राचीसूत्रार्धमितेन प्राचीसूत्राग्रस्थितेन सूत्रेण ईशे चाग्नेये चार्धचन्द्रं कुर्यात् । ततस्तेनैव सूत्रेणोत्तराग्रस्थितेन ईशे वायव्ये चार्धचन्द्रं कुर्यात् । एवमीशे मत्स्य उत्पन्नः । तथा पूर्ववत् । तत्सूत्रेण पश्चिमाग्रस्थितेन वायव्ये नैर्ऋत्ये चार्धचन्द्रं कुर्यात् । एवं वायव्येमत्स्य उत्पन्नः । तत्सूत्रेण दक्षिणाग्रस्थितेन नैर्ऋत्ये चाग्नेये चार्धचन्द्रं कुर्यात् । उभयत्रापि मत्स्यद्वयं जायते । एवं मत्स्यचतुष्के जाते तन्मध्यमाग्रं सूत्रचतुष्कं दद्यात् ।

मत्स्यमध्ये स्थिताग्राणि तत्र सूत्राणि पातयेत् ।।३४३७।।
चतुरस्रं भवेत् तत्र चतुःकोष्ठसमन्वितम् ।

मत्स्येत्यादि । चतुरस्रेति वास्तुशरीरस्य चतुरस्राकृतित्वात् । चतुःकोष्ठसमन्वितमिति चतुरस्रमध्ये । अथ च कोणचतुष्के बहिः कोष्ठचतुष्कमपरं गुरुगणेशदुर्गाक्षेत्रेशपूजनार्थमुक्तम् ।

तत् पुनर्विभजेन्मंत्री चतुःषष्टिपदं यथा ॥३४३८॥

यथा चतुःषष्टिपदं भवेत्, तथा विभजेत् ।

ईशानाद् रक्षसो यावद् यावदग्नेः प्रभंजनः ।
एवं सूत्रद्वयं दद्यात् कर्णसूत्रं समाहितः ॥३४३९॥

कर्णसूत्रसंज्ञकं सूत्रद्वयम् । शिल्पे. कोणसूत्रस्य कर्णसूत्रेति संज्ञा । समाहितः सावधानः ।

तत्र चतुःषष्टिकोष्ठोत्पादनप्रकारो यथा—

चतुर्षु कोणसूत्रचतुष्टयमन्यद् दद्यात् । तन्मध्योत्पन्नमत्स्येषु पूर्वापरायते दक्षिणोत्तरायते च द्वे द्वे सूत्रे पातयेत् । एवं षोडशकोष्ठानि संपद्यन्ते । ततः चतुर्षु कोणकोष्ठेषु पुनः कर्णसूत्रचतुष्टयं दद्यात् । तदुत्पन्नमत्स्येषु पूर्वापरायते दक्षिणोत्तरायते च द्वे सूत्रे पातयेत् । ततः चतुर्षु मध्यकोष्ठेषु पुनः कर्णसूत्रचतुष्टयं दद्यात् । एवं च कृते मध्यकोष्ठेषु मत्स्या उत्पन्नाः । तेषु मत्स्येषु प्रागपरायते दक्षिणोत्तरायते च द्वे सूत्रे पातयेत् । एवं चतुःषष्टिकोष्ठानि संपद्यन्ते । तत्र ग्रंथान्तरोक्तकर्णसूत्रद्वयातिरिक्तकर्णसूत्राणि मार्जयेदित्यर्थः ।

ब्रह्माणं पूजयेदादौ मध्ये कोष्ठचतुष्टये ।
दिक्चतुष्केषु पूर्वादि यजेदार्यमनंतरम् ॥३४४०॥

विवस्वन्तं ततो मित्रं महीधरमतः परम् ।
कोणार्द्धकोष्ठद्वन्द्वेषु वह्न्यादि परितः पुनः ॥३४४१॥

सावित्रं सवितारं च शक्रमिन्द्रजयं पुनः ।
रुद्रे रुद्रजयं विद्वानापंचाप्याप वत्सकम् ॥३४४२॥

तत्कर्णसूत्रोभयतः कोष्ठद्वन्द्वेषु देशिकः ।
शर्वं ग्रहं चार्यमणं जंभकं पिलिपिच्छकम् ॥३४४३॥

चरकीं च विदारीं च पूतनामर्चयेत् क्रमात् ।
अर्चयेद् दिक्षु पूर्वादि साधाद्यन्तपदेष्विमान् ॥३४४४॥

अष्टावष्टौ विभागेन देवान् देशिकसत्तमः ।
क्रमादीशानपर्जन्यजयंताः शक्रभास्करौ ॥३४४५॥

सत्यो वृषान्तरिक्षौ च दिशि प्राच्यामवस्थिताः ।
अग्निः पूषा च वितथो यमश्च गृहरक्षकः ॥३४४६॥

गंधर्वो भृंगराजश्च मृगो दक्षिणदिग्गताः ।
निर्ऋति दौवारिकश्च सुग्रीववरुणौ ततः ॥३४४७॥

पुष्पदंतासुरौ शोषरोगौ प्रत्यग्दिशि स्थिताः ।
वायु र्नागश्च मुख्यश्च सोमो भल्लाट एव च ॥३४४८॥

अर्गलाख्यो दित्यदिती कुवेरस्य दिशि स्थिताः ।
उक्तानामपि देवानां पदान्यापूर्य पंचभिः ॥३४४६॥

रजोभिस्तेष्वथैतेभ्यः पायसान्नै र्बलिं हरेत् ।
अयं वास्तुबलिः प्रोक्तः सर्वसंपत्समृद्धिदः ॥३४५०॥

सोमशंभुस्तु–

मध्ये नवपदो ब्रह्मा शेषास्तु पदिकाः स्मृताः ।
षट्पदास्तु मरीच्याद्या दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात् ॥
अष्टौ कोणाधिपास्तत्र कोणार्द्धेष्वष्ट संस्थिताः ॥३४५१॥

अथ महाकपिलपंचरात्रोक्तवास्तुशरीरस्थदेवस्थितिः–

मस्तके संस्थितो रुद्रः कर्णयोस्तस्य संस्थितौ ।
पर्जन्यश्चादितिश्चैव मुखे चापः सुसंस्थितः ॥३४५२॥

आप वत्सः स्थितः कण्ठे जयन्तश्च दितिः पुनः ।
स्कंधयोः पंचबालाद्या महेन्द्राद्या भुजद्वये ॥३४५३॥

वक्षस्थौ रुद्रसावित्रौ दासस्तु सविता तथा ।
हस्तौ तु हृद्गतौ तस्य ब्रह्मा नाभौ व्यवस्थितः ॥३४५४॥

पृथ्वीधरो मरीचिश्च स्तनयोः कुक्षिगौ पुनः ।
विवस्वान् मित्रनामा च पादयोः पितरः स्थिताः ॥३४५५॥

पापाद्याश्चैव पूषाद्याः सप्तसप्तोरुजंघके ।
इन्द्रो मेढ्रे स्थितस्तस्य जयो वृषणसंस्थितः ॥३४५६॥ इति ।

रुद्र ईशानः, दासो रुद्रजयः, पृथ्वीधरो महीधरः । मरीचिरार्यः । पितरो निर्ऋतिः, पापो रोगः, इन्द्रः शक्र इति ।

यदुक्तम्–

ईशश्चेशानरुद्रोऽसौ तज्जयो रुद्रदासकः ।
मरीचिरार्यकः ख्यातः पिता स्याद्राक्षसाभिधः ॥३४५७॥

पापो रोग इति प्रोक्त इत्येवं कथितं बुधैः ।
धातृवह्नीसमाश्रित्य कृत्वा चाधः पदत्रयम् ॥३४५८॥

सावित्रमर्चयेत् तत्र पदे रामसुसंज्ञके ।
विधिसावित्रयो मध्ये सवितारं पदत्रये ॥३४५९॥

आश्रित्य पितृधातारौ कृत्वाऽधोऽधः पदत्रयम् ।
यजेदिन्द्रं महाभागं पदे लोकसुसंज्ञके ॥३४६०॥

तथात्रेन्द्रजयः पूज्यो ब्रह्मशक्रसु मध्यगः ।
आश्रित्य वायुधातारौ कृत्वा चाधः पदत्रयम् ॥३४६१॥

तत्र देवं यजेद् रुद्रं पदे भुवनसंज्ञके ।
तथेशवेधसो मध्ये तज्जयं च पदत्रये ॥३४६२॥

ऐशान्यामापकं कामपदत्रयसुसंस्थितम् ।
प्रदीपवेधसो मध्ये यजेद् वत्सं पदत्रये ॥३४६३॥ इति ।

अथैतेषां वलिमंत्राः महाकपिलपंचरात्रे, कुलप्रकाशतंत्रे च–

सर्वमध्ये यजेत् सम्यग् ब्रह्माणं कमलासनम् ।
हेमाभं च चतुर्वक्त्रं वेदाध्ययनशालिनम् ॥३४६४॥

मंडूकादि समारभ्य परतत्त्वान्तपूजनम् ।
पीठे विधाय तच्छक्तीः पूजयेदणिमादिकाः ।
पूर्वादिमध्यपर्यन्तं ब्रह्मणः पीठशक्तयः ॥३४६५॥

आसां ध्यानं, तत्रैव–

सिन्धुरस्थाणिमा पूज्या पीतवर्णा चतुर्भुजा ।
वरवज्रधरा दक्षे वामेऽभयनिधानभृत् ॥३४६६॥

महिमां महिषारूढां पूजयेत् कज्जलप्रभाम् ।
दंडाभयधरां वामे दक्षे शक्तचक्षमालिनीम् ॥३४६७॥

नक्रस्था लघिमा श्यामा पूजनीया चतुर्भुजा ।
नागपाशधरा दक्षे तद्वामेऽभयवारिजे ॥३४६८॥

कनकादिनिभा पूज्या कूर्मस्था गरिमा तथा ।
गदावरधरा दक्षे वामेऽभयनिधानभृत् ॥३४६९॥

पूज्या प्रेतगता नीलविद्युत्पुंजनिभेशिता ।
वरखड्गधरा दक्षे वामे साभयकर्तृका ॥३४७०॥

पूज्या या वशिता धूम्रा मृगस्था सा चतुर्भुजा ।
सारविंदध्वजा दक्षे वामे वरसरोजिनी ॥३४७१॥

छागलस्थातिरक्तांगी स्यात् पूजायां प्रकामिका ।
शक्त्यक्षमालिनी दक्षे वामे सवरकुण्डिका ॥३४७२॥

पूजनीया वृषारूढा प्राप्तिस्तुहिनसंनिभा ।
शक्तिशूलकरा दक्षे वामे साभयवारिजा ॥३४७३॥

सर्वसिद्धिः पद्मरागप्रभा पूज्या चतुर्भुजा ।
साक्षमालारविंदा च बीजपूरसरोजिनी ॥३४७४॥

पीठशक्तीः प्रपूज्यैवं मध्येऽनेनासनं दिशेत् ।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य सर्वज्ञानक्रियेति च ।
अव्यक्तकमलाशब्दात् सनाययोगशब्दतः ॥३४७५॥

पीठाय हृदयान्तोऽयं मंत्रो द्वाविंशदर्णकः ।
दत्त्वासनं च ब्रह्माणं पूजयेन्मनुनाऽमुना ॥३४७६॥

प्रणवं हृत् तथा ङेऽन्तो ब्रह्मा षष्ठाक्षरो मनुः ।
संपूज्य तत्र ब्रह्माणं ध्यायेद् देवान् समंततः ॥३४७७॥

उक्तानामत्र देवानां स्वरूपमभिधीयते ।
अक्षमालां स्रुचं दक्षे वामे दण्डकमण्डलुम् ॥३४७८॥

दधानमष्टनयनं यजेन्मध्येऽम्बुजासनम् ।
सर्वे चतुर्भुजा देवा वास्तुदेहे व्यवस्थिताः ॥३४७९॥

कृताञ्जलिपुटाः सर्वे खड्गखेटकपाणयः ।
ब्रह्माणं सन्निरीक्षन्ते तद्वक्त्राभिमुखाश्च ते ॥३४८०॥

स्वस्वस्थाने स्थिताश्चैव साधारणमुदाहृतम् ।
मरीचिः श्वेतवर्णः स्याद् विवस्वान् रक्तवर्णकः ॥३४८१॥

शातकुम्भसमो मित्रः कृष्णवर्णस्तु भूधरः ।
सविता नीलवर्णाभः सावित्रो धूमविग्रहः ॥३४८२॥

इन्द्रश्चारुणवर्णाभः शुक्लश्चेन्द्रजयस्तथा ।
रुद्रः प्रवालसदृशः पीतो रुद्रजयस्तथा ॥३४८३॥

आपो गोक्षीरधवल आप वत्सो जपाद्युतिः ।
ईशानः क्षीरधवलः पर्जन्योऽञ्जनसन्निभः ॥३४८४॥

जयन्तोऽञ्जनसंकाशो माहेन्द्रश्चामलद्युतिः ।
आदित्यो रक्तवर्णः स्यात् सत्यकश्चित्रवर्णकः ॥३४८५॥

वृषो वंधूकपुष्पाभः कुंदाभश्चान्तरिक्षकः ।
उद्यद्दिनकराभोऽग्निः पूषा रक्ताब्जसंनिभः ।
वितथश्चेन्द्रचापाभो विद्युद्वर्णो गृहक्षतः ॥३४८६॥

यमश्चाञ्जनसंकाशो गंधर्वः पद्मरागवत् ।
भृङ्गराजस्तु भृङ्गाभो मृगो जीमूतसंनिभः ॥३४८७॥

निर्ऋतिः पावकाभश्च पीतो दौवारिकः स्मृतः ।
सुग्रीवो नीलकंठाभश्चंद्राभः पुष्पदन्तकः ॥३४८८॥

वरुणः स्फटिकाभाङ्गो भृङ्गाभश्चासुरो मतः।
शोषश्चोत्पलसंकाशः पापयक्ष्मेन्द्रनीलवत् ॥३४८९॥

वायुः कृष्णाभ्रवर्णः स्यान्नागः शंखेन्दुसंनिभः ।
मुक्तो मौक्तिकसंकाशो भल्लाटः श्वेतपद्मवत् ॥३४९०॥

सोमः स्फटिकसंकाशोऽर्गलो रक्तोत्पलद्युतिः ।
दितिः कुन्देन्दुधवला कपिला चादितिः स्मृता ॥३४९१॥

चरकी शंखसदृशी विदारी पावकद्युतिः ।
पूतना हिमसंकाशा मेघाभा पिलपिच्छिका ॥३४९२॥

खड्गं च पानपात्रं च क्षुरिकां कर्तरीं तथा ।
दधाना भीमरूपास्ता राक्षस्यः परिकीर्तिताः ॥३४९३॥

सिता रक्ताश्च पीताश्च कृष्णाः स्कन्दादिका ग्रहाः ।
वज्रं शक्ति च खड्गं च पाशं च विकृताननाः ॥३४९४॥

दधानाः भीषणाः प्रोक्ता ग्रहा स्कन्दादिकाश्च ते ।
एतेषां बलिमंत्रांश्च क्रमाद् वक्ष्यामि सांप्रतम् ॥३४९५॥

पायसोदनलाजैश्च युक्तं धूपैः प्रसूनकैः ।
अक्षतास्तिलसंयुक्तं माषभक्तादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं ब्रह्मन् वास्तुदोषं प्रणाशय ॥३४९६॥
गंधादिशर्करापूपं पायसोपरि संस्थितम् ।
आर्यकाख्य गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥३४९७॥
चंदनाद्यर्चितं नाथ कर्पूरागरुमण्डितम् ।
विवस्वन् वै गृहाणेमं सर्वं दोषं प्रणाशय ॥३४९८॥
सगुडं पायसं नाथ पुष्पादिसुसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मित्र ! शान्तिं प्रयच्छ मे ॥३४९९॥
माषोदनं च मांसं च गंधादिक्षीरसंयुतम् ।
गृहाणेमं महीभृत् त्वं सर्वदोषं प्रणाशय ॥३५००॥
एवमन्तर्बलिं दत्वा चान्येषां बलिमादिशेत् ।
ईशादि दक्षिणावर्तो बलिः सामान्यभाषितम् ॥३५०१॥
वास्तूनामपि सर्वेषां विशेषः पदनिर्णयः ।
ईशानादिचतुष्कोणसंस्थितान् पूजयेद् बुधः ॥३५०२॥
क्षीरं खण्डसमायुक्तं पुष्पादि च सुशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यमाप शान्तिं प्रयच्छ मे ॥३५०३॥
दधीदं गुडसंमिश्रं गंधादि च सुमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं वत्स विघ्नमत्र प्रणाशय ॥३५०४॥
पुष्पादिकुशपानीयं कर्पूरागरुवासितम् ।
सावित्रं वै गृहाणेमं शान्तिमत्र प्रयच्छ मे ॥३५०५॥
षष्टिकं सगुडं नाथ रक्तगन्धादिशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं सूर्य विघ्नमत्र प्रणाशय ॥३५०६॥
शीतमन्नं तथा पुष्पं कुंकुमादिसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं शक्रदेव नमोऽस्तु ते ॥३५०७॥
ओदनं घृतसंयुक्तं गंधवस्त्रादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं इन्द्रजय नमोऽस्तु ते ॥६५०८॥

पक्वापक्वमिदं मांसं वस्त्रपुष्पादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं रुद्रदेव नमाम्यहम् ॥३५०९॥

हृन्मासं सघृतं पक्वं गंधपुष्पादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं रुद्रजय स्वस्ति प्रयच्छ मे ॥३५१०॥

रक्तपुष्पं समांसं वै रक्तवस्त्रादिसंयुतम् ।
विदारि वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं विनाशय ॥३५११॥

पित्तं रक्तास्थिसंयुक्तं रक्तगंधादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं पापे रक्षोविघ्नं विनाशय ॥३५१२॥

सघृतं मांसभक्तं च वस्त्रगंधाद्यलंकृतम् ।
बलिं गृहाण सर्वेमं रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥३५१३॥

मांसपुष्पादिसंयुक्तं माषभक्तोपरि स्थितम् ।
गृहाणेमं बलिं स्कन्द रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥३५१४॥

स्वमांसं पिष्टकै र्युक्तं पक्वं मांसोदनान्वितम् ।
अर्यमन् वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥३५१५॥

रक्तमांसौदनं मत्स्यं गंधधूपसमन्वितम् ।
जृम्भक त्वं गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥३५१६॥

छागकर्णान्वितं मांसं वस्त्रगंधादिसंयुतम् ।
पिलपिच्छि गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥३५१७॥

घृतेन साधितं मांसं वस्त्रगंधादिसंयुतम् ।
चरकि त्वं गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥३५१८॥

सघृतं चाक्षतान्नं च वस्त्रगंधाद्यलंकृतम् ।
गृहाणेमं बलिं त्वीश वास्तुदोषापहारकम् ॥३५१९॥

उत्पलं पायसै र्युक्तं वस्त्रादिकसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मेघराज नमोऽस्तु ते ॥३५२०॥

पंचहस्तं सुपीतं च ध्वजं भक्तादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं जिष्णुसुत नमोऽस्तु ते ॥३५२१॥

ओदनं घृतसंपूर्णं पञ्चरत्नादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं देव देवराज नमोऽस्तु ते ॥३५२२॥

रक्तपुष्पयुतं भक्तं रक्तगन्धादिभिर्युतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं भास्कर त्वं नमोऽस्तु ते ॥३५२३॥

वितानं धूम्रवर्णाभं गन्धादिकसुशोभितम् ।
रक्तयुक्तं गृहाणेमं बलिं सत्य नमोऽस्तु ते ३५२४॥

इदं तु मांसभक्तंवै वस्त्रगन्धादिपूजितम् ।
गृहाणेमं वृषबलिं वास्तुदोषं प्रणाशय ॥ ३५२५॥

इदं तु शाकुनं मांसं नैवेद्यादिसुसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं व्योमशान्ति प्रयच्छ मे ॥३५२६॥

सुवर्णपिष्टकं चाऽथ वस्त्रगन्धादिभिर्युतम् ।
घृतान्वितं गृहाणेमं सप्तजिह्व नमोऽस्तु ते ॥३५२७॥

क्षीरं लाजासमायुक्तं रक्तपुष्पादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं पूषदेव नमोऽस्तु ते ॥३५२८॥

दधिगन्धादिभिर्युक्तं पीतपुष्पसमन्वितम् ।
बलिं वितथ गृह्णेमं विघ्नमन्त्र प्रशामय ॥३५२९॥

भक्तं मधुप्लुतं चैणं रक्तवस्त्रादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं यमदेव नमोऽस्तु ते ॥३५३०॥

पक्वमांसौदनं चैव नीलवस्त्रादिमण्डितम् ।
प्रीतिकरं गृहाणेमं गृहरक्ष नमोऽस्तु ते ॥३५३१॥

नानागन्धसमायुक्तं रक्तपुष्पादिभिर्युतम् ।
बलिं गृहाण गन्धर्व सर्वदोषं प्रणाशय ॥३५३२॥

इमां तु शाकुनीं जिह्वां माषभक्तोपरिस्थिताम् ।
गृहाणेमं बलिं भृङ्गराज शान्तिं प्रयच्छ मे ॥३५३३॥

एवं घृततिलोपेतं गन्धपुष्पादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मृगदेव नमोऽस्तु ते ॥३५३४॥

शर्कराखण्डसंयुक्तं वस्त्रगन्धादिमण्डितम् ।
प्रीतो बलिं गृहाणेमं रक्षोराज नमोऽस्तु ते ॥३५३५॥

चन्दनागरुकाष्ठं च गन्धपुष्पादिभिर्युतम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं दौवारिक नमोऽस्तु ते ॥३५३६॥

इदं सुपायसं नाथ गन्धपुष्पादिमण्डितम् ।
सुग्रीव वै गृहाणेमं बलिं शान्तिं प्रयच्छ मे ॥३५३७॥

यवाग्राणि च गोदुग्धं भक्तोपरि सुरोपितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं जलराज नमोऽस्तु ते ॥३५३८॥

माषयुक्तं कुशस्तम्बं घृतगन्धादिसंयुतम् ।
पुष्पदन्त गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥३५३९॥

मधुना साधितं पिष्टं गन्धाद्यैरुपशोभितम् ।
बलिं गृहाणासुरेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥३५४०॥

घृतं चान्नसमायुक्तं कर्पूरादिसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं शेष सर्वशान्तिं प्रयच्छ मे ॥३५४१॥

यवजं तण्डुलं नाथ गन्धपुष्पादिशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं रोग सर्वदोषं प्रणाशय ॥३५४२॥

सघृतं मण्डकं चेदमन्नाद्यैरुपशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मृगवाह नमोऽस्तु ते ॥३५४३॥

इदं च कृसरं चान्नं पुष्पगन्धादिमण्डितम् ।
पातालेश गृहाणेमं विघ्नमत्र प्रशाम्यतु ॥३५४४॥

नारिकेलोदकं भक्तं पीतवस्त्रादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलिं मुख्य वास्तुदोषं प्रणाशय ॥३५४५॥

पायसं मधुना मिश्रं नानापूजोपशोभितम् ।
गृहाणेमं बलिं सोम सर्वदोषं प्रणाशय ॥३५४६॥

ओदनं घृतसंमिश्रं गन्धपुष्पसमन्वितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं भल्लाट त्वं नमोऽस्तु ते ॥३५४७॥

माषान्नं तु घृताभ्यक्तं पुष्पगन्धादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यमर्गलाख्य नमोऽस्तु ते ॥३५४८॥
क्षीरखण्डसमायुक्तं नानापुष्पोपशोभितम् ।
दैत्यमात र्गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥३५४९॥
पोलिकां मधुसंमिश्रां वस्त्रगन्धादिसंयुताम् ।
गृहाणेमं बलिं हृद्यं देवमात र्नमोऽस्तु ते ॥३५५०॥
स्वर्गपातालमर्त्येषु ये देवा वास्तुसम्भवाः ।
गृह्णन्त्वमुं बलिं हृद्यं तुष्टा यान्तु स्वमन्दिरम् ॥३५५१॥
मातरो भूतवेताला ये चान्ये बलिकाङ्क्षिणः ।
विष्णोः पारिषदा ये च तेऽपि गृह्णन्त्विमं बलिम् ॥३५५२॥
पितृभ्यः क्षेत्रपालेभ्यो बलिं दत्वा प्रकामतः ।
अभावादुक्तमार्गस्य कुशपुष्पादिभि र्यजेत् ।
प्रणवाद्या इमे मंत्राः बलिदाने समीरिताः ॥३५५३॥

दिशां बलिरपि विधेयस्तच्च प्रयोगसारे—

वास्तुशेषक्रियाभूतः सर्वरक्षाविभूतिकृत् ।
भूतप्रीतिप्रदश्चास्मिन् दिशां बलिरुदीर्यते ॥३५५४॥
दिक्पालपरिषत् सर्वभूतानुद्दिश्य नामभिः ।
पूजा विसर्जनान्ते यत्स विज्ञेयो दिशां बलिः ॥३५५५॥
दध्यम्बुरजनीपुष्पलाजसक्तुतिलांधसा ।
द्रव्येण वितरेद् दिक्षु बलिं दिक्क्रमयोगतः ॥३५५६॥
सुराणां तेजसां चैव प्रेतानां रक्षसामपि ।
तथा जलानां प्राणानां नक्षत्राणां च यत्पुनः ॥३५५७॥
विद्यानामधिपानां च तान् यथोक्तबलीन् हरेत् ।
सवाहनपदं प्रोक्तं परिवाराय शक्तये ॥३५५८॥
तत्पार्षदेभ्यश्च ततः सर्वेभ्य इति संयुतम् ।
भूतेभ्यश्च क्रमाद् भूयः प्रादक्षिण्यात् क्षिपेद् बलिम् ॥३५५९॥
द्विषत्पिशाचवेतालरक्षोरक्षामयार्त्तिहा ।
दिशां बलिर्विशेषेण सर्वसंपत्समृद्धिदः ॥३५६०॥

वास्तौ गृहप्ररोहे भूतद्रोहे गृहप्रवेशे च ।
वितते च शान्तिहोमे दिशां बलिः सिद्धये प्रयोक्तव्यः ॥३५६१॥

एवं वास्तुबलिं दत्वा वास्तुज्ञानविशारदः ।
तत्र भूमिं परीक्षेत खननप्लावनादिभिः ॥३५६२॥

तथा शारदायाम्–

नक्षत्रवारराशीनामनुकूले शुभेऽहनि ।
पुण्याहं वाचयित्वा तु मण्डपं रचयेत् शुभम् ॥३५६३॥

शल्यज्ञानं भूमिशोधनमपि वास्तुशास्त्रे प्रसिद्धं तत एव ज्ञेयम्। तन्मण्डपं त्रिविधम् ।

यच्च मंत्रमुक्तावल्याम्–

अथ मण्डपनिर्माणं प्रथमं ब्रूमहे वयम् ।
श्रेष्ठमध्यमहीनैस्तु मानैस्तच्च त्रिधा मतम् ॥३५६४॥

सोमशंभौ–

गृहस्येशानभागे तु मण्डपं कारयेद् बुधः ।
द्वादशैरष्टषड्हस्तैः षोडशै र्वा समन्ततः ॥३५६५॥

क्रियासारे–

अथ द्वादशविस्तारः कनिष्ठो मण्डपः स्मृतः ।
चतुर्दशो मध्यमः स्यात् षोडशः स्यात् तथोत्तमः ॥३५६६॥

अयं मण्डपश्चतुरस्रः ।

यच्च सिद्धान्तशेखरे–

चतुरस्रं चतुर्द्वारं मण्डपस्य स्थलं मतम् ।
स्थलादर्काङ्गुलोच्छ्रायं मण्डपं परिकीर्तितम् ॥३५६७॥

कपिलपंचरात्रे तु–

उच्छ्रायो हस्तमानं स्यात् सुसमं च सुशोभनम् ।

क्रियासारे–

भूमिं समस्थलीं कृत्वा परिच्छिद्य च सूत्रतः ।

स्तम्भान् समं च संस्थाप्य स्तम्भद्वादशकं पुनः ।
बाह्येऽप्युक्त प्रमाणेन तत्र तत्र विभागतः ॥३५६८॥

एतच्च शारदायाम्-

षोडशस्तंभसंयुक्ताश्चत्वारस्तेषु मध्यमाः ।
अष्टहस्तसमुच्छ्रायाः संस्थाप्या द्वादशाभितः ॥३५६९॥
पंचहस्तप्रमाणास्ते निश्छिद्रा ऋजवः शुभाः ।
तत्पंचमांशं निखनेन् मेदिन्यां तन्त्रवित्तमः ॥३५७०॥

क्रियासारे-

याज्ञीयवृक्षो वेणुर्वा क्रमुकः स्तम्भकर्मणि ।
अन्ये विशुद्धवृक्षा वा भवेयु र्नन्यिभूरुहाः ॥३५७१॥
गृहशल्यः स्वयं शुष्कः कुटिलश्च पुरातनः ।
असौम्यभूमिजनितः संत्याज्यः स्तम्भकर्मणि ॥३५७२॥

शारदायाम्-

स्तम्भोच्छ्रायः स्मृतस्तेषां सप्तहस्तैः पृथक् पृथक् ।
दशांगुलप्रमाणेन तत्परीणाह ईरितः ॥३५७३॥

मध्यमकनिष्ठयो र्द्वादशहस्तप्रमाणं त्रैराशिकेनानेयम् ।

त्रैराशिकसूत्रं यथा-

आद्यन्तयोस्त्रिराशावभिन्नजातीप्रमाणमिच्छा च ।
फलमन्यजातिमध्ये तदन्त्यगुणमादिना विभजेत् ॥३५७४॥
नारिकेलदलै र्वंशैश्छादयेत् तत्समन्ततः ।
द्वारेषु तोरणानि स्युः क्रमात् क्षीरमहीरुहाम् ॥३५७५॥

मंत्रमुक्तावल्याम्-

दिक्षु द्वाराणि चत्वारि विदध्यात् पंचमांशतः ।
तोरणानि च तेष्वेव द्वारेषु स्थापयेद् बुधः ॥३५७६॥

अथ दिक्साधनं क्रियासारे-

कृत्वा भूमिं समां तत्र वृत्तं हस्तमितं समम् ।
द्वादशांगुलमानेन शंकुं खादिरनिर्मितम् ॥३५७७॥

अलाभे यज्ञवार्क्षं वा तत्र संस्थापयेत् सुधीः ।
वटश्चोदुम्बरप्लक्षाश्वत्थाश्च यज्ञशाखिनः ।
तच्छाया संस्पृशेद् यत्र तन्मध्ये मध्यमं स्मृतम् ॥३५७८॥
तिर्यक् प्रसारयेत् सूत्रं मध्ये याम्योत्तरे स्मृते ।
कोणाः स्युरन्ये चत्वारश्चतुस्सूत्रप्रसारणात् ॥३५७६॥
एवमाशापरिज्ञानं समाख्यातं यथा स्फुटम् ।
ज्ञात्वैवं मंडपादीनि कुर्यात् सम्यग् विचक्षणः ॥३५८०॥
यथैव पूर्वापरदिग्विभागविशेषविज्ञानमिहोपदिष्टम् ।
समासतस्तं विषयं विविच्य कार्याणि कर्माणि यथोपदेशम् ॥३५८१॥

रात्रौ तु प्राचीसाधनम्, त्रिकांडमण्डने-

श्रवणस्योदये प्राची कृत्तिकायास्तथोदये ।
चित्रास्वात्यन्तरे प्राची न प्राची चन्द्रसूर्ययोः ॥३५८२॥

इति स्थूलसाधनम् । सूक्ष्मदिगानयनं ज्योतिषसिद्धान्ते स्फुटम् ।

अथ तोरणं महाकपिलपंचरात्रे-

देवास्तोरणरूपेण संस्थिता यज्ञमण्डपे ।
विघ्नविध्वंसनार्थाय रक्षार्थं त्वध्वरस्य च ॥३५८३॥
न्यसेन्न्यग्रोधमैन्द्र्यां तु याम्यां चोदुम्बरं तथा ।
वारुण्यां पिप्पलं चैव कौवेर्यां प्लक्षकं न्यसेत् ॥३५८४॥
सुशोभनं तु पूर्वस्यामग्निमीलेन मंत्रितम् ।
इषेत्वोर्ज्जेति मंत्रेण सुभद्राख्यं तु दक्षिणे ॥३५८५॥
सुकर्माख्यन्तु वारुण्यामग्न आयाहि मंत्रतः ।
शन्नो देवीति मंत्रेण सुहोत्रं तूत्तरे न्यसेत् ॥३५८६॥

इदं तोरणस्तंभनिवेशनं मंडपाद् बहिः हस्तमानेनेति ज्ञेयम् ।

वास्तुशास्त्रे चोक्तम्-

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटशाखाकृतानि तु ।
मंडपस्य प्रतिदिशं द्वाराण्येतानि कारयेत् ॥३५८७॥

विशेषस्तु सिद्धान्तशेखरे-

एक एषामलाभे स्यात् तदभावे शमीद्रुमः ।
जम्बूखदिरसाराश्च तालो वा तोरणे स्मृतः ॥३५८८॥

क्रियासारे-

अवक्राः सत्वचः सार्द्रा दंडाः स्युस्तोरणे शुभाः ।

एवं च मानमुत्तमे षोडशहस्तात्मकमंडपेष्वेव । मध्यमकनिष्ठयोस्तु भिन्नम् ।

यच्च वास्तुशास्त्रे-

पंचहस्तप्रमाणास्ते विस्तारेण द्विहस्तकाः ।
षडंगुलानि वृद्धास्तु सप्तहस्तास्तथोत्तमे ॥३५८९॥

शारदातिलके-

तिर्यक् फलकमानं स्यात् स्तम्भानां सार्धमानतः ।
शूलानि कल्पयेन्मध्ये तोरणे हस्तमानतः ॥३५९०॥

पिंगलामते-

शूलेन चिह्निता कार्या द्वारशाखा स्वमस्तके ।
ऋजुं वै मध्यशृंगं स्यात् किंचिद् वक्रं तु पक्षयोः ।
उभयं तत् समाख्यातं त्र्यंगुलं रोपयेत् तदा ॥३५९१॥

एवं शूलत्रयाणां मेलनेनांगुलं भवति ।

यच्च क्रियासारे-

तोरणं घटयित्वैव मूर्ध्नि शूलत्रयं न्यसेत् ।
शूले नवांगुलं दैर्घ्यं तुरीयांशेन विस्तृतिः ॥३५९२॥

शेषाणां द्व्यंगुला वृद्धिः वेशश्चांगुलवृद्धितः ।

एतानि तत्र काष्ठमयानि शैव एव कर्तव्यानि ।

वैष्णवेतु विशेषः, वास्तुशास्त्रे-

मस्तके द्वादशांशेन शंखचक्रगदाम्बुजम् ।
प्रागादिक्रमयोगेन न्यसेत् तेषां स्वदारुजम् ॥३५९३॥

एषां निवेशनमपि प्राग्वत् ज्ञेयम् । ततः प्रतितोरणमेकैकः कलशः स्थाप्य । प्रतिद्वारं पार्श्वे द्वौ द्वौ । प्रतिकोणं चैकैकः ।

तथा च यामले-

मंडपे कलशौ द्वौ द्वौ द्वारे द्वारे निवेशयेत् ।
गालितोदकसंपूर्णावाम्रपल्लवशोभितौ ॥३५९४॥
गन्धपुष्पाम्बरोपेतान् कुम्भाँस्तेषु विनिःक्षिपेत् ।
ध्रुवं धरां वाक्पतिं च विघ्नेशं तेषु पूजयेत् ।
मंडपस्य तु कोणस्थकलशेषु क्रमादमी ॥३५९५॥
अमृतो दुर्जयश्चैव सिद्धार्थो मंगलस्तथा ।
पूज्या द्वारस्थकुम्भेषु शक्राद्यास्तन्मनूत्तमैः ॥३५९६॥ इति ।

मंडपाभितोऽष्टदिक्षु ध्वजान् बध्नीयात् ।

यदुक्तं शारदातिलके-

दिक्षु ध्वजान् निबध्नीयाल्लोकपालसमप्रभान् ।

कुण्डसिद्धौ-

ध्वजान् द्विहस्तायतिकांश्च पंच-
हस्तान् सुपीतारुणकृष्णनीलान् ।
श्वेतासितश्वेतसितान् दिगीश-
वाहान् वहेद् दिक्करवंशशीर्षाः ॥३५९७॥

सारसंग्रहे-

पंचहस्ता ध्वजा कार्या वैपुल्येन द्विहस्तकाः ।
दंडश्च दशहस्तः स्यादष्टदिक्षु च तान् न्यसेत् ॥३५९८॥

हयशीर्षपंचरात्रे-

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्वजारोपणमुत्तमम् ।
यत् कृत्वा पुरुषः सम्यक् समस्तफलमाप्नुयात् ॥३५९९॥
यातुधाना खेचराश्च कूष्माण्डा गुह्यकास्तथा ।
चिन्तयन्त्यसुरश्रेष्ठा ध्वजहीनं सुरालयम् ॥३६००॥
ध्वजेन रहिते ब्रह्मन् मंडपे तु वृथा भवेत् ।
पूजाहोमादिकं सर्वं जपाद्यं यत् कृतं वुधैः ॥३६०१॥
रक्षणेन विना यद्वत् क्षेत्रं नश्यति क्षेत्रिणः ।
ध्वजं विना देवगृहं तथा नश्येत सर्वथा ।
ये विष्णुपार्षदाः क्रूराः कूष्माण्डाद्याश्च ये स्मृताः ॥३६०२॥

पूजादिकं तु गृह्णन्ति देवं दृष्ट्वा त्वरक्षितम् ।
दृष्ट्वा ध्वजाँस्तु देवस्य मंडपे ज्वलनप्रभान् ।
नश्यन्ति सर्वे ते चार्करश्मिक्षिप्तं तमो यथा ॥३६०३॥

क्रियासारे विशेषः-

ध्वजानां लक्षणं सम्यगुच्यते तु यथातथम् ।
मंडपस्य बहिर्दण्डैः दशहस्तायतैः सह ॥३६०४॥
पूर्वाद्यष्टहरित्स्वष्टौ ध्वजान् संस्थापयेत् क्रमात् ।
तेषां हस्तद्वयं व्यासो मध्यश्च करसम्मितः ॥३६०५॥
व्यासार्धं शिखरं पुच्छं हस्तत्रितयमानकम् ।
मत्स्याभं शिखरं पुच्छशिखरं तु त्रिकोणकम् ॥३६०६॥
तयो र्मध्ये चतुष्कोणं ध्वजानेवं प्रकल्पयेत् ।
मातंगवस्तमहिषसिंहमत्स्यैणवाजिनः ॥३६०७॥
वृषभं च यथान्यायं ध्वजमध्ये क्रमाल्लिखेत् ।
अथवा दिग्गजानष्टावैरावतपुरःसरान् ॥३६०८॥
ध्वजेषु विलिखेदत्र धातुभिश्च सलक्षणम् ।
एवं ध्वजानां कथितं लक्षणं ते शुभावहम् ॥३६०९॥ इति ।

अथ पताकानिवेशनम् । पताका ध्वजसंयुक्तमिति सिद्धान्तशेखरोक्तत्वात् ।

यच्च सोमशंम्भौ-

सप्तहस्ताः पताकाः स्यु र्विंशत्यंगुलविस्तृताः ।
दशहस्ताः पताकानां दण्डाः पंचांशवेशिताः ।
पताका आयुधांकाश्च गन्धपुष्पसमन्विताः ॥३६१०॥

अथ मंडपालंकरणं सिद्धान्तशेखरे-

चूतपल्लवशाखाढ्यवितानैरुपशोभितम् ।
विचित्रवस्त्रसञ्छन्नं तुलास्तंभविभूषितम् ॥३६११॥
सफलैः कदलीस्तम्भैः क्रमुकै र्नारिकेलकैः ।
फलै र्नानाविधै र्भोज्यै दर्पणैश्चामरैरपि ।
भूषितं मंडपं कुर्याद् रत्नपुष्पसमुज्ज्वलम् ॥३६१२॥

हयशीर्षपंचरात्रेऽपि-

दर्पणैश्चामरै र्घण्टैः स्तम्भान् वस्त्रै र्विभूषयेत् ।
कलशै र्घण्टिकाभिश्च साधारैः करकैस्तथा ॥३६१३॥

एतद्व्यंगे दोषमुक्तं क्रियासारे-

अनुक्तसाधनैः क्लृप्तो यदि वा कुटिलाकृतिः ।
मानाधिकोऽथवा न्यूनो मंडपः कर्तृनाशनः ॥३६१४॥

आख्यातसाधनैः क्लृप्तः शोभनः सममानकः ।
मनोज्ञो मंडपो योऽसौ कर्मकर्तुः शुभावहः ॥३६१५॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे मण्डपादिरचनाविधि र्नाम
विंशः पटलः ॥२०॥

एकविंशः पटलः ।

अथ वेदीनिर्माणम्-

ततो मंडपसूत्रं तु त्रिगुणं परिकल्पयेत् ।
पूर्वादिषु क्रमात् तस्य मध्यभागेन वेदिका ॥३६१६॥

शारदायाञ्च-

तत् त्रिभागमिते क्षेत्रेऽरत्निमात्रसमुन्नताम् ।
चतुरस्रां ततो वेदीं मंडपाय प्रकल्पयेत् ॥३६१७॥

अरत्निः हस्तमानम् ।

यथा कादिमते अंगुललक्षणमुक्त्वा-

तैश्चतुर्भि र्भवेन्मुष्टि र्वितस्तिस्तैस्त्रिभि र्गुणैः ।
अरत्निस्तद्द्वयेन स्याद् हस्तस्तद्द्वयतः शिवे ॥३६१८॥ इति ।

क्रियासारेऽपि-

त्रिभागं मंडपं कृत्वा मध्यभागस्तु वेदिका ।
हस्तमानं तदुत्सेधं चतुरस्रं समं यथा ॥३६१९॥

पक्वाभि र्वाप्यपक्वाभिरिष्टिकाभि र्दृढं यथा ।
कर्तव्या वेदिका श्रेष्ठा तदभावे मृदापि वा ।
अवक्रपार्श्वा सुस्निग्धा दर्पणोदरसन्निभा ॥३६२०॥ इति ।

अनेन मण्डपे नवकोष्ठके कृते मध्यकोष्ठे वेदी कार्येति संप्रदायः ।

सिद्धान्तशेखरे विशेषः-

वेदी चतुर्विधा तत्र चतुरस्रा च पद्मिनी ।
श्रीधरी सर्वतोभद्रा दीक्षासु स्थापनादिषु ॥३६२१॥

चतुरस्रा चतुःकोणा वेदी सर्वफलप्रदा ।
तडागादिप्रतिष्ठायां पद्मिनी पद्मसन्निभा ॥३६२२॥

राज्ञां स्यात् सर्वतोभद्रा चतुर्भद्राभिषेचने ।
विवाहे श्रीकरी वेदी विंशत्यस्रसमन्विता ।
दर्पणोदरसंकाशा निम्नोन्नतविवर्जिता ॥३६२३॥ इति ।

एतदभावे दोष उक्तः क्रियासारे-

वक्रपार्श्वा क्लिन्नमध्या परुषाद्दगशोभना ।
मानहीनाधिका या सा कर्तुः कर्मविनाशिनी ॥ ३६२४॥ इति ।

एवं वेदिकां निर्माय अंकुरारोपणं कुर्यात् ।

यच्च संहितायाम्-

सर्वत्राभ्युदयश्राद्धमंकुरोत्पादनं तथा ।
आदावेव प्रकुर्वीत कर्मणोऽभ्युदयात्मनः ॥३६२५॥

यामले च-

गुर्विशुद्धः प्रागेव शुद्धाहात् प्रथमेऽहनि ।
संकल्प्योपोष्य कर्तव्यमंकुरारोपणं शुभम् ॥३६२६॥

कुर्यात् नान्दीमुखं श्राद्धं पूर्वेद्युः स्वस्तिवाचनम् ।
स्वगृह्योक्तप्रकारेण तदेतद् विदधीत वै ॥३६२७॥

कपिलपंचरात्रे-

पुण्याहघोषणं कृत्वा ब्राह्मणैः सह देशिकः ।
मंगलांकुरस्य वपनं कुर्यात् तत्रैव चाहनि ।
सप्तमाद् नवमाद् वापि प्रागेव यज्ञकर्मणः ॥३६२८॥

सिद्धान्तशेखरे-

प्रतिष्ठायां च दीक्षायां स्थापने चोत्सवे तथा ।
संप्रोक्षणे च शान्तौ च विवाहे मौञ्जिबन्धने ।
सर्वमंगलकार्येषु कारयेदंकुरार्पणम् ॥३६२९॥

शारदायाम्-

प्रागेव दीक्षादिवसात् सप्तभि र्विधिवद् दिनैः ।
सर्वमंगलसंपत्त्यै विदध्यादंकुरार्पणम् ॥३६३०॥

मण्डपस्योत्तरे भागे शालां पूर्वापरायताम् ।
गूढां कुर्यात् ततस्तस्यां मंडलं रचयेत् सुधीः ॥३६३१॥

शालामानं तन्त्रान्तरे-

विंशत्या तु करै र्मानं दशायामेन विस्तृतिः ।
शालाया उत्तमं मानमर्धादौ मध्यमादिकम् ॥३६३२॥

मण्डलं शारदायाम्-

पंचहस्तप्रमाणानि पंचसूत्राणि पातयेत् ।
पूर्वापरायतान्येषामन्तरे द्वादशांगुलम् ॥३६३३॥

दक्षिणोत्तरसूत्राणि तद्वदेकादशार्पयेत् ।
पदानि तत्र जायन्ते चत्वारिंशत् प्रमार्जयेत् ॥३६३४॥

अनयोरर्थः-पंचहस्तेति । शालाविस्तारमध्यभागे प्रागपरायतमेकं सूत्रं पंचहस्तप्रमाणं दत्वा तत् सूत्रस्य दक्षिणोत्तरभागयोः द्वादश-द्वादशांगुलान्तरे द्वे द्वे सूत्रे दद्यात् । ततस्तत्सूत्रव्यतिभेदीनि एकादशसूत्राणि पातयेत् । तद्वदिति । द्वादशाङ्गुलान्तराणीत्यर्थः । एवं पंचापि हस्ताः सगृहीताः । प्रमार्जयेदित्युत्तरत्रान्वेनीत्यर्थः ।

पङ्क्त्यां वीथीश्चतस्रोऽन्तश्चतुष्कोभयपार्श्वयोः ।
वीथ्यौ द्वे च चतुष्कोष्ठत्रयमत्रावशिष्यते ॥३६३५॥

अस्यार्थः-पङ्क्त्येति । पङ्क्त्यां चतस्रो वीथी र्मार्जयेत् बाह्य इत्यर्थः। अन्तरिति वक्ष्यमाणत्वात् । पूर्वां चतुष्कोष्ठामेकां वीथीमष्टकोष्ठां दक्षिणवीथीं पुनश्चतुष्कोष्ठां पश्चिमवीथीमष्टकोष्ठामुत्तरवीथीं मार्जयेत् । तत अन्तश्चतुष्कस्योभयपार्श्वयोः पार्श्वद्वये द्वे वीथ्यौ द्विद्विकोष्ठरूपे चात्र मार्जयेदित्यनुषंग इति ।

पदानि रंजयेत् तानि श्वेतपीतारुणासितैः ।
रजोभिः श्यामलेनाथ वीथीरापूरयेत् सुधीः ॥३६३६॥ इति ।

तत्र श्वेतं वायुपदे । पीतमाग्नेये । अरुणं रक्षःपदे । असितमीशपदे च ।

तदुक्तं प्रपंचसारे-

पीतारक्तसितासितप्रतिपदं बाह्यादि सर्वान्तकम् । इति ।

अथांकुरार्पणपात्राणि शारदायाम्–

पात्राणि त्रिविधान्याहुरंकुरार्पणकर्मसु ।
पालिकाः पंचमुख्यश्च शरावाश्च चतुःक्रमात् ३६३७॥
प्रोक्ताः स्युः सर्वतन्त्रज्ञै र्हरिब्रह्मशिवात्मकाः ।
एषामुच्छ्राय उन्नेयः षोडश द्वादशाष्टभिः ।
अंगुलैः क्रमशस्तानि शुभान्यावेष्ट्य तन्तुना ॥३६३८॥ इति

सिद्धान्तशेखरे–

संपूजयेत् शरावेषु रुद्रं चन्दनपुष्पकैः ।
पालिकासु तथा विष्णुं ब्रह्माणं घटिकासु च ॥३६३९॥

अत्र पात्राणां त्रिदेवमयत्वात् पंचदेवदीक्षायां पात्रभेदो नास्ति ।

महाकपिलपंचरात्रे विशेषः–

पालिकाचक्रविस्तारः षोडशांगुल उच्यते ।
भवेत् कण्ठबिलं वा स्यात् तदष्टांगुलविस्तृतम् ॥३६४०॥
पदपीठस्य विस्तारं षडंगुलमुदाहृतम् ।
चतुरंगुल उत्सेधस्तत्संधिश्चांगुलं भवेत् ॥३६४१॥
तत्संधिस्तु भवेन्नाहपादपीठार्धमेव च ।
भवेत् पंचमुखी चैवं घटिका सर्वकामदा ॥३६४२॥
चतुरंगुलविस्तारान्याहु र्वक्त्राणि पंच वै ।
चत्वारि च चतुर्दिक्षु ऊर्ध्वमेकं यथाविधि ॥३६४३॥
घटिकायाश्च विस्तारो द्वादशांगुल उच्यते ।
आचार्याः कथयन्त्येके षोडशांगुलमेव वा ॥३६४४॥
द्वादशांगुलविस्तारं शरावस्य मुखं स्मृतम् ।
चतुरंगुलविस्तारमधस्तान्मूल उच्यते ३६४५॥ इति

तन्त्रान्तरेऽपि–

तालमात्रमिह पंचमुखी स्याद्
व्यासतोच्छ्रयमिता घटिका स्यात् ।
दिक्षु तन्मुखचतुष्टयमेकं
मध्यतस्तु समवर्तितभागम् ॥३६४६॥

तालविस्तृतमुखं तु शरावं व्यासतोच्छ्रयगतार्धमितांघ्रि ।

दंडमस्य चतुरंगुलनाहं कंठमस्य बिलवर्जमुदग्रम् ।

संभवे कनकरूप्यकताम्रमार्त्तिकान्यभिनवान्यथवा स्युः ॥३६४७॥

सिद्धान्तशेखरे तु–

यथासंभवमानं वा पालिकादि समाचरेत् ।

कृष्णवर्णं तथा वक्त्रं व्रणयुक्तं विवर्जयेत् ।

प्रक्षाल्य तन्तुनावेष्ट्य त्रिगुणेन समाहितः ॥३६४८॥

तत्रैवं क्रमः। पश्चिमचतुष्के पालिकाचतुष्टयं, मध्यचतुष्के पंचमुखीचतुष्टयं, पूर्वचतुष्के शरावचतुष्टयं निवेशयेत् ।

तन्निवेशनमुक्तं प्रयोगसारे, शारदायां च–

एवं च देशिकस्तेषु पदेष्वाहितशालिषु ।

सुगन्धिदर्भकूर्चेषु पश्चिमादि निवेशयेत् ।

करीषवालुकामृद्भिस्तानि पात्राणि पूरयेत् ॥३६४९॥

सिद्धान्तशेखरे विशेषः–

गन्धादिभिश्च कुद्दालं पूजयित्वा दिनान्तरे ।

गीतनृत्यसमायुक्तो गजवाजिरथान्वितः ॥३६५०॥

गत्वा तीरं तडागस्य नद्याः पुष्पवनस्य वा ।

तत्र शुद्धं भुवो भागं दर्भैः संमृज्य चास्त्रतः ॥३६५१॥

अभ्युक्ष्य चार्घ्यतोयेन तत्तन्मन्त्रमनुस्मरन् ।

हृदा भूमिं समावाह्य गन्धपुष्पैः समर्चयेत् ॥३६५२॥

कुद्दाल्यामस्त्रमंत्रेण खात्वा भूमिमथो मृदम् ।

गृहीत्वा वामदेवेन पूरयेत् कांस्यपात्रके ।

हृदा मृदं च संमृज्य वस्त्रेणाच्छाद्य धारयेत् ॥३६५३॥

पुरं वा निलयं वापि सर्वमंगलनिस्वनैः ।

गुरुः प्रदक्षिणं कृत्वा मंडपं त्वानयेत् ततः ।

एतत् कर्म दिवाकाले कुर्याद् रात्रौ न बुद्धिमान् ॥३६५४॥

प्रयोगसारे–

वह्न्यादीशादिपर्यन्तं चतुष्केषु पृथक् पृथक् ।

मृद्वालुकाकरीषैश्चोर्ध्वतः पात्राणि पूरयेत् ॥३६५५॥

सुधाबीजेन बीजानि दुग्धैः प्रक्षाल्य तंत्रवित् ।
मूलमंत्राभिजप्तानि पंचघोषपुरःसरम् ॥३६५६॥

पंचघोषास्तु पटहढक्कामृदंगमुखवाद्यशंखाः ।

जपविषये कपिलपंचरात्रे–

संख्यानुक्तौ शतं साष्टं सहस्रं वा जपादिषु । इति।

आशी र्वाग्भि र्द्विजातीनां मंगलाचारपूर्वकम् ।
निर्वपेत् तेषु पात्रेषु देशिको यतमानसः ॥३६५७॥

सिद्धान्तशेखरे–

बीजं मुखेन मूलेन प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
वापयेत् सर्वबीजानि पालिकादिष्वनुक्रमात् ।
बीजानामधिपः सोमस्तस्माद् रात्रौ तु निर्वपेत् ॥३६५८॥

सारस्वतमतेऽपि–

बीजेभ्यो दैवतेभ्यश्च स रात्रौ कान्तिमान् यतः ।
तस्माद् गुरुस्तु बीजानि निशायामेव वापयेत् ॥३६५९॥

शालिश्यामाढकीमुद्गतिलनिष्पावसर्षपाः ।
कुलत्थकंगुमाषाश्च बीजान्यङ्कुरकर्मणि ॥६६६०॥
हरिद्राद्भिः समभ्युक्ष्य वस्त्रैराच्छाद्य देशिकः ।

अन्यत्र–

निष्पावान् राजमाषांश्च देवे सुप्ते विवर्जयेत् ॥३६६१॥

प्रयोगसारे विशेषः–

त्रियम्बकाय शर्वाय शंकराय शिवाय च ।
सर्वलोकप्रधानाय शाश्वताय नमो नमः ॥३६६२॥

विकीर्यानेन मंत्रेण हरिद्राचूर्णमिश्रितम् ।
तोयं प्रवर्षयेत् तेषु सिंचेत् तोयै र्दिनं प्रति ॥३६६३॥

सारस्वतमते प्रत्येकं बीजेषु देवतापूजोक्ता–

स्कन्दं प्रियंगौ निष्पावे वायुमग्निं कुलत्थके ।
आढक्यां निर्ऋतिं सोमं मुद्गे वैवस्वतं तिले ॥३६६४॥
प्रजापतिं शालिबीजे त्वनन्तं सर्षपेऽर्चयेत् ।
इन्द्रं श्यामे च माषे च वरुणं तु नगात्मजे ॥३६६५॥

महाकपिलपंचरात्रे—

ततो गन्धविमिश्रेण सिञ्चेद् वै शुद्धवारिणा ।
त्रिरात्रं तु यथान्यायं पंचरात्रमथापि वा ॥३६६६॥

शारदायाम्—

बलिं विविधपात्राणां दिक्षु पूर्वादितः क्षिपेत् ।
प्रणवाद्यै र्नमोन्तैश्च रात्रौ रात्रीशनामभिः ॥३६६७॥

भूतानि पितरो यक्षा नागा ब्रह्मा शिवो हरिः ।
सप्तानामपि रात्रीणां देवताः समुदीरिताः ॥३६६८॥

भूतेभ्यः स्यु र्लाजतिलहरिद्रादधिसक्तवः ।
सान्नाः पितृभ्यः सतिलास्तन्दुलाः परिकीर्तिताः ॥३६६९॥

करंभलाजा यक्षेभ्यो नारिकेलोदकान्वितम् ।
सक्तुपिष्टं च नागेभ्यो ब्रह्मणे पंकजाक्षताः ॥३६७०॥

करंभा दधिसक्तवः ।

सापूपमन्नं शर्वाय विष्णवे च गुडौदनम् ।
ततो लोकेश्वरेभ्योऽपि वितरेद् विधिवद् बलिम् ॥३६७१॥

दीक्षायामभिषेकेषु नववेश्मप्रवेशने ।
उत्सवेषु च संपत्त्यै विदध्यादंकुरार्पणम् ॥३६७२॥

अन्यत्रापि—

पायसं कृशरं वाथ वैष्णवे सत्प्रकीर्तितः ।
तत्तद्दिशि बलिं देयः कर्मसांगत्वसिद्धये ॥३६७३॥

अथांकुरपरीक्षा सिद्धान्तशेखरे—

यजमानाभिवृद्ध्यर्थमंकुराणि परीक्षयेत् ।
सम्यगूर्ध्वं प्ररूढानि कोमलानि सितानि च ॥३६७४॥

धूम्रवर्णान्यपूर्वाणि तथा तिर्यग्गतानि च ।
श्यामलानि तु कुब्जानि वर्जयेदशुभानि तु ॥३६७५॥

अवृष्टिं कुरुते कृष्णं धूम्राभं कलहं तथा ।
अपूर्णं जननाशं च दुर्भिक्षं श्यामलांकुरम् ॥३६७६॥

तिर्यग्याते भवेद् व्याधिः कुब्जे शत्रुभयं तथा ।
अशुभे चांकुरे जाते शांतिहोमं समाचरेत् ॥३६७७॥

मूलमंत्रेण जुहुयाद् गुरुं मूर्तिधरैः सह ।
अघोरास्त्रेण चास्त्रेण शतं वाथ सहस्रकम् ॥३६७८॥

सारस्वतेऽपि—

प्ररूढैरंकुरैः कर्तुं निर्दिशेच्च शुभाशुभम् ।
श्यामैः कृष्णैरंकुरैरर्थहानिस्तिर्यगरूढे व्याधिरांदोलितैस्तैः ।
कुब्जे दुःखं दुःप्ररूढे मृतिं च रोगा भुग्नैः स्थानदेशेष्टहानिः ॥३६७९॥

अथ कुण्डानि शारदायाम्—

प्राक्प्रोक्ते मंडपे विद्वान् वेदिकाया बहिस्त्रिधा ।
क्षेत्रं विभज्य मध्यांशे क्षेत्राणि परिकल्पयेत् ॥३६८०॥

अष्टास्वाशासु कुण्डानि रम्याकाराण्यनुक्रमात् ।
चतुरस्रं योनिमर्धचन्द्रं त्र्यस्रं सुवर्त्तुलम् ॥३६८१॥

षडस्रं पंकजाकारमष्टास्रं तानि मानतः ।
आचार्यकुण्डं मध्ये स्याद् गौरीपतिमहेन्द्रयोः ॥३६८२॥ इति ।

अन्यच्च कुण्डसिद्धौ—

प्राच्याः चतुष्कोणभगेन्दुखंडत्रिकोणवृत्तांगभुजाम्बुजानि ।
अष्टास्त्रिशक्रेश्वरयोस्तु मध्ये वेदास्त्रि वा वृत्तमुशन्ति कुण्डम् ॥३६८३॥

प्राचीत आरभ्य चतुरस्रयोनिवृत्तार्धत्रिकोणवृत्तषडस्रपद्माष्टास्त्रि कुण्डानि भवन्ति । प्राचीशानयोर्मध्ये नवममाचार्यकुण्डं स्यादित्यर्थः ।

एवं रहस्याम्नायेऽपि—

नवकुण्डविधानेन दिक्षु कुण्डाष्टके स्थिते ।
नवमं कारयेत् कुण्डं पूर्वेशानदिगन्तरम् ।
वृत्तं वा चतुरस्रं वाचार्यदैवं विचक्षणः ॥३६८४॥ इति ।

कुण्डसिद्धौ तु—

आशेशकुण्डैरिह पंचकुण्डी चैकं यदा पश्चिमसोमशैवे ।
वेद्याः सपादेन करेण यद्वा पदान्तरेणाखिलकुण्डसंस्था ॥३६८५॥

अस्यार्थः—आशा दिक्। तत्र कुण्डानि चतुरस्रवृत्तार्धवृत्तपद्मानि। ईशदिशि कुण्डं चतुरस्रं वृत्तं वा। तैः पंचकुण्डीनिवेशनं स्यात्। यदा च एकमेव कुण्डं तदा पश्चिमे वा उत्तरे ईशान्यां वा स्यात्। परन्तु चतुरस्रं वेद्याः सकाशात्। तानि सर्वाणि कुण्डानि सपादेन करेण त्रिशदंगुलान्तरेण वा पादान्तरेण वा दशांगुलान्तरेण भवतीति।

वसिष्ठसंहितायां तु—

त्रयोदशांगुलं त्यक्त्वा वेदिकायाश्चतुर्दिशम्।
कुण्डानि स्वागमोक्तानि विदध्यात् विधिवद् बुधः ॥३६८६॥ इति।

नारदीये—

यत्रोपदिश्यते कुण्डं चतुष्कं तत्र कर्मणि।
वेदास्रमर्धचन्द्रं च वृत्तं पद्मनिभं तथा ॥३६८७॥

कुर्यात् कुण्डानि चत्वारि प्राच्यादिषु विचक्षणः।
पंचमं कारयेत् कुण्डमीशदिग्गोचरं द्विजः ॥३६८८॥

अयं मध्यमः पक्षः।

कनिष्ठपक्षस्तु सोमशंभौ—

एकं वा शिवकाष्ठायां प्रतीच्यां कारयेद् बुधः।

एतत् प्रपंचसारेऽपि—

अथवा दिशिकुण्डमुत्तरस्यां
प्रविदध्याच्चतुरस्रमेकमेव ॥३६८९॥ इति।

शारदायाम्—

विप्राणां चतुरस्रं स्याद् राज्ञां वर्त्तुलमिष्यते।
वैश्यानामर्धचन्द्राभं शूद्राणां त्र्यस्रमीरितम् ॥३६९०॥
चतुरस्रं तु सर्वेषां केचिदिच्छन्ति तांत्रिकाः।

कुण्डानां फलं च तत्रैव—

सर्वसिद्धिकरं कुण्डं चतुरस्रमुदाहृतम् ॥३६९१॥

पुत्रप्रदं योनिकुण्डमर्धेन्द्वाभं शुभप्रदम्।
शत्रुक्षयकरं त्र्यस्रं वर्त्तुलं शांतिकर्मणि ॥३६९२॥

छेदमारणयोः कुण्डं षडस्रं पद्मसन्निभम्।
पुष्टिदं रोगशमनं कुण्डमष्टास्रमीरितम् ॥३६९३॥

मुष्टिमात्रमितं कुण्डं शतार्धे संप्रचक्षते।
शतहोमेऽरत्निमात्रं हस्तमात्रं सहस्रके ॥३६९४॥

द्विहस्तमयुते लक्षे चतुर्हस्तमुदीरितम् ।
दशलक्षेषु षड्हस्तं कोट्यामष्टकरं स्मृतम् ॥३६९५॥

अन्यत्र–

एकहस्तमितं कुण्डमेकलक्षे विधीयते ।
लक्षाणां दशकं यावत् तावद् हस्तेन वर्धयेत् ।
दशहस्तमितं कुण्डं कोटिहोमे विधीयते ॥३६९६॥ इति ।

एकहस्तमितं कुण्डं लक्षहोमेत्यत्र आज्यहोमे दूर्वाकरवीरादिहोमे च ज्ञेयम् ।

मानं च सिद्धान्तशेखरे शारदायां च–

चतुर्विंशत्यंगुलाढ्यं हस्तं तंत्रविदो विदुः ।
कर्तुर्दक्षिणहस्तस्य मध्यमांगुलिपर्वणः ॥३६९७॥
मध्यस्य दीर्घमानेन मानांगुलमुदीरितम् ।
यवानामष्टभिः क्लृप्तं मानांगुलमुदीरितम् ॥३६९८॥ इति ।

ग्रन्थान्तरे च–

जालांतरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥३६९९॥
त्रसरेणुस्तु विज्ञेयो ह्यष्टौ ते परमाणवः ।
त्रसरेणव एते स्युरष्टरेणुस्तु संस्मृतः ॥३७००॥
ते रेणवस्तथा त्वष्टौ बालाग्रं तत् स्मृतं बुधैः ।
बालाग्राण्यष्टलिक्षा तु यूका लिक्षाष्टकं स्मृतम् ॥३७०१॥
अष्टौ यूका यवं प्राहुरंगुलं तु यवाष्टकम् ।
रत्निस्त्वंगुलपर्वाणि विज्ञेयस्त्वेकविंशतिः ।
चत्वारि विंशतिश्चैव हस्तः स्यादंगुलानि तु ॥३७०२॥ इति ।

अतो मानांगुलेनैव कुण्डं विधेयम् ।

सिद्धान्तशेखरे–

योन्यादिसर्वकुण्डानि चतुरस्राद् भवन्ति हि ।
लक्षणं चतुरस्रस्य पूर्वं तस्मान्मयोच्यते ॥३७०३॥

त्रिशत्यां श्रीधराचार्यः–

समलम्बकचतुरस्रे त्र्यस्रिक्षेत्रे च जायते करणम् ।
भूवदनसमासार्धं मध्यमलम्बेन संगुणयेत् ॥३७०४॥

इत्यनेन प्रकारेण चतुर्विंशतिः चतुर्विंशत्या गुणिता पंचशतानि षट्सप्तत्यधिकान्यंगुलानि क्षेत्रफलम् । एतदेव क्षेत्रफलमष्टस्वपि कुण्डेषु ज्ञेयम् । अतः सर्वकुण्डानामेव प्रकृतिभूतम् ।

अथ चतुरस्रं कुण्डं, कुण्डसिद्धौ–

द्विघ्नं व्यासं तुर्यचिह्नं समांशं
सूत्रं शंकौ पश्चिमे पूर्वगेऽपि ।
दत्वा कर्षेत् कोणयोः पाशतुर्ये
स्यादेवं वा वेदकोणं समानम् ॥३७०५॥

अस्यार्थः–इष्टव्यासाद् द्विगुणितं व्यासं तुर्यचिह्नं सपाशसूत्रं पूर्वपश्चिमस्थयोः शंकोर्दत्वा कोणयोः पाशचतुर्थांशे कर्षयेत् । एवं कृते समचतुरस्रं स्यात् । इदमेव सर्वेषां कुण्डानां मूलमिति ।

अथ योनिकुण्डं कुण्डसिद्धौ–

क्षेत्रे जिनांशे तु पुरः शरांशान्
संवर्द्ध्य च स्वीयरदांशयुक्तान् ।
कर्णाङ्घ्रिमानेन लिखेन्दुखण्डे
प्रत्यक् पुरोऽङ्गाद् गुणतो भगाभम् ॥३७०६॥

अस्यार्थः–चतुरस्रे क्षेत्रे चतुर्विंशतिभागे कृते सति पंचांशान् स्वीयद्वात्रिंशदंशयुक्तान् अंगुलानि ५।१।२ अग्रे संवर्ध्य ततश्चतुर्धा विभक्तस्य क्षेत्रस्य पश्चिमचतुरस्रद्वयमध्यांकात् कर्णसूत्रस्य चतुर्थांशेन प्रत्यक् पश्चिमभागे इन्दुखण्डे वृत्तार्धद्वयं विद्वन् लिख । ततः पूर्वांकात् दक्षिणोत्तरसूत्रसंलग्नवृत्तार्धं यावत् नीयमानं गुणद्वयतो भगाकारं योनिकुण्डं स्यात् ।

वृत्तार्धकुण्डम्–

स्वशतांशयुतेषु भागहीनस्वधरित्रीमितकर्कटेन मध्यात् ।
कृतवृत्तदलेऽग्रतश्च जीवां विदधात्विन्दुदलस्य साधुसिद्धयै ॥३७०७॥

अस्यार्थः–स्वीयशतांशेन युतो य इषुभागः पंचमांशः । अर्थात् क्षेत्रस्यैवानेनोना चासौ स्वभूमिः क्षेत्रं तन्मितेन कर्कटेन सूत्रेण वा मध्यांकात् कृतं यद् वृत्तार्धं तस्मिन् अग्रतः पूर्वापरां रेखां जीवारूपां वृत्तार्धस्य साधु सिद्धयै करोतु विद्वानित्यर्थः ।

अथ त्र्यस्रिवृत्तकुण्डे कुण्डसिद्धौ–

वह्न्यंशं पुरतो निधाय च पुनः श्रेण्योश्चतुर्थांशके
चिह्नेषु त्रिषु सूत्रदानत इदं स्यात् त्र्यस्रि कष्टोज्झितम् ।

विश्वांशैः स्वजिनांशकेन सहितैः क्षेत्रे जिनांशैः कृते
व्यासार्धेन मितेन मंडलमिदं स्याद् वृत्तसंज्ञं शुभम् ॥३७०८॥

अस्यार्थः-अथ पूर्वार्धेन त्र्यस्रि कुण्डं व्याख्यायते। क्षेत्रस्य तृतीयांशं पूर्वतोनिधाय तत उभयोः श्रेण्योःचतुर्थांशं निधाय दक्षिणत उत्तरतश्च दत्वा त्रिषु चिह्नेषु सूत्रदानात् कष्टरहितं त्र्यस्रि जायते इत्यर्थः। अथोत्तरार्धेन वृत्तमाह—क्षेत्रे चतुर्विंशतिभक्ते सति त्रयोदशांशैः स्वचतुर्विंशांशयुतै मितेन व्यासार्धेन मण्डलं यत् वृत्तसंज्ञं तत् कुण्डं सुन्दरं स्यात्।

अथ षडस्रकुण्डं तत्रैव—

भक्ते क्षेत्रे जिनांशै र्धृतिमितलवकैः स्वाक्षिशैलांशयुक्तै-
र्व्यासार्धान्मंडले तन्मितधृतगुणके कर्कटे चेन्दुदिक्तः।
षट्चिह्नेषु प्रदद्याद् रसमितगुणकानेकमेकं तु हित्वा
नाशे सन्ध्यंगदोषामपि च वृतिकृते नेत्ररम्यं षडस्रम् ॥३७०९॥

अस्यार्थः—क्षेत्रे चतुर्विंशतिधा भक्ते सति अष्टादशैः १८। खद्वासप्ततिमांश ०।२ युक्तैः तावता १८।२ व्यासार्धेन वृत्ते कृते सति उत्तरदिक्तः तेनैव व्यासार्धेन मिते धृते गुणके सूत्रे सति कर्कटे वा धृते सति परावर्तनेन षट् चिह्नानि भवन्ति। तेषु षट्चिन्हेषु षट्सूत्राणि एकान्तरेण परस्परलग्नानि दद्यात्। ततः संधौ ये दोषाः षड्भुजाः तेषां नाशे वृतिकृतेः मण्डलस्य विनाशे षडस्रि नेत्ररम्यं जायत इत्यर्थः।

अस्यैवापरः प्रकारः स्वल्पान्तरत्वात् तत्रैव—

अथवा जिनभक्तकुण्डमाने तिथिभागैः खखभूपभागहीनैः।
इह कर्कटकोद्भवे तु वृत्ते विधुदिक्तः समषड्भुजैः षडस्रम्॥ ३७१०॥

अस्यार्थः—अथ चतुर्विंशतिभक्ते कुण्डमाने सति स्वीयषष्ट्यधिकशतांशेन १६० हीनैः पंचदशभागैर्मितो यः कर्कटः१४।७।२ तदुद्भवे वृत्ते उत्तरदिक्तः सकाशात् समैः षड्भुजै र्दत्तैः परस्परलग्नैः षडस्रं वृत्तमार्जनेन भवतीत्यर्थः।

अथ पद्मकुण्डं तत्रैव—

अष्टांशाच्च यतश्च वृत्तशरके तत्रादिमं कर्णिका
युग्मे षोडशकेशराणि चरमे स्वाष्टत्रिभागोनिते।
भक्ते षोडशधा शरान्तरधृते स्युः कर्कटेऽष्टौ छदाः
सर्वांस्तान् खन कर्णिकां त्यज निजायामौच्यकं स्यात् कजम् ॥३७११॥

अस्यार्थः—क्षेत्रस्याष्टमांशादष्टमांशवृद्ध्या च वृत्तपंचके कृते सति वृत्तपंचकमध्ये प्रथमे कर्णिका द्वितीये षोडश केशराणि स्युः। अंतिमे पंचमवृत्ते स्वस्य अंगुलत्रयात्मकस्य एकोनविंशत्यंशे ऊने १।२।०।६ ऊनिते सति षोडश स्थानेषु दिक्षु विदिक्षु तदन्तराले च

समतया विभाजिते तस्मिन् वृत्ते पंचकचिह्नान्तरे दिशि विदिशि कर्कटे धृते सति परावर्तनेन अष्टौ पत्राणि जायन्ते। सर्वान् तान् केसरादीन् केसरवृत्ततृतीयचतुर्थवृत्तानि पत्राणि च हे विद्वन्! खन, कर्णिकां त्यज मा खन। कीदृशीम् निजः स्वीय आयामो विस्तारः, तत्तुल्यं औच्यकं यस्य तत्। कजं पद्मकुण्डं बहिर्वृत्तमार्जनेन स्यादित्यर्थः।

अथाष्टास्त्रिकुण्डं तत्रैव–

क्षेत्रे जिनांशे गजचन्द्रभागैः स्वाष्टाक्षिभागेन युतैस्तु वृत्ते।
विदिग्दिशोरन्तरतोऽष्टसूत्रैस्तृतीययुक्तैरिदमष्टकोणम् ॥३७१२॥

अस्यार्थः–क्षेत्रे चतुर्विंशतिभागे कृते सति अष्टादशभागैः स्वीयाष्टाविंशांशेन युतैः कर्कटेन वृत्ते कृते सति अर्थात् व्यासो द्विगुणितः दिग्विदिशो र्मध्ये कृताष्टचिह्नेभ्यः अष्टभुजैस्तृतीयमिलितैः चिह्नद्वयं विहाय तृतीयचिह्नेन योजिते अष्टकोणं वृत्तमार्जनात् मध्यस्याष्टदोःखण्डमार्जनाच्च भवतीत्यर्थः।

अथ प्रकारान्तरेण समाष्टभुजमष्टास्त्रिकुण्डं तत्रैव–

मध्ये गुणे वेदयमैः २४ विभक्ते शक्रैर्निजर्ष्यब्धिलवेन युक्तैः।
वृत्ते कृते दिग्विदिशोऽन्तराले लग्नैर्भुजैः स्यादथवाष्टकोणम्॥१३॥

मध्यसूत्रे चतुर्विंशतिभक्ते स्वसप्तचत्वारिंशदंशसहितैः चतुर्दशभिः १४।२।३ व्यासार्धेन मण्डले कृते तत्र दिग्विदिशो र्मध्ये कृताष्टचिह्नेषु सूत्रैः परस्परलग्नैः अष्टकोणं कुण्डं वृत्तमार्जनाद् भवतीत्यर्थः। कुण्डेषु क्षेत्रसाधनोपपत्तौ चतुरस्रसिद्धम्। योनौ पंचलिक्षाचतुष्टययूकाधिकम्। वृत्तार्धे त्वेवम्। त्र्यस्त्रिकुण्डे किंचिद् भुजवैषम्यम्। वृत्तेऽतिस्वल्पमन्तरम्। षडस्त्रिकुण्डे यूकात्रयषड्यवाधिकम्। अथवा व्यासो यूकान्यूनः। षडस्रं सिद्धम्। पद्मनिभं पूर्णफलम्। अष्टास्त्रिकुण्डे यूकैकान्तरम्। अतः सर्वेष्वपि स्वल्पान्तरत्वात् ध्वजायस्य सिद्धत्वात् न दोषः।

यच्च सिद्धान्तशेखरे–

स्थापने सर्वकुण्डानां ध्वजायः सर्वसिद्धिदः।
शतांशो वाधिकं न्यूनं ह्रासवृद्धो न दूषयेत्॥
आयदोषविशुद्धयर्थं क्रियते शास्त्रकोविदैः ॥३७१४॥ इति।

अथ खातलक्षणं कंठलक्षणं च कुण्डसिद्धौ–

खातं क्षेत्रसमं प्राहुरन्ये तु मेखलां विना।
कण्ठो जिनांशमानं स्यादर्कांश इति चापरे ॥३७१५॥

अस्यार्थः–कुण्डखननं क्षेत्रसमम्। कुण्डस्य यावान् विस्तारः आयामश्च तावत् खननमायमेखलासहिते कुण्डे कार्यम्। योन्यादिकुण्डेषु विस्तारायामयो र्नानात्वात्। चतुरस्रस्यैवायामविस्तारौ ग्राह्यौ। अन्ये तु– मेखलां वर्जयित्वा भूमावेव खननं कार्यमित्याहुः। कण्ठोऽपि क्षेत्रचतुर्विंशत्यंशमानः। खाताद् वहिः समन्तात् एकांगुलमितः। अन्ये तु क्षेत्रस्य द्वादशांशपरिमितं प्रहारित्यर्थः।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—

खातः कुण्डप्रमाणं स्यादूर्ध्वमेखलया सह ।

पंचत्रिमेखलोच्छ्रायं ज्ञात्वा शेषमधः खनेत् ॥३७१६॥

कालोत्तरे—

खातबाह्येंगुलः कण्ठः सर्वकुण्डेष्वयं विधिः ।

चतुर्विंशतिमो भागः कुण्डानामंगुलं स्मृतम् ॥३७१७॥

सोमशंभुरपि—

बहिरेकांगुलः कण्ठः स कण्ठो द्व्यंगुलः क्वचित् । इति ।

अथ मेखला कुण्डसिद्धौ—

अधमा मेखलैका स्यात् मध्यमं मेखलाद्वयम् ।

श्रेष्ठास्तिस्रोऽथवा द्वित्रिपंचस्वधमतादिकम् ॥३७१८॥

क्रियासारे—

नाभियोनिसमायुक्तं कुण्डं श्रेष्ठं त्रिमेखलम् ।

कुण्डं द्विमेखलं मध्यं नीचं स्यादेकमेखलम् ॥३७१९॥

सोमशंभौ विशेषः—

त्रिमेखलं द्विजे कुण्डं क्षत्रियस्य द्विमेखलम् ।

मेखलैकं तु वैश्यस्य प्रोक्तं कुण्डविशारदैः ॥३७२०॥

कुण्डसिद्धौ—

अष्टधा विहितकुण्डशरांशैः संखनेद् भुवमुपर्यनलांशैः ।

मेखला विरचयेदपि तिस्रः षड्गजार्कलवविस्तृतिपिण्डाः ॥३७२१॥

अष्टधा भक्तस्य क्षेत्रस्य यः त्र्यंगुलात्मको भागस्तादृशैः पंचभिर्भागै र्भुवं खनेत् । उपरि तादृशैस्त्रिभि र्भागैः तिस्रो मेखला रचयेत् । कीदृश्यः षडष्टद्वादशांशाः, चतुस्त्रिंश-द्व्यांगुलमिताः तैः तुल्यं विस्तारो यासां ता इत्यर्थः ।

शारदातिलके—

कुण्डानां यादृशं रूपं मेखलानां च तादृशम् ।

कुण्डानां मेखलास्तिस्रो मुष्टिमात्रे तु ताः क्रमात् ॥३७२२

उत्सेधायामतो ज्ञेया द्व्येकार्धांगुलसंमिताः ।

अरत्निमात्रे कुण्डे स्युस्ताः त्रिद्व्येकांगुलात्मिकाः ॥३७२३॥

एकहस्तमिते कुण्डे वेदाग्निनयनांगुलाः ।

मेखलानां भवेदन्तः परितो नेमिरंगुलात् ॥३७२४॥

एकहस्तस्य कुण्डस्य वर्धयेत् तत्क्रमात् सुधीः ।
दशहस्तान्तमन्येषामर्धांगुलवशात् पृथक् ॥३७२५॥
कुण्डे द्विहस्ते ता ज्ञेया रसवेदगुणांगुलाः ।
चतुर्हस्तेषु कुण्डेषु वसुतर्कयुगांगुलाः ॥३७२६॥
कुण्डे रसकरे ताः स्यु र्दशाष्टत्वंगुलान्विताः ।
वसुहस्तमिते कुण्डे भानुपंक्त्यष्टकांगुलाः ॥३७२७॥
दशहस्तमिते कुण्डे मनुभानुदशांगुलाः ।
विस्तारोत्सेधतो ज्ञेया मेखला सर्वतो बुधैः ॥३७२८॥

क्रियासारे–

प्रधानमेखलोत्सेधमुक्तमत्र नवांगुलम् ।
तद्बाह्यमंगुलोत्सेधं पंचांगुलमिदं स्मृतम् ॥३७२९॥
तद्बाह्यमंगुलोत्सेधमंगुलद्वितयं क्रमात् ।
चतुस्त्रिद्व्यंगुलव्यासो मेखलात्रितयस्य तु ॥३७३०॥

प्रयोगसारे–

सात्त्विकी मेखला पूर्वा विस्तृत्या द्वादशांगुला ।
द्वितीया राजसी प्रोक्ता मेखलाष्टांगुलैस्ततः ।
तृतीया मेखला ख्याता तामसी चतुरंगुला ॥३७३१॥

अपरं च कुण्डसिद्धौ–

रसांशकादुन्नतविस्तृताश्च तिस्रोऽथवैकायुगभागतुल्याः ।
पंचाथवा षट् शरवेदरामद्व्यंशैस्तु ताः स्यु र्नवभागपिण्डाः॥३७३२॥
आद्या परस्तात् शरभागहीना जिनांशकंठाद् बहिरेव सर्वाः ।
कुण्डानुकारा अपि मेखला स्युरर्कांगभागौच्यततस्तु नाभिः ॥३७३३॥

अथ नाभिः–

कुण्डाकारो नाभिरंभोजसाम्यो वाब्जेयं नेनांशहानि र्दलाग्रे ।
शेषक्षेत्रे वह्निवृत्तैः समेते स्यु र्वैकर्णी केशराः पत्रकाणि ॥३७३४॥

अस्यार्थः–अथवा क्षेत्रषडंशादुन्नताः षडंशेनैव विस्तृताः तिस्रो मेखला भवन्ति । अथवैकमेखला क्षेत्रचतुर्थांशेनोच्चा विस्तृता च स्यात् । अथवा पंचमेखलाः कार्याः षट्पंचचतुस्त्रिद्व्यंगुलैः पारिभाषिकै र्विस्तृता । पंचमेखलानामुदाहरणं च । तत्रादिमान-भागपिण्डकौच्यं यस्याः सा पारिभाषिकनवांगुलोच्चा स्यात् ।

अपरा मेखला तस्याः शरांशः पंचमांशस्तेन हीना भवन्ति । यथा एकहस्ते कुण्डे प्रथममेखला नवांगुलोच्चा । अस्याः पंचमांशः १।६।३।१५ एष एकद्वित्रिचतुर्गुणः प्रथममेखलामाने न्यूनः कृतः सन् तदधस्थानां मेखलानामौच्यं स्यात् । यथेदं द्वितीयमेखलाया औच्यं ७।१।४।६।३ एवमपराणामपि द्रष्टव्यम् । ताः मेखलाः सर्वा क्षेत्रचतुर्विंशतिभागमितात् कण्ठात् बहिरेव भवन्ति । कीदृश्यः कुण्डानुकाराः । योन्यादिकुण्डेषु योन्याद्याकारा एव स्युः । अपि एवार्थे । अथ नाभिः । नाभिर्द्वादशांशेनोच्चः षडंशेन विस्तृतः कुण्डानुकारः । यादृशं चतुरस्राद्याकारवत् कुण्डं तादृशो नाभिः । चतुरस्राद्याकारवान् । अथवा नाभिः अम्भोजसमः कमलाकारः कार्यः । अयं नाभिः अब्जे पद्मकुण्डे न भवति । तत्र नाभिरूपायाः कर्णिकायाः सत्वात् । अथ पद्माकारकरणं नाभेरुच्यते । दलाग्रे दलाग्रनिमित्तं द्व्यंगुलविस्तारायामे नाभौ इनांशहानिः द्वादशांशत्यागः कार्यः । शेषं उर्वरितं क्षेत्रं तस्मिन् वृत्तत्रयं समभागेन कार्यम् । तत्र मध्यचिह्नात् प्रथमं वृत्तं कर्णिकाद्वितीयं वृत्तं केशरस्थानं तृतीये पत्राणि कार्याणि । तद्बहिरवशिष्टद्वादशांशेन विस्तृतिः ।

यदुक्तं तंत्रान्तरे—

चतुर्भिरंगुलैः स्वस्याश्चोन्नतिश्च समंततः ।
तस्याश्चोपरि वप्रः स्याच्चतुरंगुलमुन्नतः ॥३७३५॥
अष्टाभिरंगुलैः सम्यक् विस्तृतं तु समंततः ।
तस्योपरि पुनः कार्यो वप्रः सोऽपि तृतीयकः ।
चतुरंगुलविस्तीर्णश्चोन्नतश्च तथाविधः ॥३७३६॥

अन्यच्च शारदायाम्—

योनिकुण्डे योनिमब्जकुण्डे नाभिं विवर्जयेत् ।
नाभिक्षेत्रं त्रिधा भित्वा मध्ये कुर्वीत कर्णिकाम् ॥३७३७॥
बहिरंशद्वयेनाष्टौ पत्राणि परिकल्पयेत् ।
कुण्डानां कल्पयेदन्तर्नाभिमम्बुजसन्निभम् ॥३७३८॥
तत्तत् कुण्डानुरूपं वा मानमस्य निगद्यते ।
मुष्ट्यरत्न्येकहस्तानां नाभिरुत्सेधतारतः ।
द्वित्रिवेदांगुलोपेतो कुण्डेष्वन्येषु वर्धयेत् ॥३७३९॥ इति ।

योनिलक्षणं कुण्डसिद्धौ—

योनि र्व्यासार्धदीर्घा विततिगुणलवादायताब्धिद्विभागा
तुंगा तावत् समंतात् परिधिरुपरिगा तावदग्रेण रम्यम् ।
निम्नं कुण्डं विशन्ती वलयदलयुगेनान्विताऽधो विशाला
मूलात् सच्छिद्रनालान्तरवररुचिराश्वत्थपत्राकृतिः सा ॥३७४०॥

अस्यार्थः—योनिव्यासार्धेन दीर्घा विस्तारतृतीयांशेन विस्तीर्णा चतुर्विंशांशेनोच्चा चतुर्विंशांशेन परिधिर्मेखला यस्याः सा तावतैवाग्रेण चतुर्विंशांशेन निम्नं यथा स्यात् तथा कुण्डं प्रविशन्ती वलयदलयुगेन वृत्तार्धद्वयेन युता अधो विशाला अर्थादुपरि स्वल्पसंकोचवती मूलात् सकाशान्मध्ये सच्छिद्रं नालं यस्याः सा पद्मनालाकारत्वात् नालोक्तिः । अन्तर्मध्ये अवटो गर्त्तः घृतधारणार्थः यद् वृत्तेन रुचिरा सुन्दरा सा अश्वत्थपत्राकृतिर्यस्या इत्यर्थः ।

शारदायाम्—

होतुरग्रे योनिरासामुपर्यश्वत्थपत्रवत् ।
मुष्ट्यरत्न्येकहस्तानां कुण्डानां योनिरीरिता ॥३७४१॥

षट् चतुर्द्व्यंगुलायामविस्तारोन्नतिशालिनी ।
एकांगुलं तु योन्यग्रं कुर्यादीषदधोमुखम् ॥३७४२॥

एकैकांगुलतो योनिं कुण्डेष्वन्येषु वर्धयेत् ।
यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्धयेत् ॥३७४३॥

स्थलादारभ्य नालं स्यात् योन्या मध्ये सरन्ध्रकम् ।
नार्पयेत् कुण्डकोणेषु योनिं तां तंत्रवित्तमः ॥३७४४॥ इति ।

त्रैलोक्यसारे—

दैर्घ्यात् सूर्यांगुला योनिस्त्र्यंशोना विस्तरेण तु ।
एकांगुलोच्छ्रिता सा तु प्रविष्टाभ्यन्तरे स्थिता ॥३७४५॥

कुम्भद्वयार्द्धसंयुक्ता वाश्वाथदलवन्मता ।
अंगुष्ठमेखलायुक्ता मध्ये त्वाज्यधृतिः स्थिता ॥३७४६॥

अत्र ग्रन्थगौरवभयाद् दशहस्तकुण्डान्तं प्रत्येकं योनिं तदग्रादीनां मानञ्च नोक्तम् । तथापि किंचिल्लिख्यते—

आयामश्चार्धविस्तृत्या सत्र्यंशोनोऽथ विस्तृतिः ।
विस्तारतुर्योन्नतिः स्यादुन्नत्यर्धं तदग्रकम् ॥३७४७॥

एकैकांगुलतो योनिं कुण्डेष्वन्येषु वर्धयेत् ।
यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्धयेत् ॥३७४८॥ इति ।

इयं च योनिः कुण्डाकारैव होतुरग्रे । परं च वेदी यथा पृष्ठभागे न पतति, होतुश्च प्राङ्मुखता उदङ्मुखता वा भवति तथा केषांचित् पश्चिममेखलोपरि केषांचित् दक्षिणमेखलोपरि स्थापनीया ।

तदुक्तं सोमशंभौ, त्रैलोक्यसारे च–

पूर्वाग्नियाम्यकुण्डानां योनिः स्यादुत्तरानना ।
पूर्वानना तु शेषाणामैशान्येऽन्यतरा तयोः ।
होमकृत्पुरतः स्थाप्या दक्षिणे पश्चिमेऽपि वा ॥३७४९॥

क्रियासारे–

स्थिरार्चने चरार्चायां नित्ये हवनकर्मणि ।
कुण्डमेककरं वृत्तं मेखला कंठनाभिमत् ।
चतुरस्रं च दीक्षायां शांतौ पुष्टौ शुभं समम् ॥३७५०॥

सिद्धान्तशेखरेऽपि–

हस्तमात्राणि सर्वाणि दीक्षासु स्थापनादिषु ।
नित्यं होमे च साहस्रे कुर्यात् कुण्डानि सर्वदा ॥३७५१॥
त्यक्त्वा सर्पस्य गात्रं च शिरोदेशं प्रयत्नतः ।
कुण्डानां खननं विद्वान् विदधीत यथातथम् ॥३७५२॥
शिरोघाते भवेन्मृत्यु गात्रे च पितृघातनम् ।
पृष्ठे च दुःखसंभूतिः क्रोडे सर्वार्थसाधनम् ॥३७५३॥

वास्तोरंगनिर्णयो यथा–

वास्तुप्रमाणेन तु गात्रकेन वामेन शेते खलु नित्यकालम् ।
त्रिभिस्तु मासैः परिवर्त्य भूमौ तं वास्तुनागं प्रवदन्ति सन्तः॥३७५४॥
भाद्रादिके वासवादिक्शिरः ।
स्यान्मार्गादिकेषु त्रिषु याम्यमूर्धा ।
प्रत्यक् शिरा स्यात् खलु फाल्गुनादौ
ज्येष्ठादिकौवेरशिराः स नागः ॥३७५५॥

अथ कुण्डावयवकथनम्–

कुण्डरूपं तु जानीयात् परमं प्रकृते र्वपुः ।
प्राच्यां शिरः समाख्यातं बाहू दक्षिणसौम्ययोः ।
उदरं कुण्डमित्युक्तं योनिः पादौ च पश्चिमे ॥३७५६॥

क्रियासारेऽपि–

पूर्वोक्तलक्षणैर्युक्तं कुण्डं तालप्रमाणकम् ।
उक्तं चरार्चने चैव न स्थिरे तु चतुर्मुख ॥३७५७॥

१. तालं वितस्तिः ।

कुण्डमत्रोक्तमार्गेण निर्मायाथ सुलक्षणम् ।
क्षत्रियोऽपि समृद्धो वा शूद्रस्ताम्रेण बंधयेत् ॥३७५८॥
तदलाभे त्विष्टिकाभिः संबध्य सुदृढं यथा ।
पूर्वोदितप्रकारेण लेपयेत् सुधया तथा ॥३७५९॥
ताम्रेण लक्षणोपेतं कुर्यान् मृत्तिकयापि वा ।
एतत्कुण्डं चरार्चायां गृह्णीयान्न स्थिरार्चने ॥३७६०॥
अम्लेन ताम्रकं कुण्डं मृण्मयं गोमयांभसा ।
सौधं च सुधया सम्यक् शोधयेदमरर्षभ ॥३७६१॥
मृण्मयानां तु कुण्डानां परितः संधिभिः सह ।
रक्तमृच्छालिपिष्टाभ्यां भूषयेद् दृक्प्रियं यथा ॥३७६२॥ इति ।

अत्रोक्तकुण्डानां न्यूनाधिक्येऽन्यथाभावे वा दोषमाह विश्वकर्मा–

खाताधिके भवेद् रोगी हीने धेनुधनक्षयः ।
वक्रकुण्डे तु सन्तापो मरणं छिन्नमेखले ॥३७६३॥
मेखलारहिते शोकोऽभ्यधिके वित्तसंक्षयः ।
भार्याविनाशनं कुण्डं प्रोक्तं योन्या विनाकृतम् ।
अपत्यध्वंसनं प्रोक्तं कुण्डं यत् कण्ठवर्जितम् ॥३७६४॥ इति ।

क्रियासारेऽपि–

न्यूनाधिकप्रमाणं यत् कुण्डं जर्जरमेखलम् ।
शृंगाररहितं यच्च यजमानविनाशकृत् ॥३७६५॥ इति ।

आगमान्तरेऽपि–

मानाधिके भवेन्मृत्यु र्मानहीने दरिद्रता । इति ।

वसिष्ठसंहितायामपि–

अनेकदोषदं कुण्डमत्र न्यूनाधिकं यदि ।
तस्मात् सम्यक् परीक्ष्येदं कर्तव्यं शुभमिच्छता ॥३७६६॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि–

मानहीने महाव्याधिरधिके शत्रुवर्धनम् ।
योनिहीने त्वपस्मारो वाग्दण्डः कण्ठवर्जिते ॥३७६७॥

जयद्रथयामलेऽपि–

सूत्राधिके सुहृद्द्वेषो मानहीने दरिद्रता ।
वाग्रोधः कण्ठहीने स्यादसिद्धि र्न्यूनखातके ॥३७६८॥
अधिके वासुरो भोगो मानेनाधिकमेखले ।
व्याधयः संप्रवर्धन्ते वीतोष्ठे स्यादपस्मृतिः ।
उच्चाटः स्फुटिते छिद्रसंकुले वाच्यता भवेत्॥३७६९॥ इति ।

पूर्वोक्तः तत्तद्दिशिकुण्डकरणे एव ज्ञेयः ।

तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे–

योन्याख्यमुच्यते कुण्डमाग्नेय्यामुत्तरामुखम् ।
प्रजावृद्धौ च तापे स्यादर्धचन्द्रमथोच्यते ॥३७७०॥
याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुखं सदा ।
नैर्ऋत्ये त्र्यस्रिकुण्डं स्याद् विद्वेषे पूर्ववक्त्रकम् ॥३७७१॥
वृत्तं कुण्डमथो वक्ष्ये वारुण्यां शांतिके हितम् ।
षडस्रमुच्यते कुण्डं वायावुच्चाटने पटुः ॥३७७२॥
पद्मकुण्डमथो वक्ष्ये सौम्ये तत्पुष्टिवर्धनम् ।
वक्ष्ये कुण्डमथाष्टास्रमीशान्ये सर्वकामदम् ॥३७७३। इति ॥

क्रियासारे तु–

दिग्देशकुण्डनिर्मुक्तो योऽनलो लौकिको हि सः ।
तस्माद् दिग्देशकुण्डानि संग्राह्यान्युक्तलक्षणैः ।
कुण्डमेवंविधं न स्यात् स्थंडिलं च समाश्रयेत् ॥३७७४॥

वसिष्ठसंहितायामपि–

इषुमात्रं स्थण्डिलं वा संक्षिप्ते होमकर्मणि ।

क्रियासारे तु स्थंडिले देशविशेषोऽप्युक्तः–

होमोऽष्टदिक्षु प्राक्प्रंहः प्रागुदक्प्रवणोऽथवा ।
उदक्प्रंहः प्रदेशो वा स्थंडिलस्य स्थलं स्मृतम् ॥३७७५॥

पिंगलामते तु विशेषः–

होमे प्रशस्यते कुण्डं स्थंडिलं वा हसन्तिका । इति ।

वायवीयसंहितायामपि–

अथाग्निकार्यं वक्ष्यामि कुण्डे वा स्थंडिलेऽपि वा ।
वेद्यां वाप्यायसे पात्रे मृण्मये वा नवे शुभे ।
स्थंडिलं बालुकाभि र्वा रक्तमृद्रजसापि वा ॥३७७६॥

शारदायामपि–

नित्यं नैमित्तिकं होमं स्थंडिले वा समाचरेत् ।
हस्तमात्रेण तत् कुर्याद् बालुकाभिः सुशोभनम् ।
अंगुलोत्सेधसंयुक्तं चतुरस्रं समन्ततः ॥३७७७। इति ॥

कुण्डसिद्धावपि–

अथवापि मृदा सुवर्णभासा करमानं चतुरंगुलोच्चमल्पे ।
हवने विदधीत चांगुलोच्चं विबुधस्थंडिलमेव वेदकोणम्॥३७७८॥इति।

तंत्रान्तरे–

मृदा स्वर्णाभया वापि सूक्ष्मबालुकयापि वा ।
अंगुलोच्चं तथा वेदांगुलोच्चं स्थंडिलं विदुः ॥३७७९॥
चतुःकोणमुदक्प्राचीप्लवमल्पाहुतौ शुभम् ।
पंचांगुलोच्चमथवा वस्वंगुलसमुन्नतम् ॥३७८०। इति ॥
यथोक्तानि विधायाथ कुण्डानि मण्डलान्यथ ।
रचयेदुक्तमार्गेण यागपूर्त्तिकराणि च ॥३७८१॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सरसंग्रहे कुण्डस्थण्डिलादिरचनाविधि र्नाम
एकविंशः पटलः ॥२१॥

द्वाविंशः पटलः ।

मण्डलानि च शारदायाम्–

अथ वेद्यां प्रकुर्वीत मण्डलानि यथाक्रमात् ।

आदौ सर्वतोभद्रम्–

चतुरस्रे चतुष्कोष्ठे कर्णसूत्रसमन्विते ।
चतुर्ष्वपि च कोष्ठेषु कर्णसूत्रचतुष्टयम् ॥३७८२॥

वास्तुमण्डलोक्तरीत्या कर्णसूत्रद्वयसहितं चतुष्कोष्ठयुक्तं चतुरस्रं कुर्यादित्यर्थः ।

मध्ये मध्ये यथा मत्स्या भवेयुः पातयेत् तथा।

पूर्वापरायते द्वे द्वे मंत्रो याम्योत्तरायते।

पातयेत् तेषु मत्स्येषु समं सूत्रचतुष्टयम् ॥३७८३॥ इति।

षोडशकोष्ठोत्पादनप्रकारमाह—चतुर्षु कोष्ठेषु कोणसूत्रचतुष्कं तथा दद्याद् यथा मध्ये मध्ये मत्स्या भवेयुः। मंत्री तेषु मत्स्येषु द्वे प्रागपरायते द्वे याम्योत्तरायते। इदं समं सूत्रचतुष्टयं पातयेदिति सम्बन्धः। एवं षोडशकोष्ठी संपन्ना भवतीयत्यर्थः।

पूर्ववत् कोणकोष्ठेषु कर्णसूत्राणि पातयेत्।

तदुद्भूतेषु मत्स्येषु दद्यात् सूत्रचतुष्टयम्।

ततः कोष्ठेषु मत्स्याः स्युस्तेषु सूत्राणि पातयेत् ॥३७८४॥

यावत् शतद्वयं मंत्री षट्पंचाशत् पदान्यपि।

तावत् तेनैव विधिना तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥३७८५॥ इति।

चतुःषष्टिकोष्ठोत्पादनप्रकारमाह— पूर्ववदित्यादिना। कोणगतचतुःकोष्ठेषु पूर्ववत् कर्णसूत्रचतुष्कं दत्वा तदुत्पन्नमत्स्यचतुष्केषु पूर्ववत् प्रागग्रे उदगग्रे च द्वे सूत्रे दद्यात्। एतत् सूत्रचतुष्कपातोत्पन्नांतरालकोष्टमत्स्यचतुष्के पुन द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे दद्यात्। एवं चतुःषष्टिकोष्ठानि संपद्यन्ते। तेनैव विधिनेत्यस्यायमर्थः। कोणकोष्ठचतुष्के पूर्ववत् कर्णसूत्रचतुष्टयं दत्वा तदुत्पन्नमत्स्यचतुष्के द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे दद्यात्। तत एततत्सूत्रचतुष्कोत्पन्नान्तरालकोष्ठमत्स्येषु षट् प्रागग्राणि षडुदगग्राणि दद्यात्। एवं षट् पंचाशदुत्तरशतद्वयकोष्ठानि संपद्यन्त इत्यर्थः।

षट्त्रिंशता पदै मंध्ये लिखेत् पद्मं सुलक्षणम्।

बहिः पंक्त्या भवेत् पीठं पंक्तियुग्मेन वीथिका।

द्वारशोभोपशोभास्रान् शिष्टाभ्यां परिकल्पयेत् ॥३७८६॥ इति।

कोष्ठानां विनियोगमाह—षट्त्रिंशतेति। पद्मलेखनप्रकारमनन्तरमेव वक्ष्यति। बहिरिति त्रिषु स्थानेष्वन्वेति। बहिः पङ्क्त्या परितः अष्टाविंशतिकोष्ठात्मिकया वक्ष्यमाणरीत्या पीठं कुर्यादित्यर्थः।

शास्त्रोक्तविधिना मंत्री ततः पद्मं समालिखेत्।

पद्मक्षेत्रस्य संत्यज्य द्वादशांशं बहिः सुधीः॥

तन्मध्यं विभजेद् वृत्तैस्त्रिभिः समविभागतः ॥३७८७॥

आद्यं स्यात् कर्णिकास्थानं केशराणां द्वितीयकम्।

तृतीयं तत्र पत्राणां मुक्तांशेन दलाग्रकम् ॥३७८८॥ इति।

पद्मकरणप्रकारमाह—शास्त्रेति। तत्र षट्त्रिंशत्पदात्मकं पद्मक्षेत्रं तद्दिक्सूत्रद्वयेन कर्णसूत्रद्वयेन चाष्टधा भेदितं वर्तते, तान्येव सूत्राणि यत्र मध्यसूत्राणि तत्र

प्रकारः। पद्मक्षेत्रायामं द्वादशधा विभज्य एकांशं सर्वतो बहिस्त्यजेत्। ततो दश भागान् षोढा विभज्य मध्ये सूत्रादि संस्थाप्य अंशद्वयेनैकं वृत्तं तदुपर्यंशद्वयेनापर तदुपर्यंशद्वयेनान्यदिति वृत्तत्रयं कुर्यात्। आद्यमित्याद्युक्तिस्तु वक्ष्यमाणांगावरणादीनां स्थानसूचनायेत्यवधेयम्। मुक्तांशेनेति द्वादशांशेन तत्र वृत्तमग्रे वक्ष्यतीत्यर्थः।

बाह्यवृत्तान्तरालस्य मानं यद्विधिना सुधीः।
निधाय केसराग्रेषु परितोऽर्धनिशाकरान् ॥३७९२॥
लिखित्वा संधिसंस्थानि तत्र सूत्राणि पातयेत्।

बाह्येति। बाह्यं यत्पत्रवृत्तं तस्य यदन्तरालं तस्य मानेन सुधीः केसराग्रेषु केसरवृत्ताग्रे निधाय सूत्रादिमिति शेषः। विधिना परित उभयतः पद्ममध्यसूत्राणामिति शेषः। अर्धनिशाकरान् लिखित्वा संधिसंस्थानि अर्द्धनिशाकरसन्धिसंस्थानि चत्वारि सूत्राणि तत्र पातयेदिति संबन्धः। मानं यद्विधिनेति पाठे बाह्यवृत्तान्तरालस्य यन्मानं तेन विधिना तेन मानेनेत्यर्थः। तथायं विधिः—यत्र वृत्तान्तरालमितसूत्रं केसरवृत्तदिक्सूत्रसंपाते संस्थाप्य तद्दिक्सूत्रोभयतः यत्र वृत्तस्पर्धी केसरवृत्तलग्नांतद्वयं अर्धचन्द्रं लिखेत्। एवं चतुर्षु दिक्सूत्रेषु चतुर्षु कोणसूत्रेषु च कृतेऽष्टावर्धचन्द्रा जायन्ते। एतच्च केसराग्रेष्विति बहुवचनादेव लभ्यते। यतोऽष्टपत्रमध्येऽष्टौ केसरस्थानानि ततोऽष्टदल सिद्धिरिति। ततोऽर्धचन्द्रयोः परस्परसंपातरूपाष्टसंधिषु सम्मुखीनयोरेकैकं सूत्रं दद्यात्। एवमष्टपत्राणामप्यष्टौ सीमारेखा उत्पद्यन्ते। संध्यधोवर्त्तिसीमारेखोभयतः स्थितोऽर्धनिशाकरांशो मार्जनीय इति।

दलाग्राणां च यन्मानं तन्मानाद् वृत्तमालिखेत् ॥३७९३॥
तदन्तरालतन्मध्यसूत्रस्योभयतः सुधीः।
आलिखेद् बाह्यहस्तेन दलाग्राणि समन्ततः ॥३७९४॥ इति।

चतुर्थवृत्तमाह—दलाग्राणां यन्मानं बहिंस्त्यक्त्वा द्वादशांशरूपं तन्मानं चतुर्थं वृत्तं कुर्यात्। दलाग्रकरणप्रकारं तु—तदिति। तदन्तराले कृतदलाग्रवृत्तान्तराले। तन्मध्यसूत्रस्य पत्रमध्यसूत्रस्योभयतः बाह्यहस्तेन समंततो दिक्षु विदिक्ष्वपि दलाग्राणि सुधीरालिखेदिति संबन्धः। तत्र प्रकारः— चतुर्थवृत्तान्तराले पत्रमध्यसूत्रोभयतः संधिसूत्रस्याग्रे सूत्रादि निधाय मध्यवृत्ततः दलाग्रवृत्तपत्रमध्यसूत्रसंपातपर्यन्तं सूत्रद्वयं दद्यात्। तत्र सूत्रप्रान्त एकः, पत्रस्पर्शी द्वितीयः। दलाग्रमध्यसूत्रसंपातस्पर्शी सूत्रद्वयाग्रभागश्च परस्पराभिमुखो यथा स्यादित्येतदर्थो बाह्यहस्तेनेत्युक्तः।

तत्र कर्णिकावृत्तं त्यक्त्वा बाह्यस्थत्रीणि वृत्तानि पद्मपत्रमध्यरेखाश्च सम्यक मार्जयेत्। यथाष्टदलपद्मं दृष्टिमनोहरं दृश्यत इत्यर्थः।

दलमूलेषु युगशः केसराणि प्रकल्पयेत्।
एतत् साधारणं प्रोक्तं पंकजं तंत्रवेदिभिः ॥३७९५॥

पदानि त्रीणि पीठार्थं पीठकोणेषु मार्जयेत् ।
अवशिष्टैः पदैर्विद्वान् गात्राणि परिकल्पयेत् ॥३७९६॥

केसरप्रकारमाह– दलेति । कर्णिकावृत्तस्पर्शी संधिगतपत्रसीमासूत्रान्तराले पत्रमध्यसूत्रस्योभयतः एकैकस्मिन् पत्रे द्वौ द्वौ केसरौ कर्णिकावृत्तलग्नमूलौ केसरवृत्तलग्नाग्रौ अग्रे किंचित् स्थूलौ परस्परसंमुखौ कुर्यात् । उपसंहरति-एतदिति । यत्र कुत्रापि पंकजं कुर्यादिति वक्ष्यति तत्रायं प्रकारो ज्ञेय इति ।

पदानि वीथीसंस्थानि मार्जयेत् पंक्त्यभेदतः ।
दिक्षु द्वाराणि रचयेद् द्विचतुःकोष्ठकैस्ततः । ॥३७९७॥

पीठं कुर्यादिति यदुक्तं तत्प्रकारमाह-पदानीति । पीठार्थं स्थापितपंक्तौ एकैकं कोणकोष्ठं तदुभयपार्श्ववर्तिकोष्ठद्वयं च । एवं त्रीणि कोष्ठानि पदार्थं मार्जयेत् । अवशिष्टैश्चतुर्भि श्चतुर्भिः पदैः पीठगात्राणि कल्पयेत् । वीथ्यर्थं स्थापितपंक्तिद्वयस्यैकाकारेण मार्जनं कार्यम् । द्वाराण्याह-दिक्ष्विति । द्वाराद्यर्थं परितः स्थापितपंक्तिद्वयमध्ये चतुर्दिक्षु द्वारचतुष्टयार्थं आंतरपंक्तिस्थं मध्यसूत्रोभयपार्श्ववर्त्तिकोष्ठद्वयं तथा बाह्यपंक्तिस्थमध्यसूत्रपार्श्ववर्त्तिकोष्ठचतुष्टयं मार्जयेत् । एवं चत्वारि द्वाराणि स्युरित्यर्थः ।

पदैस्त्रिभिरथैकेन शोभाः स्यु र्द्वारपार्श्वयोः ।

शोभामाह–पदैरिति । अंतःपंक्तिस्थानि द्वारपार्श्वद्वयगतानि त्रीणि कोष्ठानि बाह्यपंक्तिस्थद्वारपार्श्वद्वयगतमेकैकं कोष्ठं मार्जयेदेवमष्टौ शोभाः स्युरित्यर्थः ।

उपशोभाः स्युरेकेन त्रिभिः कोष्ठैरनन्तरम् ॥३७९८॥

उपशोभा इति । अन्तःपंक्तिस्थं शोभालग्नमेकैकं कोष्ठं त्रीणि त्रीणि बाह्यपंक्तिकोष्ठानि मार्जयेत् । एवमष्टावुपशोभाः स्युरित्यर्थः ।

अवशिष्टैः पदैः षड्भिः कोणानां स्याच्चतुष्टयम् ।

अवशिष्टैरिति । उभय उपशोभालग्नान्यन्तःपंक्तिस्थानि त्रीणि कोष्ठानि बाह्यपंक्तिस्थानि च त्रीणि कोष्ठानि मार्जयेत् । एवं चत्वारः कोणाः स्युरित्यर्थः ।

रञ्जयेत् पंचभि र्वर्णै र्मण्डलं तन्मनोहरम् ॥३७९९॥
पीतं हरिद्राचूर्णं स्यात् सितं तंडुलसंभवम् ।
कुसुंभचूर्णमरुणं कृष्णं दग्धपुलाकजम् ॥३८००॥
बिल्वादिपत्रजं श्याममित्युक्तं वर्णपंचकम् ।

मण्डलरंजनार्थं पंचवर्णानाह–रञ्जयेदिति । पुलाकजं तुच्छधान्यजम् । 'पुलाकस्तुच्छधान्यं स्यात्' इति त्रिकाण्डशेषः । तत्प्रक्रिया यथा–तुच्छधान्यस्यार्धदाहावसरे

दुग्धादिना सिक्त्वा ततो वस्त्रगालितं चूर्णं कुर्यात् । श्यामशब्देनात्र हरिद्वर्णो गृह्यत इत्यर्थः ।

अंगुलोत्सेधविस्ताराः सीमारेखाः सिताः शुभाः ॥३८०१॥ इति ।

सीमारेखा इति सर्वाः ।

कर्णिकां पीतवर्णेन केसराण्यरुणेन च ।
शुभ्रवर्णेन पत्राणि तत्संधिः श्यामलेन च ।
रजसा रंजयेन्मंत्री........................॥३८०२॥ इति ।

महाकपिलपंचरात्रे तु विशेषः–

पीतं क्षितिस्तु विज्ञेया शुक्लमापः प्रकीर्तिता ।
तेजो वै रक्तवर्णं स्यात् श्यामं वायुः प्रकीर्तितः ॥३८०३॥

आकाशं कृष्णवर्णं तु पंचमं तु महामुने ।
सितेऽधिदेवता रुद्रो रक्ते ब्रह्माधिदेवता ॥३८०४॥

पीतेऽधिदेवता विष्णुः कृष्णे चैवाच्युतः स्मृतः ।
श्यामेऽधिदेवता नागः समाख्यातो मयाऽनघ ॥३८०५॥

शुक्लं गृहापदो हन्ति रक्तं क्रूरगणोद्भवम् ।
कृष्णं सर्वासुरोत्साहं नीलं वैनायकीं तथा ।
पैशाचीं राक्षसीं चैव निहन्ति हरितं रजः ॥३८०६॥

तस्माद् होमेऽभिषेके च यागे चैव विशेषतः ।
रचयेन्मण्डलं तैस्तु देवसंतुष्टिकारकम् ॥३८०७॥ इति ।

तंत्रान्तरे तु–

शक्तस्तु वाञ्छेद् यदि सिद्धिमुग्रां तद्वर्णरत्नैरिह मण्डलानि ।
आभूषयेन्मौक्तिकपुष्परागमाणिक्यनीलैर्हरितैश्च रत्नैः॥३३०८॥ इति ।

शारदायाम्–

यद्वा पीतैव कर्णिका............ ।
केसराः पीतरक्ताः स्युः अरुणानि दलानि च ।
संधयः कृष्णवर्णाः स्युः पीतेनाप्यसितेन वा ॥३८०९॥

रंजयेत् पीठगर्भाणि पादाः स्युररुणप्रभाः ।
गात्राणि तस्य शुक्लानि वीथीषु चतसृष्वपि ।
आलिखेत् कल्पलतिका दलपुष्पफलान्विता ॥३८१०॥ इति ।

पूर्वं श्वेतकमलमुक्त्वा रक्तकमलमाह–यद्वेति । विष्णुशक्तिशिवदीक्षादौ तु व्यवस्थितिविकल्पो ज्ञेयः । पीतैवेति–द्वितीयपक्षेऽपि । पक्षान्तरं समाप्य प्रकृतमाह–पीतेनेति स्वेच्छया विकल्पोऽयम् ।

पीठगर्भाणीति । कमलक्षेत्रकोणात् तत्र गर्भमेषामस्तीति गर्भं कोणस्थानम् । तस्येति पीठस्य । कल्पलतिकालेखनमुपदेशतो ज्ञेयम् । बहिरिति सर्वबाह्यकृतसीमा-रेखा या बाह्येत्यर्थः ।

वसिष्ठसंहितायां तु विशेषः–

पूर्वे पीतं सितं देयं पश्चिमेऽप्युत्तरे तथा ।
रक्तं तु दक्षिणे कृष्णं पाटलं वह्निसंस्थितम् ॥३८११॥
नैर्ऋत्ये नीलवर्णं तु वायव्ये धूम्रवर्णकम् ।
ईशे गौरं विनिर्दिष्टमष्टपत्रेष्वयं क्रमः ॥३८१२॥ इति ।

शारदायाम्–

वर्णैर्नानाविधैश्चित्रैः सर्वदृष्टिमनोहराः ।
द्वाराणि श्वेतवर्णानि शोभा रक्ताः समीरिताः ॥३८१३॥
उपशोभाः पीतवर्णाः कोणान्यसितभांसि च ।
तिस्रो रेखाः बहिः कुर्यात् सितरक्तासिताः क्रमात् ।
मण्डलं सर्वतोभद्रमेतत्साधारणं मतम् ॥३८१४॥ इति ।

अथ मण्डलान्तरम्, शारदायाम्–

चतुरस्रां भुवं भित्त्वा दिग्भ्यो द्वादशधा सुधीः ।
पातयेत् तत्र सूत्राणि कोष्ठानां दृश्यते शतम् ॥३८१५॥
चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं पश्चात् षट्त्रिंशताम्बुजम् ।
कोष्ठैः प्रकल्पयेत् पीठं पंक्त्यां नैवात्र वीथिका ।
द्वारशोभे यथा पूर्वमुपशोभा न दृश्यते ॥३८१६॥ इति ।

चतुरस्रामिति । अत्र मत्स्योत्पादनप्रकाराऽसम्भवात् दिग्भ्यो द्वादशधेत्युक्तिः । तत्र चतुर्दिक्षु द्वादशधा भूमिं विभज्य तत्र सूत्राणि पातयेदिति । तत्र प्रकारः–पूर्ववत् षोडशकोष्ठानि कृत्वा तेष्वेकं कोष्ठं समांशेन त्रेधा विभज्य तच्चिह्नद्वये प्रागग्रं सूत्र-

द्वयं दद्यात्। एतत्सूत्रद्वयसंपातोत्पन्नप्रतिकोष्ठमत्स्यद्वन्द्वेषु द्वे द्वे उदगग्रे सूत्रे। सूत्र एव उदगग्रामष्टसूत्रीं पातयेत्। ततः तत्सूत्रसंपातोत्पन्नकोष्ठमत्स्यद्वन्द्वे प्रागग्रे। एवं प्रागग्रां षट्सूत्रीं दद्यात्। एवमेकशतचतुश्चत्वारिंशत्कोष्ठानि जायन्ते। कोष्ठै-रिति पूर्वत्रान्वेति। अंबुजमुक्तप्रकारेणैव पंक्त्या पीठं पूर्ववदेव।

अवशिष्टैः पदैः कुर्यात् षड्भिः कोणानि तंत्रवित्।
विदध्यात् पूर्ववत् शेषमेवं वा मंडलं शुभम् ॥३८१५॥ इति।

अवशिष्टैरिति। तत्रैकं पदमन्तःपंक्तिस्थं पंचकोष्ठानि बाह्यपंक्तिस्थानि, एवं षड्भिरित्यर्थः। शेषमिति रंजनबाह्यरेखात्रयकरणादि।

अथ नवनाभमंडलम्—

चतुरस्रे चतुःषष्टिपदान्यारचयेत् सुधीः।
पादैश्चतुर्भिः पद्मं स्यान्मध्ये तत्परितः पुनः ॥३८१८॥

वीथीश्चतस्रः कुर्वन्ति मंडलान्तावसानिकाः।
दिग्गतेषु चतुष्केषु पंकजानि समालिखेत् ॥३८१९॥

विदिग्गतचतुष्कानि भित्त्वा षोडशधा सुधीः।
मार्जयेत् स्वस्तिकाकारान् श्वेतपीतारुणासितैः ॥३८२०॥

रजोभिः पूरयेत् तानि स्वस्तिकानि शिवादितः।
प्राक् प्रोक्तेनैव मार्गेण शेषमन्यत् समापयेत् ॥३८२१॥

नवनाभमण्डलमाह—चतुरस्रमिति। तत्र पूर्ववत् चतुःषष्टिकोष्ठानि कृत्वा तत्र मध्यचतुष्के पूर्ववत् पद्मं ततश्चतुर्दिक्षु अष्टाष्टकोष्ठिकाः चतस्रो वीथीः कुर्यात्। एवमष्टदिक्षु चतुष्कोष्ठाष्टकमवशिष्यते। तत् भित्वा षोडशधेति पूर्ववदेव मार्जयेत्। मार्जनप्रकारस्तु षोडशधेति कोष्ठेषु मध्यचतुष्कस्यैकैकं कोष्ठं परस्परविरुद्धैकैक-दिशि संमार्ज्य तत् संलग्नबाह्यवीथ्याः कोणकोष्ठादिकोष्ठत्रयं तद्दिक्स्थमेवं मार्ज-येत्। एवमुपशोभाकारवत् चत्वारि कोष्ठानि मार्जितानि स्वस्तिकाकाराणि संपद्यन्ते। केचित्वन्यथा मार्जनमाहुः—मध्यचतुष्कस्य पूर्वदिग्गतकोष्ठद्वयं पूर्वदिशि संमार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथिस्थं दक्षिणदिक्पर्यन्तं कोष्ठद्वयं मार्जयेत्। एवं दक्षिणदिग्गतकोष्ठ-द्वयं दक्षिणदिशि संमार्ज्य तल्लग्नं वीथिस्थं पश्चिमदिक्पर्यन्तं कोष्ठद्वयं पश्चिमदिशि संमार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथिस्थं उत्तरांतकोष्ठद्वयं मार्जयेत्। पक्षद्वयमपि सांप्रदायिक-मेव। शिवादित ईशानादित वायव्यान्तम्। शेषमिति पद्मरंजनादिवीथिषु कल्पलता-लेखनं रेखात्रयं च स्वस्तिकवर्जमिति। स्वस्तिकचतुरस्रं मार्जयेदित्यर्थः। चतुष्टयमिति एषां विषय उक्तः।

प्रयोगसारे नवनाभमुक्त्वा—

कलशानां नवानां तु प्रोक्तमेतत् परं पदम् ।
तथा प्राक् प्रस्तुते स्थाने पद्मं संकल्प्य पूर्ववत् ॥३८२२॥

वीथीस्तद्वच्च संयोज्य चतुष्टयचतुष्टये ।
स्वस्तिकान्यालिखेद् दिक्षु कोणकोष्ठानि मार्जयेत् ॥३८२३॥

पंचानां कलशानां च पदं स्यादेतदुत्तमम् ।
चतुरस्रोदितस्थाने तथा पद्मं समालिखेत् ॥३८२४॥

कलशस्यैकदेवत्वं प्रोक्तं साधारणं पदम् ।
नवनाभमिदं प्रोक्तं मण्डलं सर्वसिद्धिदम् ॥३८२५॥

पंचाब्जमण्डलं प्रोक्तमेतत् स्वस्तिकवर्जितम् ।
दीक्षायां देवपूजार्थं मण्डलानां चतुष्टयम् ।
सर्वतंत्रानुसारेण प्रोक्तमेतच्चतुष्टयम् ॥३८२६॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे मण्डलरचनाकथनं नाम
द्वाविंशः पटलः ॥२०॥

त्रयोविंशः पटलः ।

एवं मण्डलमारच्य दीक्षां दद्याच्च श्रेयसे ।

तच्च प्रपंचसारे—

अथ प्रवक्ष्ये विधिवन्मनूनां दीक्षाविधानं जगतो हिताय ।
यया विना नैव फलं लभन्ते तेषां विधिज्ञा अपि साधकेन्द्राः ॥३८२७॥

मनूनामिति । मनु र्मन्त्रः ।

मंत्रशब्दव्युत्पत्तिः पिंगलामते—

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबंधनात् ।
यतः करोति संसिद्धो मंत्र इत्युच्यते ततः ॥३८२८॥

यामलेऽपि—

मननात् त्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् ।
मंत्र इत्युच्यते सम्यक् मदधिष्ठानतः शिवे ॥३८२९॥ इति ।

सा तु चतुर्विधा मंत्रशिवशक्तिविष्णुभेदात् ।

यदुक्तमीशानशिवेन–

सामान्यभूता खलु मांत्रिकी स्याद् दीक्षा स्मृता मंत्रगणेषु तद्वत् ।
वर्णेषु चापि द्विजपूर्वकेषु स्यात् शैवशाक्तेष्वपि वैष्णवेषु ॥३८३०॥

तत्र शिव-विष्णु-शक्ति-दीक्षाः तत् तत् तन्त्रतो ज्ञेयाः ।

प्रयोगसारे च–

मंत्रमार्गानुसारेण साक्षात् कृत्वेष्टदेवताम् ।
गुरुश्चोद्बोधयेत् शिष्यं मंत्रदीक्षेति सोच्यते ॥३८३१॥

षडन्वयमहारत्नेऽपि–

त्रिविधा सा भवेद् दीक्षा प्रथमा आणवी परा ।
शाक्तेयी शांभवी चान्या सद्यो मुक्तिविधायिनी ॥३८३२॥

मंत्रार्चनासनस्थानध्यानोपायादिभिः कृता ।
दीक्षा सा त्वाणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तरूपिणी ॥३८३३॥

सिद्धौ स्वशक्तिमालोक्य तया केवलया शिशोः ।
निरुपायं कृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्तिता ॥३८३४॥

अभिसंधिं विनाऽऽचार्यः शिष्ययोरुभयोरपि ।
देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तिकारिणी ।
सेयं तु शांभवी दीक्षा शिवादेशनकारिणी ॥३८३५॥ इति ।

आणवी तु दशविधा तच्च षडन्वयमहारत्ने–

आणवी बहुधा दीक्षा शाक्तेयी शांभवी पुनः ।
एकधैवेति विद्वद्भिः पठ्यते शास्त्रकोविदैः ॥३८३६॥

आणवी बहुधा प्रोक्ता तद्भेदमधुनोच्यते ।
स्मार्ती मानसिकी योगी चाक्षुषी स्पर्शिनी तथा ॥३८३७॥

वाचिकी मांत्रिकी हौत्री शास्त्री चेत्यभिषेचिकी ।
विदेशस्थं गुरुः शिष्यं स्मृत्वा पाशत्रयं क्रमात् ॥३८३८॥

विश्लेष्य लयभोगांगविधानेन परे शिवे ।
सम्यग्योजनरूपैषा स्मार्ती दीक्षेति कथ्यते ॥३८३९॥

स्वसंनिधौ समासीनमालोक्य मनसा शुचिः ।
मलत्रयादुपायै र्या मोचिकी सा तु मानसी ॥३८४०॥

योगोक्तक्रमतो योगी शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।
गृहीत्वा तस्य चात्मानं स्वात्मना योजनात्मिका ॥३८४१॥

योगदीक्षेति सा प्रोक्ता मलत्रयविनाशिनी ।
शिवोऽहमिति निश्चित्य वीक्षणं करुणार्द्रया ॥३८४२॥

दृशा सा चाक्षुषी दीक्षा सर्वपापप्रणाशिनी ।
स्वयं परशिवो भूत्वा निःसंदिग्धमना गुरुः ॥३८४३॥

शिवहस्तेन शिष्यस्य समंत्रं मूर्ध्नि संस्पृशेत् ।
स्पर्शदीक्षेति सा प्रोक्ता शिवाभिव्यक्तिकारिणी ॥३८४४॥

शिवहस्तलक्षणं सोमशंभौ–

गन्धै र्मंडलकं स्वीये विदध्याद् दक्षिणे करे ।
विधिना चार्चयेद् देवमित्थं स्यात् शिवहस्तकम् ॥३८४५॥ इति ।

शिष्यवक्त्रं निजं वक्त्रं विभाव्य गुरुरादरात् ।
गुरुवक्त्रप्रयोगेण दिव्यं मंत्रादिकं शिशौ ।
मुद्रान्यासादिभिः सार्धं दद्यात् सेयं हि वाचिकी ॥३८४६॥

दीक्षा परा तथा मंत्रन्याससंयुक्तविग्रहः ।
स्वयं मंत्रतनु र्भूत्वा सक्रमं मंत्रमादरात् ॥३८४७॥

दद्यात् शिष्याय सा दीक्षा मांत्री मलविघातिनी ।
कुण्डे वा स्थंडिले वापि निःक्षिप्याग्नि विधानतः ॥३८४८॥

लययोगक्रमेणैव प्रत्यध्वानं यथाक्रमम् ।
मंत्रवर्णकलातत्त्वपदविष्टरमेव च ॥ ३८४९॥

शुद्धचर्थं होमरूपैषा हौत्री दीक्षा समीरिता ।
योग्यशिष्याय भक्ताय शुश्रूषार्चापराय च ॥३८५०॥

सार्धं शास्त्रपदा त्रय्या शास्त्री दीक्षेति सोच्यते ।
शिवं च शिवपत्नीं च कुंभे संपूज्य सादरम् ।
शिवकुंभाभिषेकात् सा दीक्षा स्यादभिषेचिकी ॥३८५१॥ इति ।

वायवीयसंहितायामपि–

शांभवी चैव शाक्ती च मांत्री चैव शिवागमे ।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना ॥३८५२॥

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात् संभाषणादपि ।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तो दीक्षा सा शांभवी मता ॥॥३८५३॥

शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।
गुरुणा योगमार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा ।
मांत्री क्रियावती दीक्षाकुंभमण्डलपूर्विका ॥३८५४॥ इति ।

दीक्षाशब्दव्युत्पत्तिः–

ददाति यस्मादिह दिव्यभावं मायामले कर्म च संक्षिणोति ।
सर्वं चतुर्वर्गफलं च यस्मात् तस्मात्तु दीक्षेत्यभिधानमस्याः ॥३८५५॥

दद्यात् क्षयमित्यनयोराद्यर्णमादायेयं निरुक्तिः ।

शारदायां च–

चतुर्विधा या संदिष्टा क्रियावत्यादिभेदतः ।
क्रियावती वर्णमयी कलात्मा वेधमय्यपि ॥३८५६॥

ताः क्रमेणैव कथ्यन्ते तंत्रेऽस्मिन् संप्रदायतः ।
देशिको विधिवत् स्नात्वा कृत्वा पूर्वाह्निकी क्रियाः ॥३८५७॥

यायादलंकृतो मौनी यागार्थं यागमण्डपम् ।
आचम्य विधिवत् तत्र सामान्यार्घं विधाय च ॥३८५८॥

अस्त्रमंत्रांबुभिः प्रोक्ष्य द्वारपूजां समाचरेत् ।
ऊर्ध्वोदुम्बरके विघ्नं महालक्ष्मीं सरस्वतीम् ॥३८५९॥

ततो दक्षिणशाखायां विघ्नं क्षेत्रेशमन्ततः ।
तयोः पार्श्वयुगे गंगायमुने पुष्पवारिभिः ॥३८६०॥

धातारं च विधातारं शंखपद्मनिधी तथा ।
देहल्यामर्चयेदस्त्रं प्रतिद्वारमिति क्रमात् ॥३८६१॥

अनंतरं देशिकेन्द्रो दिव्यदृष्टचवलोकनात् ।
दिव्यानुत्सारयेद् विघ्नानस्त्राद्भिश्चान्तरिक्षगान् ।
पार्ष्णिघातैस्त्रिभिर्विघ्नानिति विघ्नान् निवारयेत् ॥३८६२॥

किंचित् स्पृशन् वामशाखां देहलीं लंघयेद् गुरुः ।
अंगं संकोचयन्नन्तः प्रविशेद्दक्षिणांघ्रिणा ॥३८६३॥

नैर्ऋत्यां दिशि वास्त्वीशं ब्रह्माणं च समर्चयेत् ।
पंचगव्यार्घ्यतोयाभ्यां प्रोक्षयेद् यागमण्डपम् ॥३८६४॥

चतुष्पथान्तं तत् शुद्धिं विदध्याद् वीक्षणादिभिः ।

चतुष्पथान्तं मण्डपद्वारात् तोरणस्तंभहस्तमात्राव्यवहारभूः 'चतुष्पथ'शब्द-वाच्येत्यर्थः ।

वीक्षणं मूलमंत्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ॥६८६५॥

तेनैव ताडनं कुर्याद् वर्मणाऽभ्युक्षणं मतम् ।
चंदनागरुकर्पूरै धूपयेदन्तरं सुधीः ॥३८६६॥

विकिरान् विकिरेत् तत्र सप्त जप्तान् शराण्डना ।

शराण्डना, अस्त्रमंत्रेण । अण्डशब्दो मंत्रपर्यायः आगमशास्त्रे ।

लाजाचंदनसिद्धार्थभस्मदूर्वाकुशाक्षताः ॥३८६७॥

विकिरा इति संदिष्टाः सर्वविघ्नौघनाशनाः ।
अस्त्रजप्तेन दर्भाणां मुष्टिना मार्जयेच्च तान् ॥३८६८॥

सोमशंभौ तु विशेषः—

विकिरान् शुद्धलाजान् वा सप्तशस्त्राभिमंत्रितान् ।
अस्त्राम्बुप्रोक्षितानेतान् कवचेनावगुंठितान् ॥३८६९॥

नानाप्रहरणाकारान् विघ्नौघविनिवारकान् ।
दर्भाणां तालमानेन कृतां षट्त्रिंशता दलैः ॥३८७०॥

सप्तजप्तां शिवास्त्रेण मुष्टिं बोधासिमुत्तमम् ।
ईशस्य दिशि वर्धन्या आसनाय प्रकल्पयेत् ॥३८७१॥

तालं वितस्तिका। सनालं पात्रं वर्धनी, तस्याः आसनाय ईशदिशि तान् विकिरान् प्रकल्पयेत् स्थापयेदिति।

पुण्याहं वाचयित्वा च ब्राह्मणान् परितोष्य च।
उक्तेषु मण्डलेष्वेकवेदिकायां समालिखेत् ॥३८७२॥

एकं मण्डलमिति।

विशेत् मृद्वासने मंत्री प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
बद्धपद्मासनो मौनी समाहितजितेन्द्रियः ॥३८७३॥

स्थापयेद् दक्षिणे भागे पूजाद्रव्याणि देशिकः।
सुवासिताम्बुसंपूर्णं सव्ये कुम्भं सुशोभनम् ॥३८७४॥

अत्रार्घ्यपाद्याचमनपात्राण्यपि सव्ये स्थापयेत्।

प्रक्षालनाय करयोः पश्चात् पात्रं निवेशयेत्।
घृतप्रज्वलितान् दीपान् स्थापयेत् परितः शुभान् ॥३८७५॥
दर्पणं चामरं छत्रं तालवृन्तं मनोहरम्।
मंगलांकुरपात्राणि स्थापयेद् दिक्षु देशिकः।

दिक्षु पूर्वादिषु।

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयोः ॥३८७६॥
नत्वा गुरून् गणेशं च भूतशुद्धिं समाचरेत्।
करशुद्धिं समासाद्य पश्चात् तालत्रयं ततः ॥३८७७॥
ऊर्ध्वोर्ध्वमस्त्रमंत्रेण दिग्बन्धमपि देशिकः।
तेन संजनितं तेजो रक्षां कुर्यात् समंततः ॥३८७८॥
सुषुम्णा वर्त्मनात्मानं परमात्मनि योजयेत्।
योगयुक्तेन विधिना चिन्मंत्रेण समाहितः ॥३८७९॥
कारणे सर्वभूतानां तत्त्वान्यपि च चिन्तयेत्।
बीजभावेन लीनानि व्युत्क्रमात् परमात्मनि ॥३८८०।
ततः संशोषयेद् देहं वायुबीजेन वायुना।
वह्निबीजेन तेनैव संदहेत् सकलां तनुम् ॥३८८१॥
विश्लेषयेत् तदा दोषानमृतेनामृताम्भसा।
आप्लाव्य प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥३८८२॥

आत्मलीनानि तत्त्वानि स्वस्थानं प्रापयेत् तदा ।
आत्मानं हृदयाम्भोजमानयेत् परमात्मनः ॥३८८३॥

मनुना हंसदेवस्य कुर्यान् न्यासादिकं ततः ।
ऋषिश्छन्दो दैवतानि न्यसेन्मंत्रस्य मंत्रवित् ॥३८८४॥

आत्मनो मूर्ध्नि वदने हृदये च यथाक्रमात् ।
विधाय मूलमंत्रेण प्राणायामं यथाविधि ॥६८८५॥

विदध्यान् मातृकान्यासं मंत्रन्यासमनन्तरम् ।
अंगुष्ठादिष्वंगुलीषु न्यसेदंगैः सजातिभिः ॥३८८६॥

अस्त्रं तत् तलयो र्न्यस्य कुर्यात् तालत्रयादिकम् ।
दिशस्तेनैव बध्नीयात् छोटिकाभिः समाहितः ॥३८८७॥

हृदादिषु च विन्यस्येदंगमंत्रांँस्ततः सुधीः ।
हृदयाय नमः पूर्वं शिरसे वह्निवल्लभा ॥३८८८॥

शिखायै वषडित्युक्तं कवचाय हुमीरितम् ।
नेत्रत्रयाय वौषट् स्यादस्त्राय फडिति क्रमात् ॥३८८९॥

षडंगमंत्रानित्युक्त्वा षडंगेषु नियोजयेत् ।
पंचांगानि मनो र्यस्य तत्र नेत्रमनुं त्यजेत् ॥३८९०॥

अंगहीनस्य मंत्रस्य स्वेनैवांगानि कल्पयेत् ।
तत् तत् कल्पोक्तविधिना न्यासानन्यान् समाचरेत् ।
कल्पयेदात्मनो देहे पीठं धर्मादिभिः क्रमात् ॥३५९१॥

अंसोरुयुग्मयो र्विद्वान् प्रादक्षिण्येन देशिकः ।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं न्यस्य तु क्रमात् ॥३८९२॥

मुखपार्श्वं नाभिपार्श्वेऽधर्मादींश्च प्रकल्पयेत् ।
धर्मादयः स्मृताः पादाः पीठगात्राणि चापरे ॥३८९३॥

अनन्तं हृदये पद्ममस्मिन् सूर्येन्दुपावकान् ।
एषु स्वस्वकला न्यस्येन् नामाद्यक्षरपूर्विकाः ॥३८९४॥

तन्न्यासस्थानं यथा–

मूलाधारत्रिकोणेषु विन्यसेदग्निजाः कलाः ।
हृत्पंकजदलेष्वर्ककला द्वादशसंख्यकाः ॥३८९५॥

मूर्ध्नि षोडशपत्राणां मध्ये सोमभवाः कलाः ।
नादजास्तु स्वरस्थाने बिन्दुजाः पंचवक्त्रके ॥३८९६॥

पूर्वदक्षिणसौम्येषु पश्चिमोर्ध्वमुखेषु च ।
हृद्गलांसेषु नाभौ च सोदरे पृष्ठवक्षसोः ॥३८९७॥

उरोजयोर्न्यसेच्चापि कला आक्षरसंभवाः ।
पादे गुह्ये सोरुजानू जंघास्फिक्षु उकारजाः ॥३८९८॥

पादहस्ततलघ्राणकेषु बाह्वोश्च पादयोः ।
न्यसेदकारजा गुप्तकलाः पंच प्रविन्यसेत् ॥३८९९॥

कास्यहृद्गुह्यपादेषु न्यसेत् साधकसत्तमः ।
सत्त्वादीन् त्रिगुणान् न्यस्येत् तथैवात्र गुरूत्तमः ॥३९००॥

आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमत्र तु ।
ज्ञानात्मानं प्रविन्यस्य न्यसेत् पीठमनुं ततः ॥३९०१॥

एवं देहमये पीठे चिन्तयेदिष्टदेवताम् ।
मुद्राः प्रदर्श्य विधिवदर्घ्यस्थापनमाचरेत् ॥३९०२॥

अग्रे त्रिकोणमालिख्य षट्कोणं च ततो बहिः ।
वर्त्तुलं चतुरस्रं च मध्ये मायां विलिख्य च ॥३९०३॥

शंखमुद्रां प्रदर्श्याथ कोणदिक्ष्वंगपूजनम् ।
शंखमस्त्राम्बुना प्रोक्ष्य वामतो वह्निमण्डले ॥३९०४॥

साधारं स्थापयेद् विद्वान् बिन्दुच्युतसुधामयैः ।
तोयैः सुगंधिपुष्पाद्यैः पूरयेत् तं यथाविधि ।
आधारं पावकं शंखं सूर्यं तोयं सुधाकरम् ॥३९०५॥

स्मरेद् वह्न्यर्कचन्द्राणां कलास्तास्तेष्वनुक्रमात् ।
मूलमंत्रं जपेत् स्पृष्ट्वा न्यसेत् तस्यांगमंगवित् ॥३९०६॥

हृन्मंत्रेणाभिसपूज्य हस्ताभ्या छादयन्नपः ।
जपेद् विद्यां यथान्यायं देशिको देवताधिया ॥३६०७॥
अस्त्रमंत्रेण संरक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य च ।
धेनुमुद्रा समासाद्य रोधयेत् तत् स्वमुद्रया ॥३६०८॥
दक्षिणे प्रोक्षणीपात्रमाधायाद्भिः प्रपूरयेत् ।
किंचिदर्घाम्बु संगृह्य प्रोक्षण्यम्भसि योजयेत् ॥३६०९॥
अर्घस्योत्तरतः कार्यं पाद्यमाचमनीयकम् ।
आत्मानं यागवस्तूनि मण्डलं प्रोक्षयेद् गुरुः ॥३६१०॥
प्रोक्षणीपात्रतोयेन मनुनान्यदपि क्रमात् ।
न्यासक्रमेण देहे स्वे धर्मादीन् पूजयेत् ततः ॥३६११॥
पुष्पाद्यैः पीठमन्वन्तं तस्मिंश्च परदेवताम् ।
पंचकृत्वः पुनः कुर्यात् पुष्पाञ्जलिमनन्यधीः ॥३६१२॥
उत्तमांगहृदाधारपादसर्वांगके क्रमात् ।
विना निवेद्यं गंधाद्यैरुपचारैः समर्चयेत् ।
गुरूपदिष्टविधिना शेषमन्यत् समाचरेत् ॥३६१३॥

अन्यत् शेष मानसौ धूपदीपौ, मन्त्रजप, जपनिवेदन, ब्रह्मार्पण, क्षमापनादि विसर्जनवर्जम् ।

यद्व–

ध्यात्वा यजेच्चंदनाद्यै र्मानसै र्धूपदीपकैः ।
भोजनावसरे किंचिज्जपं कृत्वा निवेदयेत् ॥३६१४॥
सर्वमेतत् प्रयुंजीत प्रोक्षणीस्थेन वारिणा ।
विसृज्य तोयं प्रोक्षण्याः पूरयेत् ता यथा पुरा ॥३६१५॥
ततस्तन्मण्डलं मंत्री गंधाद्यैः साधु पूजयेत् ।

तन्मण्डल सर्वतोभद्रमण्डलम् । ॐ श्रीसर्वतोभद्रमण्डलाय नम- इत्यनेन पूजयेत् ।

शालीस्तु कर्णिकायां च निक्षिप्याढकसंमितान् ।
तण्डुलांश्च तदष्टांशान् कूर्चं चोपरि विन्यसेत् ॥३६१६॥

सप्तविंशतिसाग्रदर्भमय वेण्याकारेण ग्रथितं विष्टरापरपर्याय कूर्चम् ।

यच्चोक्तं डामरे—

सप्तविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रंथिभूषिता ।
विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥३९१७॥

अत्र प्रथमं गुरुगणपतिपूजनं कुर्यात् ।

वायव्यास्त्रादीशपर्यन्तमर्चा
पीठस्योदक् गौरवीपंक्तिरादौ ।
पूज्योऽन्यत्राप्यांबिकेयः कराब्जैः
पाशं दन्तं शृण्यभीती दधानः ॥३९१८॥ इति ।

अन्यत्रापि—

पीठस्योत्तरभागे गुरुपंक्तिं पूजयेच्च मंत्रवित् ।
यावद् गिरीशकोणं वायोः कोणं समारभ्य ॥३९१९॥

अथ गुरुपरमगुरू द्वौ परमेष्ठिगुरुं तथाभ्यर्च्य ।
परमाचार्यगुरुं चादिसिद्धगुरुमथार्चयेद् ॥३९२०॥

अत्र परमाचार्यगुर्वनन्तरं परापरगुरुपरमसिद्धगुरुरपि ज्ञेयः ।

तेषां ध्यानं मंत्रतंत्रप्रकाशे—

श्वेताम्बरधरा गौरा गुरवः पुस्तकान्विताः ।
व्याख्यानमुद्रया युक्ता ध्यायन्तो वा हरिं निजम् ।
ध्यातव्याः पूजनादौ च तद्ध्यानाद् ज्ञानमान् भवेत् ॥३९२१॥

शाक्ते विशेषस्तंत्रान्तरे—

ते रक्तमाल्यांबरगंधभूषिताः स्वलंकृताः पंकजविष्टरस्थाः ।
सर्वे च सालंबनयोगनिष्ठाः प्राप्ताखिलैश्वर्यगुणाष्टकार्याः॥३९२२॥इति ।

अत्र श्रीगुरुभ्यो नमः इत्यादिप्रयोगः ।

आधारशक्तिमारभ्य पीठमंत्रमयं यजेत् ।
अधः कूर्मशिलारूढां शरच्चन्द्रनिभप्रभाम् ॥३९२३॥

आधारशक्तिं प्रयजेत् पंकजद्वयधारिणीम् ।
मूर्ध्नि तस्याः समासीनं कूर्मं नीलाभमर्चयेत् ॥३९२४॥

ऊर्ध्वं ब्रह्मशिलासीनमनन्तं कुन्दसंनिभम् ।
यजेच्चक्रधरं मूर्ध्नि धारयन्तं वसुंधराम् ॥३९२५॥
तमालश्यामलां तत्र नीलेन्दीवरधारिणीम् ।
अभ्यर्चयेद् वसुमतीं स्फुरत्सागरमेखलाम् ॥३९२६॥
तस्यां रत्नमयं द्वीपं तस्मिंश्च मणिमण्डपम् ।
यजेत् कल्पतरूंस्तस्मिन् साधकाभीष्टसिद्धिदान् ॥३९२७॥
अधस्तात् पूजयेत् तेषां वेदिकां मण्डपोज्ज्वलाम् ।
पश्चादभ्यर्चयेत् तस्यां पीठं धर्मादिभिः पुनः ॥३९२८॥
रक्तश्यामहरिद्रेन्द्रनीलाभान् पादरूपिणः ।
वृषकेसरिभूतेभरूपान् धर्मादिकान् यजेत् ॥३९२९॥ इति ।

वृषेति । वृषः प्रसिद्धः । केसरी सिंहः । भूतो देवयोनिः ।

तत्स्वरूपञ्च—

रक्तवस्त्रधराः कृष्णनखदंष्ट्राः सुदंष्ट्रिकाः ।
कर्त्री खट्वांगहस्ताश्च राक्षसा घोररूपिणः ॥
भूतास्तथैव दीनास्या............ ॥३९३०॥

अन्यत्रापि—

धर्मं रक्तं वृषरूपं च सिंहं ज्ञानं श्यामं दुष्टभूतं च पीतम् ।
वैराग्यं स्यात् गजरूपासितांगमैश्वर्यं च क्रमतः पीठपादाः ॥
पीठस्येषां स्युरधर्मादयो ये चत्वारस्ते ह्य ुदिताकाररम्याः॥३९३१॥
गात्रेषु पूजयेत् तांस्तु नभपूर्वानुक्तलक्षणान् ।
आग्नेयादिषु कोणेषु दिक्षु चाथांबुजं यजेत् ॥३९३२॥
आनंदकन्दं प्रथमं संविन्नालमनंतरम् ।
सर्वतत्त्वात्मकं पद्ममभ्यर्च्य तदनन्तरम् ॥३९३३॥
मंत्री प्रकृतिपत्राणि विकारमयकेसरान् ।
पंचाशद्वर्णबीजाढ्यां कर्णिकां पूजयेत् ततः ।
कलाभिः पूजयेत् सार्धं तस्यां सूर्येन्दुपावकान् ।
प्रणवस्य त्रिभि वर्णैरथ सत्त्वादिकान् गुणान् ॥३९३४॥

एतेन तत् तन्मण्डलाधिष्ठातृदेवताः ब्रह्माविष्णवीशीस्तत् तन्मण्डले पूजनीयाः ।

यदुक्तम्–

ब्रह्मविष्णवीश्वरास्त्वर्च्याः क्रमाद् वै मंडलत्रये ।

अन्यच्च–

सौरे बिम्बे चतुरास्यः किरीटी हंसे सौधं कलशं चाक्षमालाम् ।
ब्रह्मा बिभ्रद् वरदं चाभयाख्यं हस्तै र्ध्येयः सितवस्त्रश्चतुर्भिः ॥३६३५॥

सौम्ये बिम्बे गरुडे मेघनीलश्चक्रं शंखं सद्गदाब्जं दधानः ।
हारी माली कटकी सत्किरीटी विष्णुः पीतं वसनं कौस्तुभं च॥३६३६॥

अग्नेर्बिम्बे वृषभे चन्द्रमौलिश्श्वेतो रूद्रो दशबाहुस्त्रिनेत्रः ।
टंकैणाग्नित्रिशिखोद्यत्कपालमुद्राक्षस्त्रक्वरदाभीतिपाणिः ॥३६३७॥

आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमर्चयेत् ।
ज्ञानात्मानञ्च विधिवत् पीठमंत्रावसानकम् ॥३६३८॥

पीठशक्तीः केसरेषु मध्ये च सवराभयाः ।
हेमादिरचितं कुम्भमस्त्राद्भिः क्षालितान्तरम् ॥३६३९॥ इति ।

महाकपिलपंचरात्रे कलशशब्दव्युत्पत्तिः प्रमाणं च–

कलां कलां गृहीत्वा वै देवानां विश्वकर्मणा ।
निर्मितोऽयं सुरै र्यस्मात् कलशस्तेन चोच्यते ॥३६४०॥

पंचाशदंगुलं व्यास उत्सेधः षोडशांगुलः ।
कलशानां प्रमाणं तु मुखमष्टांगुलं भवेत् ॥३६४१॥

सौवर्णं राजतं ताम्रं मार्त्तिक्यं वा यथोदितम् ।
क्षालयेदस्त्रमंत्रेण कुम्भं सम्यक् सुरेश्वरि ॥३६४२॥ इति ।

चंदनागरुकर्पूरधूपितं शोभनाकृतिम् ।
आवेष्टितांगं नीरन्ध्रं तंतुना त्रिगुणात्मना ॥३६४३॥

अर्चितं गंधपुष्पाद्यैः कूर्चाक्षतसमन्वितम् ।
नवरत्नोदरं मंत्री स्थापयेत् तारमुच्चरन् ॥३६४४॥

नवरत्नानि यथा–

मुक्तामाणिक्यवैडूर्यगोमेदान् वज्रविद्रुमौ ।
पुष्परागं मरकतं नीलं चेति यथाक्रमात् ॥३६४५॥

उक्तानि नवरत्नानि तेषु कुम्भेषु निःक्षिपेत् । इति ।
ऐक्यं संकल्प्य कुम्भस्य पीठस्य च विधानवित् ।
क्षीरद्रुमकषायेण पालाशत्वग्भवेन वा ॥३६४६॥

अत्र केचित् पंचाशदौषधिक्वाथमिच्छन्ति । तदापादनाक्षमस्तु क्षीरद्रुमकषायेण । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटत्वक्कषायेणेत्यर्थः । आयुर्वेदोक्तरीत्या चतुर्थांशशेषः कषायो ग्राह्यः ।

तीर्थोदकै र्वा कर्पूरगंधपुष्पसुवासितैः ।
आत्माभेदेन विधिवन्मातृकां प्रतिलोमतः ॥३६४७॥
जपन् मूलमनुं तद्वत् पूरयेद् देवताधिया ।
शंखे क्वाथाम्बुसंपूर्णे गंधाष्टकमभीष्टदम् ॥३६४८॥
विलोड्य पूजयेत् तस्मिन्नावाह्य सकलाः कलाः ।
दश वन्हेः कलाः पूर्वं द्वादश द्वादशात्मनः ॥
कलाः षोडश सोमस्य पश्चात् पंचाशतं कलाः ॥३६४६॥

अकारजकलानन्तरं हंस इति । उकारजकलानन्तरं प्रतद्विष्णुरिति । मकारजानन्तरं त्र्यम्बकमिति । बिन्दुजानन्तरं तत्पदादिकम् । नादजानन्तरं विष्णुर्योनिमिति । एवं प्रथममष्टात्रिंशत् कलाः, तत एकपंचाशत् कलाः । पश्चात् पंचगुप्तकलाश्च शंखजले पूजनीयाः । ताश्चेच्छाज्ञानक्रियाः चिदात्मानन्दात्मिकाः । एवं चतुर्नवतिसंख्याः ।

यथोक्तं प्रपंचसारे—

प्रथमं प्रकृते हंसः प्रतद्विष्णुरनन्तरम् ।
त्रियम्बकस्तृतीयः स्याच्चतुर्थस्तत्पदादिकः ॥३६५०॥
विष्णुर्योनिमितीत्यादि पंचमः कल्प्यतां मनुः ।
चतुर्नवतिमंत्रात्मदेवतावाह्य पूजयेत् ॥३६५१॥
अत्र याः पंच संप्रोक्ता ऋचस्तारस्य पंचभिः ।
कलाप्रभेदैश्च मिथः पूज्यन्ते ताः पृथक् पृथक् ॥३६५२॥
जपित्वा प्रतिलोमेन मूलमंत्रं च मंत्रवित् ।
समाहितेन मनसा ध्यायन् मंत्रस्य देवताम् ॥
प्राणप्रतिष्ठां कुर्वीत तत्र तत्र विचक्षणः ॥३६५३॥ इति ।

प्राणप्रतिष्ठाव्युत्पत्तिस्तु महाकपिलपंचरात्रे–

प्रतिष्ठाशब्दसंसिद्धिः प्रतिपूर्वात्तु तिष्ठतेः ।
बह्वर्थत्वान् निपातानां संस्कारादौ प्रतेः स्थितिः ॥३६५४॥

अर्थस्तदयमेतस्य गीयते शाब्दिकै र्जनैः ।
विशेषसंनिधि र्या तु क्रियते व्यापकस्य हि ॥
सन्मूर्तौ भावनामंत्रैः प्रतिष्ठा साऽभिधीयते ॥३६५५॥ इति ।
कलात्मकं शंखसंस्थं क्वाथं कुम्भे विनिःक्षिपेत् ॥३६५६॥

पाशादित्र्यक्षरात्मान्ते स्यादमुष्यपदं ततः ।
क्रमात् प्राणा इह प्राणास्तथा जीव इह स्थितः ॥३६५७॥
अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि भूयोऽमुष्यपदं वदेत् ।
वाङ्मनोनयनश्रोत्रघ्राणप्राणपदान्यथ ॥३६५८॥

पश्चादिहागत्य सुखं चिरं तिष्ठतु ठद्वयम् ।
अयं प्राणमनुः प्रोक्तः सर्वजीवप्रदायकः ॥३६५९॥

अत्र प्रयोगस्तु 'धूम्रार्चिराहूता भव' इत्यावाहनाद्यष्टमुद्राः प्रदर्श्य 'यं धूम्रार्चिषे-नम' इति संपूज्य प्राणमंत्रेण अमुष्यपदस्थाने षष्ठ्यन्तं 'धूम्रार्चिः' पदं प्रक्षिप्य प्रतिष्ठां कुर्यात् । एवं सर्वास्वपि कलासु ।

अथवा–दशानामप्यग्निकलानां एकदैवावाहनादि कृत्वा प्रत्येकं पूज्य प्राण-प्रतिष्ठामंत्रे अमुष्यपदस्थाने सर्वासां षष्ठ्यन्तं नामोच्चार्य प्राणप्रतिष्ठां कुर्यादित्यर्थः ।

पश्चादश्वत्थपनसचूतकोमलपल्लवैः ।
इन्द्रवल्लीसमाबद्धैः सुरद्रुमधिया गुरुः ॥३६६०॥

कुम्भवक्त्रं पिधायास्मिन् चषकं सफलाक्षतम् ।
संस्थापयेत् फलधिया विधिवत् कल्पशाखिनाम् ॥३६६१॥

ततः कुम्भं निर्मलेन क्षौमयुग्मेन वेष्टयेत् ।
मूलेन मूर्तिमिष्ट्वा तां छायायां कल्पशाखिनाम् ॥३६६२॥

आवाह्य पूजयेत् तस्यां मंत्री मंत्रस्य देवताम् ।
मूलमंत्रं समुच्चार्य सुषुम्णा वर्त्मना सुधीः ॥३६६३॥

आनीय तेजः स्वस्थानान् नासिकारंध्रनिर्गतम् ।
करस्थमातृकाम्भोजे चैतन्यं पुष्पसंचये ॥३६६४॥

संयोज्य ब्रह्मरंध्रेण मूर्त्यामावाहयेत् सुधीः ।
संस्थापनं सन्निधानं सन्निरोधमनन्तरम् ॥३६६५॥

सकलीकरणं पश्चाद् विदध्यादवगुण्ठनम् ।
अमृतीकरणं कृत्वा कुर्वीत परमीकृतिम् ॥३६६६॥

क्रमादेतानि कुर्वीत स्वमुद्राभिः समाहितः ।
अथोपचारान् कुर्वीत मंत्रवित् स्वागतादिना ।
स्वागतं कुशलप्रश्नं निगदेदग्रतो गुरुः ॥३६६७॥

पाद्यं पादाम्बुजे दद्याद् देवस्य हृदयाणुना ।
एतत् श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरीरितम् ॥३६६८॥

सुधामंत्रेण वदने दद्यादाचमनीयकम् ।
जातीलवंगकक्कोलैस्तदुक्तं तंत्रवेदिभिः ॥३६६९॥

अर्घं दिशेत् ततो मूर्ध्नि शिरोमंत्रेण देशिकः ।
गंधपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपैः ॥३६७०॥

सदूर्वैं सर्वदेवानामेतदर्घ्यमुदीरितम् ।
सुधाणुना ततः कुर्यान्मधुपर्कं मुखाम्बुजे ॥३६७१॥

आज्यं दधिमधून्मिश्रमेतदुक्तं मनोषिभिः ।
तेनैव मनुना कुर्यादद्भिराचमनीयकम् ॥३६७२॥

अन्यत्रापि विशेषः—अर्घ्यं त्रि र्ददाति, पाद्यं त्रि र्ददाति, आचमनं षट् ददाति ।
महाकपिलपंचरात्रे—

आगताय तथार्चायां स्नातुमागमनाय च ।
पूजातो गन्तुकामस्य दद्यादर्घ्यं विचक्षणः ॥३६७३॥

आगते स्नानकाले च नैवेद्योपक्रमे तथा ।
पाद्यस्यापि समुद्दिष्टः समयस्त्रिविधो बुधैः ॥३६७४॥

पाद्ये च मधुपर्के च स्नाने वस्त्रोपवीतयोः ।
भोजने चाचमनं देयं षट्सु स्थानेषु देशिकः ॥३६७५॥

अत्राघ्यादिषु प्रोक्त तत्तद्द्रव्याभावे केवलं तंडुलानेव क्षिपेत् ।

तच्च मंत्रतंत्रप्रकाशे–

द्रव्याभावे प्रदातव्याः क्षालितास्तण्डुलाः शुभाः ।

अन्यत्रापि–

तण्डुलान् प्रक्षिपेत् तेषु द्रव्यालाभेषु तत्समान् ॥ ॥३९७६॥ इति ।

गंधाद्भिः कारयेत् स्नानं वाससी परिधापयेत् ।
दद्याद् दिव्योपवीतं च हाराद्याभरणैः सह ॥३९७७॥

न्यासक्रमेण मनुना पुटितै र्मातृकाक्षरैः ।
अभ्यर्च्य देवं गंधाद्यैरंगादीन् पूजयेत् ततः ॥३९७८॥

गंधश्चन्दनकर्पूरकालागरुभिरीरितः ।
यथोक्तानि सुगंधीनि पत्रपुष्पाणि देशिकैः।

उपदिष्टानि पूजायामाददीत विचक्षणः ॥३९७९॥
मलिनं भूमिसंस्पृष्टं कृमिकेशादिदूषितम् ।
अंगस्पृष्टं समाघ्रातं त्यजेत् पर्युषितं गुरुः ॥३९८०॥

देवस्य मस्तकं कुर्यात् कुसुमोपहितं सदा ।
पूजाकाले देवताया नोपरि भ्रामयेत् करम् ॥३९८१॥

अगरूशीरगुग्गुलुशर्करामधुचंदनैः ।
धूपयेदाज्यसंमिश्रै र्नाभि देवस्य देशिकः ॥३९८२॥

वर्त्या कर्पूरगर्भिण्या सर्पिषा तिलजेन वा ।
आरोप्य दर्शयेद् दीपानुच्चैः सौरभशालिभिः ॥३९८३॥

स्वादूपदंशं विमलं पायसं सह शर्करम् ।
कदलीफलसंयुक्तं साज्यं मंत्री निवेदयेत् ॥३९८४॥

तत्र तत्र जलं दद्यादुपचारान्तरान्तरे ।
अंगादिलोकपालानां यजेदावरणान्यपि ॥३९८५॥

केसरेष्वग्निकोणादि हृदयादीनि पूजयेत् ।
नेत्रमग्रे दिशास्वस्त्रं ध्यातव्या अंगदेवताः ॥३९८६॥

तुषारस्फटिकश्यामनीलकृष्णारुणार्चिषः ।
वरदाभयधारिण्यः प्रधानतनवः स्त्रियः ॥३९८७॥

पश्चादभ्यर्चनीयाः स्युः कल्पोक्तावृतयः क्रमात् ।
अन्ते यजेल्लोकपालान् मूलपारिषदान्वितान् ॥३९८८॥

हेतिजात्यधिपोपेतान् दिक्षु पूर्वादितः क्रमात्।
एवं संपूज्य विधिवन्निवेद्यान्तं ततो गुरुः ॥३९८९॥

दक्षिणे स्थंडिलं कृत्वा तत्राधाय हुताशनम् ।
संस्कृत्य विधिवद् विद्वान् वैश्वदेवं समाचरेत् ॥३९९०॥

तत्र संपूज्य गंधाद्यै र्देवतामुग्रविग्रहाम् ।
तारव्याहृतिभि र्हुत्वा मूलमंत्रेण मंत्रवित् ॥३९९१॥

सर्पिष्मता पायसेन पंचविंशतिसंख्यया ।
हुत्वा व्याहृतिभि र्भूयो गंधाद्यैः पुनरर्चयेत् ।
तां योजयित्वा पीठस्थमूर्त्तौ वह्निं विसर्जयेत् ॥३९९२॥

अवशिष्टेन हविषा विकिरेत् परितो वलिम् ।
देवतायाः पार्षदेभ्यो गंधपुष्पाक्षतान्वितम् ॥३९९३॥

मुख्यादीशानतः पात्रान् नैवेद्यांशं समुद्धरेत् ।
सर्वदेवस्वरूपाय पराय परमेष्ठिने ॥३९९४॥

श्रीरामसेनायुधाय विष्वक्सेनाय ते नमः ।
गणेशे वक्रतुण्डाय सूर्ये चण्डांशवेऽर्पयेत् ॥३९५५॥

शक्तावुच्छिष्टचाण्डाल्यै शिवे चण्डेश्वराय च ।
ततो निवेद्यमुद्धृत्य शोधयित्वा स्थलं पुनः ॥३९९६॥

पंचोपचारैः संपूज्य दर्शयेत् छत्रचामरे ।
कर्पूरशकलोन्मिश्रं ताम्बूलं विनिवेदयेत् ॥३९९७॥

सहस्रावृत्य संजप्य मूलमंत्रमनन्यधीः ।
तज्जपं सर्वसंपत्त्यै देवतायै निवेदयेत् ॥३९९८॥

ततः शंभो र्दिशि गुरु र्विकिरेत् पूर्वसंचिते ।
हेमवस्त्रादिसंयुक्तां कर्करीं तोयपूरिताम् ॥३९९९॥

संस्थाप्य तस्यां सिंहस्थां खड्गखेटकधारिणीम् ।
घोररूपां पश्चिमास्यां पूजयेदस्त्रदेवताम् ॥४०००॥

चलासनेन संपूज्य तामादाय गुरुः पुनः ।
रक्षेति लोकपालानां नालमुक्तेन वारिणा ॥४००१॥

देवाज्ञां श्रावयन्नन्तः परिवृत्य प्रदक्षिणम् ।
अस्त्रमंत्रं समुच्चार्य यथापूर्वं निवेशयेत् ॥४००२॥

अभ्यर्च्य भूयो गंधाद्यैरस्त्रं तत्र स्थिरासने ।
ततश्च संस्कृते वह्नौ गोक्षीरेण चरुं पचेत् ॥४००३॥

अस्त्रेण क्षालिते पात्रे नवे ताम्रमयादिके ।
तण्डुलान् शालिसंभूतान् मूलमंत्राभिमंत्रितान् ।
प्रसृतीनां पंचदश क्षिप्त्वा चास्त्रमनुं जपेत् ॥४००४॥

प्रक्षाल्य पात्रवदनं पिधाय कवचाणुना ।
प्राङ्मुखो मूलमंत्रेण देशिकेन्द्रश्चरुं पचेत् ॥४००५॥

स्रुवेणाज्येन संस्विन्ने दद्यात् तत्राभिधारणम् ।
मूलेन पश्चात् तत्पात्रं कवचेनावधारयेत् ॥४००६॥

अस्त्रजप्ते कुशास्तीर्णे मण्डले विधिवद् गुरुः ।
तं विभज्य त्रिधा भागमेकं देवाय कल्पयेत् ॥४००७॥

अन्यमग्नौ प्रजुहुयादपरं देशिकः स्वयम् ।
शिष्येण सार्धं भुंजीत विहिताचमनस्तथा ॥४००८॥

आचान्तं शिष्यमानीय सकलीकृत्य देशिकः ।
तालप्रमाणं हृज्जप्तं क्षीरवृक्षादिसंभवम् ॥४००९॥

तालप्रमाणं तु–

अंगुष्ठमध्यमांगुल्यौ ये हस्तस्य प्रसारिते ।
तदग्रयोरन्तरालं तालमाहुर्मनीषिणः ॥४०१०॥

पिंगलामते–

माया दंडिनि ठद्वन्द्वं प्रदद्यादमुना च तत् ।
दन्तान् विशोध्य स पुनस्तत् प्रक्षाल्य विसर्जयेत् ॥४०११॥

नारायणीये विशेषः—

दन्तकाष्ठं हृदा जप्तं क्षीरवृक्षादिसंभवम् ।
संमार्ज्य दन्तान् तच्छित्त्वा प्रक्षाल्यैतद् भुवि क्षिपेत् ॥४०१२॥

दिक्षु पूर्वाद्यधोर्ध्वासु तस्याग्रपतनं क्रमात् ।
वृद्धिस्तापो मृति र्वित्तं क्षयं शांति र्गदो धनम् ॥४०१३॥

सुखं वृद्धिः परं दुःखं फलान्येतानि शंसति ।

वायवीये तु—

अशस्ताशामुखे तस्मिन् गुरुस्तद्दोषशांतये ।
शतमर्धं तदर्धं वा जुहुयान् मूलमंत्रतः ॥४०१४॥ इति ।

नारायणीये—

पुनस्तं शिष्यमाचान्तं शिखाबंधाभिरक्षितम् ।
कृत्वा वेद्यां सहानेन स्वपेत् दर्भास्तरे गुरुः ॥४०१५॥

सोमशंभौ—

गृहस्थान् दर्भशय्यायां पूर्वशीर्षास्त्ररक्षितान् ।
हृदा सद्भस्मशय्यायां यतीन् दक्षिणमस्तकान् ॥४०१६॥

वायवीये तु—

देवस्य दक्षिणे भागे शिष्यं तमधिवासयेत् ।
आहतास्तरणास्तीर्णे सदर्भशयने शुचिः ॥४०१७॥

मंत्रिते च शिवं ध्यायन् प्राक्शिरस्को निशि स्वपेत् ।
शिखाबद्धस्य सूत्रस्य शिखायास्तच्छिखां गुरुः ॥४०१८॥

आवेष्ट्याहतवस्त्रेण तमाच्छाद्य च वर्मणा ।
रेखात्रयं च परितो भस्मना तिलसर्षपैः ॥४०१९॥

कृत्वास्त्रजप्तैस्तद् बाह्ये दिगीशानां बलिं हरेत् ।
स्वप्नमंत्रं स्मरन् सुप्यादविकल्पो जितेन्द्रियः ॥४०२०॥

स्वप्नान् संवीक्षितान् शिष्यः प्रभाते श्रावयेद् गुरुम् ।
शुभे शुभं वदेत् तस्य जुहुयादशुभे शतम् ॥४०२१॥

अस्त्रमंत्रेण कथितो विधिः शिष्याधिवासने ।

पिंगलामते–

सद्योऽधिवासमथवा प्रकुर्वीत यथाविधि ।

मंत्रतंत्रप्रकाशेऽपि–

दिनद्वयेनैव कुर्याद् दीक्षाकर्म विचक्षणः ।
सद्योऽधिवासनं वा स्यादेकस्मिन् दिवसे यदि ॥४०२२॥

महाकपिलपंचरात्रे–

वसतेरधिपूर्वस्य भावे घञ्प्रत्यये कृते ।
अधिवास इति ह्येषः प्रयोगः सिद्धिमेति च ॥४०२३॥
गुर्वादिसहितो वासो रात्रौ नियमपूर्वकः ।
सोऽस्यार्थो हि निपातानामनेकार्थतया मतः ॥४०२४॥ इति ।

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे दीक्षाविधौ त्रयोविंशः पटलः ॥२३॥

चतुर्विंशः पटलः ।

अथाग्नियजनं कुर्यादुक्तवर्त्मानुसारतः ।
आचार्यकुण्डे विधिवत्संस्कृते शास्त्रवर्त्मना ॥४०२५॥
अष्टादश स्युः संस्काराः कुण्डानां तंत्रचोदिताः ।
वीक्षणं मूलमंत्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ॥ ४०२६॥
तेनैव ताडनं दर्भैं र्वर्मणाभ्युक्षणं मतम् ।
अस्त्रेण खननोद्धारौ हृन्मंत्रेण प्रपूरणम् ॥४०२७॥
समीकरणमस्त्रेण सेचनं वर्मणा मतम् ।
कुट्टनं हेतिमंत्रेण वर्ममंत्रेण मार्जनम् ॥४०२८॥
विलेपनं कलारूपकल्पनं तदनन्तरम् ।
त्रिसूत्रीकरणं पश्चाद् हृदयेनार्चनं मतम् ॥४०२९॥
अस्त्रेण वज्रीकरणं हृन्मंत्रेण कुशैः शुभैः ।
चतुःपथं तनुत्रेण तनुयादक्षपाटनम् ॥४०३०॥

तनुत्रेण कवचेनेत्यर्थः ।

यागे कुण्डानि संस्कुर्यात् संस्कारैरेभिरीरितैः ।
तिस्रस्तिस्रो लिखेद् रेखा हृदा प्रागुदग्रगाः ॥४०३१॥

प्रागग्राणां स्मृता देवा मुकुन्देशपुरंदराः ।
उदग्राणां च रेखाणां ब्रह्मवैवस्वतेन्दवः ॥४०३२॥

वर्मणाभ्युक्ष्य तारेण योगपीठमथार्चयेत् ।
वागीश्वरीमृतुस्नातां नीलेन्दीवरसंनिभाम् ॥४०३३॥

वागीश्वरेण संयुक्तामुपचारैः प्रपूजयेत् ।
सूर्यकान्तादिसंभूतं यद्वा श्रोत्रियगेहजम् ।
आनीय चाग्निं पात्रेण क्रव्यादांशं परित्यजेत् ॥४०३४॥

अन्यत्रापि–

अस्त्रेणाग्निं समाधाय कवचेन पिधाय च ।
क्रव्यादांशं तु चास्त्रेण नैर्ऋत्ये संत्यजेत् प्रिये ॥४०३५॥

देवांशं मूलमंत्रेण स्थापयेत् पुरतः सुधीः ।
संस्कुर्यात् तं यथान्यायं देशिको वीक्षणादिभिः ॥४०३६॥

औदर्यवैन्दवाग्निभ्यां भौमस्यैक्यं स्मरन् वसोः ।
चैतन्यं पावके योज्यामृतीकृत्य च मुद्रया ॥४०३७॥

रक्ष्यावगुण्ठ्य संपूज्य त्रिःपरिभ्राम्य तं पुनः ।
कुण्डस्योपरि दक्षेण तारं मूलमनुं स्मरन् ॥४०३८॥

भूमिष्ठजानुको भूत्वा वागीशीगर्भगोचरे ।
शिवबीजधिया ध्यात्वा निक्षिपेदाशुशुक्षणिम् ॥४०३९॥

वैष्णवे तु संहितायाम्–

लक्ष्मीमृतुमतीं तत्र प्रभो र्नारायणस्य च ।
ग्राम्यधर्मेण संजातमग्निं तत्र विचिन्तयेत् ॥४०४०॥ इति ।

पश्चाद् देवस्य देव्याश्च दद्यादाचमनीयकम् ।
ज्वालयित्वा चोपतिष्ठेत् तत्तन्मंत्रमनुस्मरन् ॥४०४१॥

जिह्वान्यासं विधायाथ तत्षडंगं समाचरेत् ।
मूर्तीरष्टौ प्रविन्यस्येदुक्तांगे जातवेदसः ॥४०४२॥

आसनं प्रविचिन्त्याग्ने मूर्त्ति ध्यायेद् यथोदिताम् ।
ध्यात्वा सिंचेत् ततस्तोयै विशुद्धै मेंखलोपरि ॥४०४३॥

दर्भैरगर्भै मध्यस्थमेखलायां परिस्तरेत् ।
निक्षिपेद् दिक्षु परिधीन् प्राचीवर्ज्यान् गुरूत्तमः ॥४०४४॥

प्रादक्षिण्येन संपूज्य तेषु ब्रह्मादिमूर्तयः ।
ध्यातं वह्निं यजेन् मध्ये गंधाद्यैरुक्तमंत्रतः ॥४०४५॥

मध्ये षट्स्वपि कोणेषु जिह्वाज्वालारुचो यजेत् ।
केसरेषूक्तमार्गेण पूजयेदंगदेवताः ॥४०४६॥

दलेषु पूजयेन्मूर्त्तीः शक्तिस्वस्तिकधारिणीः ।
लोकपालाँस्ततो दिक्षु पूजयेदुक्तलक्षणान् ॥४०४७॥

पश्चादादाय पाणिभ्यां स्रुक्स्रुवौ तावधोमुखौ ।
त्रिशः प्रतापयेद् वह्नौ दर्भानादाय देशिकः ॥४०४८॥

तदग्रमध्यमूलानि शोधयेत् तै र्यथाक्रमात् ।
गृहीत्वा वामहस्तेन प्रोक्षयेद् दक्षिणेन तौ ॥४०४९॥

पुनः प्रताप्य तौ मंत्री दर्भानग्नौ विनिःक्षिपेत् ।
आत्मनो दक्षिणे भागे स्थापयेत् तौ कुशास्तरे ॥४०५०॥

आज्यस्थालीमथादाय प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ।
तस्यामाज्यं विनिःक्षिप्य संस्कृतं वीक्षणादिभिः ॥४०५१॥

संदीप्य दर्भयुगलमाज्ये क्षिप्त्वानले क्षिपेत् ।
गुरु र्हृदयमंत्रेण पवित्रीकरणं त्विदम् ॥४०५२॥

दीप्तेन दर्भयुग्मेन नीराज्याज्यं सवर्मणा ।
अग्नौ विसर्जयेद् दर्भमभिद्योतनमीरितम् ॥४०५३॥

घृते प्रज्वलितान् दर्भान् प्रदर्श्यास्त्राणुना गुरुः ।

गृहीत्वा घृतमंगारान् प्रक्षिप्याग्नौ जलं स्पृशेत् ।
अंगुष्ठोपकनिष्ठाभ्यां दर्भौ प्रादेशसम्मितौ ॥४०५५॥

धृत्योत्पुनीयादस्त्रेण घृतमुत्पवनं त्विदम् ।
तद्वद् हृदयमंत्रेण कुशाभ्यामात्मसम्मुखम् ॥४०५६॥

घृते संप्लवनं कुर्युः संस्काराः षडुदीरिताः ।
प्रादेशमात्रं सग्रंथि दर्भयुग्मं घृतान्तरे ॥४०५७॥

निःक्षिप्य भागौ द्वौ कृत्वा पक्षौ शुक्लेतरौ स्मरेत् ।
वामे नाडीमिडां ध्यायेत् पिंगलां दक्षिणे तथा ॥४०५८॥

मध्ये सुषुम्णां ध्यात्वैवं कुर्याद् होमं यथाविधि ।
दक्षाद्दक्षे तथा वामाद् वामे मध्याच्च भालगे ॥४०५९॥

लोचने जुहुयाच्चैवमग्निसोमाग्निषोमकैः ।
दक्षिणोद्धृत्स्रुवेणाज्यमादायाग्निमुखे हुनेत् ॥४०६०॥

हृदिति हृन्मंत्रेण, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति प्रयोगः ।

इति संपातयेद् भागेष्वाज्यास्याथाऽऽहुतिं क्रमात् ।
इत्यग्निनेत्रवक्त्राणां कुर्यादुद्घाटनं गुरुः ॥४०६१॥

स ताराभिर्व्याहृतिभिराज्येन जुहुयात् पुनः ।
जुहुयादग्निमंत्रेण त्रिवारं देशिकोत्तमः ॥४०६२॥

गर्भाधानादिका वन्हेः क्रिया निर्वर्त्तयेत् क्रमात् ।
अष्टाभिराज्याहुतिभिः प्रणवेन पृथक् पृथक् ॥४०६३॥

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं पुनः ।
अनन्तरं जातकर्म स्यान्नामकरणं तथा ॥४०६४॥

उपनिःक्रमणं पश्चादन्नप्राशनमीरितम् ।
चौलोपनयनं भूयो महानाम्न्यं महाव्रतम् ॥४०६५॥

अथोपनिषदं पश्चाद् गोदानोद्वाहकौ तथा ।
ततश्च पितरौ तस्य संपूज्यात्मनि योजयेत् ॥४०६६॥

समिधः पंच जुहुयान् मूलाग्रघृतसंप्लुताः ।
मंत्रैर्जिह्वांगमूर्तीनां क्रमाद् वन्हे यथाविधि ॥४०६७॥

प्रत्येकं जुहुयादेकामाहुतिं मंत्रवित्तमः ।
अवदाय स्रुवेणाज्यं चतुः स्रुचि पिधाय ताम् ॥४०६८॥

स्रुवेण तिष्ठन्नेवाग्नौ देशिको यतमानसः ।
जुहुयाद् वह्निमंत्रेण वौषडन्तेन संपदे ॥४०६९॥

विघ्नेश्वरस्य मंत्रेण जुहुयादाहुती दश ।
सामान्यं सर्वतंत्राणामेतदग्निमुखं मतम् ॥४०७०॥

ततः पीठं समभ्यर्च्य देवताया हुताशने ।
अर्चयेद् वह्निरूपां तां देवतामिष्टदायिनीम् ॥४०७१॥

तन्मुखे जुहुयान्मंत्री पंचविंशतिसंख्यया ।
आज्येन मूलमंत्रेण वक्त्रैकीकरणं त्विदम् ॥४०७२॥

अन्यच्च शैवागमे—

इष्टवक्त्रेऽग्निवक्त्राणामन्तर्भावस्तु चैकता ।
अथवा कुण्डमानत्वं यदीष्टवदने स्मरेत् ॥४०७३॥

अन्तर्भाव्यानि वक्त्राणि तदेकीकरणं मतम् । इति ।

अतो नाडीसंधानम् । अग्निदेवतात्मनां त्रयाणां नाड्यैकीकरणम् ।
यच्च—

वह्निदैवतयोरैक्यमात्मना सह भावयन् ।
मूलमंत्रेण जुहुयादाज्येनैकादशाहुतीः ॥४०७४॥

नाडीसंधानमुद्दिष्टमेतदागमवेदिभिः ।
जुहुयादंगमुख्यानामावृतीनामनुक्रमात् ॥४०७५॥

एकैकामाहुतिं सम्यक् सर्पिषा देशिकोत्तमः ।
मुख्याय जुहुयादेवमाहुतीनां दश क्रमात् ॥४०७६॥

ततोऽन्येषु च कुण्डेषु संस्कृतेषु यथाविधि ।
आचार्यो वितरेदग्निं पूर्वादिषु समाहितः ॥४०७७॥

ऋत्विजो गंधपुष्पाद्यैरंगाद्यावरणान्विताम् ।
तंत्रोक्तदेवतामिष्ट्वा पंचविंशतिसंख्यया ॥४०७८॥

मूलेनाज्येन जुहुयुः साज्येन चरुणा तथा ।
प्रातरुत्थाय जुहुयुः पुनराज्यान्वितैस्तिलैः ॥४०७९॥

द्रव्यै र्वा कल्पविहितैः सहस्रं साष्टकं पृथक् ।

अत्र वायवीयसंहितायां विशेषः—

स्रुवेणाज्यं समित् पाण्या स्रुचा शेषं करेण वा ।
तत्र दिव्येन होतव्यं तीर्थेणास्त्रेण वा तथा ॥४०८०॥ इति ।

तत्र सुसमिद्धेऽग्नौ होतव्यम् । अन्यथा दोषदर्शनात् ।

महाकपिलपंचरात्रे—

अप्रदीप्ते न होतव्यं मध्यमेनाप्यनिंधिते ।
प्रदीप्ते लेलिहाऽनेऽग्नौ होतव्यं कर्मसिद्धये ॥४०८१॥

बह्वृचे च—

अंधे बुधः सधूमे च जुहुयाद् यो हुताशने ।
यजमानो भवेदंधः सपुत्र इति च श्रुतिः ॥४०८२॥

छंदोगपरिशिष्टे—

योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यंगारिणि च मानवः ।
मंदाग्निरामयावी च दरिद्रश्चोपजायते ॥४०८३॥

तस्मात् समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कथंचन ।
आरोग्यमिच्छतायुश्च श्रियमात्यंतिकीं तथा ॥४०८४॥ इति ।

अथ होमानन्तरकृत्यम्—

ततः सुधौतदन्तास्यं स्नातं शिष्यं समाहितम् ।
पाययित्वा पंचगव्यं कुण्डस्यांतिकमानयेत् ॥४०८५॥

विलोक्य दिव्यदृष्ट्या तं तच्चैतन्यं हृदंबुजात् ।
गुरुरात्मनि संयोज्य कुर्यादध्वविशोधनम् ॥४०८६॥

प्रयोगसारे–

पंचगव्यं यथा प्रोक्तं पीत्वा चान्तं यथाविधि ।
द्वारेण दक्षिणेनाथ यागस्थानं प्रवेशयेत् ॥४०८७॥

तच्चैतन्यमित्यस्यार्थः–तत् हृदो वहन्नाड्यांकुशमुद्रया चैतन्यमाकृष्य स्ववहन् नाडीमार्गेण स्वहृदि संयोजयेदित्यर्थः ।

यच्चोक्तं यामले–

हृदि स्थितं तच्चैतन्यं प्रस्फुरत् तारकाकृति ।
आदाय स्थापयेत् स्वीये हृदयेऽकुशमुद्रया ॥४०८८॥ इति ।

अध्वानश्च वायवीयसंहितायाम्–

तेऽत्र शब्दास्त्रयोऽध्वानस्त्रयस्त्वर्थाः समीरिताः ।
मंत्राध्वा च पदाध्वा च वर्णाध्वा चेति शब्दतः ॥४०८९॥

भुवनाध्वा च तत्त्वाध्वा कलाध्वा चार्थतः क्रमात् ।
मंत्राध्वा मंत्रराशिः स्यात् पदाध्वा वर्णसंघकः ॥४०९०॥

आदिक्षान्ताश्च ये वर्णा वर्णाध्वेति प्रकीर्तिताः ।
ईरितो भुवनाध्वेति भुवनानीह सूरिभिः ॥४०९१॥

तत्त्वाध्वा बहुधा भिन्नः शैवाद्यागमभेदतः ।
षट्त्रिंशत् शिवतत्त्वानि द्वाविंश वैष्णवानि तु ॥४०९२॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि मैत्राणि प्रकृते विदुः ।
उक्तानि दशतत्त्वानि सप्त च त्रिपदात्मनः ॥४०९३॥

एषां तत्त्वानां व्यक्तिः प्रथमपटले लिखितास्ति ।

निवृत्त्याद्याः कलाः पंच कलाध्वेति प्रकीर्तितः ।
क्रमादेतान् पुनः षट् च शोधयेद् गुरुसत्तमः ॥४०९४॥

पादाध्वनाभिहृद्भालमूर्धस्वपि शिशोः स्मरेत् ।

तत्रायं शोधनप्रकारः । पादे कलाध्वानं स्मृत्वा यद् गुह्यहृद्वक्त्रशिरःसु स्वबीजादिकाः कलाः विन्यस्य पश्चात् कलाध्वविशोधनम् । एवं तत्त्वाध्वानं अधः स्मृत्वा विलोमेषु पूर्वस्थानेषु तान् विन्यस्य पश्चात् तत्त्वाध्वशोधनम् । एवं भुवनाध्वानं नाभौ स्मृत्वा अनंतरस्थानेषु स्वबीजाद्यान् विन्यस्य पश्चात् तत्शोधनम् । एवं हृदि वर्णाध्वानं संस्मृत्य शुद्धान् वर्णान् तद्देहे विन्यस्य पश्चाद् वर्णाध्वशोधनम् ।

एवं भाले पदाध्वानं संस्मृत्य सविन्द्वर्णान् विन्यस्य तत्शोधनम । एवं मूर्धनि मंत्राध्वानं संस्मृत्य सप्तमंत्रान् तत्तत्स्थानेषु व्याप्य पश्चात् तत्त्वाध्वविशोधनमिति ।

शारदायाम्—

ततः कूर्चेन विधिवत् तं स्पृशन् जुहुयाद् गुरुः ।
आचार्यकुण्डे संशुद्धैस्तिलैराज्यपरिप्लुतैः ॥४०९५॥
शोधयाम्यमुमध्वानं स्वाहेति पृथगध्वनः ।
ताराद्यमाहुतीरष्टौ क्रमात् तां विलयं नयेत् ॥४०९६॥
शिवे शिवान्तसंलीलान् जनयेत् सृष्टिमार्गतः ।
विलोकयन् दिव्यदृष्ट्या तं शिशुं देशिकोत्तमः ।
आत्मस्थितं तच्चैतन्यं पुनः शिष्ये नियोजयेत् ॥४०९७॥

नारायणीयेऽपि—

ध्यानेनात्मनि तं शिष्यं संहृत्य प्रलयक्रमात् ।
पुनरुत्पाद्य तत् पाणौ दद्याद् दर्भांश्च मंत्रितान् ॥४०९८॥

अनेनाध्वशोधनेन शरीरशुद्धिर्भवति । यतः षडध्वमेव शरीरम् ।

यच्च यामले—

शान्त्यतीतकलामूर्धा शांतिवक्त्रशिरोवहा ।
निवृत्तिजानुजंघाङ्घ्रि र्भुवनाध्वशिरोरुहा ॥४०९९॥
मंत्राध्वमांसरुधिरा पदवर्णशिरायुता ।
तत्त्वाध्वमज्जामेदोऽस्थिधातुरेतोयुता शिवे ॥४१००॥ इति ।

वायवीये—

ततो होमावशिष्टेन घृतेनापूर्य वै स्रुवम् ।
निधाय पुष्पं तस्याग्रे स्रुवेणाधोमुखेन ताम् ॥४१०१॥
सदर्भेण समाच्छाद्य मूलेनाञ्जलिनोत्थितः ।
वौषडन्तेन जुहुयाद् धारां तु प्लवसंनिभाम् ॥४१०२॥
उद्वास्य देवतां कुंभे सांगां सावरणां गुरुः ।

अत्र सांप्रदायिकास्तु व्याहृतिशब्देन महाव्याहृतय उच्यन्ते । ताश्च यथा—ओं भूरानये च पृथिव्यै महते च स्वाहा । ओं भुवो वायवे चान्तरिक्षाय महते च स्वाहा । ओं स्वरादित्याय दिवे च महते च स्वाहा । ओं भू र्भुवः स्वश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च

महते च स्वाहा । विभावसो जिह्वादीनामित्यादिशब्देनाधिदेवतांगमूर्तिलोकपालतदायुधानीत्यर्थः ।

पुन र्व्याहृतिभि र्हुत्वा जिह्वादीनां विभावसोः ॥४१०३॥

शारदायाम्—

एकैकामाहुतिं दत्वा परिषिच्याद्भिरात्मनि ।
पावकं योजयित्वा स्वे परिधीन् सपरिस्तरान् ॥४१०४॥

अग्नेरुद्वासनमंत्रस्तु गणेश्वरविमर्शिन्याम्—

ऊँ भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक ।
कर्मान्तरेऽपि संप्राप्ते सान्निध्यं कुरु सादरम् ॥४१०५॥ इति ।

नैमित्तिके दहेन् मंत्री नित्ये तु न दहेदिमान् ।
नेत्रे शिष्यस्य बध्नीयान्नेत्रमंत्रेण वाससा ।
करे गृहीत्वा तं शिष्यं कुंडतो मंडलं नयेत् ॥४१०६॥

नारायणीये—

न्यासं शिष्यतनौ कृत्वा तं प्रदक्षिणमानयेत् ।
पश्चिमद्वारमानीय क्षेपयेत् कुसुमांजलिम् ॥४१०७॥

शारदायाञ्च—

तस्याञ्जलिं पुनः पुष्पैः पूरयित्वा यथाविधि ।
कलशे देवताप्रीत्यै क्षेपयेन्मूलमुच्चरन् ॥४१०८॥

पिंगलामते तु विशेषः—

पुष्पैरञ्जलिमापूर्य योगपीठे प्रदापयेत् ।
पश्चिमोत्तररुद्रेन्द्रे पुष्पपातः शुभोऽशुभे ।
अष्टोत्तरशतं शांत्यै जुहुयादस्त्रमंत्रतः ॥४१०९॥

शारदायाम्—

व्यपोह्य तन्नेत्रबंधमासीनं दर्भसंस्तरे ।
आत्मयागक्रमाद् भूयः संहृत्योत्पाद्य देशिकः ॥४११०॥ इति ।

अत्र सांप्रदायिकास्तु आत्मयागः अन्तर्यागः। तत्क्रमात् तत्रोक्तभूतशुद्धिक्रमेणेत्यर्थः ।

यच्चोक्तं प्रयोगसारे—

उपविश्यासने दिव्ये संहरेत् तस्य विग्रहम् ।
गुणांशेन पृथिव्यादिभूतानि विलयं नयेत् ॥४१११॥

यथावत् पिण्डसंस्थानि संहारक्रमयोगतः ।
ततः सृष्टिक्रमेणैव पिण्डं संभावयेत् तदा ॥४११२॥ इति ।

शारदायाम्—

तत्तन्मंत्रोदितान् न्यासान् कुर्याद्देहे शिशोस्तदा ।
पंचोपचारैः कुंभस्थां पूजयित्वेष्टदेवताम् ॥४११३॥

तस्यां तंत्रोक्तमार्गेण विदध्यात् सकलीकृतिम् ।
मंडलेऽलंकृते शिष्यमन्यस्मिन्नुपवेशयेत् ॥४११४॥

अन्यस्मिन् मण्डले इति मण्डलाद् बहिः ऐशान्याम् ।

तदुक्तं सोमशंभुना—

यागालयाद् दिगीशस्य रचिते स्नानमण्डपे ।
कुर्यात् करद्वयायामां वेदीमष्टांगुलोच्छ्रिताम् ॥४११५॥

श्रीपर्ण्याद्यासने तत्र विन्यस्यानन्तमासनम् ।
शिष्यं निवेश्य पूर्वास्यं सकलीकृत्य पूजयेत् ॥४११६॥

स्नाने तूदङ्मुखं मुक्तौ भुक्तौ च पूर्ववक्त्रकम् ।
ऊर्ध्वकायं समारोप्य तथा दर्भाग्रपाणिनम् ॥४११७॥

नदत्सु पंचवाद्येषु सार्धं विप्राशिषा गुरुः ।
विधिवत् कुंभमुद्धृत्य तन्मुखस्थान् सुरद्रुमान् ॥४११८॥

शिशोः शिरसि विन्यस्य मातृकां मनसा जपन् ।
मूलेन साधितैस्तोयैरभिषिंचेत् तमात्मवित् ॥४११९॥

मूलेन विलोममूलेन ।

यच्च प्रपंचसारे—

यथा पुरा पूरितमक्षरैर्घटं सुधामयैः शिष्यतनौ तथैव सः ।
प्रपूरयेन्मंत्रिवरोऽभिषेचयेदवाप्तये मङ्क्षु यथेष्टसम्पदाम् ॥४१२०॥

पूजितां पुनरादाय वर्धनीमस्त्ररूपिणीम् ।
तस्यां सुसाधितैस्तोयैः सिंचेद् रक्षार्थमञ्जसा ॥४१११॥
अवशिष्टेन तोयेन शिष्यमाचामयेद् गुरुः ।
ततस्तं सकलीकुर्याद्देवतात्मानमात्मवित् ॥४१२२॥
उत्थाय शिष्यो विमले वाससी परिधाय च ।
आचम्य वाग्यतो भूत्वा निषीदेत् सन्निधौ गुरोः ॥४१२३॥
देवतामात्मनः शिष्ये संक्रान्तां देशिकोत्तमः ।
पूजयेद् गंधपुष्पाद्यैरैक्यं संभावयन् तयोः ॥४१२४॥ इति ।

वसिष्ठसंहितायाम्–

ततस्तत् शिरसि स्वस्य हस्तं दत्वा शतं जपेत् ।
अष्टोत्तरशतं मंत्रं दद्यादुदकपूर्वकम् ॥४१२५॥

अत्र आचार्यो देवतां प्रार्थयेत् ।

तत्र मंत्रः प्रपंचसारे–

ॐ कारुण्यनिलये देवि सर्वसंपत्तिसंश्रये ।
शरण्यवत्सले मातः कृपामस्मिन् शिशौ कुरु ॥४१२६॥
आणवप्रमुखैः पाशैः पाशितस्य सुरेश्वरि ।
दीनस्यास्य दयाधारे कुरु कारुण्यमीश्वरि ॥४१२७॥
ऐहिकामुस्मिकै र्भोगैरपि संबध्यतामसौ ।
स्वभक्तिः सकला चास्मै दीयतां निष्कलां श्रये ॥४१२८॥ इति ।

मंत्रतंत्रप्रकाशेऽपि–

विश्वात्मा स्वयमाचार्यस्तन्मूर्ध्नि स्वकरं न्यसेत् ।
ऋष्यादियुक्तं च मनुं त्रिर्ब्रूयाद् दक्षिणे श्रुतौ ॥४१२९॥
प्रसन्नवदनस्तस्य शिष्यस्य मुनिपुंगव ।
स्वतो ज्योतिर्मयीं विद्यां गच्छन्तीं भावयेद् गुरुः ॥४१३०॥
आगतां भावयेच्छिष्यं एवं तंत्रविदो विदुः ।
विद्यां दत्वा सहस्रं वै स्वसिध्यै देशिको जपेत् ॥४१३१॥

अष्टोत्तरसहस्रं वा शक्तिहानानवाप्तये ।
देशिकं प्रार्थयेच्छिष्यश्चैनं मंत्रमनूच्चरन् ॥४१३२॥
त्वत्प्रसादादहं देव कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः ।
मायामृत्युमहापाशाद् विमुक्तोऽस्मि शिवोऽस्मि च ॥४१३३॥ इति ।

शारदायाम्–

गुरो र्लब्ध्वा महाविद्यामष्टकृत्वो जपेत् सुधीः ।
गुरुदैवतविद्यानामैक्यं संभावयन् धिया ॥४१३४॥
प्रणमेद्दण्डवद् भूमौ गुरुं तद् देवतात्मकम् ।
तस्य पादाम्बुजद्वन्द्वं निजमूर्धनि योजयेत् ॥४१३५॥
शरीरमर्थं प्राणांश्च सर्वं तस्मै निवेदयेत् ।
ततः प्रभृति कुर्वीत गुरोः प्रियमनन्यधीः ॥४१३६॥
ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दत्वा समग्रां प्रीतमानसः ।
ब्राह्मणांस्तर्पयेत्पश्चाद् भक्ष्यभोज्यैः सदक्षिणैः ॥४१३७॥

ऋत्विग्भ्यो ब्रह्मादिभ्यः । तत्र प्रणीतामार्जनं कृत्वा ब्रह्मणे दक्षिणां दत्वा ब्रह्माणमुद्वास्य हुतचरुशेषं प्राशयेत् ।

तदुक्तं ब्रह्मसंहितायाम्–

प्रणीतामार्जनं कृत्वा दद्याच्च ब्रह्मदक्षिणाम् ।
स्वस्ववित्तानुसारेण लोभमोहविवर्जितः ॥४१३८॥
ततो ब्रह्माणमुद्वास्य ब्राह्मणान् भोजयेदथ ।
आशीर्वचोभि र्विदुषामेधमानः सुखीभवेत् ॥४१३९॥
हुतशेषं ततः प्राश्यं कुक्कुटाण्डप्रमाणकम् ।
मंत्रितं मंत्रगायत्र्या त्र्यायुषं चापि धारयेत् ॥४१४०॥
पूर्णपात्रं पूर्यतोयैः सप्तकृत्वोऽभिमंत्रितैः ।
आत्मानमभिषिंचेत् कैः सदूर्वैस्तुलसीदलैः ॥४१४१॥

अथ होमदक्षिणा प्रपंचसारे–

एकादशार्धकणिका वरकांचनस्य
दद्यात् सदैव गुरवेऽथ सहस्रहोमे ।
अर्धार्धपंचकणिका द्विकणा च सार्धा
स्याद्, दक्षिणेति कथिता मुनिभिस्त्रिधैव ॥४१४२॥

एषा क्रियावती दीक्षा प्रोक्ता सर्वसमृद्धिदा ।
अथ वर्णात्मिकां वक्ष्ये दीक्षामागमचोदिताम् ॥४१४३॥

पुंप्रकृत्यात्मकाः वर्णाः शरीरमपि तादृशम् ।
यतस्तस्मात् तनौ न्यस्येद् वर्णान् शिष्यस्य देशिकः ॥४१४४॥

तत्तत्स्थानयुतान् वर्णान् प्रतिलोमेन संहरेत् ।
स्वाज्ञया देवताभावाद् विधिना देशिकोत्तमः ॥४१४५॥

तदा विलीनतत्त्वोऽयं शिष्यो दिव्यतनु र्भवेत् ।
परमात्मनि संयोज्य तच्चैतन्यं गुरूत्तमः ॥४१४६॥

तस्मादुत्पाद्य तान् वर्णान् न्यस्येत् शिष्यतनौ पुनः ।
सृष्टिक्रमेण विधिवच्चैतन्यं च नियोजयेत् ॥४१४७॥

जायते देवताभावः परानंदमयः शिशोः ।
एषा वर्णमयी दीक्षा प्रोक्ता संवित्प्रदायिनी ॥४१४८॥

ततः कलावती दीक्षा यथावदभिधीयते ।
निवृत्त्याद्याः कलाः पंचभूतानां शक्तयो यतः ॥४१४९॥
तस्माद् भूतमये देहे ध्यात्वा तां वेधयेत् शिशोः ।
निवृत्ति र्जानुपर्यन्तं तलादारभ्य संस्थिता ॥४१५०॥

जानुनो र्नाभिपर्यन्तं प्रतिष्ठा व्याप्य तिष्ठति ।
नाभेः कण्ठावधिव्याप्ता विद्या शांतिस्ततः परम् ॥४१५१॥

कण्ठाल्ललाटपर्यन्तं व्याप्ता तस्मात् शिखावधि ।
शांत्यतीता कला ज्ञेया कलाव्याप्तिरितीरिता ॥४१५२॥

संहारक्रमयोगेन स्थानात् स्थानान्तरे गुरुः ।
संयोज्य वेधयेद् विद्वानाज्ञया ताः शिखावधि ।
इयं प्रोक्ता कलादीक्षा दिव्यज्ञानप्रदायिनी ॥४१५३॥

ततो वेधमयीं वक्ष्ये दीक्षां संसारमोचिनीम् ।
ध्यायेत् शिशुतनौ मध्ये मूलाधारे चतुर्दले ॥४१५४॥
त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
वलयत्रयसंयुक्तां तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥४१५५॥

शिवशक्तिमयीं देवीं चेतनामात्रविग्रहाम् ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरां शक्तिं भित्वा षट्चक्रमंजसा ॥४१५६॥
गच्छन्तीं मध्यमार्गेण दिव्यां परशिवावधि ।
वादिसान्तदलस्थार्णान् संहरेत् कमलासने ॥४१५७॥
तं षट्पत्रमये पद्मे वादिलान्ताक्षरान्विते ।
स्वाधिष्ठाने समायोज्य वेधयेदाज्ञया गुरुः ४१५८॥
तान् वर्णान् संहरेद् विष्णौ तं पुन र्नाभिपंकजे ।
दशपत्रे डादिफान्तवर्णाढ्ये योजयेद् गुरुः ॥४१५९॥
तान् वर्णान् संहरेद् रुद्रे तं पुन र्हृदयाम्बुजे ।
कादिठान्तार्कवर्णाढ्ये योजयित्वेश्वरे गुरुः ॥४१६०॥
तान् वर्णान् संहरेदस्मिन् तं भूयः कण्ठपंकजे ।
स्वराढ्ये षोडशदले योजयित्वा स्वरान् पुनः ॥४१६१॥
सदाशिवे तान् संहृत्य तं पुन र्भ्रूसरोरुहे ।
द्विपत्रे हक्षलसिते योजयित्वा ततो गुरुः ॥४१६२॥
तद्वर्णौ संहरेद् विन्दौ कलायां तं नियोजयेत् ।
तं नादेऽनन्तरं नादं नादान्ते योजयेद् गुरुः ॥४१६३॥
तमुन्मन्यां समायोज्य विषुववक्त्रांतरे च ताम् ।
तं पुन र्गुरुवक्त्रे तु योजयेद् देशिकोत्तमः ॥४१६४॥

कलादीनि भ्रूमध्यादुपर्युपरि तानि षट्चक्राणि ।

सहैवमात्मना शक्तिं वेधयेत् परमेश्वरे ।
गुर्वाज्ञया छिन्नपाशस्तदा शिष्यः पतेद् भुवि ॥४१६५॥
संजातदिव्यवेधोऽसौ सर्वं विन्दति तत्क्षणात् ।
साक्षात् शिवो भवत्येष नात्र कार्या विचारणा ॥४१६६॥ इति ।

छिन्नपाशः पाशत्रयविमुक्त इत्यर्थः ।

यच्च प्रयोगसारे—

पाशस्तु सत्सु वाऽसत्सु कर्मस्वास्था समीरिता ।
त्रिविधः स तु विज्ञेयः पाशो बन्धैकसाधनः ॥४१६७॥

प्रथमः सहजः पाशस्तथा चागंतुकः परः ।
प्रासंगिकस्तृतीयः स्यादिति पाशत्रयं स्मृतम् ।। ४१६८।। इति ।

वेधफलमाह श्रीकण्ठाचार्यः–

कालज्ञानं तथा कालवंचनान्यतनौ तथा ।
प्रवेशो वेध इत्यादि प्रसन्ने लभ्यते शिवः ।।४१६९।। इति ।

एषा वेधमयी दीक्षा सर्वसंवित्प्रदायिनी ।
क्रमाच्चतुर्विधा दीक्षा तंत्रेऽस्मिन् समुदाहृता ।।४१७०।।

दीक्षां प्राप्य सदाचारं पालयेत् सिद्धिहेतवे ।
द्रव्यार्धं गुरवे दद्याद् दक्षिणां वा तदर्धकम् ।।४१७१।।

मंत्रतंत्रप्रकाशे–

आचार्यादनभिप्राप्तः प्राप्तश्चादत्तदक्षिणः ।
सततं जप्यमानोऽपि मंत्रः सिद्धिं न गच्छति ।।४१७२।।

सर्वस्वं वा तदर्धं वा वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
गुरवे दक्षिणां दत्वा ततो मंत्रग्रहो मतः ।।४१७३।। इति ।

वायवीयसंहितायाम्–

मण्डपं गुरवे दद्याद् यागोपकरणैः सह ।
कृतकृत्यस्तथा शिष्यः सर्वं तस्मै निवेद्य च ।।४१७४।।

यच्च यावच्च तद्भक्त्या गुरोराकृष्टचेतनः ।
गोभूहिरण्यं विपुलं गृहक्षेत्रादिकं बहु ।।४१७५।।

न चेदर्धं तदर्धं वा तद् दशांशमथापि वा ।
अक्लेशादशवस्त्रादि दद्यात् वित्तानुसारतः ।।४१७६।।

तां गृहीत्वा तदाचार्यो बोधयेद् धर्मशाश्वतम् ।
स्नानसंध्ये सदाचारं नित्यं काम्यं तथैव च ।।४१७७।।

मंत्रसिद्धिप्रकारांश्च शिष्यायाभिवदेत् तदा ।
श्रुत्वा प्रणम्य श्रीनाथं भक्तिनम्रस्तदाचरेत् ।।४१७८।। इति ।

सदाचारश्च प्रयोगसारे–

देवस्थाने गुरुस्थाने श्मशाने वा चतुष्पथे ।
पादुकासनविण्मूत्रमैथुनानि विवर्जयेत् ।।४१७९।।

देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताः ।
सिद्धिं सिद्धाधिवासांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ॥४१८०॥

प्रमत्तामन्त्यजां कन्यां पुष्पितां पतितस्तनीम् ।
विरूपां मुक्तकेशीं च कामार्तां च न निन्दयेत् ॥४१८१॥

कन्यायोनिं पशुक्रीडां दिग्वस्त्रां प्रकटस्तनीम् ।
नालोकयेत् परद्रव्यं परदारांश्च वर्जयेत् ॥४१८२॥

धान्यगोगुरुदेवाग्निविद्याकोशनरान् प्रति ।
नैव प्रसारयेत् पादौ नैतानपि च लंघयेत् ॥४१८३॥

आलस्यमदसंमोहशाठ्यपैशुन्यविग्रहान् ।
असूयामात्मसंमानं परनिन्दां च वर्जयेत् ॥४१८४॥

लिङ्गिनं व्रतिनं विप्रं वेदवेदांगसंहिताः ।
पुराणागमशास्त्राणि कल्पांश्चापि न दूषयेत् ॥४१८५॥

युगं मुसलमश्मानं दामचुल्हीमुलूखलम् ।
सूर्पं संमार्जनीं दण्डं ध्वजं वै तूर्यमायुधम् ॥४१८६॥

कलशं चामरं छत्रं दर्पणं भूषणं तथा ।
भोगयोग्यानि चान्यानि यागद्रव्याणि यानि च ॥४१८७॥

महास्थानेषु वस्तूनि यानि वा देवतालये ।
दिव्योक्तानि पदार्थानि भूताविष्टानि यानि वै ।
लंघयेज्जातु नैतानि नैतानि च पदा स्पृशेत् ॥४१८८॥

या गोष्ठी लोकविद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी ।
परहिंसात्मिका या च न तामवतरेत् सदा ॥४१८९॥

प्रतिग्रहं न गृह्णीयादात्मभोगविधित्सया ।
देवतातिथिपूजार्थं यत्नतोऽप्यर्जयेद् धनम् ॥४१९०॥

धारयेदार्जवं सत्यं सौशील्यं समतां धृतिम् ।
क्षान्तिं दयामनास्थां च दिव्यां शक्तिं च सर्वदा ॥४१९१॥

अत्रोक्तान् यः सदा ह्येतानैहिकामुष्मिकोचितान् ।
आचारानादृते शांति दीक्षितः सोऽधिगच्छति ॥४१९२॥

विभीतकार्ककारंजस्नुहीछायां न चाश्रयेत् ।
स्तंभदीपमनुष्याणामन्येषां प्राणिनां तथा ॥४१९३॥

नखाग्रकेशनिष्ठ्यूतस्नानवस्त्रघटोदकम् ।
एतत् स्पर्शं त्यजेद् दूरात् खरश्वाजरजस्तथा ॥४१९४॥ इति ।

सोमशंभौ तु–

न निन्देत् कारणं देवं न शास्त्रं तेन निर्मितम् ।
न गुरुं साधकं चैव लिंगच्छायां न लंघयेत् ॥
नाद्याल्लंघेन्न निर्माल्यं न दद्यात् शिवदीक्षिते ॥४१९५॥

षडन्वयरत्नेऽपि–

न लंघयेद् गुरोराज्ञामुत्तरं न वदेत् तथा ।
रात्रौ दिवा च तस्याज्ञां दासवत् परिपालयेत् ॥४१९६॥

असत्यमशुभं तद्वद् बहुवादं परित्यजेत् ।
अप्रियं च तथालस्यं कामक्रोधौ विशेषतः ॥४१९७॥

अप्रच्छन्नमुखो ब्रूयाद् गुरोरग्रे कदापि न ।
अभिमानं न कुर्वीत धनजात्याश्रमादिभिः ॥४१९८॥

गुरुद्रव्यं न भोक्तव्यं तेनादत्तं कदाचन ।
दत्तं प्रसादवद् ग्राह्यं लोभतो न कदाचन ॥४१९९॥

अद्वैतं देवपूजां च गुरोरग्रे परित्यजेत् ।
पादुकायोगपादादि गुरुचिह्नानि सादरम् ॥४२००॥

न लंघयेत् स्पृशेन्नैव पादाभ्यां प्रणमेत् सदा ।
पर्यंकशयनं तद्वत् तथा पादप्रसारणम् ॥४२०१॥

अंगाभ्यंगं तथाश्लीलं न कुर्याद् गुरुसन्निधौ ।
गमनागमने कुर्यात् प्रणम्य गुरुपादुकाम् ॥४२०२॥

विचार्य कार्यं कुर्वीत गुरुकार्यं प्रसादवान् ।
छायां न लंघयेत् तद्वन्न गच्छेत् पुरतो गुरोः ॥४२०३॥

पश्चात् पादेन निर्गच्छेत् प्रणम्य च गुरो गृंहात् ।
गुरोरग्रे न कुर्वीत प्रभावं शिष्यसंग्रहम् ॥४२०४॥

अहंकारं न कुर्वीत नोल्वणं धारयेद् वपुः ।
प्रगुरोः संनिधौ नैव स्वगुरुं प्रणमेद् बुधः ॥४२०५॥

नमस्काराय चोद्युक्तं गुरु र्दृष्ट्वा निवारयेत् ।
न नियोगं गुरो र्दद्याद् युष्मदा नैव भाषयेत् ॥४२०६॥ इति ।

दशपटल्याम्—

शिष्येणापि प्रकर्तव्या शुश्रूषा च गुरोः सदा ।
शुश्रूषया विना विद्या न भवेत् सा फलप्रदा ॥४२०७॥

गुरौ तुष्टे शिवस्तुष्टः शिवे तुष्टे जगत्त्रयम् ।
गुरौ रुष्टे महेशानि नाहं त्राता त्वया सह ।
तस्मात् सर्वंप्रयत्नेन गुरोः कोपं न कारयेत् ॥॥४२०८॥ इति ।

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे दीक्षाकथनं
ताम चतुर्विंशः पटलः ॥२४॥

पंचविंशः पटलः ।

एवं प्राप्तमनु मंत्री समाराध्येष्टदेवताम् ।
पूर्वोक्तक्रमयोगेन नित्यानुष्ठानतत्परः ॥
नैमित्तिकमथो कुर्वन् षट्कर्माणि च साधयेत् ४२०९॥

यदाह शारदायां, मंत्रतंत्रप्रकाशे च—

कर्मषट्कं ब्रवीम्यद्य साधकाभीष्टदं च यत् ।
शांति वश्यं स्तंभनं च द्वेष उच्चाटमारणे ॥४२१०॥

मनीषिणः प्रशंसन्ति तल्लक्षणमथोच्यते ।
रोगकृत्याग्रहादीनां निरासः शांतिरीरिता ॥४२११॥

वश्यं जनानां सर्वेषां विधेयत्वमुदीरितम् ।
प्रवृत्तिरोधः सर्वेषां स्तंभनं समुदाहृतम् ॥४२१२॥

स्निग्धानां द्वेषजननं मिथो विद्वेषणं स्मृतम् ।
उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशनं परिकीर्तितम् ॥४२१३॥
प्राणिनां प्राणहरणं मारणं समुदीरितम् ।
देवता देवतावर्णान् ऋतुर्दिक्तिथिमासनम् ॥४२१४॥
विन्यासा मण्डलं मुद्राक्षरं भूतोदयः समित् ।
मालाग्नि र्लेखनद्रव्यं कुण्डं स्रुक्श्रुवलेखनीः ॥४२१५॥
ज्ञात्वैतानि प्रयुंजीत षट्कर्माणि विचक्षणः ।
रतिर्वाणी रमा ज्येष्ठा दुर्गा कालीति देवताः ॥४२१६॥
क्रमादेताश्च कर्मादौ पूजनीयाः फलार्थिभिः ।
सितारुणहरिद्राभमिश्रश्यामलधूसराः ॥४२१७॥
ताः स्ववर्णाभपुष्पैश्च काले काले यथाविधि ।
सूर्योदयं समारभ्य घटिकादशकं क्रमात् ॥४२१८॥
ऋतवः स्युर्वसन्ताद्या अहोरात्रं दिने दिने ।
वसन्तग्रीष्मवर्षाख्यशरद्धेमन्तशैशिराः ॥४२१९॥
हेमन्तः शांतिके प्रोक्तो वसन्तो वश्यकर्मणि ।
शिशिरः स्तंभने ज्ञेयो विद्वेषे ग्रीष्म ईरितः ॥
प्रावृडुच्चाटने ज्ञेया शरन्मारणकर्मणि ॥४२२०॥ इति ।

पिंगलागते—

हेमन्तो धवलो वृद्धो वसन्तो लोहितो युवा ।
आरक्तधवलो बालः शिशिरः संप्रकीर्तितः ॥४२२१॥
ग्रीष्मो धूम्रशरीरस्तु श्यामांगो जलदागमः ।
शरत्कालः कृष्णवर्णः शांत्यादावृतवस्त्वमे ॥४२२२॥

अत्र विशेषो वसिष्ठसंहितायाम्—

प्रसिद्धा ऋतवो ग्राह्या षट्कर्मादिकसाधने ।
यस्मिन् कस्मिनृतौ कार्यं मंत्राणामपि साधनम् ॥४२२३॥
पूर्वाह्णे वश्यपुष्ट्यादि ह्यपरंच पराह्णिके ।
ईशचन्द्रनिर्ऋतिवाय्वग्नीनां दिशो मताः ॥४२२४॥

तत् तत् कर्मसु तद्दिक्षु मुखं कृत्वा जपं चरेत् ।
शुक्लपक्षे द्वितीया च तृतीया पंचमी तथा ॥४२२५॥
बुधदेवगुरूपेता शांतिके वाथ सप्तमी ।
षष्ठी त्रयोदशी चैव चतुर्थी नवमी तथा ॥४२२६॥
सोमदेवगुरूपेता पौष्टिके शंसिता बुधैः ।
अष्टमी नवमी चैव दशम्येकादशी तथा ।
शुक्रभानुसुतोपेता शस्ता विद्वेषकर्मणि ॥४२२७॥
अथो चतुर्दशीकृष्णा शनिवारे तथाष्टमी ।
उच्चाटनेऽथ शस्तोऽत्र जपः शंकरभाषितः ॥४२२८॥
अमावास्याष्टमीकृष्णा तादृगेव चतुर्दशी ।
भानुना तत् सुतोपेता भूसुतेनापि संयुता ।
मारणे स्तंभने चैव मोहे द्रोहे प्रशस्यते ॥४२२९॥ इति ।

पिंगलामतेऽपि–

पुष्ट्याकृष्टिशुभोच्चाटशांतिस्तंभनबोधनम् ।
गुरौ कुजे रवौ शुक्रे सोमे चन्द्रे बुधे क्रमात् ॥४२३०॥
वश्यशांत्योः स्मृता स्वाती स्तंभे चित्रा भरण्यथ ।
द्वेषे पुनर्वसुस्तिष्यः स्वाती तूच्चाटने मता ।
मघार्द्रे मारणे स्यातामेवं नक्षत्रनिर्णयः ॥४२३१॥

आसनानि, शारदायाम्–

पद्माख्यं स्वस्तिकं भूयो विकटं कुक्कुटं पुनः ।
वज्रं भद्रकमित्याहुरासनानि मनीषिणः ॥४२३२॥

तत्राद्ययोरन्त्ययोश्च लक्षणं पुरश्चरणपटले प्रोक्तम् ।

विकट-कुक्कुटासनयोर्लक्षणं यथा–

जानुजंघान्तराले तु भुजयुग्मं प्रकाशयेत् ।
विकटासनमेतत् स्यादुपविश्योत्कटासने ॥४२३३॥
कृत्वोत्कटासनं पूर्वं समपादद्वयं ततः ।
अन्तर्जानुकरद्वन्द्वं कुक्कुटासनमीरितम् ॥४२३४॥ इति ।

योो खड्गगजफेरूणां मेषीमहिषयोस्तथा ।
कृत्तौ निविश्य कुर्वीत जपं शान्त्यादिकर्मसु ॥४२३५॥
ग्रथनं च विदर्भश्च संपुटो रोधनं तथा ।
योगः पल्लव एते षड् विन्यासाः कर्मसु स्मृताः ॥४२३६॥
प्रत्येकमेषां षण्णां तु लक्षणं विनिगद्यते ।
एको मंत्रस्य वर्णः स्यात् ततो नामाक्षरं वदेत् ॥४२३७॥
मंत्रार्णो नामवर्णश्चेदेतद् ग्रन्थनमीरितम् ।
द्वौ द्वौ मंत्राक्षरौ यत्र एकैकं साध्यवर्णकम् ॥४२३८॥
विदर्भितं तत् प्रोक्तं च वश्यकर्मणि मंत्रिभिः ।
मंत्रमादौ वदेत् सर्वं साध्यसंज्ञामनन्तरम् ॥४२३९॥
विपरीतं पुनश्चान्ते मंत्रं तत् संपुटं स्मृतम् ।
नाम्न आद्यन्तमध्येषु मंत्रः स्याद् रोधनं मतम् ॥४२४०॥
विद्वेषणविधानेषु प्रशस्तमिदमीरितम् ।
अंते नाम्नो भवेन्मंत्रो योगः प्रोच्चाटने मतः ।
मंत्रस्यान्ते भवेन्नाम पल्लवो मारणे मतः ॥४२४१॥

योगपल्लवयोरन्यत्रापि विनियोगस्तंत्रान्तरे—

शांतिके पौष्टिके दिव्ये प्रायश्चित्तविशोधने ।
मोहने दीपने योगं प्रयुञ्जन्ति मनीषिणः ॥४२४२॥
मारणे विषनाशे च ग्रहभूतविनिग्रहे ।
उच्चाटने च विद्वेषे पल्लवं संप्रचक्षते ॥४२४३॥ इति ।

अन्यत्र विशेषः—

अधर्धिेनादितोऽन्ते च मंत्रं कुर्याद् विचक्षणः ।
मध्ये चास्य भवेत् संज्ञा ग्रस्तं तं समुदाहृतम् ॥४२४४॥
अभिचारादिसर्वेषु योजयेन्मारणादिषु ।
अभिधानं लिखेत् पूर्वं मध्ये वापि महामते ॥४२४५॥
मंत्रमेवं द्विधा कृत्वा समस्तमभिधीयते ।
द्वेषोच्चाटनकार्येषु योजयेदविशंकितः ॥४२४६॥

अर्धोर्धेनादितोऽन्ते च मंत्रं कुर्याद् विचक्षणः ।
मध्ये चान्ते च साध्याख्या मंत्रिणा क्रियते यदा ॥४२४७॥
आक्रान्तं तद् भवेन्मंत्रं सदा सर्वार्थसिद्धिदम् ।
स्तंभस्तोभसमावेशवश्योच्चाटनकर्मणि ।
सकृत्पूर्वं लिखेन्मंत्रमंते चैव त्रिधा पुनः ॥४२४८॥
मध्ये चैव भवेत् संज्ञा आद्यन्तमिति तद् विदुः ।
परस्परप्रीतियुजो विद्वेषजननं परम् ॥४२४९॥
आद्यन्तं च तथा चार्द्धं त्रिधा मंत्रं समालिखेत् ।
साध्यनाम सकृन्मध्ये तं विदुः सर्वतोमुखम् ॥४२५०॥
सर्वोपद्रवशमनं महामृत्युविनाशनम् ।
सर्वसौभाग्यजननं मृतानाममृतप्रदम् ॥४२५१॥ इति ।

अथ मण्डलं गौतमीये–

अर्धचन्द्रनिभं पार्श्वद्वये पद्मद्वयांकितम् ।
जलस्य मण्डलं प्रोक्तं प्रशस्तं शांतिकर्मणि ॥४२५२॥
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं वश्ये वह्नेऽस्तु मण्डलम् ।
चतुरस्रं वज्रयुक्तं स्तंभे भूमेऽस्तु मण्डलम् ॥४२५३॥

त्रिषष्ठंचक्रनिभं वज्रमिति ।

वृत्तं दिवस्तद् विद्वेषे बिन्दुषट्कांकितं तु तत् ।
वायुमण्डलमुच्चाटे मारणे वह्निमण्डलम् ॥४२५४॥

विशेषस्तु ईशानशिवेनोक्तः–

उभयधरणिरिष्टं साधयेद् दीर्घकाले
　　उभयमरुति किञ्चित् कालपाकेन सिद्ध्येत् ।
उभयगगनवन्ह्यो नैव सिद्धि र्न हानि-
　　स्तत उभयजलस्थः क्षिप्रमेवेष्टदः स्यात् ॥४२५५॥
शशिजलधरणिस्थे शांतिकं पौष्टिकं वा
　　शशिमरुदनलाभ्यां वश्यमाकर्षणं च ।
दिनकरभुवि कुर्यात् स्तंभनं त्वर्कतोये
　　वशमिनमरुदाविर्भ्रामणोच्चाटने च ॥४२५६॥

दिनकरवियति स्यान्मोहनं त्वर्कवह्नौ
द्रुततरमरिवर्गान् साधयेत् मारयेच्च ।। इति ।

षण्मुद्राः क्रमतो ज्ञेयाः पाशपद्मगदाह्वयाः ।
मुशलाशनिखड्गाख्याः शांतिकादिषु कर्मसु ।।४२५७।। इति ।

कुलप्रकाशतंत्रे–

तिस्रो मुद्राः स्मृता होमे मृगी हंसी च शूकरी ।
शूकरी करसंकोची हंसी मुक्तकनिष्ठिका ।।४२५८।।

मृगो कनिष्ठातर्जन्यौ मुक्ता मुद्रात्रयं मतम् ।
यज्ञे शांतिककार्येषु मृगी हंसी प्रकीर्तिता ।।४२५९।।

आभिचारिककार्येषु शूकरी कीर्तिता बुधैः ।

पिंगलामते मुद्रान्तराण्यपि–

ततो द्रव्यस्य होमे तु तर्जन्यंगुष्ठयोगतः ।
ज्वरनाशारिसंतापावुच्चाटो मोहनं क्रमात् ।।४२६०।। इति ।

चन्द्रतोयधराकाशपवनानलवर्णकाः ।
षट्सु कर्मसु मंत्रस्य बीजान्युक्तानि मंत्रिभिः ।।४२६१।।

सर्वे स्वराश्चन्द्रवर्णा भूतवर्णा उदीरिताः ।
चन्द्रार्णहीनास्ते ग्राह्या वशीकृत्यादिकर्मसु ।।४२६२।। इति ।

फलं च संहितायाम्–

रक्षा स्तंभनकर्माणि वर्णैः कुर्याद् धरामयैः ।
शांतिकं पौष्टिकं कर्माकर्षणं सलिलात्मकैः ।।४२६३।।

दाहमोहांगभंगानि चाकृष्टिं दहनात्मकैः ।
सेनाभंगभ्रमोच्चाटद्वेषकर्माणि वायुजैः ।।४२६४।।

कालभस्मादिचूर्णानि विविधान्यपि मारणम् ।
क्षुद्राणां स्थापने वर्णैं र्नाभसैः पङ्क्तिसंख्यकैः ।।४२६५।। इति ।

केचित्त सबलहयरेफानाहुः ।

तच्चोक्तं महाकपिलपंचरात्रेऽपि—

लं पीता पृथिवी ज्ञेया वं शुक्लं कीर्तितं पयः ।
रं रक्तोऽग्नि र्मरुत् कृष्णो यं हं शुक्लतरं वियत् ॥४२६६॥ इति ।

नमः स्वाहा स्वधा वौषट् हुं फडन्ताश्च जातयः ।
शान्तौ वश्ये तथा स्तंभे विद्वेषोच्चाटमारणे ॥४२६७॥ इति ।

अन्यत्रापि—

अर्चनक्रोधशांत्यादौ नमः शब्दं प्रयोजयेत् ।
अग्निकार्ये च वश्यादौ स्वाहाशब्दं प्रयोजयेत् ॥४२६८॥

मारणादिषु फट्कारं विद्वेषादौ तु हुं पदम् ।
वौषडाप्यायनादौ स्याद् द्वेषोत्सादे वषट् स्मृतम् ॥४२६९॥ इति ।

तंत्रान्तरेऽपि—

वश्याकर्षणसंतापहोमे स्वाहां प्रयोजयेत् ।
क्रोधोपशमने शांतौ पूजने च नमो वदेत् ॥४२७०॥

वौषट् संमोहनोद्दीपपुष्टिमृत्युञ्जयेषु च ।
हुंकारः प्रीतिनाशे च छेदने मारणे तथा ।
उच्चाटने च विद्वेषे तथा धीविकृतौ तु फट् ॥४२७१॥

विघ्नग्रहविनाशे च हुं फट्कारं प्रयोजयेत् ।
मंत्रोद्दीपनकार्ये च लाभालाभे वषट् स्मृतम् ॥४२७२॥ इति ।

अथ भूतोदयः—

नासापुटद्वयाधस्ताद् यदा प्राणगति र्भवेत् ।
तोयोदयस्तदा ज्ञेयः शांतिकर्मणि सर्वदा ॥४२७३॥

पुटोपरिष्टाद् गमने प्राणे स्यात् पावकोदयः ।
तदा कर्मद्वये सिद्धि र्मारणे च वशीकृतौ ।
नासादण्डाश्रितगतौ प्राणस्तंभे धरोदयः ॥४२७४॥

पुटमध्यगतौ तस्मिन् द्वेषे व्योमोदयः स्मृतः ।
प्राणे तिर्यग्गतौ ज्ञेय उच्चाटे मारुतोदयः ॥४२७५॥ इति ।

द्रव्यविशेषमाह शूरोत्तरे–

दूर्वाभवाश्च समिधो गोघृतेन समन्विताः ।
होतव्या शांतिके देवि शांति येन भवेत् स्फुटम् ॥४२७६॥
समिधो राजवृक्षोत्था होतव्या स्तंभकर्मणि ।
मेषीघृतेन संयुक्ताः स्तंभसिद्धि र्भवेद् ध्रुवम् ॥४२७७॥
खादिरा मारणे प्रोक्ताः कटुतैलेन संयुताः ।
होतव्याः साधकेन्द्रेण मारणं येन सिध्यति ॥४२७८॥
उच्चाटे चूतजाताश्च कटुतैलेन संयुताः ।
उच्चाटयेत् महीं सर्वां सशैलवनकाननाम् ।
वश्ये चैव सदा होमः कुसुमै र्दाडिमोद्भवैः ॥४२७९॥
अजाघृतेन देवेशि वशयेत् सचराचरम् ।
विद्वेषे चैव होतव्या उन्मत्तसमिधो मताः ।
अतसीतैलसंयुक्ता विद्वेषणकरं परम् ॥४२८०॥ इति ।

अथ माला निबन्धे–

शंखजा पद्मबीजोत्था निंबारिष्टफलोद्भवा ।
प्रेतदंतभवा वाहरदोत्था खरदंतजा ।
जपमाला क्रमाद् ज्ञेया शांतिमुख्येषु कर्मसु ॥४२८१॥
मध्यमायां स्थिता माला ज्येष्ठेनावर्तयेत् सुधीः ।
शांतौ वश्ये तथा पुष्टौ भोगमोक्षार्थके जपे ॥४२८२॥
अनामांगुष्ठयोगेन जपेत् स्तंभनकर्मणि ।
तर्जन्यंगुष्ठयोगेन द्वेषोच्चाटनयोः पुनः ॥४२८३॥
कनिष्ठांगुष्ठयो र्योगात् मारणे प्रजपेत् सुधीः ।
अष्टोत्तरशतं संख्या तदर्धं च तदर्धकम् ।
मणीनां शुभकार्ये स्यात् तिथिसंख्याऽभिचारके ॥४२८४॥

अथ अग्निस्तत्रान्तरे–

लौकिकाग्नौ शांतिकं स्यात् पौष्टिकं च शुभं तथा ।
वटजे स्तंभनं मोहः श्मशानस्थेऽपि मारणम् ।
विभीतकाग्नौ विद्वेषः षट्कर्मण्यग्नयो मताः ॥४२८५॥

अन्यत्र च–

बिल्वार्ककिंशुकजदुग्धतरुप्रदीप्ते
सौम्यं चिकीर्षुरथ कर्म हुनेद् हुताशे ।
रौद्रं विषद्रुमकलिद्रुमशेलुनिंब-
धत्तूरकाष्ठचयसन्निचितेऽथ मंत्री ॥४२८६॥ इति ।

अग्निमुखनियमस्तु सोमशंभौ–

कुण्डं स्वसंमुखं ध्यात्वा हृदाहुतिभिरीप्सितम् ।
पश्चिमे शिष्यसंस्कारनित्यहोमौ समाचरेत् ॥४२८७॥

वश्याकर्षणसौभाग्यपुष्टिभाग्याधिरोपणे ।
शांतिके पाशशुद्धौ च वामे होमः प्रशस्यते ॥४२८८॥

गुटिकाञ्जननिस्त्रिंशपादलेपजिगीषया ।
शिष्यसंजननार्थं च प्राचीनवदनो यजेत् ॥४२८९॥

मारणोच्चाटनद्वेषस्तंभनार्थं च दक्षिणे ।
प्रायश्चित्तं तु तत्रैव पश्चिमे तु विमुक्तये ॥४२९०॥ इति ।

वह्नेर्जिह्वां सुप्रभाख्यां शांतिकर्मणि पूजयेत् ।
वश्यकार्ये हि रक्ताख्यां स्तंभने कनकाभिधाम् ॥४२९१॥

विद्वेषे गगनां जिह्वामुच्चाटेऽप्यतिरक्तिकाम् ।
कृष्णां तु मारणे चेत् स्याद्बहुरूपां तु सर्वदा ॥४२९२॥

भोज्ये संख्याविशेषोऽपि ज्ञेयः शांत्यादिकर्मसु ।
शांतौ वश्ये भोजयेत्तु होमाद् विप्रान् दशांशतः ॥४२९३॥

उत्तमं तद् भवेत् कर्म तत्त्वांशेन तु मध्यमम् ।
होमात् शतांशतो विप्रभोजनं त्वधमं हि तत् ॥४२९४॥

शान्ते र्द्विगुणितं विप्रभोजनं स्तंभने मतम् ।
त्रिगुणं द्वेषणोच्चाटे मारणे होमसम्मितम् ॥४२९५॥

अतिशुद्धकुलोत्पन्नाः साङ्गवेदविदोऽमलाः ।
सदाचाररता विप्रा भोज्या भोज्यै र्मनोहरैः ॥४२९६॥

पूज्यास्ते देवताबुद्धया नमस्कार्याः पुनः पुनः ।
संभाष्या मधुरै र्वाक्यै र्हिरण्यादिप्रदानतः ॥४२९७॥

अचिराल्लभतेऽभीष्टं गृहीतायां तदाशिषः ।
एनोऽभिचारकर्मोत्थं नश्यंति द्विजवाक्यतः ॥४२९८॥

यंत्राणां लेखनद्रव्यं चंदनं रोचना निशा ।
गृहधूमचिताङ्गारो मारणेऽष्टविषाणि च ॥४२९९॥

श्येनाग्निलोणपिंडानि धत्तूरकरसं ततः ।
गृहधूमस्त्रिकटुकं विषाष्टकमुदाहृतम् ॥४३००॥

श्येनः श्येनविष्ठा । अग्निः चित्रकः । लोणपिण्डं लोणमलम् । त्रिकटुकं शुण्ठीपिप्पलीमरिचानि ।

अथ साधारणलेखनद्रव्यम्–

काश्मीररोचनालाक्षामृगेभमदचंदनैः ।
विलिखेद् हेमलेखन्या यंत्राण्येतानि देशिकः ॥४३०१॥

पिंगलामते लेखनीविशेषः–

दूर्वा मयूरपिच्छानि विभीतकनरास्थिजा ।
ताम्रतारत्रिलोहोत्था हेमरौप्यार्कसंभवा ॥४३०२॥

लेखनी वश्य आकृष्टौ संतापे स्तंभमारणे ।
सर्वोपद्रवनाशाय शान्तौ पुष्टौ च जातिजा ॥४३०३॥

अन्यत्रापि–

लेखिन्या विलिखेद् यंत्रं वश्ये दूर्वांकुरोत्थया ।
आकर्षे शिखिपिच्छोत्था स्तंभने मुनिसंभवा ॥४३०४॥

हेमजा रौप्यजा वाऽन्या सर्वरक्षाविधौ प्रिये ।
करंजाक्षमयी द्वेषोच्चाटेऽन्त्येऽपि नरास्थिजा ॥४३०५॥

वश्यकर्मणि विज्ञेया राजवृक्षसमुद्भवा ।
शान्तिके पौष्टिके चैव आयुःकर्मविधौ तथा ॥४३०६॥

सर्वोपसर्गशमने कर्तव्या जातिसंभवा ।
अपामार्गोद्भवा वापि शुभकर्मसु सर्वदा ॥४३०७॥

आसुरेषु च सर्वेषु शस्यते तीक्ष्णलोहजा ।
विष्ट्यङ्गारदिने घोरे यदि चोत्पादिता च सा ।
कालखड्गसमा ज्ञेया सर्वभूतनिकृन्तनी ॥४३०८॥ इति ।

आधारविशेषः—

शान्तौ वश्ये लिखेद् भूर्जे स्तंभने द्वीपिचर्मणि ।
खरचर्मणि विद्वेषे उच्चाटे ध्वजवाससि ॥४३०९॥

नरास्थिन विलिखेद् यंत्रं मारणे मंत्रवित्तमः ।
वृत्तं पद्मं चतुःकोणं त्रिषट्कोणेन्दुयुङ् मतम् ॥४३१०॥

तोयेशसोमशक्राणां यातुवायो र्यमस्य च ।
आशासु क्रमतः कुण्डं शान्तिमुख्येषु कर्मसु ॥४३११॥ इति ।

स्रुक् श्रुवौ, वायवीयसंहितायाम्—

आयसौ स्रुक् श्रुवौ कार्यौ मारणादिषु कर्मसु ।
तदन्येषु तु सौवर्णौ शान्तिकाद्येषु कृत्स्नशः ॥४३१२॥

अन्यत्रापि—

सौवर्णौ यज्ञवृक्षोत्थौ स्रुक्श्रुवौ शान्तिवश्ययोः ।
स्तंभनादिषु कार्येषु स्मृतौ लोहमयौ हि तौ ॥४३१३॥

वश्यशान्त्यो र्हविष्यान्नं स्तंभने पायसं मतम् ।
विद्वेषे माषमुद्गाः स्यु र्गोधूमा भ्रंशने स्थलात् ॥४३१४॥

श्यामाकान्नं मसूरान्नं शाल्यजादुग्धपायसम् ।
मारणे भक्ष्यमेतत् स्यादित्युक्तो भक्ष्यसंयमः ॥४३१५॥

वश्यशान्त्योः स्वर्णपात्रं मृत्पात्रं स्तंभने मतम् ।
विद्वेषे खादिरं पात्रमुच्चाटे लोहनिर्मितम् ॥४३१६॥

मारणे कुक्कुटाण्डं स्यात् पात्राणीमानि तर्पणे ।
शान्तौ वश्ये च संप्रोक्ता हरिद्रा जलसंयुता ॥४३१७॥

उष्णोदकं तु मरिचं मारणस्तंभयो र्मतम् ।
द्वेषोच्चाटनयोः प्रोक्तं जलं मेषासृजा युतम् ॥४३१८॥

तर्पणद्रव्यमाख्यातमेतदागमपारगैः ।
सौम्यकर्मणि मंत्रज्ञः सुखासीनः प्रतर्पयेत् ॥४३१९॥
जानुभ्यामवनीं गत्वा तर्पणं स्तंभने मतम् ।
द्वेषादावेकचरणस्तर्पयेत् साधकोत्तमः ॥४३२०॥
सौम्ये सुवर्णदुर्वर्णयज्ञसूत्र उदाहृते ।
स्तंभविद्वेषयोः प्रोक्तं मार्जारान्त्रसमुद्भवम् ॥४३२१॥
कुक्कुटान्त्रसमुद्भूतं यज्ञसूत्रं मनीषिभिः ।
उच्चाटने वकान्त्राणामुपवीतमुदाहृतम् ॥४३२२॥
उल्लूकान्त्रसमुद्भूतं यज्ञसूत्रं हि मारणे ।
वशीकरणकर्म स्याद्देवतायतने शुभे ॥४३२३॥
शान्तिकर्म भवेद् गेहे श्मशाने क्रूरकर्म च ।
अथवा सर्वकर्माणि भवेयु र्देवतागृहे ॥४३२४॥
सम्यक् कृत्वा न्यासजालमात्मरक्षां विधाय च ।
काम्यकर्म प्रकर्तव्यमन्यथाऽभिभवो भवेत् ॥४३२५॥
शुभं वाप्यशुभं वापि काम्यं कर्म करोति यः ।
तस्यारित्वं व्रजेन् मंत्रो न तस्मात् तत्परो भवेत् ॥४३२६॥
विषयासक्तचित्तानां संतोषाय प्रकाशितम् ।
पूर्वाचार्योदितं काम्यकर्म नैतत् शुभावहम् ॥४३२७॥
काम्यकर्मप्रसक्तानां तावन्मात्रं भवेत् फलम् ।
निष्कामं भजतां देवमखिलाभीष्टसिद्धयः ॥४३२८॥
प्रतिमंत्रं समुदिता ये प्रयोगाः सुखाप्तये ।
तदासक्तिं विहायैव निष्कामो देवतां स्मरेत् ॥४३२९॥
वेदे काण्डत्रयं प्रोक्तं कर्मोपासनबोधनम् ।
साधनं काण्डयुग्मोक्तं तृतीयं साध्यमोरितम् ॥४३३०॥
तस्माद् वेदोदितं कुर्यादुपासीनश्च देवताः ।
शुद्धान्तःकरणस्तेन लभते ज्ञानमुत्तमम् ॥४३३१॥

कार्यकारणसंघातं प्रविष्टश्चेतनात्मकः ।
जीवो ब्रह्मैव संपूर्णमिति ज्ञात्वा विमुच्यते ॥४३३२॥

मनुष्यदेहं संप्राप्य उपासीनश्च देवताः ।
यो न मुच्येत संसारात् महापापयुतो हि सः ॥४३३३॥

आत्मज्ञानाप्तये तस्माद् यतितव्यं नरोत्तमैः ।
कर्मभि र्देवसेवाभिः कामाद्यरिगणक्षयात् ॥४३३४॥ इति ।

अथ प्राणप्रतिष्ठा—

प्राणप्रतिष्ठामंत्रस्य विधानमभिधीयते ।
येन प्रयोगा मंत्राणां सिद्धिं यान्ति समीरिताः ॥४३३५॥

प्राणमंत्रस्योद्धारन्यासध्यानानि नवमपटलतो बोध्यानि ।

विनियोगमृषिन्यासं कृत्वा तद्वत् कराङ्गयोः ।
न्यासं ध्यात्वा यथोक्तेन लक्षमेनं जपेत् मनुम् ।
जुहुयात् तद्दशांशेन चरुभि र्घृतसंयुतैः ॥४३३६॥

तद्दशांशेनेत्यस्यायमर्थः—ओं आं स्वाहा । ओं ह्रीं स्वाहा । ओं क्रों स्वाहा । ओं यं मृतायै स्वाहा । एवं टाद्यक्षरयुताभिर्वैवस्वताद्याभिः सकृत् सकृत् हुत्वा ओं क्षं सं हं सः ह्रीं ओं इत्यक्षरैरपि तथा हुत्वा मूलेनोक्तसंख्या तु जुहुयादिति ।

षट्कोणाढ्ये शक्तिपीठे विधिनानेन पूजयेत् ।
जयाख्या विजया पश्चात्, अजिता चापराजिता ॥४३३७॥

नित्या विलासिनी दोग्ध्री अघोरा मंगलांतिमा ।
मूलेन चासनं दत्वा मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥४३३८॥

तस्यां संपूजयेद् देवीमित्थमावरणैः सह ।
अर्चयेत् षट्सु कोणेषु ब्रह्माणं विष्णुमीश्वरम् ॥४३३९॥

वाणीं लक्ष्मीमुमां पश्चात् षडंगानि प्रपूजयेत् ।
दलेषु मातरः पूज्या तद्बाह्ये लोकनायकाः ॥४३४०॥

एवं संपूजयेद् देवीं सुगन्धिकुसुमादिभिः ।
इति संसाधितो मंत्रः षट्कर्मफलदो भवेत् ॥४३४१॥

स्थापयेन्मनुनानेन प्राणान् सर्वत्र देशिकः ।
बीजान्तेऽमुष्य शब्दानामादौ दूतीः प्रयोजयेत् ॥४३४२॥

मृता वैवस्वता भूयो जीवहा प्राणहा ततः ।
आकृष्या ग्रथनी पश्चात् प्रमोदा विस्फुलिङ्गिनी ॥४३४३॥

क्षेत्रप्रतिहरीत्येताः प्राणदूत्यो नव स्मृताः ।
पाशेन बद्धचेष्टस्य शक्त्या स्वीकृतचेतसः ॥४३४४॥

अंकुशेनाहृतस्याभिः साध्यस्यासून् समाहरेत् ।
द्वादशांगुलमानेन कृत्वा साध्यस्य पुत्तलीम् ॥४३४५॥

तस्यां प्राणात्मकं यंत्रं सकीटं हृदये न्यसेत् ।
निशीथसमये साध्ये सुप्ते तस्य हृदम्बुजे ॥४३४६॥

दलेषु वायुवह्नीन्द्रवरुणानामतः परम् ।
ईशराक्षसशीतांशुयमानां कर्णिकान्तरे ॥४३४७॥

यादीन् हंससमायुक्तान् भृङ्गाकाराननुस्मरन् ।
शिरोबिन्दुसमुद्भूततंतुसंबद्धविग्रहान् ॥४३४८॥

एवमात्महृदंभोजे भृङ्गीरूपान् धिया स्मरेत् ।
आत्महृत्पद्मगां भृङ्गीं प्रस्थाप्य श्वासवर्मना ॥४३४९॥

एकैकसाध्यहृत्पद्मात् भृङ्गमेकैकमानयेत् ।
पुत्तल्यां स्थापयेन्मंत्री स्वचित्ते वा विधानवित् ॥४३५०॥

तन्तुच्छेदं प्रकुर्वीत वह्निबीजेन संयतः ।
आकृष्टान् साध्यहृद्भृङ्गान् भुवा संस्तंभयेत् ततः ॥४३५१॥

भुवा ग्लौमिति बीजेन ।

एवमेकादशावृत्तीः कुर्यात् सर्वेषु कर्मसु ।
वश्याकर्षणयो र्यादीनरुणान् संस्मरेत् सुधीः ॥४३५२॥

मोहविद्वेषयो र्धूम्रान् कृष्णान् मारणकर्मणि ।
पीतान् संस्तंभने ध्यायेत् प्राणाकर्षणकर्मसु ॥४३५३॥

आकृष्टान् साध्यहृत्प्राणात् स्थापयेदात्मनो हृदि ।
क्रूरकर्मसु पुत्तल्यां तेषां स्थापनमीरितम् ॥४३५४॥

प्राणान् साध्यस्य मंडूकानात्मनस्तु भुजङ्गमान् ।
संस्मरेत् तत्र निपुणः सदा क्रूरेषु कर्मसु ॥४३५५॥

वाय्वग्निशक्रवरुणेश्वरराक्षसेन्द्र-
प्रेतेशपत्रलिखितैरथ यादिवर्णैः ।
बिन्द्वन्तिकैः क्षगतहंससमेतसाध्यं
प्राणात्मयंत्रमथवर्णवृतं धरास्थम् ॥४३५६॥

इत्थं प्रयोगकुशलो मनुनाऽनेन मंत्रवित् ।
वशयेत् सकलान् देवान् किं पुनः पार्थिवान् जनान् ॥४३५७॥इति ।

'बीजान्तेऽमुष्यशब्दाना'मिति श्लोकमारभ्य 'पार्थिवान् जनान्'इत्यन्तानां षोडश-श्लोकानां क्रमेणायमाशयः–

बीजान्ते पाशादिहंसमंत्रान्ते । केचन बीजान्ते बीजत्रयान्त इत्याहुः, तदसंबद्ध-माचार्यवचनविरोधात् । अमुष्यशब्दानामादाविति चासंबद्धत्वात् । अमुष्यशब्दानामादा-विति साध्यनाम्न आदौ । तदुक्तम्—अथ यादीन् दूतीश्चोक्त्वा साध्यनामाथमंत्रोति । आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हों ॐ क्षं सं हंसः ह्रीं ॐ मृते अमुष्य मृतात्मकान् प्राणानिहाहर प्राणा इह प्राणा इति वा इहैवेत्याद्योमन्तमुक्त्वा पुनरोमादि ओमंत-मुक्त्वा यं मृते अमुष्य मृतात्मकं जीवमिहाहर जीव इह स्थित इति वा । इहैवेत्यादि ओमन्तमुक्त्वा पुनरादि ओमन्तमुक्त्वा यं मृते अमुष्य मृतात्मकानि सर्वेन्द्रियाणि इहा-हर सर्वेन्द्रियाणि इह वा । पुनरिहेत्यादि । ओमन्तमुक्त्वा पुनरादि ओमन्तमुक्त्वा यं मृते अमुष्य मृतात्मकान् वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रघ्राणप्राणान् इहाहर वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रघ्राणप्राणा इह वा । इहैवेत्यादि ओमन्तं वदेत् । एवं वैवस्वतादिमंत्रा ऊहनीयाः ।

युगपद् वा प्राणप्रतिष्ठाप्रकारमाह–पाशेत्यादिना सर्वेषु कर्मस्वित्यन्तेन । आभिर्दूतीभिः प्राणात्मकं यंत्रं वक्ष्यमाणं सकीटं तत्र प्राणप्रतिष्ठारंभात् प्रागेव साध्य-प्रतिकृतेर्हृदये यंत्रं सजीवं कीटं च निःक्षिप्यातोद्य प्रयोगमारभेतेत्यर्थः । प्राण-प्रतिष्ठायां कर्तव्यमाह–निशीथेति । पद्मपादाचार्यास्तु कालदण्डेन संताड्य बोधन-माहुः । अन्यथा प्राणप्रतिष्ठायोगादिति । यच्च–

'बध्वा तं च निपीड्यमेव सहसा कालस्य यष्ट्या शिर-
स्याताड्य क्षुभिताखिलेन्द्रियगणं साध्यं स्मरेत् साधकः ।' इति ।

स्वहृदये साध्यहृदये पुत्तलीहृदये च । मृतादिदूतीनां स्थानमाह–दलेष्विति । भृङ्गाकाराननुस्मरेदिति । याद्यक्षररूपमृतादीन् साध्यहृत्पद्मपत्रेषु कर्णिकायां भृङ्ग-रूपान् स हृदयपद्मे भृङ्गीरूपान् ध्यायेदित्यर्थः ।

शिर इति । यकारादिबीजानां शिरसि ये बिन्दवस्तत्समुद्भूता ये तंतवः तैः संबद्धविग्रहानिति ।

पुत्तल्यामिति । क्रूरकर्मणि स्वचित्ते इति वश्यादौ ।

विधानविदिति । स्ववहन्नाड्या प्रवेशनिर्गमकुशल इत्यर्थः ।

तत्र प्रकार:—साध्यस्य शक्तिपाशशक्तितेजोऽङ्कुशमहाभ्रमरकालदण्डरूपेण पंचधा नि:सार्य पाशबीजमुच्चरन् साध्यं पाशेन गले बध्वा शक्तिबीजेन तं स्ववशे कृत्वां-कुशेनाकृष्याग्रत: संस्थाप्य याद्यष्टकमुच्चरन् साध्यस्य त्वगादीन् व्याप्यापक्रम्य महा-भृङ्गेण साध्यं कवलीकृत्य कालदण्डताडनेन सुप्तं तं संबोध्य क्षमिति सपरिवारमुन्मू-लोकृत्य समिति स्वप्राणशक्तिरूपमहाभ्रमरेण मेलयित्वा हंस इति स्वैक्यं संभाव्य ह्रीमोमिति वश्यादौ जीवनाय प्लावनं कृत्वा यं मृतेत्यादिना स मृतां संबोध्य अमुष्य मृतात्मका: इह प्राणा इत्यादिना स्वमृताप्राणानितरप्राणै: संयोज्य रमिति साध्य-मृतातंतुच्छेदं विधाय सकीटहृदयायां पुत्तल्यामात्मनि वा साध्यमृता प्राणान् संस्थाप्य ग्लौमिति संस्तभ्य तस्य जीवादिकमप्येवमानयेत् ।

युगपदेव वा मृता प्राणादीन् स्थापयेत् । तत: स्वहृदि चेत् आं ह्रीं इत्यादि मयि प्राणा इह प्राणा मयि जीव इह स्थित: इत्यादिरूपम् । पुत्तल्यां चेत् , पुत्तल्यां प्राणा इह प्राणा: पुत्तल्यां जीव इह स्थित इति जपेत् । इति मृताप्रतिष्ठाक्रम: ।

एवं वैवस्वतादिप्राणा अपि स्थापनीया: । ततो यादीन् होमांतानुक्त्वा साध्यस्य धातून् जीवं च सपरिकरं च पुन: स्वमण्डले संकोचितं कवलीकृत्य यादीन् दूतीश्च स्वस्य संबुद्धयन्तान् साध्यस्य वामुष्य प्राणानिहाहर अमुष्य प्राणा इह प्राणा इति चोक्त्वा पुनरपि अमुष्य धातूनिहाहरेत्यादि वदेत् । एवं जीवेऽपि । अयमेव प्रकार: पुत्तल्यामपि । तदुक्तम्—

'आकृष्टानां साध्यदेशादसूनां पुत्तल्यादावप्ययं स्यात् प्रकार: ।' इति ।

एवमितीति । पूर्वोक्तं कर्म एकादशावृत्ति कुर्यात् । पद्मपादाचार्यस्तु एवं सति प्रयोगमंत्रो भवतीति अमुष्यस्थाने यादीनां त्रिरावृत्तिरभिहिता प्राणजीवसर्वेन्द्रिया-कर्षणार्थम् । केचित् यादीनां चतुरावृत्ति वर्णयन्ति । प्राणजीवेन्द्रियसामान्यतद्विशेषा-णामाकर्षणार्थम् । केचित् पंचावृत्ती: प्राणसामान्यजीवसामान्येन्द्रियसामान्य-इन्द्रियविशेषप्राणविशेषाणामाकर्षणार्थम् । केचित् नवावृत्तिमंत्रोक्तानां सर्वेषां प्रत्येकमाकर्षणार्थमित्याहु: । एवं यथोपदेशं विधेयम् ।

यंत्रमाह—वाय्विति यादिवर्णैरिति होमन्तै: ।

धरास्थमिति—बाह्ये भूगृहावृतमित्यर्थ: ।

अत्रैवं संप्रदायविदां रहस्यम्—सर्वकर्मसु द्वादशांगुलां पुत्तलीं वक्ष्यमाणसाध्य-र्क्षजां कल्पोक्तां वा विधाय तन्मंत्रेण कल्पोक्तद्रव्येण तस्या हृदये पूर्वोक्ताधारे यथोक्तं यंत्रमष्टदलात्मकं विलिख्य तत्र वायव्याग्नेयपूर्ववरुणेशानराक्षसोत्तरयाम्यपत्रेषु सबिन्दुकान् यादीन् यं रं लं वं शं षं सं हों इत्यष्टाक्षराणि तत् कर्णिकायां क्षमिति तन्मध्ये हंस इति अमुकं वशमानयेत्यादिकर्मोपेतं विलिख्य बहिर्वृत्तं विधाय मातृकया वेष्टयेत् । तद्बहिर्भूगृहेण वेष्टयेत् । केचित् मातृकाभ्यंतरत: प्राणप्रतिष्ठामंत्रेण वेष्टन-माहु: । पुन: प्राणप्रतिष्ठां विधाय संपूज्य सकीटं यंत्रं पुत्तल्या हृदये क्षिपेत् । वा पूर्वोक्तं यंत्रं लिखित्वा षड्बिन्दुकीटं षट्कोणोपेतं नि:क्षिपेत् । तत् प्रकारस्त्वयम्—अमुक

प्राणा इत्युक्त्वा साध्यस्य प्राणानाकृष्य पुत्तल्यां निधापयेत्। यं मृतात्मने त्वचमाकर्षयामि। रं वैवस्वतात्मने रक्तमाकर्षयामि। लं जीवहात्मने मांसमाकर्षयामि। वं प्राणहात्मने मेद आकर्षयामि। शं आकृष्यात्मने अस्थीन्याकर्षयामि। षं ग्रथिन्यात्मने मज्जामाकर्षयामि। सं प्रमोदात्मने शुक्रमाकर्षयामि। हं विस्फुलिंगिन्यात्मने जीवमाकर्षयामि। क्षं क्षेत्रप्रतिहर्यात्मने न र्वधातूनाकर्षयामि। एवं वश्यादौ वशयामीत्यादि बोद्धव्यम्। एवं मृतादिप्रयोगो नववारं, तत्र साध्यं पाशेन बद्धचेष्टं अंकुशेनाकृष्टप्राणं भावयेत्। ततोऽर्धरात्रे यदा साध्यस्य सुषुप्तिर्भवति तदा साध्यहृदंबुजेऽष्टदलेषु वायव्याग्नेयपूर्वपश्चिमेशाननैर्ऋत्योत्तरयाम्येषु कर्णिकायां च यं रं लं वं शं षं सं हं क्षं इति नवधा मंत्रगताक्षरं भ्रमररूपस्थितं ध्यायेत्।

साध्यं ब्रह्मरंध्रतःप्रवृत्तसुषुम्णातंतुबद्धबुद्धया ध्यायेत्। ततः स्वहृदये पुनः हृत्कमलवायव्यात् उक्तक्रमाष्टपत्रे कर्णिकामध्यस्थयादीन् वर्णान् भ्रमरीरूपान् ध्यायेत्। ततश्च प्रवहन्निःश्वासनाडीमार्गेण यादीन् भ्रमर्येकैकं स्वकीयमुच्चरेत्। साध्यस्य हृद्गतं भ्रमरैकैकभ्रमर्येकैकासक्तचित्ताकृष्यानीय तां तां पुत्तल्या हृदयकमलेषु स्थापयेत्। तत्र वश्यादि शुभकर्मसु स्वहृदि स्थापयेत्। पुत्तलीं न कुर्यात्। ततः समस्तं नवधा भ्रमरानानीय सास्यस्य शिरोबिन्दुगतं यं सुषुम्णातंतुरूपं षड्बिन्दुभ्रमरं ध्यायेत्। रमित्यग्निबीजेन निष्कासयेत्। एवं भ्रमरभ्रमरीध्यानहरणतंतुच्छेदस्तंभनं पुनः पुनरेकादशवारं कृत्वा सर्वकर्मस्वर्धरात्रे कर्तव्यप्रयोगे यथाकामं भ्रमराक्षराणां ध्यानम्। तत्र वश्याकर्षणकर्मादिषु स्वहृदये प्राणानानीय स्थापयेत्।

षड्बिन्दुः कीटविशेषः। स च प्रथमजलपाते उत्पद्यते। तस्य पंचकुष्ठ इति नामान्तरम्। तस्य पंचबिन्दवः श्वेता भवन्ति। एको बिन्दुर्भिन्नवर्णः। तदुक्तं नीतिनिर्णीतादौपनिषदि—

'पंचकुष्ठस्य कीटस्य पंच स्युः श्वेतबिन्दवः।
भिन्नवर्णास्तथा चैकः सुस्निग्धश्चैव वर्णतः॥
भवेत् स जलदारंभे षड्बिन्दुरिति कीर्तितः।

साध्यर्क्षवृक्षास्तु—

'कारस्करोऽथ धात्री स्यादुदुम्बरतरुः पुनः।
जंबूखदिरकृष्णाख्यौ वंशपिप्पलसंज्ञकौ॥
नागरोहिणनामानौ पलाशप्लक्षसंज्ञकौ।
अंवष्ठबिल्वार्जुनाख्यविकंकतमहीरुहाः॥
वकुलः सरलः सर्जो वंजुलः पनसार्ककौ।
शमीकदम्बनिम्बाम्रमधूका ऋक्षशाखिनः॥ इति।

अयमर्थः—

कारस्करः—कुचिला। धात्री—आमलकी। मृगशिरसस्तु श्वेतसार एव खदिरः। आर्द्रायास्तु कृष्णसारः खदिरः। नागो—नागकेसरः। रोहिणो—वटः। प्लक्षः—पर्कटी।

अंवष्ठः—आम्रातः। अर्जुनः—ककुभः। विकंकतः—स्रुवावृक्षः। सर्जः—सालः। वंजुलः—अशोकः। एषां फलं सामान्यत उक्तम्।

'आयुःकामः स्वर्क्षवृक्षं छेदयेन्न कदाचन। इति।

तन्त्रान्तरे पुत्तलीनिर्माणे विशेष उक्तः—

आयामः पादयोस्तस्या आकट्याश्चतुरंगुलः।
पादोनद्व्यंगुला कुक्षिस्तावानेवांगुलोदरम् ॥४३५८॥

अंगुलद्वयमावक्त्रात् कण्ठदेशस्य मानकम्।
शिरसो वक्त्रमानं स्यात् सार्द्धद्वयमिहांगुलैः।
द्वादशांगुलयः सर्वाः साध्यपुत्तलिका स्मृताः ॥॥४३५९॥ इति।

अन्यत्रापि विशेषः—

पञ्चांशेन मुखं कृत्वा तदर्धेन गलं पुनः।
शिष्टेन सर्वाण्यङ्गानि पुत्तलीनां प्रकल्पयेत् ॥४३६०॥

मारणे दारुरूपां तां द्वादशांगुलसंमिताम्।
षण्णवत्यंगुलां वापि कुर्यान्मात्रांगुलैः क्रमात् ॥४३६१॥
होमार्थं कल्पितायास्तु तस्याः प्रोक्तो विधिस्त्वयम्।
वश्याकर्षणयोः कुर्यात् तां प्रोक्तां द्वादशांगुलैः ॥४३६२॥ इति।

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे षट्कर्मनिरूपणं नाम पंचविंशः पटलः ॥२५॥

षड्विंशः पटलः।

अथ मुद्राः प्रवक्ष्यामि नानातंत्रोदिताः क्रमात्।
याभिः कृताभि र्मोदन्ते मंत्रदेवाश्च सर्वशः ॥४३६३॥

यामले—

मोदनात् सर्वदेवानां द्रावणात् पापसंततेः।
तस्मान् मुद्रेयमाख्याता सर्वकामार्थसाधिनी ॥४३६४॥
मुदं रातीति मुद्रा स्यात् येनैका मुष्टिरेव तु।
स्वल्पभेदात् कोपहर्षौ प्राणिनां जनयत्यतः ॥४३६५॥

तेनैव सर्वदेवानां मुद्रा हर्षप्रदा मता ।
मुद्राकाले दर्शनीया मुद्रास्ताः सर्वदा शिवे ॥४३६६॥
पृथिव्यादीनि भूतानि कनिष्ठादिक्रमान्मताः ।
तेषामन्योन्यसंभेदप्रकारैस्तत् प्रपञ्चिता ॥४३६७॥

यच्चाकाशवाय्वग्निसलिलभूरूपाः स्वांगुल्यो हि पंचभूतात्मिकांगुष्ठाद्याः । तासां मिथः संयोगरूपसंकेतात् देवताप्रगुणीभावपूर्वको मोदः सान्निध्यं करोतीत्यर्थः ।

अर्चने जपकाले तु ध्याने काम्ये च कर्मणि ।
तत्तन्मुद्राः प्रयोक्तव्याः देवतासन्निधायिकाः ॥४३६८॥ इति ।

मंत्रदर्पणे–

नादीक्षितस्तु रचयेत् क्षुभ्यन्ति हि देवता यस्मात् ।
मुद्राः भवन्ति विफलाः सोऽपि च रोगी दरिद्रः स्यात् ॥४३६९॥
अंकुशाख्या भवेन्मुद्रा तीर्थावाहनकर्मणि ।

तच्च मंत्रदर्पणे–

अंकुशाख्या दक्षमुष्टिरंकुशीकृततर्जनी ॥४३७०॥
मध्यमा सरलीभूता तीर्थावाहनकर्मणि ।
रक्षणे कुन्तमुद्रोक्ता तस्या लक्षणमुच्यते ॥४३७१॥

तंत्रसमुच्चये–

मुष्ट्योरूर्ध्वीकृतांगुष्ठौ तर्जन्यग्रे तु विन्यसेत् ।
सर्वरक्षाकरी ह्येषा कुन्तमुद्रा प्रकीर्तिता ।
कुंभमुद्राऽभिषेके स्यात् तस्या लक्षणमुच्यते ॥४३७२॥

मंत्रदर्पणे–

वामांगुष्ठे दक्षांगुष्ठं क्षिप्त्वा हस्ताभ्यां चेत् ।
मध्याकाशां मुष्टिं कुर्यात् कुंभाख्येयं मुद्रा प्रोक्ता ॥४३७३॥

मध्याकाशां मध्यशून्याम् ।

कथिता तत्त्वसंज्ञा तु मुद्रा बहुषु कर्मसु ।

ज्ञानार्णवे–

अंगुष्ठानामिकाभ्यां तु तत्त्वमुद्रेयमीरिता ।
कालकर्णी प्रयोक्तव्या विघ्नप्रशमकर्मणि ॥४३७४॥

मंत्रदर्पणे–

कृत्वोन्नते च वृद्धे मुष्ट्योः संलग्नयो र्युगयोः ।
ते त्वविवक्त्रे कुर्यात् विघ्नघ्नी कालकर्णिका मुद्रा ॥४३७५॥

प्रयोगसारे–

त्रिशूलाग्रौ करौ कृत्वा व्यत्यस्तावभियोजयेत् ।
अस्त्रमुद्रेयमाख्याता वह्निप्राकारलक्षणा ॥४३७६॥

मुद्रा तु वासुदेवाख्या ध्याने तल्लक्षणं यथा ।
अंजल्यञ्जलिमुद्रा स्यात् वासुदेवाह्वया च सा ॥४३७७॥

अञ्जलीति विभक्तिलोपः छांदसः ।

मातृकान्यासमुद्राया लक्षणं वच्मि सांप्रतम् ।

तंत्रे–

ललाटेऽनामिकामध्ये विन्यसेत् मुखपङ्कजे ।
तर्जनीमध्यमानामा वृद्धानामे च नेत्रयोः ॥४३७८॥

अंगुष्ठं कर्णयो र्न्यस्य कनिष्ठांगुष्ठकौ नसोः ।
मध्यास्तिस्रो गंडयोश्च मध्यमां चौष्ठयो र्न्यसेत् ॥४३७९॥

अनामां दन्तयो र्न्यस्य मध्यमां चोत्तमाङ्गके ।
मुखेऽनामां मध्यमां च हस्ते पादे च पार्श्वयोः ॥४३८०॥

कनिष्ठानामिकामध्यास्तासु पृष्ठे च विन्यसेत् ।
ताः सांगुष्ठा नाभिदेशे सर्वा कुक्षौ च विन्यसेत् ॥४३८१॥

हृदये च तलं सर्वमंसयोश्च ककुत् स्थले ।
हृत्पूर्वहस्तपत्कुक्षिमुखेषु तलमेव च ॥४३८२॥

एताश्च मातृकामुद्राः क्रमेण परिकीर्तिताः ।
अज्ञात्वा विन्यसेद् यस्तु न्यासः स्यात् तस्य निष्फलः ॥४३८३॥

मुखेनामां मध्यमामित्यत्र मुखपदं जिह्वापरमिति सर्वत्राविरोधः । व्योमेन्द्वौरसनार्णकर्णिकमचामित्यादौ रसनापदेन विसर्गो गृह्यत इति शारदावचनादत्रावधेयम् । पार्श्वयोरित्यस्य कनिष्ठानामिकामध्या'इत्यनेनैव सम्बन्धो नतु मध्यमामित्यनेन । तास्तु पृष्ठे च विन्यसेदित्यत्र ता इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । एवं च शीर्षोष्ठकरसंधिपार्श्वेषु मध्यमा मतेति ।

कूर्ममुद्रा समाख्याता देवताध्यानकर्मणि ।

तच्च मंत्रदर्पणे-

वामे पैत्र्ये तीर्थे तस्यांगुष्ठेन तर्जन्याम् ॥४३८४॥

दक्षस्याधो वदने मध्यानामे प्रदेशिनीं स्वल्पाम् ।

वामस्यान्यास्तिस्रो दक्षस्योर्ध्वानना: पृष्ठे ॥४३८५॥

उन्नतदक्षांगुष्ठं कच्छपपृष्ठप्रभं दक्षम् ।

पाणिं कृत्वा ध्यायेत् कच्छपमुद्रा समाख्याता ॥४३८६॥

अस्यार्थः-वामकरस्य तर्जन्यंगुष्ठमध्ये दक्षिणकरस्याधोमुखे मध्यमानामिके योजयेत्। पुनस्तस्य वामस्यांगुष्ठे दक्षस्य प्रदेशिनीं तर्जनीम्। पुनर्वामस्य तर्जन्यां दक्षस्य स्वल्पां कनिष्ठाम्। अन्या अवशिष्टास्तिस्रो मध्यमानामाकनिष्ठा ऊर्ध्वाग्रदक्षस्य पृष्ठे योजयेत्। पुनरुन्नतं दक्षिणांगुष्टं कृत्वा दक्षपाणितलं कूर्मपृष्ठवत् कुर्यादित्यर्थः।

त्रिखंडा त्रिपुरा ध्याने तस्या लक्षणमुच्यते।

ज्ञानार्णवे-

पाणिद्वये महेशानि परिवर्तनयोगतः ।

योजयित्वा तर्जनीभ्यामनामे धारयेत् प्रिये ॥४३८७॥

मध्यमे योजयेन्मध्ये कनिष्ठे तदधस्तथा ।

अंगुष्ठावपि संयोज्य त्रिधा युग्मक्रमेण तु ॥४३८८॥

त्रिखंडेयं समाख्याता त्रिपुराह्वानकर्मणि ।

शिखया गालिनीमुद्रामर्घ्यस्योपरि चालयेत् ॥४३८९॥

शिखया वषट्कारेण ।

यामले-

कनिष्ठांगुष्ठकौ शक्तौ करयोरितरेतरम् ।

तर्जनीमध्यमानामाः संहता भुग्नवर्जिताः ॥४३९०॥

मुद्रैषा गालिनी प्रोक्ता शंखस्योपरि चालिता ।

मत्स्याख्यमुद्रया त्वर्घ्यपात्रमाच्छादयेत् सुधीः ॥४३९१॥

तच्च मंत्रदर्पणे-

दक्षिणकरस्य पृष्ठे वामकरतलमथ विन्यस्य ।

सम्यक् चलितांगुष्ठौ कुर्यात् मत्स्यस्वरूपिणीं मुद्राम् ॥४३९२॥

मुद्रा तु देवताह्वाने नव प्रोक्ता मनीषिभिः ।
आवाहनी स्थापनी च तृतीया सन्निधापनी ॥४३९३॥
सन्निरोधनिका तुर्या संमुखीकरणी परा ।
सकलीकरणी षष्ठी सप्तमी त्ववगुण्ठनी ॥४३९४॥
यामृतीकरणी प्रोक्ता धेनुमुद्रा तु साष्टमी ।
परमीकरणी मुद्रा नवमी परिकीर्तिता ॥४३९५॥
क्रमेण लक्षणान्यासां प्रोक्तं ज्ञानार्णवे च यत् ।
हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वानामिकामूलपर्वणोः ॥४३९६॥
अंगुष्ठौ निक्षिपेत् सेयं मुद्रात्वावाहनी स्मृता ।
सेयं तु विपरीता स्यात् मुद्रास्थापनकर्मणि ॥४३९७॥

विपरीता अधोमुखीत्यर्थः ।

बाह्यांगुष्ठद्वये मुष्टी मुद्रा स्यात् सन्निधापनी ।
अंगुष्ठगर्भिणी सैव मुद्रा स्यात् सन्निरोधनी ॥४३९८॥
उत्तानमुष्टियुगला संमुखीकरणी मता ।
अङ्गमंत्रान् न्यसेद् देवि ! देवांगे साधकोत्तमः ॥४३९९॥
सकलीकरणं नाम मुद्रेयं व्याप्तिरूपिणी ।
सव्यहस्तकृतामुष्टि दीर्घाऽधोमुखतर्जनी ॥४४००॥
अवगुण्ठनमुद्रेयमभितो भ्रामिता सती ।
अन्योन्याभिमुखश्लिष्टा कनिष्ठानामिका पुनः ॥४४०१॥
तथैव तर्जनीमध्या धेनुमुद्रा प्रकीर्तिता ।
अमृतीकरणं कुर्यात् तया साधकसत्तमः ॥४४०२॥
अन्योन्यग्रथितांगुष्ठौ प्रसारितकरांगुलीः ।
महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधैः ॥४४०३॥
खेचर्या वक्ष्यमाणाया मध्यमे करपृष्ठगे ।
तर्जन्यौ ऋजुसंश्लिष्टे मुद्रा प्रोक्ता नमस्कृतौ ।
लेलिहा नाम मुद्रेयं जीवन्यासे प्रकीर्तिता ॥४४०४॥

गंधादिनैवेद्यान्ता नवमुद्रा पूजापटले सर्वसाधारणत्वेनोक्ता ।

अत्र शक्तिविषये किञ्चिद् विशेषः तंत्रसारे तंत्रान्तरे च–

मध्यमानामिकांगुष्ठैरंगुल्यग्रेण पार्वति ।
दद्याच्च विमलं गंधं मूलमंत्रेण साधकः ॥४४०५॥

अंगुष्ठतर्जनीभ्यां च पुष्पं चक्रे निवेदयेत् ।
यथा गंधं तथा देवि धूपं दद्याद् विचक्षणः ॥४४०६॥

मध्यमानामिकाभ्यां तु मध्यपर्वणि देशिकः ।
अंगुष्ठाग्रेण देवेशि धृत्वा धूपं निवेदयेत् ॥४४०७॥

उत्तोलनं त्रिधा कृत्वा गायत्र्या मूलयोगतः ।
अंगुष्ठानामिकाभ्यां तु दीपमुद्रा प्रकीर्तिता ।
पुष्पं निवेदयेद् देवि मुद्रया ज्ञानसंज्ञया ॥४४०८॥

अंगुष्ठतर्जनीयोगाद् ज्ञानमुद्रा प्रकीर्तिता ।
तत्त्वाख्यमुद्रया देवि नैवेद्यं विनिवेदयेत् ॥४४०९॥

मूलेनाचमनं दद्यात् तांबूलं तत्त्वमुद्रया ।
प्राणादिमुद्रा नैवेद्यं दत्वा संदर्शयेत् सुधीः ॥४४१०॥

ताश्च ललिताविलासे–

कनिष्ठानामिकेऽनामामध्ये मध्यां सतर्जनीम् ।
तर्जन्यादित्रयं तुर्यमंगुष्ठेन स्पृशेत् क्रमात् ॥४४११॥

प्राणापानव्यानोदानसमानास्ते द्विठान्तिमाः ।
ताराद्याः प्राणादिमंत्रा मुद्राः पूर्वोदिताः प्रिये ॥४४१२॥

भुज्यमानं शिवं ध्यायन् ग्रासमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
अंगुल्यः कुटिलीभूताः विरलाग्राः परस्परम् ॥४४१३॥

शिवमित्युपलक्षणम् ।

ग्रासमुद्रा समाख्याता सव्यपाणौ नियोजिता ।
शिवविष्णुदिनेशानां गणेशाम्बिकयोरपि ॥४४१४॥

यच्च पूजापद्धतौ न्यासजालमुक्त्वा तत्तत् कल्पोक्तमुद्राः प्रदर्श्य ध्यानं कृत्वा मानसैः संपूज्य शंखस्थापनं कुर्यात् । तच्च मंत्रदर्पण-सनत्कुमारीय–ज्ञानार्णव-गौतमीय-संमतम् ।

कथ्यन्ते मुद्रिकास्तत्र दशमुद्राः शिवस्य तु ।
लिङ्गयोनित्रिशूलाख्यामालेष्टाभीमृगाह्वयाः ।
खट्वाङ्गाख्या कपालाख्या तथा डमरुनामिका ॥४४१५॥ इति ।

तद्यथा—

न्यासजालं प्रविन्यस्य प्राणानायम्य वाग्यतः ।
कल्पोक्तां दर्शयेन् मुद्रां ध्यात्वा देवं च मानसैः ॥४४१६॥

पूज्य शंखादिकं स्थाप्य बाह्यपूजां समारभेत् ।
अथैतासां लक्षणानि निगद्यन्ते क्रमेण हि ॥४४१७॥

मंत्रदर्पणे—

उच्छ्रितदक्षांगुष्ठं वामांगुष्ठेन दर्शयेद् धीमान् ।
वामांगुलिश्च पश्चाद् दक्षाभि र्बन्धयेल्लिंगम् ॥४४१८॥

दक्षाभिरङ्गुलीभिः । लिङ्गमिति लिङ्गमुद्रेत्यर्थः ।

संमुखौ तु करौ कृत्वा मध्यमापृष्ठसंस्थिते ।
वक्राभ्यां तर्जनीभ्यां तु निबध्नीयादनामिके ॥४४१९॥

कनिष्ठे द्वे नियुञ्जीत मध्यमा क्रोडदेशके ।
कनिष्ठयोरग्रसंस्थावंगुष्ठौ योनिरीरिता ॥४४२०॥

तिस्रः प्रसारयेच्चेदंगुष्ठेन च कनिष्ठिकां बध्वा ।
एषा त्रिशूलमुद्रा दक्षिणहस्तस्थिता कथिता ॥४४२१॥

तर्जन्यंगुष्ठाग्रे ग्रथिते कृत्वा प्रसारयेदपराः ।
तिस्रोऽङ्गुलीश्च मिलिताः कविभिः कथिताक्षमालेयम् ॥४४२२॥

कुरु वरदाभयमुद्रे वरदाभयवत्करौ कृत्वा ।
सरलाः सकलाऽङ्गुल्योऽङ्गुष्ठं निक्षिप्य तर्जनीमूले ॥४४२३॥

मध्यानामाशिरसि वृद्धा शिखरं नियुञ्जीत ।
एषेयं मृगमुद्रा यद्यवशिष्टे समुच्छ्रिते कुर्यात् ॥४४२४॥

दक्षिणपंचांगुलयो मिलितार्धसमुन्नताः कार्याः ।
खट्वाङ्गाख्या मुद्रा प्रियकृत् प्रोक्ता शिवस्यापि ॥४४२५॥

पात्रमिव वामहस्तं कृत्वाङ्गे वामके न्यस्य ।
कुर्याद्दुच्छ्रितवच्चेत् कपालमुद्रा भवेदेषा ॥४४२६॥
दक्षिणमुष्टिं शिथिलां किञ्चित् सर्वां समुच्छ्रितां मध्याम् ।
संचालयेच्च कर्णे प्रभवति खलु डमरुमुद्रेयम् ॥४४२७॥
एकोनविंशति र्मुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शंखचक्रगदापद्मवेणुश्रीवत्सकौस्तुभाः ॥४४२८॥
वनमाला तथा ज्ञानमुद्रा विल्वाह्वया तथा ।
गरुडाख्या परा मुद्रा विष्णोः संतोषवर्धिनी ॥४४२९॥
नारसिंही च वाराही हयग्रीवी धनुस्तथा ।
बाणमुद्रा च परशु र्जगन्मोहिनिका परा ।
काममुद्रेत्यमूषां तु कथ्यन्ते लक्षणानि हि ॥४४३०॥

यामले–

वामांगुष्ठं च संगृह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना ।
कृत्वोत्तानं ततो मुष्टिमंगुष्ठं तु प्रसारयेत् ॥४४३१॥
वामांगुल्यस्तथाश्लिष्टाः संयुक्ताः सुप्रसारिताः ।
दक्षिणांगुष्ठसंस्पृष्टा ज्ञेयैषा शंखमुद्रिका ॥४४३२॥
हस्तौ तु संमुखौ कृत्वा संभुग्नौ सुप्रसारितौ ।
कनिष्ठांगुष्ठकौ लग्नौ मुद्रैषा चक्रसंज्ञिका ॥४४३३॥
अन्योन्याभिमुखौ हस्तौ कृत्वा तु ग्रथितांगुलीः ।
अंगुष्ठौ मध्यमे भूयः संलग्ने सुप्रसारिते ।
गदामुद्रेयमुदिता विष्णोः संतोषवर्धिनी ॥४४३४॥
हस्तौ तु संमुखौ कृत्वा सन्नतप्रोन्नतांगुलीः ।
तलान्तर्मिलितांगुष्ठौ कृत्वैषा पद्ममुद्रिका ॥४४३५॥
ओष्ठे वामकरांगुष्ठो लग्नस्तस्य कनिष्ठिका ।
दक्षिणांगुष्ठसंयुक्ता तत् कनिष्ठा प्रसारिता ॥४४३६॥
तर्जनीमध्यमानामा किञ्चित् संकोच्य चालिता ।
वेणुमुद्रा भवत्येषा सुगुप्ता प्रेयसी हरेः ॥४४३७॥

अन्योन्यस्पृष्टकरयो र्मध्यमानामिकांगुलीः ।
अंगुष्ठेन तु बध्नीयात् कनिष्ठामूलसंस्थिते ॥४४३८॥
तर्जन्यौ कारयेदेषा मुद्रा श्रीवत्ससंज्ञका ।
अनामा पृष्ठसंलग्ना दक्षिणस्य कनिष्ठिका ॥४४३९॥
कनिष्ठयाऽन्यया बध्वा तर्जन्या दक्षया तथा ।
वामाऽनामाञ्च बध्नीयाद् दक्षिणांगुष्ठमूलके ॥४४४०॥
अंगुष्ठमध्यमे वामे संयोज्य सरलाः पराः ।
चतस्रोऽप्यग्रसंलग्ना मुद्रा कौस्तुभसंज्ञिका ॥४४४१॥
स्पृशेत् कण्ठादिपादान्तं तर्जन्यंगुष्ठया तथा ।
करद्वयेन मालावन्मुद्रेयं वनमालिका ॥४४४२॥
तर्जन्यंगुष्ठकौ शक्तावग्रगौ विन्यसेद् हृदि ।
वामहस्ताम्बुजं वामजानुमूर्धनि विन्यसेत् ।
ज्ञानमुद्रा भवेदेषा रामचंद्रस्य प्रेयसी ॥४४४३॥
अंगुष्ठं वाममुद्दण्डितमितरकरांगुष्ठकेनापि बध्वा
तस्याग्रं पीडयित्वांगुलिभिरपि च ता वामहस्तांगुलीभिः ।
बध्वा गाढं हृदि स्थापयतु विमलधी र्व्याहरन् मारबीजं
बिल्वाख्या मुद्रिकैषा स्फुटमिह गदिता गोपनीया विधिज्ञैः ॥४४४४॥

इतरकरांगुष्ठकेन दक्षिणांगुष्ठेन तस्य दक्षिणहस्तस्यांगुष्ठस्य अंगुलीभिर्दक्षिणहस्तांगुलीभिः ताः दक्षिणहस्तांगुलीः । मारबीजं कामबीजम् ।

हस्तौ तु विमुखौ कृत्वा ग्रथयित्वा कनिष्ठिके ।
मिथस्तर्जनिके श्लिष्टे श्लिष्टावंगुष्ठकौ तथा ॥४४४५॥
मध्यमानामिके द्वौ तु पक्षाविव विचालयेत् ।
एषा गरुडमुद्रा स्याद् विष्णोः संतोषवर्धिनी ॥४४४६॥
जानुमध्ये करौ कृत्वा चिबुकोष्ठौ समावृतौ ।
हस्तौ तु भूमिसंलग्नकम्पमानौ पुनः पुनः ॥४४४७॥
मुखं विवृतकं कुर्याल्लेलिहानां च जिह्वकाम् ।
अधोमुखीभिः सर्वाभि र्मुद्रेयं नृहरे र्मता ॥४४४८॥

दक्षोपरि करं वामं कृत्वोत्तानमधः सुधीः ।
नमयेदिति संप्रोक्ता मुद्रा वाराहसंज्ञिका ॥४४४९॥

अस्याः प्रकारान्तरमपि–

दक्षहस्तं चोर्ध्वमुखं वामहस्तमधोमुखम् ।
अंगुल्यग्रं तु संयुक्तं मुद्रा वाराहसंज्ञिका ॥४४५०॥

वामहस्ततले दक्षा अंगुलीस्तास्त्वधोमुखीः ।
संरोप्य मध्यमान्तासामुन्नम्याधो विकुञ्चयेत् ॥४४५१॥

हयग्रीवप्रिया चैषा तन्मूर्तेरनुकारिणी ।
वामस्य मध्यमाग्रं तु तर्जन्यग्रेण योजयेत् ॥४४५२॥

अनामिकां कनिष्ठां च तस्यांगुष्ठेन पीडयेत् ।
दर्शयेद् वामके स्कन्धे धनुर्मुद्रेयमीरिता ॥४४५३॥

दक्षमुष्टेस्तु तर्जन्या दीर्घया बाणमुद्रिका ।

यद्वा ज्ञानार्णवे–

यथा हस्तगतं चापं तथा हस्तं कुरु प्रिये ।
चापमुद्रेयमाख्याता वामहस्ते व्यवस्थिता ॥४४५४॥

यथा हस्तगता बाणा तथा हस्तं कुरु प्रिये ।
बाणमुद्रेयमाख्याता रिपुवर्गनिकृन्तनी ॥४४५५॥

तले तलं तु करयोस्तिर्यक् संयोज्य चांगुलीः ।
संहताः प्रसृताः कुर्यान्मुद्रा परशुसंज्ञिका ॥४४५६॥

उच्छ्रितांगुष्ठमुष्टी द्वे मुद्रा त्रैलोक्यमोहिनी ।
हस्तौ तु संपुटौ कृत्वा प्रसृतांगुलिकौ तथा ॥४४५७॥

तर्जन्यौ मध्यमापृष्ठे अंगुष्ठौ मध्यमाश्रितौ ।
काममुद्रेयमुदिता सर्वदेवप्रियंकरी ॥४४५८॥

श्रीगोपालार्चने वेणुं नृहरे नारसिंहिकाम् ।
वराहस्य च पूजायां वाराहाख्यां प्रयोजयेत् ॥४४५९॥

हयग्रीवार्चने मुद्रां हयग्रीवीं प्रदर्शयेत् ।
रामार्चने धनुर्बाणमुद्रे परशुसंज्ञिकाम् ॥४४६०॥

जगन्मोहनसंज्ञां तु परशुरामस्य पूजने ।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या लक्षणं तत् प्रकीर्तितम् ॥४४६१॥

सप्त मुद्रा गणेशस्य दंतपाशांकुशाह्वयाः ।
विघ्नं परशुसंज्ञं च तथा लड्डुकसंज्ञिका ।
बीजपूराह्वया चासामुच्यन्ते लक्षणानि च ॥४४६२

उत्तानोर्ध्वमुखी मध्या सरला बद्धमुष्टिका ।
दंतमुद्रा समाख्याता सर्वागमविशारदैः ॥४४६३॥

वाममुष्टेस्तु तर्जन्या दक्षमुष्टेस्तु तर्जनीम् ।
संयोज्यांगुष्ठकाग्राभ्यां तर्जन्यग्रे स्वके क्षिपेत् ॥४४६४॥
एषा पाशाह्वया मुद्रा विद्वद्भिः परिकीर्तिता ।
ऋज्वीं च मध्यमां कृत्वा तर्जनीं मध्यपर्वणि ॥४४६५॥
संयोज्याकुञ्चयेदेतां मुद्रैषाङ्कुशसंज्ञिका ।
परशुमुद्रा निगदिता प्रसिद्धा लड्डुका तथा॥४४६६॥
बीजापूराह्वया मुद्रा प्रसिद्धत्वादुपेक्षिता ।
पाशांकुशवराभीतिखड्गचर्मधनुःशराः ॥४४६७॥
मौशली च तथा दौर्गी महायोनिरिमाः प्रियाः ।
शक्ते र्मुद्रा अथैतासामुच्यन्ते लक्षणानि च ॥४४६८॥
पाशांकुशौ पुरैवोक्तौ वराभीतो निगद्यते ।
अधःस्थितो दक्षहस्तः प्रसृतो वरमुद्रिका ॥४४६९॥
ऊर्ध्वीकृतो वामहस्तः प्रसृतोभयमुद्रिका ।
बध्वा स्वस्यानामे दक्षांगुष्ठेन यदि कुर्यात् ।
स्यादसिमुद्रा सरले संस्पृष्टे तर्जनीमध्ये ॥४४७०॥
वामं हस्तं तद्वत् तिर्यक् कृत्वा प्रसारयेत् पश्चात् ।
आकुञ्चितांगुलिं चेत् कुर्यादिति चर्ममुद्रा स्यात् ॥४४७१॥

उपर्यधोदक्षिणवाममुष्टी
कुर्यात् तदा स्यान् मुशलाख्यमुद्रा ।
शिरःस्थिता चेदियमेव मुद्रा
दौर्गी प्रिया विघ्नविनाशिकाद्या ॥४४७२॥

कृत्वा हस्तौ संमुखौ तर्जनीभ्यां
बध्वाऽनामे मध्यमापृष्ठसंस्थे ।
दीर्घे मध्ये क्रोडसंस्थे कनिष्ठे
योनिः प्रोक्तांगुष्ठकौ चेत्तदग्रे ॥४४७३॥

दीर्घे मध्ये कनिष्ठे च क्रोडसंस्थे मध्यमाक्रोडसंस्थे तदग्रे कनिष्ठयोरग्रद्वये इति ।

मूलेऽगुष्ठौ च तयो र्भवति हि योनि र्महायोनिः ।
तस्या वक्त्रे मध्ये सांगुष्ठे भूतिनी सा स्यात् ॥४४७४॥
कालीप्रिया मुण्डमुद्रा तस्या लक्षणमुच्यते ।
मुष्टिं तु वामपाणेः कुर्यादभ्यंतरांगुष्ठम् ॥४४७५॥
दक्षस्य मध्यमाग्रं संलंब्य तया तु तर्जन्याम् ।
अंगुष्ठाग्रं योज्यं दक्षिणपाणि च योजयेन् मुष्टौ ।
दर्शय दक्षिणभागे मस्तकमुद्रा स्मृता काल्याः ॥४४७६॥

मस्तकमुद्रा मुण्डमुद्रा इति ।

ताराप्रिया पञ्चमुद्रा योन्याख्या भूतिनी तथा ।
बीजाख्या च तथा दैत्यधूमिनी च तथापरा ॥४४७७॥
लेलिहानेति चासां तु कथ्यन्ते लक्षणान्यथ ।
लक्षणं योनिभूतिन्योः कथितं कथ्यतेऽपि च ॥४४७८॥
बध्वा तु योनिमुद्रां वै मध्यमे कुटिले कुरु ।
अंगुष्ठौ तु तदग्रे च मुद्रेयं भूतिनी मता ॥४४७९॥
मिथश्चांगुलीः संधिषु स्थापयित्वा
अनामे च बध्वा ततस्तर्जनीभ्याम् ।
कनिष्ठे समृद्धे समाग्रेऽन्तराले
न्यसेन् मध्यमे दण्डरूपे च योनिः ॥४४८०॥

बीजमुद्रा तु वक्तव्या कथ्यते दैत्यधूमिनी ।
संयोज्याथ कनिष्ठे पृष्ठेऽन्योन्यं त्वनामायाः ॥४४८१॥
अंगुष्ठाभ्यां बध्वा तौ बध्नीयात् स्वमध्याभ्याम् ।
क्षिप्त्वाऽनामे वक्त्रे वृद्धा मूले च तर्जन्यौ ॥४४८२॥

सरले मिलिते कुर्यात् स्याद् दानवधूमिनीमुद्रा ।
वक्त्रं विस्तारितं कृत्वाप्यधो जिह्वां च चालयेत् ।
पार्श्वस्थं मुष्टियुगलं लेलिहानेति कीर्त्यते ॥।॥४४८३॥

योनि र्मायाधरः सेन्दु र्वधूः कूर्चं क्रमाद् विदुः ।
बीजानि चोच्चरन् मंत्री मुद्रावंधनमाचरेत् ॥४४८४॥

योनिः एकारः। माया ह्रीं। अधरः ऐकारः। सेन्दुः सानुस्वारः। वधूः स्त्रींकारः। कूर्चं हूंकारः।

श्रीमत्त्रिपुरसुंदर्याः कथ्यन्ते नवमुद्रिकाः ।

ज्ञानार्णवे–

क्षोभणद्रावणाकर्षवश्योन्मादमहांकुशाः ॥४४८५॥

खेचरीबोजयोन्याख्या नवमुद्रास्त्वनुक्रमात् ।
अथैतासां लक्षणानि निगद्यन्ते क्रमेण हि ।
मध्यमामध्यगे कृत्वा कनिष्ठेंऽगुंष्ठरोधिते ॥४४८६॥

तर्जन्यौ दण्डवत् कृत्वा मध्यमोपर्य्यनामिके ।
एषा च प्रथमा मुद्रा सर्वसंक्षोभकारिणी ॥४४८७॥

कनिष्ठेऽङ्गुष्ठेति संधिः छांदसः।

एतस्या एव मुद्राया मध्यमे सरले यदा ।
क्रियते परमेशानि सर्वविद्राविणी तदा ॥४४८८॥

मध्यमातर्जनीभ्यां च कनिष्ठानामिके समे ।
अंकुशाकाररूपाभ्यां मध्यमे परमेश्वरि ॥४४८९॥

अंगुष्ठं तु नियुंजीत कनिष्ठानामिकोपरि ।
इयमाकर्षिणी मुद्रा त्रैलोक्याकर्षणक्षमा ॥४४९०॥

अंकुशाकाररूपाभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विशिष्टा मध्यमे तादृशमध्यमातर्जन्यो र्मध्यवर्त्तिन्यौ कनिष्ठानामिके समे पूर्वमुद्रातुल्ये ।

पुटाकारौ करौ कृत्वा तर्जन्यावंकुशाकृती ।
परिवर्तक्रमेणैव मध्यमे तदधोगते ॥४४९१॥

क्रमेण देवि तेनैव कनिष्ठाऽनामिकादयः ।
संयोज्य निविडाः सर्वा अंगुष्ठावग्रदेशतः ।
मुद्रेयं परमेशानि सर्ववश्यकरी स्मृता ॥४४९२॥

कनिष्ठानामिकादय इति । कनिष्ठानामिकापदं दक्षहस्तकनिष्ठानामिकापरम् । आदिपदेन वामहस्तकनिष्ठानामिकापरिग्रहः । अंगुष्ठावग्रदेशत इति । अंकुशाकारयोस्तर्जन्योरग्रदेशेंऽगुष्ठौ योजयेदिति शेषः ।

संमुखौ तु करौ कृत्वा बध्वा ते मध्यमेऽन्त्यजे ।
अनामिका तु सरले तद्बहिस्तर्जनोद्वयम् ॥४४९३॥
दण्डाकारं ततोंऽगुष्ठौ मध्यमा नखदेशगौ ।
मुद्रैषोन्मादिनी नाम क्लेदिनी सर्वयोषिताम् ॥४४९४॥

अंत्यजे कनिष्ठे दक्षिणहस्तकनिष्ठां वामहस्तमध्यमया बध्वा वामहस्तकनिष्ठां दक्षिणहस्तमध्यमया बध्वा मध्यमयो र्नखदेशयोः अंगुष्ठौ निःक्षिपेदित्यर्थः ।

अस्यास्त्वनामिकायुग्ममधःकृत्वांकुशाकृती ।
तर्जन्यावपि तेनैव क्रमेण विनियोजयेत् ॥४४९५॥
इयं महांकुशा मुद्रा सर्वकामार्थसाधिनी ।
सव्यं दक्षिणदेशे तु सव्यदेशे तु दक्षिणम् ॥४४९६॥
बाहुं कृत्वा महादेवि हस्तौ संपरिवर्त्य च ।
कनिष्ठाऽनामिका देवि युक्तानेन क्रमेण तु ॥४४९७॥
तर्जनीभ्यां समाक्रांते सर्वोर्ध्वमपि मध्यमे ।
अंगुष्ठौ च महेशानि सरलावपि कारयेत् ॥४४९८॥
इयं सा खेचरी मुद्रा पार्थिवस्थानयोजिता ।

पार्थिवस्थानं ललाटं न तु मूलाधारमसंभवादिति मंत्रदर्पणः ।

परिवर्त्य करौ स्पष्टावर्धचंद्राकृतिः प्रिये ।
तर्जन्यंगुष्ठयुगलं युगपत् कारयेत् ततः ॥४४९९॥
अधःकनिष्ठावष्टब्धे मध्यमे विनियोजयेत् ।
तथैव कुटिले योज्ये सर्वाधस्तादनामिके ।
बीजमुद्रेयमचिरात् सर्वसिद्धिप्रवर्धिनी ॥४५००॥

मध्यमे कुटिले कृत्वा तर्जन्युपरिसंस्थिते ।
अनामिके मध्यगते तथैव हि कनिष्ठिके ॥४५०१॥
सर्वा एकत्र संयोज्या अंगुष्ठपरिपीड़िताः ।
एषा तु प्रथमा मुद्रा योनिमुद्रेति कीर्तिता ॥४५०२॥
अन्या मुद्राऽपि पूजायां कुशलाद्युपचारके ।
दर्शयेत् साधको भक्त्या सपर्याफलसिद्धये ॥४५०३॥

आसां लक्षणं लक्षसंग्रहे—

हस्तौ तु संहतौ कृत्वा संहतावुन्नतांगुली: ।
तलान्तर्मिलितांगुष्ठौ मुद्रैषा पद्मसंज्ञिका ॥४५०४॥
कनिष्ठानामिकामध्या व्यत्यस्ता पृष्ठतः क्रमात् ।
चलिता मूर्धयोगेन ऋजुतर्जनिकौ करौ ॥४५०५॥
शक्त्युत्थापनमुद्रैषा जपपूजासमाधिषु ।
मूर्तीकरणमेतस्या रचनेन समीरितम् ॥४५०६॥
आसने पद्ममुद्रा स्याद् हस्तद्वयमधोमुखम् ।
मुद्रैषा कुशलप्रश्ने तदेवोर्ध्वमुखं पुनः ॥४५०७॥
मुद्रा स्यात् स्वागते पाद्यमुद्रा चाञ्जलिरुच्यते ।
अनामांगुष्ठयोगात् सा प्रोक्ता चार्घ्यस्य मुद्रिका ॥४५०८॥
उत्तानं दक्षिणं हस्तं कृत्वा निम्नतलं सुधीः ।
कनिष्ठहीनाः संयुक्ताश्चतस्त्रोऽगुल्य उत्तमाः ॥४५०९॥
मुद्रैषाचमने प्रोक्ताऽधोमुखी सा त्वनामया ।
मुष्ट्यंगुष्ठा भवेन्मुद्रा मधुपर्के वरानने ॥४५१०॥
अधोमुखीं दक्षहस्ते कृत्वा मुष्टिं कनिष्ठया ।
वियुक्ता स्नानमुद्रैषा गदिता परमेश्वरि ॥४५११॥
उत्तानं दक्षिणं हस्तं कृत्वा तन्मध्यमां पुनः ।
अंगुष्ठेन स्पृशेदेषा मुद्रा वस्त्रस्य कीर्तिता ॥४५१२॥
एषैवानामिकाहस्ता मुद्रा भूषणसंज्ञका ।
कनिष्ठास्पर्शतो ह्येषा उपवीतस्य मुद्रिका ॥४५१३॥

ज्येष्ठाग्रेण कनिष्ठाग्रं स्पृशेद् गंधस्य मुद्रिका ।
अधोमुखं करं कृत्वा तर्जन्यग्रे तु योजयेत् ।
अंगुष्ठाग्रं तु मुद्रैषा पुष्पाख्या परमेश्वरि ॥४५१४॥
अंगुष्ठाग्रेण तर्जन्या स्पृशेदग्रं महेश्वरि ।
धूपमुद्रेयमाख्याता सर्वदेवप्रियंकरा ॥४५१५॥
ज्येष्ठाग्रेण स्पृशेदग्रं मध्यमायाः सुरार्चिते ।
दीपमुद्रेयमुदिता सर्वदेवप्रिया शिवे ॥४५१६॥
अनामाग्रं स्पृशेद् देवि ज्येष्ठाग्रेण तु देशिकः ।
नैवेद्यमुद्रा कथिता देवानां प्रीतिदायिनी ॥४५१७॥
पाशांकुशवराभीतिपुस्तकज्ञानमुद्रिकाः ।
योनिं च बीजमुद्रां च भुवनेशीं प्रदर्शयेत् ॥४५१८॥
कामेन मुद्रां बध्वा तु मूलेनैव प्रदर्शयेत् ।
कूर्चेनैव परित्यज्य बहिः पूजनमाचरेत् ॥४५१९॥
वाममुष्टिः स्वाभिमुखो करस्था पुस्तमुद्रिका ।
पुस्तमुद्रा पुस्तकेति ।
लक्ष्मीमुद्रा प्रिया लक्ष्म्यास्तस्या लक्षणमुच्यते ॥४५२०॥
चक्रमुद्रां तथा बध्वा मध्यमे द्वे प्रसार्य च ।
कनिष्ठिके तथानीय तदग्रेऽङ्गुष्ठकौ क्षिपेत् ॥४५२१॥
लक्ष्मीमुद्रा परा ह्येषा सर्वसंपत्प्रदायिनी ।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या पुस्तकमुद्रिका ॥४५२२॥
सरस्वत्याः प्रिया एता मुद्रा प्रोक्ता मनीषिभिः ।
अथैतासां लक्षणानि निगद्यन्ते क्रमेण हि ॥४५२३॥

मंत्रदर्पणे—

किञ्चिद् वक्त्रा अपराः कर्तव्यास्तर्जनी सरला ।
मध्यममध्येऽङ्गुष्ठं दक्षस्य च मालिका मुद्रा ॥४५२४॥
वीणावादनसदृशौ हस्तौ कृत्वैव चालयेत् शीघ्रम् ।
वीणामुद्रा वाण्याः प्रियंकरी सा समाख्याता ॥४५२५॥

दक्षिणकरमुत्तानं कृत्वा सरला कनिष्ठायाः ।
तर्जन्यंगुष्ठाग्रे कथिता व्याख्यानमुद्रैषा ॥४५२६॥

पुस्तकमुद्रालक्षणं पूर्वमेवोक्तम् ।

तंत्रान्तरे–

प्रकुर्याद्दक्षिणं हस्तं मालाया जपवत् प्रिये ।
मुद्रा मालाभिधा प्रोक्ता बालावाण्यो रतिप्रिया ॥४५२७॥

तंत्रसारेऽपि–

वीणावादनवद् हस्तौ कृत्वा संचालयेत् शिरः ।
वीणामुद्रेयमाख्याता सरस्वत्याः प्रियंकरी ॥४५२८॥
दक्षिणांगुष्ठतर्जन्यावंगुष्ठाग्रेऽपरांगुलीः ।
प्रसार्य संहतोत्ताना एषा व्याख्यानमुद्रिका ॥४५२९॥
श्रीरामस्य सरस्वत्या अत्यन्तं प्रेयसी मता ।
मणिबंधस्थितौ कृत्वा प्रसृतांगुलिकौ करौ ॥४५३०॥
कनिष्ठांगुष्ठयुगले मिलित्वान्तःप्रसारयेत् ।
सप्तजिह्वाख्यमुद्रेयं वैश्वानरप्रियंकरी ॥४५३१॥
न देवाः प्रतिगृह्णन्ति मुद्राहीनामथाहुतिम् ।
मुद्रयैव तु होतव्यं मुद्राहीनं न युज्यते ॥४५३२॥
मुद्राहीनं तु यो मोहाद् होतुमिच्छति मंदधीः ।
यजमानं स चात्मानं पातयत्येव निश्चितम् ॥४५३३॥
तिस्रो मुद्राः स्मृता होमे मृगी हंसी च शूकरी ।
प्रोक्ता होमप्रकरणे तेन चात्र न लिख्यते ॥४५३४॥

तंत्रसारे–

तर्जन्यंगुष्ठयोगाद्धि शांत्यर्थं जुहुयात् तदा ।
दाहज्वराभिचाराणामनामांगुष्ठमुद्रया ॥४५३५॥
विद्वेषणोच्चाटने च मारणे च प्रशस्यते ।
प्रदेशिनीमध्यमाभ्यां बाधोपशमनं भवेत् ॥४५३६॥

वपुर्मेधा तथा कांति र्नीतिपुष्ट्यादिके तथा ।
आकर्षणानि सर्वाणि दूरादनुगतानि च ।
तर्जन्यनामिकायोगात् सद्य एव भवन्ति हि ॥४५३७॥

मोहनं वश्यकामं च प्रीतिसंवर्धनं तथा ।
प्रदेशिनीकनिष्ठाभ्यां सर्वमेतत् प्रसिद्धयति ॥४५३८॥

मोहनाकर्षणौ चैव क्षोभणोच्चाटने तथा ।
कनिष्ठामध्यमांगुष्ठयोगेन न तु लीलया ॥४५३९॥

विधियुक्तेन होमेन तथा द्रव्यानुयोगतः ।
सर्वे मंत्राः प्रसिध्यन्ति मुद्रामंत्रप्रयोगतः ॥४५४०॥

प्रार्थनायां तु विज्ञेया मुद्रा प्रार्थननामिका ।

तंत्रसारे–

प्रसृतांगुलिकौ हस्तौ मिथः श्लिष्टौ च संमुखे ।
कुर्यात् स्वहृदये सेयं मुद्रा प्रार्थनसंज्ञिका ॥४५४१॥

अंगुष्ठानामिकाभ्यां तु वटुकस्य बलिः स्मृतः ।
तर्जनीमध्यमानामांगुष्ठैः स्याद् योगिनीबलिः ॥४५४२॥

अंगुलीभिश्च सर्वाभिरुक्तो भूतबलिः प्रिये ।
अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तु क्षेत्रपालबलि र्भवेत् ॥४५४३॥

अंगुष्ठमध्यमाभ्यां तु राजराजेश्वरस्य च ।
इयमेव गणेशस्य बलिमुद्रा प्रकीर्तिता ।
विसर्जनविधौ ज्ञेया मुद्रा संहारसंज्ञिका ॥४५४४॥

पद्मवाहिन्याम्–

वृद्धाभ्यामंगुली बंध्वा तर्जन्यौ दण्डवत् सृजेत् ।
अग्रे वामां ततः पृष्ठे दक्षमाकर्षयेत् शनैः ॥४५४५॥

नाराचमुद्रा संप्रोक्ता योज्या बलिविसर्जने ।
अधोमुखे वामहस्ते ऊर्ध्वास्यं दक्षहस्तकम् ॥४५४६॥

क्षिप्त्वांगुलीरंगुलीभिः संग्रथ्य परिवर्तयेत् ।
एषा संहारमुद्रा स्याद् विसर्जनविधौ स्मृता ॥४५४७॥

षण्मुद्राः क्रमतो ज्ञेयाः पद्मपाशगदाह्वयाः ।
मुशलाशनिखड्गाख्या शांतिकादिषु कर्मसु ॥४५४८॥

तत्राशनिमुद्रा यथा–

एषाऽशनिमुद्राचेदंगुष्ठाग्रे कनिष्ठिका योज्या ।
अपरास्तिस्त्रः सरलास्त्रिकोणरूपा भवन्त्येव ॥४५४९॥

दक्षिणा निविडा मुष्टि र्नासिकार्पिततर्जनी ।
मुद्रा विस्मयसंज्ञा स्याद् विस्मयावेशकारिणी ॥४५५०॥

मुष्टिरूर्ध्वीकृतांगुष्ठा दक्षिणा नादमुद्रिका ।
तर्जन्यंगुष्ठसंयोगादग्रतो बिन्दुमुद्रिका ॥४५५१॥

एता मुद्रा महेशानि सुगोप्याः सततं शिवे ।
न जातु दर्शनीया सा महाजनसमागमे ॥४५५२॥

गुह्यमेतत् सदा भद्रे तस्माद् रहसि योजयेत् ।
नादीक्षितस्य मुद्राणां लक्षणानि प्रकाशयेत् ।
क्षुभ्यन्ति देवतास्तस्य विफलं च भवेदिति ॥४५५३॥

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे मुद्राकथनं
नाम षड्विंशः पटलः ॥२६॥

सप्तविंशः पटलः ।

अथ योगं ब्रवीम्यद्य महासंवित्प्रदं नृणाम् ।
मुक्तात्मा येन विहरेत् स्वर्गे मर्त्ये रसातले ॥४५५४॥

जीवन्मुक्तश्च देहान्ते परं निर्वाणमाप्नुयात् ।
विना योगेन सिध्येत कुंडलीचंक्रमः कथम् ॥४५५५॥

मूलपद्मे कुंडलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो ।
तावत् किञ्चित् न सिध्येत मंत्रयंत्रार्चनादिकम् ॥४५५६॥

यदि जागर्ति सा देवी बहुभिः पुण्यसंचयैः ।
तदा प्रसादमायान्ति मंत्रयंत्रार्चनादयः ॥४५५७॥

तस्माज्जागरणार्थं तत् साधको योगमभ्यसेत् ।
योगयोगाद् भवेन्मुक्ति र्मन्त्रसिद्धिरखंडिता ॥४५५८॥

सिद्धे मनौ परा प्राप्तिरिति शास्त्रस्य निर्णयः ।
तस्मात् सर्वात्मना योगमभ्यसेत् साधकाग्रणीः ॥४५५९॥

योगलक्षणं शारदायाम्–

ऐक्यं जीवात्मनोराहु र्योगं योगविशारदाः ।
जीवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिं परे विदुः ।

शिवशक्त्यात्मकं ज्ञानं जगुरागमवेदिनः ॥४५६०॥

पुराणपुरुषस्यान्ये ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ।
चित्तवृत्तिनिरोधं तु योगमाहुश्च योगिनः ॥४५६१॥ इति ।

प्रयोगसारेऽपि–

निष्कलस्याप्रमेयस्य देवस्य परमात्मनः ।
संधानं योगमित्याहुः संसारोच्छित्तिसाधनम् ॥४५६२॥ इति ।

तद्योगश्चतुर्विधो यथा योगशास्त्रे–

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ।
मंत्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥४५६३॥

योगांगैरात्मनः शत्रून् जित्वा योगं समभ्यसेत् ।
नियमैश्च यमैश्चैव कामादीन् षट् षडूर्मिगान् ॥४५६४॥

तान् हठयोगे वक्ष्यामः ।

आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ।
एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु संमतम् ॥४५६५॥

तत्र मंत्रयोगो द्विधा–आभ्यन्तरो बाह्यश्च । बाह्यः कथित एव । आभ्यन्तरो यथा यामले–

मंकारेण मनः प्रोक्तस्त्रकारः प्राण उच्यते ।
मनःप्राणसमायोगाद् योगो वै मंत्रसंज्ञकः ॥४५६६॥

ब्रह्मविष्णवीशशक्तीनां मंत्रं जपविशारदैः ।
साधितो मंत्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा ॥४५६७॥

मंत्रयोगो यथा यामले गौतमीये च–

इदानीं कथयिष्येऽहं मंत्रयोगमनुत्तमम् ।
विश्वं शरीरमित्युक्तं पञ्चभूतात्मकं शिवे ॥४५६८॥

षण्नवत्यंगुलायामं शिवशक्त्यात्मकं तथा ।
चन्द्रसूर्याग्नितेजोभि र्जीवब्रह्मैक्यरूपिणम् ॥४५६९॥

गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधाद् द्व्यंगुलं विदुः ।
तस्माद् द्विगुणविस्तारं वृत्तरूपेण शोभितम् ॥४५७०॥

तिस्रः कोट्यस्तदर्धेन नाड्यस्तत्र प्रकीर्तिताः ।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिताः ॥४५७१॥

प्रधाना मेरुदण्डे तु सोमसूर्याग्निरूपिणी ।
इडा वामे स्थिता नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी ॥४५७२॥

शक्तिरूपा च सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा ।
दक्षिणे पिंगला ख्याता पुंरूपा सूर्यविग्रहा ॥४५७३॥

दाडिमीकुसुमप्रख्या मुनिभिः परिकीर्तिता ।
मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरंध्रगा ॥४५७४॥

सर्वतेजोमयी सा तु सुषुम्णा ब्रह्मरूपिणी ।
तस्या मध्ये विचित्राख्या अमृतप्लाविनी शुभा ॥४५७५॥

सर्वदेवमयी सा तु योगिनां हृदयंगमा ।
विसर्गाद् बिन्दुपर्यन्तं व्याप्य तिष्ठति तत्त्वतः ॥४५७६॥

ब्रह्मरंध्रं विदुस्तस्यां पद्मसूत्रनिभं परम् ।
आधारांश्च विदुस्तत्र मतभेदादनेकधा ॥४५७७॥

केचन द्वादश प्राहुः षोडशान्ये बहूनि च ।
दिव्यं मार्गमिदं प्राहुरमृतानंदकारणम् ॥४५७८॥

इडायां संस्थितश्चन्द्रः पिंगलायां च भास्करः ।

हकारो निर्गमे प्रोक्तः सकारोऽन्तःप्रवेशने ।
हकारः शिवरूपः स्यात् सकारः शक्तिरुच्यते ॥४५८०॥

शक्तिरूपः स्थितश्चन्द्रो वामनाडीप्रवाहकः ।
दक्षनाडीप्रवाहश्च शंभुरूपी दिवाकरः ॥४५८१॥

आधारकन्दमध्यस्थं त्रिकोणमतिसुन्दरम् ।
ज्योतिषां निलयं दिव्यं प्राहुरागमवेदिनः ॥४५८२॥

मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके ।
मध्ये स्वयंभूलिंगं तु कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
तदूर्ध्वे कामबीजं तु कला स्याद् बिन्दुनादकम् ॥४५८३॥

कामबीजध्यानं यथा प्रयोगसारे—

तडित्कोटिप्रख्यं स्वरुचिजितकालानलरुचिं
सहस्रादित्यांशुप्रकरसदृशोद्योतकलितम् ।
स्फुरन्तं योन्यन्तस्फुटदरुणबंधूककुसुम-
प्रभं कामं ध्यायेत् शरदशशभृत्कोटिशिशिरम् ॥४५८४॥

तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली परदेवता ।
परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ता हि सदृशाकृतिः ॥४५८५॥

बिभर्त्ति कुंडलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता ।
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणो नाडीपथाश्रयः ॥४५८६॥

आधारादुद्गतो वायु र्यथावत् सर्वदेहिनाम् ।
देहं व्याप्य स्वनाडीभिः प्रयाणं कुरुते बहिः ॥४५८७॥

द्वादशांगुलमानेन तस्मात् प्राण इतीरितः ।
रम्ये मृद्वासने शुद्धे यद्वाजिनकुशोत्तरे ॥४५८८॥

बध्वैकमासनं योगी योगमार्गपरो भवेत् ।
ज्ञात्वा भूतोदयं देहे विधिवत् प्राणवायुना ॥४५८९॥

तत् तद् भूतं जयेद् दृढत्वावाप्तये सुधीः ।

अंगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने ।
नासारंध्रे मध्यमाभ्यामन्याभि र्वदनं दृढम् ॥४५९१॥

बध्वात्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन् ।
धारयेन् मारुतं सम्यग्योगोऽयं योगिवल्लभः ॥४५९२॥

एवं धारणया युक्तश्चिन्तयेद् योगमव्ययम् ।
मूलत्रिकोणात् परितो बाह्ये च हेमवर्णकम् ॥४५९३॥

वादिसान्तार्णसंयुक्तं चतुर्दलमनोहरम् ।
द्रुतहेमसमप्रख्यं पद्मं तत्र विभावयेत् ॥४५९४॥

मूलमाधारषट्कानां मूलाधारं ततो विदुः ।
तदूर्ध्वेऽग्निसमप्रख्यं षड्दलं हीरकप्रभम् ॥४५९५॥

वादिलान्तषडर्णेन स्वाधिष्ठानं हि तद्युतम् ।
स्वशब्देन परं लिंगं स्वाधिष्ठानं ततो विदुः ॥४५९६॥

तदूर्ध्वे नाभिदेशे तु मणिपूरं महत्प्रभम् ।
मेघाभं विद्युताभं च बहुतेजोमयं ततः ॥४५९७॥

मणिवद् भिन्नताप्तं यन्मणिवन्धं तदुच्यते ।
दशभिश्च दलै र्युक्तं डादिफान्ताक्षरान्वितम् ॥४५९८॥

शिवेनाधिष्ठितं पद्मं विश्वलोकनकारकम् ।
तदूर्ध्वेनाहतं पद्ममुद्यदादित्यसन्निभम् ॥४५९९॥

कादिठान्ताक्षरैरर्कपत्रैश्च समधिष्ठितम् ।
तन्मध्ये बाणलिंगं तु सूर्यायुतसमप्रभम् ॥४६००॥

शब्दब्रह्ममयं शब्दानाहतस्तत्र दृश्यते ।
तेनानाहतपद्मं तु मुनिभिः परिकीर्तितम् ॥४६०१॥

आनंदसदनं तत्तु पुरुषाधिष्ठितं परम् ।
तदूर्ध्वं तु विशुद्धयाख्यं पंकजं षोडशच्छदम् ॥४६०२॥

स्वरैः षोडशकै र्युक्तं धूम्रवर्णं मनोहरम् ।
विशुद्धिं तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात् ॥४६०३॥

विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महाद्भुतम् ।
आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वे तु आत्मनाधिष्ठितं परम् ॥४६०४॥
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तिता ।
कैलासाख्यं तदूर्ध्वे तु रोधिनी तु तदूर्ध्वतः ॥४६०५॥
एवं तु सर्वचक्राणि प्रोक्तानि तव सुव्रते ।
सहस्रारामबुजं पद्मं बिन्दुस्थानं तदीरितम् ॥४६०६॥
इत्येतत् कथितं सर्वं योगमार्गमनुत्तमम् ।
आदौ पूरकयोगेन आधारे योजयेन्मनः ॥४६०७॥
गुदमेढ्रान्तरे शक्तिं तामाकुञ्च्य प्रबोधयेत् ।
पद्मभेदक्रमेणैव बिन्दुचक्रं समानयेत् ॥४६०८॥
शंभुना तां परां शक्तिमेकीभावं विचिंतयेत् ।
तदुत्थितामृतं देवि द्रुतलाक्षारसोपमम् ॥४६०९॥
तर्पयित्वा च तां शक्तिमिष्टदेवस्वरूपिणीम् ।
षट्चक्रदेवतास्तत्र संतर्प्यामृतधारया ॥४६१०॥
आनयेत् तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः ।
एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि पार्वति ॥४६११॥
जरामरणदुःखाद्यै र्मुच्यते भवबंधनैः ।
पूर्वोक्तदूषिता मंत्राः सर्वे सिध्यन्ति योगतः ॥४६१२॥
ये गुणाः संति देवस्य पंचकृत्यविधायिनः ।
ते गुणाः साधकवरे भवन्त्येव न चान्यथा ॥४६१३॥
इति ते कथितं देवि वायुधारणमुत्तमम् ।
नादः संजायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनैः ॥४६१४॥
मत्तभृंगाङ्गनागीतसदृशः प्रथमो ध्वनिः ।
वंशिकास्यानिलापूर्णवंशध्वनिनिभोऽपरः ॥४६१५॥
घंटारवसमः पश्चात् घनमेघस्वनोऽपरः ।
एवमभ्यसतः पुंसः संसारध्वान्तनाशनम् ।
ज्ञानमुत्पद्यते पूर्वं हंसलक्षणमव्ययम् ॥४६१६॥

प्रयोगसारे तु विशेषः—

बिंब्रोति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिणीति द्वितीयकः ।
चिरिचाकी तृतीयस्तु चतुर्थो घर्घरस्वनः ॥४६१७॥

पंचमस्तु मनागुच्चः षष्ठो मदकलध्वनिः ।
सप्तमः सूक्ष्मनादः स्यादष्टमो वेणुवर्धनः ॥४६१८॥

नवमो मधुरध्वानो दशमो दुंदुभिस्वनः ।
कंपरोमोद्गमानन्दवैमल्यस्थैर्यलाघवम् ॥४६१९॥

प्रकाशज्ञानवैदुष्यभावो द्वैतात्मसंचयः ।
संभवन्ति दशावस्था योगिनः सिद्धिसूचकाः ॥४६२०॥

ततस्त्रैकाल्यविज्ञानग्रहा प्रज्ञामनोज्ञता ।
छन्दन्तः प्राणसंरोधो नाडीनां क्रमणं तथा ॥४६२१॥

वाचां सिद्धिश्चिरायुश्च कालानुवर्तनं तथा ।
देहाद् देहान्तरप्राप्तिरात्मज्योतिःप्रकाशनम् ।
प्रत्यया दश दृश्यन्ते प्राप्तयोगस्य योगिनः ॥४६२२॥ इति ।

शारदायामन्यच्च—

पुंप्रकृत्यात्मकौ प्रोक्तौ बिन्दुसर्गौ मनीषिभिः ।
ताभ्यां क्रमात् समुत्पन्नौ बिन्दुसर्गावसानकौ ॥४६२३॥

हंसौ तौ पुंप्रकृत्याख्यौ हं पुमान् प्रकृतिस्तु सः ।
अजपा कथिता ताभ्यां जीवोऽयमुपतिष्ठते ॥४६२४॥

पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा प्रकृतिर्नित्यमास्थिता ।
यदा तद् भावमाप्नोति तदा सोऽहमयं भवेत् ॥४६२५॥

सकारार्णं हकारार्णं लोपयित्वा ततः परम् ।
संधिं कुर्यात् पूर्वरूपं तदासौ प्रणवो भवेत् ॥४६२६॥

परानन्दमयं नित्यं चैतन्यैकगुणात्मकम् ।
आत्माभेदस्थितं योगी प्रणवं भावयेत् सदा ॥४६२७॥

आम्नायवाचामतिदूरमाद्यं
वेद्यं स्वसंवेद्यगुणेन सन्तः ।
आत्मानमानन्दरसैकसिंधुं
पश्यन्ति तारात्मकमात्मनिष्ठाः ॥४६२८॥

सत्यं हेतुविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तं स्थावरजंगमं निरुपमं चैतन्यमन्तर्गतम् ।
आत्मानं रविचन्द्रवह्निवपुषं तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं सुकृतिनः पश्यन्ति रुद्धेन्द्रियाः ॥४६२९॥

पिण्डं भवेत् कुंडलिनी शिवात्मा
पदं तु हंसः सकलान्तरात्मा ।
रूपं भवेद् बिन्दुरमन्दकान्ति-
रतीतरूपं शिवसामरस्यम् ॥४६३०॥

पिण्डादियोगं शिवसामरस्यात्
सबीजयोगं प्रवदन्ति सन्तः ।
शिवे लयं नित्यगुणाभियुक्ते
निर्बीजयोगं फलनिर्व्यपेक्षम् ॥४६३१॥

मूलोन्निद्रभुजंगराजसदृशीं यान्तीं सुषुम्णान्तरं
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद्दिव्यामृतौघप्लुतिं
संभाव्य स्वगृहं गतां पुनरिमां संचितयेत् कुंडलीम् ॥४६३२॥

हंसं नित्यमनन्तमव्ययगुणं स्वाधारतो निर्गता
शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम् ।
याता शंभुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयं
यान्ती स्वाश्रयमर्ककोटिरुचिरा ध्येया जगन्मोहिनी ॥४६३३॥

अव्यक्तं परबिन्दुसंचितरुचिं नीत्वा शिवस्यालयं
शक्तिः कुंडलिनी गुणत्रयवपु विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतमध्यगं पुरमिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभं
संवीक्ष्य स्वपुरं गता भगवती ध्येयानवद्या गुणैः ॥४६३४॥

इत्येवं भावनासक्तो स्वेष्टं धारणया भजेत् ।

सा च गौतमीये–

इदानीं धारणाख्यां तु शृणुष्वावहितो मम ॥४६३५॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो निधाय च ।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवब्रह्मैक्ययोजनात् ॥४६३६॥
अथवा निष्कलं चित्तं यदि क्षिप्रं न सिद्ध्यति ।
तदावयवयोगेन योगी योगान् समभ्यसेत् ॥४६३७॥
पादाम्भोजे मनो दद्यान् नखकिंजल्कशोभिते ।
जंघायुग्मे मनोरामे कदलीकाण्डशोभिते ॥४६३८॥
ऊरुद्वये मत्तहस्तिकरदण्डसमप्रभे ।
गंगावर्तगभीरे च नाभौ सिद्धिबिले ततः ॥४६३९॥
उदरे वक्षसि तथा हारे श्रीवत्सकौस्तुभे ।
पूर्णचन्द्रायुतप्रख्ये ललाटे चारुमंडले ॥४६४०॥
शंखचक्रगदाम्भोजदोर्दण्डपरिमण्डिते ।
सहस्रादित्यसंकाशकिरीटकुण्डलोज्वले ॥४६४१॥
स्थाने नियोजयेन् मन्त्री विशुद्धेन च चेतसा ।
मनो निवेश्य कृष्णे वै तन्मयो भवति ध्रुवम् ॥४६४२॥
यावन् मनो लयं याति कृष्णे स्वात्मनि चिन्मये ।
तावदिष्टमनु मन्त्री जपहोमैः समभ्यसेत् ॥४६४३॥

कृष्ण इत्युपलक्षणम् ।

अतः परं न किञ्चिच्च कृत्यमस्ति वशे हरेः ।
विदिते परतत्त्वे तु समस्तै नियमैरलम् ॥४६४४॥
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ।
मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञेयं ज्ञानाय कल्प्यते ॥४६४५॥
न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि सः ।
द्वयोरभ्यासयोगेन मन्त्रं संसिद्धिकारणम् ॥४६४६॥

तमःपरिवृते गेहे घटो दीपेन दृश्यते ।
एवं मायावृतो ह्यात्मा मनुना गोचरीकृतः ॥४६४७॥

एवं ते कथितं ब्रह्मन् मन्त्रयोगमनुत्तमम् ।
दुर्लभं विषयासक्तैः सुलभं त्वादृशैरपि ॥४६४८॥

इति मन्त्रयोगः ।

अथ लययोगः–

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञकः ।
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः ॥४६४९॥

प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् तृणावर्तं भगाकृति ।
अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः ॥४६५०॥

तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्र कुण्डलिनी परा ।
तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्कं मुक्तिहेतवे ॥४६५१॥

स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः ।
पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम् ॥४६५२॥

तत्रोड्डीयानपीठे तु तद् ध्यात्वाऽऽकर्षयेज्जगत् ।
तृतीयं नाभिचक्रं स्यात् तन्मध्ये भुजगी स्थिता ॥४६५३॥

पञ्चावर्त्ता मध्यशक्तिश्चिद्रूपाविद्युदाकृतिः ।
तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः ॥४६५४॥

चतुर्थं हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम् ।
ज्योति.स्वरूपं तन्मध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः ॥४६५५॥

तं ध्यायतो जगत्सर्वं वश्यं स्यान्नात्र संशयः ।
पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत् ॥४६५६॥

दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्णा मध्यतः स्थिता ।
तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत् ॥४६५७॥

षष्ठं च तालुकाचक्रं घंटिकास्थानमुच्यते ।
दशमद्वारमार्गं तु राज्यदं तत् प्रकीर्तितम् ॥४६५८॥

तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम् ।
भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद् बिन्दुस्थानं च तद् विदुः ॥४६५९॥

भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते ।
अष्टमं ब्रह्मरंध्रे स्यात् परं निर्वाणसूचकम् ॥४६६०॥

तद् ध्यात्वा सूचिकाग्राभं धूमाकारं विमुच्यते ।
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं लीनचेतसाम् ॥४६६१॥

नवमं ब्रह्मचक्रं स्याद्दलैः षोडशभिर्युतम् ।
संविद्रूपा च तन्मध्ये शक्तिरूर्ध्वा स्थिता परा ॥४६६२॥

तत्र पूर्णगिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते ।
एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः ॥४६६३॥

सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्यु र्दिने दिने ।
कोदण्डद्वयमध्यस्थं पश्यति ज्ञानचक्षुषा ॥४६६४॥

कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधः शक्तेर्निकुंचनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम् ॥४६६५॥

अथ राजयोगः—

अपानवृत्तिमाकृष्य प्राणो गच्छति मध्यमे ।
राजते गगनाम्भोजे राजयोगस्तु तेन वै ॥४४६६॥

न दृष्टिलक्षाणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वायुरोधः ।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा
समेधमाने सति राजयोगे ॥४६६७॥

न जागरो नास्ति सुषुप्तिभावो
न जीवितं नो मरणं विचित्रम् ।
अहं ममत्वाद्यपहाय सर्वं
श्रीराजयोगे स्थिरचेतनानाम् ॥४६६८॥

दत्तात्रेयादिभिः पूर्वं साधितोऽयं महात्मभिः ।
राजयोगो मनोवायू स्थिरौ कृत्वा प्रयत्नतः ॥४६६९॥

पूर्वाभ्यस्तौ मनोवातौ मूलाधारनिकुंचनात् ।
पश्चिमं दण्डमार्गं तु शंखिन्यन्तःप्रवेशयेत् ॥४६७०॥

ग्रन्थित्रयं भेदयित्वा नीत्वा भ्रमरकन्दरम् ।
ततस्तु नादयेद् बिन्दुं ततः शून्यालयं व्रजेत् ॥४६७१॥

अभ्यासात्तु स्थिरस्वान्त ऊर्ध्वरेताश्च जायते ।
परानन्दमयो योगी जरामरणवर्जितः ।
अथवा मूलसंस्थानमुद्यतैस्तु प्रबोधयेत् ॥४६७२॥

सुप्तां कुण्डलिनीं शक्तिं बिसतन्तुतनीयसीम् ।
सुषुम्णान्तःप्रवेश्यैव पंचचक्राणि भेदयेत् ॥४६७३॥

ततः शिवे शशांकेन स्फुरन्निर्मलरोचिषि ।
सहस्रदलपद्मान्तस्थिते शक्तिं नियोजयेत् ॥४६७४॥

अथ तत्सुधया सर्वां सबाह्याभ्यन्तरां तनुम् ।
प्लावयित्वा ततो योगी न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥४६७५॥

तत उत्पद्यते तस्य समाधि र्निस्तरंगिणी ।
एवं निरन्तराभ्यासाद् योगसिद्धिः प्रजायते ॥४६७६॥

अथ हठयोगः—

द्विधा हठः स्यादेकस्तु मत्स्येन्द्राद्यैरुपासितः ।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितश्चिरजीविभिः ॥४६७७॥

तत्र मत्स्येन्द्रसदृशैः साधितो यः स कथ्यते ।
धीरैरपि हि दुस्साध्यः किं पुनः प्राकृतै र्जनैः ॥४६७८॥

हकारेणोच्यते सूर्यष्ठकारश्चन्द्रसंज्ञकः ।
सूर्यचन्द्रसमीभूते हठश्च परमार्थदः ॥४६७९॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि स्मृतानि षट् ॥४६८०॥

एकान्ते विजने देशे पवित्रे निरुपद्रवे ।
कम्बलाजिनवस्त्राणामुपर्य्यासनमभ्यसेत् ॥४६८१॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी पद्मासनं त्विदम् ॥४६८२॥

अथ प्राणायामः–

तत्र पद्मासनं वध्वा ततः संकोचयेदधः ।
समदण्डं शिरः कृत्वा नासिकान्तर्द्दृशं नयेत् ॥४६८३॥

यथैवोत्पलनालेन आकर्षति नरो जलम् ।
योगी योगसमाविष्टस्तथाकर्षति मारुतम् ॥४६८४॥

काकचञ्चुपुटीकृत्य ओष्ठौ शक्त्याऽनिलं पिबेत् ।
ओंकारध्वनिनाकृष्य पूरयेद्यावदन्तरम् ॥४६८५॥

पूरणात् पूरकं प्रोक्तं कुम्भकस्तु निकुम्भनात् ।
रेचनं रेचनात् सूक्ष्मं ततोऽन्तःशोधयेत् त्रिभिः ॥४६८६॥

प्राणायामान्नरः षष्टिं कुर्यादेवमहर्मुखे ।
चत्वारिंशच्च मध्याह्ने संध्यायां विंशतिर्भवेत् ॥४६८७॥

अर्धरात्रे विंशतिः स्यादेवं प्राणविनिग्रहः ।
शरीरलघुता दीप्ति जंठराग्निविवर्धनम् ॥४६८८॥

कृशत्वं च शरीरस्य जायते वै ध्रुवं तदा ।
लवणं सर्षपान् साम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम् ।
स्त्रीसेवामग्निसेवां च बह्वाशित्वं च वर्जयेत् ॥४६८९॥

अन्यत्रापि–

मांसं दधि कुलुत्थं च लशुनं शाकमेव च ।
कट्वम्लतिक्तपिण्याकहिंगुसौवीरसर्षपाः ॥४६९०॥

तैलं च वर्ज्याण्येतानि यत्नतो योगिना सदा ।
क्षीरं घृतं च मिष्टान्नं मिताहारश्च शस्यते ।
मितोक्तिः पवनाभ्यासे निद्रायाश्च जयस्तथा ॥४६९१॥ इति ।

अन्यत्रापि-

गोधूमशालियवषष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।
शुण्ठीपटोलपलकादिकपञ्चशाकं
मुद्गादिचाल्पमुदकं च मुनीन्द्रपथ्यम् ॥४६९२॥

क्षीरपर्णी च जीवन्ती मत्स्याक्षी च पुनर्नवा ।
मेघनादेति पंचैते शाकनाम प्रकीर्तिताः ॥४६९३॥

मिष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं दिव्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥४६९४॥

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥४६९५॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद् भवतः स्वेदकम्पने ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्दर्दुरो जायते ध्रुवम् ॥४६९६॥

यथैव दर्दुरो गच्छेदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य भूतले ।
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ॥४६९७॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ।
स्वल्पं वा बहु वा भुक्त्वा योगी न व्यथते तदा ॥४६९८॥

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
किट्टिभो दूषिका लाला स्वेदो दुर्गन्धिता तथा ।
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ॥४६९९॥

स्त्रीसंगं वर्जयेत् यत्नाद् बिन्दुं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
आयुःक्षयो बिन्दुनाशादसामर्थ्यं च जायते ॥४७००॥

इति प्राणायामः ।

अथ प्रत्याहारः-

विषयद्वारनिष्क्रान्तं यावत् स्वविषयान् प्रति ।
चित्तं निवार्यते यत्र प्रत्याहारः स उच्यते ॥४७०१॥

इति प्रत्याहारः ।

अथ पंचधारणा–

गुरूपदेशतश्चित्तमेकस्मिन् स्थानके यदि ।
वायुश्च रुध्यते यत्र धारणा सा विधीयते ॥४७०२॥

नाभेरधो गुदस्योर्ध्वे घटिकाः पंच धारयेत् ।
वायुं ततो लभेत् पृथ्वीधारणं तद् भयापहम् ॥४७०३॥

नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पंच नाडिकाः ।
ततो जलाद् भयं नास्ति जलमृत्यु र्न योगिनः ॥४७०४॥

नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायुं धारयेत् पंच नाडिकाः ।
आग्नेयी धारणा सेयं मृत्युस्तस्य न वह्निना ॥४७०५॥

नासाभ्रूमध्यदेशे तु तथा वायुं च धारयेत् ।
वायवी धारणा सेयं मृत्युस्तस्य न वायुना ॥४७०६॥

भ्रूमध्यस्योपरिष्टाच्च धारयेत् पंच नाडिकाः ।
वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशधारणा ॥४७०७॥

आकाशधारणां कुर्वन् मृत्युं जयति निश्चितम् ।
यत्र यत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥४७०८॥

इति पंचधारणा ।

अथ ध्यानम्–

वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्णायां प्रविशेदनिरोधतः ॥४७०९॥

महापथं प्रविश्यैव शून्यस्थाने लयं व्रजेत् ।
यदा तदा भवेद् योगी त्रिकालामलदर्शनः ॥४७१०॥

इति ध्यानम् ।

अथ समाधिः–

यदेतद् ध्यानमाख्यातं तच्चेत् परिणमत्यपि ।
चैतन्यानन्दरूपेण सा समाधिरुदीरिता ॥४७११॥

अथ जाग्रदाद्यवस्थाः–

बुद्धिपूर्वं तु यद् ज्ञानं बहिर्विषयसेवितम् ।
प्रत्यक्षमविरुद्धं च तज्जागरितमुच्यते ॥४७१२॥

अर्थाभावे तु यज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिव दृश्यते ।
गन्धर्वनगराकारं स्वप्नं तदुपलक्षयेद् ॥४७१३॥

जाग्रत्स्वप्नावुभावेतौ नित्यं यत्र प्रतिष्ठितौ ।
उत्पत्तिः प्रलयश्चैव सौषुप्तमवधारयेत् ॥४७१४॥

स्वप्नाभावो विनिद्रा च द्वयं यत्र न विद्यते ।
तत्तुरीयमिति प्रोक्तमुत्पत्तिलयवर्जितम् ॥४७१५॥

इत्यवस्थाः ।

अथ देहं स्थिरीकर्तुं योगिनां सिद्धिमिच्छताम् ।
कथ्यन्ते शुद्धिकर्माणि यैः सिद्धिं प्रापुरुत्तमाः ॥४७१६॥

महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं स्थिरं दण्डं तद्वच्च शक्तिचालनम् ॥४७१७॥

चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामांगेन समभ्यस्य दक्षिणांगेन चाभ्यसेत् ॥४७१८॥ इति ।

अन्यच्च–

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वसिष्ठेनोदितां पुरा ।
पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ॥४७१९॥

पादं प्रसारितं कृत्वा स्वराभ्यां पूरयेन्मुखम् ।
कण्ठे बन्धं समारोप्य पूरयेद् वायुमूर्ध्वतः ॥४७२०॥

यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ॥४७२१॥

तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटीस्थिता ।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥४७२२॥

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः ॥४७२३॥

तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।
कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥४७२४॥

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।

अथास्यांगभूतो महाबन्धः–

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं पुनः ॥४७२५॥

पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥४७२६॥

रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ।
अयं योगी महाबन्धं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥४७२७॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणाङ्गे समभ्यसेत् ।
अयं च सर्वनाडीनां गतिमूर्ध्वां विबोधकः ॥४७२८॥

त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेत् पुनः ।
रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुषं विना ॥४७२९॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
अष्टधा क्रियते चैतद् यामे यामे दिने दिने ॥४७३०॥

पुण्यसंघातसन्धायी पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने ॥४७३१॥

वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत् ।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेत् शनैः ॥४७३२॥

अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासतो भवेत् ।
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥४७३३॥

वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।

अथ नभोमुद्रा–

अन्तःकपालकुहरे जिह्वामाकुञ्च्य धारयेत् ।
भ्रूमध्यदृष्टिरमृतं पिबेत् खेचरिमुद्रया ॥४७३४॥

दत्तात्रेयस्तु–

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि र्मुद्रा भवति खेचरी ॥४७३५॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४७३६॥

पीड्यते न च रोगाद्यै र्लिप्यते न च कर्मणा ।
बध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४७३७॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समतायास्तु जिह्वाया रोममात्रं समुच्छिदेत् ॥४७३८॥

रोममात्रस्य भेदेन विलम्बेन हि लम्बिका ।
हृदयं ग्रन्थकाराणामाकूतं भणितं मया ॥४७३९॥

खेचरीपटले तु विशेषः–

छेदनचालनदोहैः कलाक्रमेण वर्धयेत् तावत् ।
सा याति यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदानीं हि खेचरीसिद्धिः ॥४७४०॥

छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः ।
साधारणोक्तिदुर्बोधान् नाङ्गीकार्यमिदं मतम् ॥४७४१॥

गुरुदर्शितमार्गेण संकेतः कथ्यते मया ।
संकेतशृङ्खलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥४७४२॥

सर्पाकारं सवलयं शृङ्खलाद्वयसंमितम् ।
स खर्परं षड्वितस्ते दैर्घ्यं संकेतलक्षणम् ॥४७४३॥

शृङ्खलाद्वितयनिर्मितां वरां सर्पवद्वलयखर्परान्विताम् ।
विंशदंगुलमितां सुदीर्घिकां लम्बिकोत्पादकारिणीं विदुः ॥४७४४॥

शृङ्खलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे पश्चाज्जिह्वां चैव प्रवेशयेत् ॥४७४५॥ इति ।

अथ जालन्धरबन्धः–

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं सुधाव्ययनिवारणः ॥४७४६॥

नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्रकमलच्युतम् ।
अमृतं सर्वदा सर्वं पिबन् ज्वलति देहिनाम् ॥४७४७॥

यथा सोऽग्निस्तदमृतं न पिबेत् तद् व्यधात् स्वयम् ।
यान्ति दक्षिणमार्गेण एवमभ्यसता सदा ॥४७४८॥

अमृतीकुरुते देहं जरामृत्युं विनाशयेत् ।
बध्नाति हि शिराजालं नाधो याति नभोजलम् ॥४७४९॥

ततो जालन्धरो बन्धः कृतो दुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥४७५०॥ इति ।

अथ उड्डीयानबन्धः—

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
उड्डीयानं तु सहजं कथितं गुरुणा सदा ॥४७५१॥

अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमां पथम् ॥४७५२॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्यु र्जरारोगादिकं तथा ॥४७५३॥ इति ।

अन्यत्रापि—

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि पानं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
षण्मासाभ्यासतो मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥४७५४॥ इति ।

अथ मूलबन्धः—

मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत् स हि योगवित् ।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥४७५५॥

अधोगतिमनेनैव चोर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥४७५६॥

गुदं पार्ष्ण्या च सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥४७५७॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गते योगस्य संसिद्धिं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥४७५८॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥४७५९॥

अपाने चोर्ध्वगं याते प्रयाते वह्निमण्डले ।
यथानले शिखादीप्तं वह्निना प्रेरितं तथा ॥४७६०॥

यातायातौ वह्न्यपानौ प्राणमूलस्वरूपकौ ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥४७६१॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यति ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋतुतां व्रजेत् ॥४७६२॥

विलं प्रविष्टे च ततो ब्रह्मनाड्यन्तरे व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥४७६३॥ इति ।

अथ दण्डधारणम्–

पृष्ठबन्धं दृढं कुर्यादनस्रं स्थिरसंचयम् ।
दण्डधारणमेतद्धि योगिनां परमं मतम् ॥४७६५॥

इति प्रथमो हठयोगः ।

अथ मार्कण्डेयादिसाधितो द्वितीयो हठयोगः–

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं व्यासकोटिभिः ।
ममेति मूलं दुःखस्य निर्ममेति सुखस्य च ॥४७६५॥

निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योगसन्ततिः ।
योगाच्च जायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते ॥४७६६॥

उपभोगेन पुण्यानां प्राकृतानां तथांहसाम् ।
कर्तव्यमिति नित्यानामकामकरणात्तथा ॥४५६७॥

असञ्चयादपूर्वस्य क्षयात्पूर्वार्जितस्य च ।
कर्मणो बन्धमाप्नोति शारीरं न पुनः पुनः ॥४७६८॥

अथेह कथ्यतेऽस्माभिः कर्मणां येन बन्धनम् ।
छिद्यते सदुपायेन श्रुत्वा तत्र प्रवर्तताम् ॥४७६९॥

जित्वाऽऽदावात्मनः शत्रून् कामादीन् योगमभ्यसेत् ।

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यसंज्ञकान् ।

योगांगैस्तांश्च निर्जित्य योगिनो योगमाप्नुयुः ॥४७७०॥

अष्टावङ्गानि योगस्य यमो नियम आसनम् ।

प्राणायामः प्रत्याहारो धारणाध्यानतत्परौ ॥४७७१॥

तत्परः समाधिरिति ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।

क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥४७७२॥

अस्यार्थः—न कंचन हन्मीत्याभासप्रवणता हिंसा। असत्यं न वच्मि इत्याभासप्रवणचित्तता सत्यम् । चौर्यनिवृत्तिरस्तेयम् । स्त्रीभोगेच्छा निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यम् । प्राणिषु क्रूरचित्तनिवृत्तिर्दया । चित्तकौटिल्यनिवृत्तिरार्जवम् । अभिभावकं प्रति अक्रोधप्रवणचित्तता क्षमा । इष्टवस्त्वाद्यलाभतश्चिताभावो धृतिः । क्रमेणाहारापकर्षणाद् यावत् शरीरस्थितिमात्रभोजनं मिताहारम् । चित्तनैर्मल्यार्थे यथोक्तशीलता शौचमिति । यमा इति । यम उपरमे कामादे निवृत्तिरूपा इत्यर्थः । तत्र धृतिः सर्वानुषक्तता । अहिंसा ब्रह्मचर्याभ्यां कामस्य जयः । दयाक्षमाभ्यां क्रोधस्य । अस्तेयसत्यार्जवेभ्यो लोभस्य । मिताहारशौचाभ्यां मोहस्य । क्षमार्जवाभ्यां मदस्य । अहिंसाकृपार्जवक्षमाभ्यो मत्सरस्येति यमाः ।

अथ नियमाः—

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् ।

सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ।

दशैते नियमाः प्रोक्ताः योगशास्त्रविशारदैः ॥४७७३॥

अस्यार्थः—कृच्छ्रादिव्रतचर्या तपः । बहुतरानभिलाषः संतोषः । अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः । आस्तिकस्य भावः आस्तिक्यम् । परलोकबुद्ध्या धर्माद्याचरणमिति । यथाविभवं देवपितृमनुष्योद्देशेन वितरणं दानम् । देवस्य पूजनमुक्तरीत्यानुष्ठानम् । सिद्धान्तं उपनिषत्मोक्षोपायोपदेशशास्त्रं तस्य श्रवणम् । परिमलादि-कुत्सिताचारात् स्वत उद्वेगो ह्रीः, तथा सति चित्तमालिन्ये ज्ञानानुदयात् । मतिर्मननम् ।

तथा च स्मृतिः—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः । इति ।

उक्तप्रकारेष्टमन्त्रस्मरणं जपः । 'जपतो नास्ति पातकम्' इत्युक्तेश्चित्तशुद्धावुपयोगात् । हुतमग्निहोत्रादि होमः । यदकरणे प्रत्यवायात् चित्तमालिन्ये ज्ञानानुदयात् । यद्वा हुतं मन्त्रजपस्य दशांशहोमः ।

तथा चोक्तम्-

नाजपात् सिद्धयते मन्त्रो नाहुताच्च फलप्रदः ।
अनर्चितो हरेत् कामान् तस्मात् त्रितयमाचरेत् ॥४७७४॥

अवश्यकर्तव्यतया नियमत्वमेषाम् । अतः कदाचिदालस्यादिना त्यागो न कार्यः ।

इति नियमाः ।

अन्यच्च-

प्रत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥४७७५॥

उत्साहात् साहसाद् धैर्यात् तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्धयति ॥४७७६॥

अथ आसनम्-

नाध्मातः क्षुधितो श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः ।
युञ्जीत योगं योगज्ञो नित्यं सिद्धयर्थमादृतः ॥४७७७॥

न शीते नातिचैवोष्णे न दुर्गे नाम्बुनस्तटे ।
न च सोपद्रवे देशे योगः सन्धीयते क्वचित् ॥४७७८॥

एकान्ते विजनेऽरण्ये पवित्रे निरुपद्रवे ।
सुखासीनः समाधिः स्याद् वस्त्राजिनकुशोत्तरे ॥४७७९॥

पद्ममर्धासनं चापि तथा सिद्धासनादिकम् ।
आस्थाय योगं युञ्जीत कृत्वा च प्रणवं हृदि ॥४७८०॥

समः समासनो भूत्वा संहृत्य चरणावुभौ ।
संवृतास्यस्तदाचम्य सम्यग् विष्टभ्य चाग्रतः ॥४७८१॥

पाणिभ्यां लिङ्गवृषणावस्पृशन् प्रयतः स्थितः ।
किञ्चिदुन्नामितशिरो दन्तै र्दन्तानसंस्पृशन् ॥४७८२॥

संपश्यन् नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।
कुर्यात् दृष्टं पृष्ठवंशमुड्डीयानं तथोत्तरे ४७८३॥

त्रिभिर्विशेषकम्–

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी पद्मासनं त्विदम् ॥४७८४॥

दक्षिणोरुतले वामं पादं न्यस्य तु दक्षिणम् ।
वामोरोरुपरि स्थाप्यमेतदर्धासनं त्विदम् ॥४७८५॥

पार्ष्णि तु वामपादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरोरुपरि स्थाप्य दक्षिणः सिद्धमासनम् ॥४७८६॥

एषां फलं वसिष्ठसंहितायाम्–

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारमानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ॥४७८७॥

धारणाभिर्मनो धैर्यं ज्ञानादैश्वर्यमुत्तमम् ।
समाधे र्मोक्षमाप्नोति त्यक्तसर्वशुभाशुभः ॥४७८८॥ इति ।

अन्यत्राभियुक्तवाक्यम्–

प्राणायामै र्दहेद् दोषान्प्रत्याहारेण पातकम्।
धारणाभिश्च दुःखानि ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥४७८९॥

यथा पर्वतधातूनां ध्यातानां दह्यते मलम् ।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात् ॥४७९०॥

वश्यं कर्तुं यथेच्छातो नागं नयति हस्तिपः ।
तथैव योगी योगेन प्राणं नयति साधितुम् ॥४७९१॥

यथाहि साधितः सिंहो मृगान् हन्ति न मानवान् ।
तथैव साधितः प्राणः किल्विषं न नृणां तनुम् ॥४७९२॥

प्राणायामं विना योगं साधयेद् यस्तु मंदधीः ।
स न साध्वीं गतिं याति पंगु र्वाजिगतिं यथा ॥४७९३॥

तस्मात्तु साधनं कुर्यात् प्राणायामस्य योगवित् ।
प्राणापाननिरोधेन प्राणायामः प्रकीर्तितः ॥४७९४॥

चक्षुस्स्पंदनमात्रस्य यावत् द्वादशसंज्ञकाः ।
तावन्निरुध्यते प्राणः प्राणायामः स एव हि ॥४७९५॥

अन्यत्रापि–

इडया कर्षयेद् वायुं बाह्यं षोडशमात्रया ।
धारयेत् पूरितं योगी चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥४७९६॥

सुषुम्णामध्यगं सम्यग् द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः ।
नाड्या पिङ्गलया चैनं रेचयेद् योगवित्तमः ॥४७९७॥

प्राणायाममिदं प्राहु र्योगशास्त्रविशारदाः ।

मात्रालक्षणं वायवीयसंहितायाम्–

जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलंबितम् ।
अंगुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्यते ॥४७९८॥

भूयोभूयः क्रमात् तस्य व्यत्यासेन समाचरेत् ।
मात्रावृद्धिक्रमेणैव क्रमाद् द्वादश षोडश ॥४७९९॥

जपध्यानादिभिर्युक्तं सगर्भं तं विदु र्बुधाः ।
तदपेतं विगर्भं च प्राणायामं परे विदुः ॥४८००॥

क्रमादभ्यसतां पुंसां देहे स्वेदोद्गमोऽधमः ।
मध्यमः कम्पसंयुक्तो भूमित्यागः परो मतः ।
उत्तमस्य गुणावाप्ति र्यावत् शीलनमिष्यते ॥४८०१॥ इति ।

एतदेव तत्रान्तरे–

शुचिः प्राणायामान् प्रणवसहितान् षोडश वशो
प्रभाते सायं च प्रतिदिवसमेवं वितनुते ।
द्विजो यस्तं भ्रूणप्रहननकृतांहोऽधिकलितं
पुनन्त्येते मासादपि दुरिततूलौघदलनान् ॥४८०२॥

अयं प्राणायामः सकलदुरितध्वंसनकरो
विगर्भः प्रोक्तोऽसौ शतगुणफलो गर्भकलितः ।
जपध्यानापेतः स तु निगदितो गर्भरहितः
सगर्भस्तद्युक्तो मुनिपरिवृढै र्योगनिरतैः ॥४८०३॥ इति ।

योगे—

प्राणायामो लघुस्त्वेको द्विगुणो मध्यमः स्मृतः ।
उत्तमस्त्रिगुणो ज्ञेय इत्येषा वैदिकी स्थितिः ॥४८०४॥

प्रथमेन जयेत् स्वेदं द्वितीयेन च वेपथुम् ।
विषादं च तृतीयेन जयेद् दोषाननुक्रमात् ॥४८०५॥

द्विगुणोत्तरया वृद्धया प्रत्याहारस्तु धारणा ।
ध्यानं समाधिरित्येवं प्राणायामादनुक्रमात् ॥४८०६॥

तस्माद् युक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत् ।
श्रूयतां मुक्तिफलदं तस्यावस्थाचतुष्टयम् ॥४८०७॥

ध्वस्तिः प्राप्तिस्तथा संवित् प्रसादश्च तुरीयकः ।
स्वरूपं शृणु चैतेषां कथ्यमानाननुक्रमात् ॥४८०८॥

कर्मणामिष्टदुष्टानां जायते फलसंक्षयः ।
चेतसोऽर्थे कषायत्वाद् यत्र सा ध्वस्तिरुच्यते ॥४८०९॥

ऐहिकामुष्मिकान् कामान् लोभमोहात्मकांश्च यान् ।
निरुध्यास्ते यदा योगी प्राप्तिः स्यात् सर्वकामिकी ॥४८१०॥

अतीतानागतानर्थान् विप्रकृष्टतिरोहितान् ।
विजानाति यदा योगी तदा संविदिति स्मृता ॥४८११॥

याति प्रसादं येनास्य मनः पञ्च च वायवः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स प्रसाद इति स्मृतः ॥४८१२॥

प्राणायामस्य युक्तिस्तु पूर्वाभ्यासस्य कथ्यते ।
यं चक्रु र्मुनय सर्वे नाडीसंशुद्धिहेतवे ॥४८१३॥

पूर्वं दक्षिणहस्तस्य स्वांगुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ।
निरुद्धय पूरयेद् वायुमिडया तु शनैः शनैः ॥४८१४॥

यथाशक्ति निरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ।
पुनस्त्यजेत् पिङ्गलया शनै रेचनकं गतः ॥४८१५॥

पुनः पिङ्गलया पूर्वं पूरयेदुदरं शनैः ।
यथा त्यजेत् तथा पूर्वं धारयेदनिरोधतः ।
नाडीविशुद्धौ जातायां ततः कुर्याद् यथेच्छया ॥४८१६॥ इति ।

अथ प्रत्याहारः–

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरर्गलम् ।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारोऽभिधीयते ॥४८१७॥

अन्यच्च–

शब्दादिभ्यः प्रपन्नानि यदक्षाणि यतात्मभिः ।
प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्ततः स्मृतः ॥४८१८॥
स बाह्याभ्यन्तरं शौचं निष्पाद्याकण्ठनाभितः ।
पूरयित्वा बुधः प्राणैः प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥४८१९॥
रजसा तमसो वृत्तिं सत्त्वेन रजसस्तथा ।
संछाद्य निर्मले सत्त्वे स्थितो युञ्जीत योगवित् ॥४८२०॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्राणादीन् मन एव च ।
निगृह्य समवायेन प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥४८२१॥
यस्तु प्रत्याहरेत् कामान् सर्वाङ्गानीव कच्छपः ।
सत्त्वात्मरतिरेकस्थः पश्यत्यात्मानमात्मना ॥४८२२॥ इति ।

अथ धारणा–

अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीमनीलिङ्गनाभिषु ।
हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लंबिकायां ततो नसि ॥४८२३॥
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि द्वादशान्ते यथाविधि ।
धारणं प्राणमरुतो धारणेति निगद्यते ॥४८२४॥

अन्यत्रापि–

प्राणायामा दश द्वौ च धारणेत्यभिधीयते ।
द्वे धारणे स्मृते योगे मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥४८२५॥
गुरूपदेशमासाद्य एकस्मिन् स्थानके यदि ।
रुध्यन्ते जन्मनो वातौ धारणा सा निगद्यते ॥४८२६॥

वसिष्ठसंहितायां पञ्च धारणा अप्युक्ताः-

भूतानां मानसं चैकं धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साऽभिधीयते ॥४८२७॥

प्राप्तश्रीहरितालहेमरुचिरा तन्वी कलालांछिता
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा॥४८२८॥

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकालकरणी स्याद् वारुणी धारणा ॥४८२९॥

तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत् संगतम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरी धारणा ॥४८३०॥

यन्मूलं च जगत् प्रपञ्चसहितं दृष्टं भ्रुवोरन्तरे
तद्वत् सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा ॥४८३१॥

आकाशं च विशुद्धवारिसदृशं यद् ब्रह्मरंध्रस्थितं
तन्नाथेन सदाशिवेन सहितं युक्तं हकारेण यत् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी प्रोक्ता नभो धारणा ॥४८३२॥

अथ ध्यानम्-

शून्येषु चावकाशेषु गुहासूपवनेषु च ।
नित्ययुक्तः सदायोगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥४८३३॥

त्यक्तसंगो जितमना लध्वाहारो जितेन्द्रियः ।
पिधाय बुद्धिद्वाराणि मनो ध्याने नियोजयेत् ॥४८३४॥
समाहितेन मनसा चैतन्यान्तरवर्तिना ।
आत्मन्यभीष्टदेवानां ध्यानं ध्यानमिहोच्यते ॥४८३५॥
यत् तत्त्वे निश्चलं चित्तं तद्ध्यानं परमुच्यते ।
द्विधा भवति तद् ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा ॥४८३६॥
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा ।
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ॥४८३७॥
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
अन्तश्चेतो वहिश्चक्षुरधःस्थाप्य सुखासनम् ॥४८३८॥
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमाहुश्च सिद्धिदम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा मुञ्चति बन्धनात् ॥४८३९॥
आत्मानं च जगत् सर्वं दृशा नित्याविभिन्नया ।
चिदाकाशमयं ध्यायन् योगी याति परां गतिम् ॥४८४०॥
अथवा प्रोच्यते ध्यानमन्यदेवात्र योगिनाम् ।
रहस्यं परमं मुक्तेः कारणं प्रथमं च यत् ॥४८४१॥
वायुवच्चलितं चित्तं स्थिरीकर्तुं न शक्यते ।
तदर्थं सकले योज्यं ततो भवति निष्कलम् ॥४८४२॥
मूलाधारस्थितं जीवं प्रदीपकलिकाकृतिम् ।
प्रणवेन समाकृष्य दशमान्ते निवेशयेत् ॥४८४३॥
ततो जपेच्च सततं मूलाधारात् समुत्थितम् ।
निर्याति दशमद्वारे मनसा दानरूपिणम् ॥४८४४॥
यथा प्रयुक्तमोङ्कारः प्रतिनिर्याति मूर्धनि ।
तथोङ्कारमयो योगी ह्यक्षरे त्वक्षरो भवेत् ॥४८४५॥
कुर्वन्नेव यथा पश्येत् मनो नेत्रेण योगवित् ।
हंसं बिन्दुशिखां ज्योतिस्ततो लयमवाप्नुयात् ॥४८४६॥

यस्मिन् यस्मिन् पदादेशे तस्मिंस्तदुपकारणम् ।
धारयेद् धारणामुष्णे शीतां शीते विदाहिनीम् ॥४६१५॥
काष्ठं शिरसि संस्थाप्य तथा काष्ठेन ताडयेत् ।
लुप्तस्मृतेः स्मृतिः सद्यो योगिनस्तेन जायते ॥४६१६॥
अमानुषं सत्त्वमन्तर्योगिनं प्रविशेद् यदि ।
वाय्वग्निधारणा चैनं देहसंस्थं विनिर्दहेत् ॥४६१७॥
एवं सर्वात्मना कार्या रक्षा योगविदानिशम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ॥४६१८॥
प्रवृत्तिलक्षणाख्यानात् योगिनो विस्मयात्तथा ।
विज्ञानं विलयं याति तस्माद् हेयाः प्रवृत्तयः ॥४६१६॥
उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दृष्टेऽप्यात्मनि योगिनः ।
एतांस्ते सम्प्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥४६२०॥
काम्याः क्रियास्तथा कामान् मानुषानभिवाञ्छति ।
स्त्रियो दानफलं विद्यामायुर्दैर्घ्यं धनं दिवम् ॥४६२१॥
देवत्वममरेशत्वं रसायनवयःक्रियाः ।
मरुत्युत्पतनं यज्ञजलाग्न्यावेशनं तथा ॥४६२२॥
चित्तमित्थं प्रवृत्तं हि लयाद् योगी निवर्तयेत् ।
ब्रह्मासंगि मनः कुर्यादुपसर्गात् प्रमुच्यते ।
उपसर्गजितैरेभि र्जितसर्गस्ततः पुनः ४६२३॥
योगिनः सम्प्रवर्तन्ते सत्त्वराजसतामसाः ।
प्रातिभः श्रावणो देवो भ्रमावर्तौ तथापरौ ॥४६२४॥
पञ्चैते योगिनो योगविघ्नाय कटुकोदयाः ।
वेदार्थशास्त्रकाव्यार्था विद्याशिल्पान्यशेषतः ॥४६२५॥
प्रभवन्ति यदस्येति प्रातिभः स तु योगिनः ।
शब्दार्थानखिलान् वेत्ति शब्दं गृह्णाति चैव यत् ॥४६२६॥
योजनानां सहस्रेभ्यः श्रावणः सोऽभिधीयते ।
अष्टौ यदा तु दृश्यन्ते समन्ताद् देवयोनयः ॥४६२७॥

उपसर्गं तमित्याहु र्देवमुन्मत्तवद् बुधाः ।
भ्राम्यते यन्निरालम्बे मनोदोषेण योगिनः ॥४६२८॥
समस्ताधारविभ्रंशाद् भ्रमः स परिकीर्तितः ।
आवर्त्त इव तोयस्य ज्ञानावर्त्ते यदाकुलः ॥४६२९॥
चित्तमासकृदावर्त्तमुपसर्गः स उच्यते ।
एभि र्नाशितयोगास्तु सकला देवयोनयः ।
उपसर्गै र्महाघोरैरावर्तन्ते पुनः पुनः ॥४६३०॥ इति ।

अथारिष्टज्ञानम्–

अक्षीणकर्मबन्धस्तु ज्ञात्वा कालमुपस्थितम् ।
उत्क्रान्तिकाले संस्मृत्य पुन र्योगित्वमृच्छति ।
तस्मादसिद्धयोगेन सिद्धयोगेन वा पुनः ॥४६३१॥
ज्ञेयान्यरिष्टानि सदा येनोत्क्रान्तो न सीदति ।
अरिष्टानि विशिष्टानि शृणु वक्ष्यामि तानि ते ॥४६३२॥
येषामालोकनान्मृत्युं निजं जानाति योगवित् ।
त्रिविधानि च प्रोक्तानि तज्ज्ञैरेकमथान्तरम् ।
बाह्यं द्वितीयमन्यच्च स्वाप्नं तल्लक्षणं ब्रुवे ॥४६३३॥

अथ आन्तरम्–

मासादौ वत्सरादौ वा पक्षादौ वा यथाक्रमम् ।
क्षयकालं परीक्षेत वायुचारवशात् सुधीः ॥४६३४॥
पञ्चभूतात्मकं दीपं शशिस्नेहेन सिञ्चितम् ।
रक्षयेत् सूर्यवातेन तेन जीवः स्थिरो भवेत् ॥४६३५॥
अहोरात्रं यदैकश्च वहते यस्य मारुतः ।
तदा तस्य भवेदायुः सम्पूर्णं वत्सरत्रयम् ॥४६३६॥
अहोरात्रद्वयं यस्य पिङ्गलायां सदा गतिः ।
तस्य वर्षद्वयं प्रोक्तं जीवितं तत्त्ववेदिभिः ॥४६३७॥
त्रिरात्रं वहते यस्य वायुरेकपुटे स्थितः ।
तदा संवत्सरायुष्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥४६३८॥

अष्टाविंशः पटलः ।

अथो योगमयी सप्त धारणा योगिवल्लभाः ।
वक्ष्ये यया युतो योगी पञ्चकृत्यत्वमाप्नुयात् ॥४८९२॥
योगयुक्तः सदा योगी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
सूक्ष्मास्तु धारणाः सप्त भूराद्या मूर्ध्नि धारयेत् ॥४८९३॥
धरित्रीं धारयेद् योगी ततः सूक्ष्मं प्रवर्तते ।
आत्मानं मन्यते तद्धि तद्गन्धं च जहाति सः ॥४८९४॥
तथैवाप्सु रसं सूक्ष्मं तद्वद् रूपं च तेजसि ।
स्पर्शं वायौ तथा तद्वद् बिभ्रतस्तस्य धारणा ॥४८९५॥
व्योम्नि सूक्ष्मप्रवृत्ते च शब्दं तद्वज्जहाति सः ।
मनसा सर्वभूतानां मनश्चाविशते यदा ॥४८९६॥
मानसीं धारणां बिभ्रन्मनः सौक्ष्म्यं प्रजायते ।
तद्वद् बुद्धिमशेषाणां सत्त्वमानेत्ययोगवित् ॥४८९७॥
परित्यजति संप्राप्य बुद्धिसौक्ष्म्यमनुत्तमम् ।
यस्मिन् यस्मिस्तु कुरुते भूते रागं महामतिः ॥४८९८॥
तस्मिंस्तस्मिन् समासक्तिं संप्राप्य स विनश्यति ।
तस्माद् विदित्वा सूक्ष्माणि संसक्तानि परस्परम् ॥४८९९॥
परित्यजति यो योगी स परं प्राप्नुयात् पदम् ।
एतान्येव तु बन्धाय सप्त सूक्ष्माणि सर्वदा ॥४९००॥
भूतादीनां विरागोऽत्र संभवेद् यस्तु मुक्तये ।
गन्धादिषु समासक्तमित्येतदखिलं जगत् ॥४९०१॥
पुनरावर्तते सौख्यात् स ब्रह्मासुरमानुषम् ।
सप्तैता धारणा योगी समतीत्य यदीच्छति ॥४९०२॥
तस्मिंस्तस्मिन् तदा भूते लयं याति विधानतः ।
देवानामसुराणां च गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
देहेषु लयमायाति संगमाप्नोति न क्वचित् ॥४९०३॥

इति सप्तधारणा ।

अथ विदेहमुक्तिः—

पूर्वाह्णे वा पराह्णे वा मध्याह्ने वा परे क्वचित् ।
यदि वा रजनीभागे अरिष्टमुपलक्ष्यते ॥४६०४॥
तदैव सावधानः सन् योगं युञ्जीत योगवित् ।
विदेहमुक्तये ज्ञानी त्यक्त्वा मरणजं भयम् ॥४६०५॥
बद्धपद्मासनो धीमान् समसंस्थानकंधरः ।
निरुध्य प्राणपवनं दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥४६०६॥
बुद्ध्या निरुध्य द्वाराणि निमीलितविलोचनः ।
ॐकारं तु धनुः कृत्वा गुणं सत्त्वं नियोज्य च ॥४६०७॥
तत्रात्मानं शरं सोऽपि वृतो भूतेन्द्रियादिभिः ।
प्राणवायुं मनःक्षेपैः क्षिपेत् हृत्कमलस्थितः ॥४६०८॥
दशमद्वारमार्गेण लक्ष्यं प्राप्य ततः परम् ।
द्वात्रिंशत्तत्त्वसंयुक्तः परमात्मनि लीयते ॥४६०९॥
ततः परममाकाशमतीन्द्रियमगोचरम् ।
यद् बुध्वा चैनमाख्यातुं शक्यते न तमश्नुते ॥४६१०॥ इति ।

अथ दोषोपसर्गचिकित्सा—

प्रमादाद् योगिनो दोषा यद्येते स्युश्चिकित्सिता ।
तेषां नाशाय कर्त्तव्या योगिना तन्निबोध मे ॥४६११॥
वाधिर्यं जडता लोपः स्मृते मूकत्वमन्धता ।
ज्वरश्च जीर्यतः सद्यस्तद्वदज्ञानयोगिनः ॥४६१२॥
स्निग्धां यवागूं नात्युष्णां चित्ते तत्रैव धारयेत् ।
तावद् गुल्मप्रशान्त्यर्थमुदावर्ते तथाविधे ।
यवागूं चापि पवने वायुग्रन्थ्युपरि क्षिपेत् ॥४६१३॥
तद्वत् कम्पे महाशैलं स्थिरं मनसि धारयेत् ।
विघाते वचसो वाचं वाधिर्य्ये श्रवणेन्द्रिये ।
तथैवाम्लं फलं ध्यायेत् तृषार्तो रसनेन्द्रिये ॥४६१४॥

शिवस्य शक्ति र्जीवोऽस्ति जीवशक्ति र्मनः स्मृतम् ।
जीवं शिवं प्रापयितुं मन एव हि कारणम् ॥४८७०॥
जीवः शिवः शिवो जीवो न भेदोऽस्त्यनयोः क्वचित् ।
मनोलिप्तो भवेज्जीवो मनोमुक्तः सदाशिवः ॥४८७१॥

अथ योगिमहिमा–

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कांतिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम्॥४८७२॥
अनुरागं जनो याति परोक्षगुणकीर्तनात् ।
न बिभ्यति च सत्त्वानि सिद्धे र्लक्षणमुत्तमम् ॥४८७३॥
शीतोष्णादिभिरत्युग्रै र्यस्य बाधा न जायते ।
न भीतिमेति चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता ॥४८७४॥

अथ योगिचर्या–

वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी निगद्यते ॥४८७५॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥४८७६॥
येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी च तं देवा योगिनं विदुः ॥४८७७॥
मानापमानौ यावेतौ प्रीत्युद्वेगकरौ नृणाम् ।
तावेव विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धिकारकौ ॥४८७८॥
चक्षुःपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद् वाणीं बुद्धिपूतं विचिन्तयेत् ॥४८७९॥
सर्वसङ्गविहीनश्च सर्वपापविवर्जितः ।
जडवन्मूकवद् योगी विचरेत महीतले ॥४८८०॥
असिधारां विषं वह्नि समत्वे यः प्रपश्यति ।
मालासुधातुषाराणां स योगी कथ्यते बुधैः ॥४८८१॥

यस्मिन् स्थाने क्षणं तिष्ठेदीदृग् योगी कथञ्चन ।
आयोजनं चतुर्दिक्षु पवित्रं तत् प्रचक्षते ॥४८८२॥
चतुःसागरपर्यन्तां पृथिवीं यो ददाति च ।
तत्त्वज्ञस्य च यो भिक्षां समं वा नाथवा समम् ॥४८८३॥
आतिथ्ये श्राद्धयज्ञे वा देवयात्रोत्सवेषु वा ।
महाजने च सिद्धार्थो न गच्छेद् योगवित् क्वचित् ॥४८८४॥
जाते विधूमे चांगारे सर्वस्मिन् मुक्तवज्जने ।
अटेत योगविद् भैक्ष्यं न तु तेष्वेव नित्यशः ॥४८८५॥
यथैवमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च ।
तथायुक्तश्चरेद् योगी सतां धर्ममदूषयन् ॥४८८६॥
भैक्षं गृह्णन् गृहस्थेषु श्रोत्रियेषु चरेद् यदि ।
फलं मूलं यवाग्वन्नं पयस्तक्रं च सक्तवः ॥४८८७॥
ब्रह्मचर्यमलोभं च दया क्रोधः सुचित्तता ।
आहारलाघवं शौचं योगिनां नियमाः स्मृताः ॥४८८८॥
सारभूतमुपासीत ज्ञानं तत् कार्यसाधनम् ।
ज्ञानानां बहुता येयं योगविघ्नकरी हि सा ॥४८८९॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ।
अपि कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥४८९०॥
समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी
बुधस्तथैकान्तरसंयतेन्द्रियः ।
विशुद्धबुद्धिः समलोष्ठकाञ्चनः
प्राप्नोति योगी परमव्ययं पदम् ॥४८९१॥

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे योगचर्याकथनं
नाम सप्तविंशः पटलः ॥२७॥

ब्रह्मद्वारे मुखे सूक्ष्मं निर्विकल्पं परात् परम् ।
परमं ज्योतिरासाद्य योगी तन्मयतां व्रजेत् ॥४८४७॥
निर्विकल्पपदे प्राप्ते जीवे तन्मयतां गते ।
नश्यन्ति सर्वकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥४८४८॥
वृक्षमूर्ध्नि यथा पक्षी ह्याकस्मादेव प्राप्यते ।
बुद्धिस्थो दृश्यतामेति झटित्येव तथा विभुः ॥४८४९॥
अग्रतः पृष्ठतो मध्ये पार्श्वतोऽथ समन्ततः ।
विद्युच्चकितवद् भाति सूर्यकोटिसमप्रभः ॥४८५०॥
रतान्ते स्त्री यथात्मानं क्षणं क्वाहं न बुध्यते ।
रमणोऽपि न जानाति कोऽहं योगे तथा पुमान् ॥४८५१॥
शृणोत्याश्चर्यवत् कोऽपि कोऽप्याश्चर्यवदीक्षते ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा तथाप्येनं सम्यग् वेद न कश्चन ॥ ४८५२॥
गुरुप्रसादतो लक्ष्यं लब्ध्वा यत्नात् समभ्यसेत् ।
अभ्यासाद् दृश्यते देवो ज्ञानदृष्ट्या महेश्वरः ॥४८५३॥
तेजः परं द्युतिमतां तमसः परस्ता-
दादित्यवर्णममलं कनकस्वरूपम् ।
आत्मानमात्मनि गतं प्रकृते र्विभिन्न-
मानन्दमात्रमिति पश्यति यः स मुक्तः ॥४८५४॥

इति ध्यानम् ।

अथ समाधिः—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
निस्तरङ्गपदप्राप्तिः परमानन्दरूपिणी ॥४८५५॥
निःश्वासोच्छ्वासयुक्तो वा निस्पन्दोऽचललोचनः ।
शिवध्यायी सुलीनश्च स समाधिस्थ उच्यते ॥४८५६॥
न शृणोति यदा किञ्चिन्न पश्यति न जिघ्रति ।
न च स्पर्शं विजानाति स समाधिस्थ उच्यते ।
इत्थं तु मुनयः प्राहु र्योगमष्टाङ्गलक्षणम् ॥४८५७॥

अथ तुर्यातीतम्-

अत्यन्तशुद्धचिन्मात्रे परिणामश्चिरादपि ।
तुर्यातीतं पदं तत् स्याद् भूयः तत्स्थो न शोचति ॥४८५८॥
निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपपद्यते ।
तद्भावभावितो योगी मुक्तो भवति नान्यथा ॥४८५६॥
य आकाशवदेकात्मा सर्वभावगतोऽपि सन् ।
न भावरञ्जनामेति स महात्मा महेश्वरः ॥४८६०॥
यथा जलं जलेनैक्यं निक्षिप्तमुपगच्छति ।
तथात्मा साम्यतामेति योगिनः परमात्मना ॥४८६१॥
ततो न जायते नैव वर्धते न विनश्यति ।
नापि क्षयमवाप्नोति परिमाणं न गच्छति ॥४८६२॥
छेदं क्लेदं तथा दाहं शोषं भूरादितो न च ।
भूतचक्रादवाप्नोति शब्दाद्यै र्दूयते न च ॥४८६३॥

इति तुर्यातीतम् ।

अथ मनःस्थिरीकरणभावः-

यत्र यत्र मनो याति ध्यायतो योगिनस्तथा ।
तत्रैव हि लयं कुर्यात् शिवः सर्वगतो यतः ॥४८६४॥
युक्त्यानया भवेच्चेतश्छिन्नपक्षमचञ्चलम् ।
सर्वत्रैकं शिवं ज्ञात्वा निर्विकल्पं विधीयते ॥४८६५॥
कामक्रोधादयः सर्वे मतिरक्षाण्यहंकृतिः ।
गुणा विविधकर्माणि विलीयन्ते मनःक्षयात् ॥४८६६॥
अमनस्कं गते चित्ते जायते कर्मणां क्षयः ।
यथा चित्रपटे दग्धे दह्यते चित्रसञ्चयः ॥४८६७॥
तन्त्रयोगात् यथा क्षीरं काठिन्यमुपगच्छति ।
तथा जीवो मनस्थैर्यात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥४८६८॥
यथा हिमप्रभावेन जलं स्थास्नुत्वमाप्नुयात् ।
तथा मनः स्थिरत्त्वेन जीवः शिवमयो भवेत् ॥४८६९॥

रात्रौ चंद्रो दिवा सूर्यो वहेद् यस्य निरंतरम् ।
जानीयात् तस्य वै मृत्युः षण्मासाभ्यंतरे भवेत् ॥४६३९॥
एकादिषोडशाहानि यस्य भानुर्निरंतरम् ।
वहते तस्य वै मृत्युः शेषाहे तच्च मासकैः ॥४६४०॥
संपूर्णं वहते सूर्यश्चन्द्रमा नैव दृश्यते ।
पक्षेण जायते मृत्युः कालज्ञैरिति निश्चितम् ॥४६४१॥
संपूर्णं वहते चंद्रस्त्वर्यमा नैव दृश्यते ।
मासेन जायते मृत्युः कालज्ञैरिति निश्चितम् ॥४६४२॥

अथ बाह्यम्—

देवमार्गं ध्रुवं शुक्रं सोमच्छायामरुंधतीम् ।
यो न पश्येन्न जीवेत नरः संवत्सरात् परम् ॥४६४३॥
अरश्मिबिम्बं सूर्यस्य वह्निं चैवांशुमालिनम् ।
दृष्ट्वैकादशमासाच्च नरो नोर्ध्वं स जीवति ॥४६४४॥
अरुंधतीं ध्रुवं चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
आयुर्हीना न पश्यंति चतुर्थं मातृमंडलम् ॥४६४५॥
अरुंधती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमेव च ।
भ्रुवोर्विष्णुपदं ज्ञेयं तारका मातृमंडलम् ॥४६४६॥
न च भ्रुवोः सप्त वाथ पंचतारा त्रिनासिका ।
जिह्वा एकदिनं प्रोक्तं म्रियते मानवो ध्रुवम् ॥४६४७॥
कोणावक्ष्णोंऽगुलीभ्यां तु किंचित् पीड्य निरीक्षयेत् ।
यदा न दृश्यते बिन्दुर्दशाहेन च सो मृतः ॥४६४८॥
वांत्या मूत्रं पुरीषं यः सुवर्णरजतं वमेत् ।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवितं दशमासिकम् ॥४६४९॥
दृष्ट्वा प्रेतपिशाचादीन् गंधर्वनगराणि च ।
सुवर्णवर्णवृक्षांश्च नवमासान् स जीवति ।
स्थूलः कृशः कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते ॥४६५०॥

प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम् ।
खडं यस्य पदं पार्ष्णौ पादस्याग्रेऽथवा भवेत् ॥४६५१॥
पांशुकर्द्दमध्ये वा सप्तमासान् स जीवति ।
कपोतगृध्रकाकोला वायसो वापि मूर्धनि ॥४६५२॥
क्रव्यादो वा परो लीनः षण्मासायुःप्रदर्शकः ।
हन्यते काकततिभिः पांशुवर्षेण वा नरः ॥४६५३॥
स्वच्छायां वान्यथा दृष्ट्वा चतुर्मासान् स जीवति ।
अनभ्रे विद्युतं दृष्ट्वा दक्षिणां दिशमाश्रिताम् ॥४६५४॥
पश्येदिन्द्रधनुर्वापि जीवित त्रिद्विमासिकम् ।
घृते तैले तथादर्शे तोये वाप्यात्मनस्तनुम् ॥४६५५॥
यः पश्येदशिरस्कंधा मासादूर्ध्वं न जीवति ।
यस्य वह्निसमो गंधो गात्रे शवसमोऽपि वा ॥४६५६॥
तस्य मासाधिकं ज्ञेयं योगिनः किल जीवितम् ।
यस्य वै स्नातमात्रस्य हृत्तोयमवशुष्यति ॥४६५७॥
पिवतश्च जलं शुष्को दशाहं सोऽपि जीवति ।
यश्चापि हन्यते दृष्टैर्भूतै रात्रावथो दिवा ॥४६५८॥
स मृत्युं सप्तरात्रान्ते पुमान् प्राप्नोत्यसंशयः ।
पिधाय कर्णौ च निजौ न शृणोत्यात्मसंभवम्[1] ।
नश्यते चक्षुषो ज्योतिर्यस्य सोऽपि न जीवति ॥४६५९॥

इति बाह्यम्

अथ स्वाप्नम्—

रक्तकृष्णांबरधरा गीतहास्यपरा च यम् ।
दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥४६६०॥
नग्नं क्षपणकं स्वप्ने हसंतं नृत्यतत्परम् ।
एकं विलक्ष विभ्रांतं विद्यान्मृत्युमुपस्थितम् ॥४६६१॥

१–नादमिति क्व.।

पततो यस्य वै गर्ते स्वप्ने द्वारं पिधीयते ।
न चोत्तिष्ठति यः स्वप्नात् तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ४९६२ ॥
स्वप्नेऽग्निं प्रविशेत् यस्तु न च निष्क्रमते पुनः ।
जलप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४९६३ ॥
करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यतायुधैः ।
पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने सद्यो मृत्युमवाप्नुयात् ॥ ४९६४ ॥
दीपाद्विगंधं नो वेत्ति पश्यत्यग्निं तथा निशि ।
नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्ष्यते यः स मृत्युमान् ॥ ४९६५ ॥
स्वभाववैपरीत्ये तु शरीरस्य विपर्यये ।
कथयन्ति मनुष्याणां समापन्नौ यमान्तकौ ॥ ४९६६ ॥
आरक्ततामेति मुखं जिह्वा चा यसिता भवेत् ।
तदा प्राज्ञो विजानीयान्मृत्युमासन्नमागतम् ॥ ४९६७ ॥
नासिका वक्रतामेति कर्णयोर्नमनं यदि ।
नेत्रं च वामं स्रवति यस्य तस्यानु तद्गतम् ॥ ४९६८ ॥
योगिनां ज्ञानविदुषामन्येषां वा महात्मनाम् ।
प्राप्ते तु काले पुरुषैस्तद्विचार्यं विचक्षणैः ॥ ४९६९ ॥

इति कालज्ञानम् ।

अथ कालवचना—

तीर्थस्नानेन दानेन तपसा सुकृतेन च ।
जपैर्ध्यानेन योगेन जायते कालवंचना ॥ ४९७० ॥
जीवन्मुक्तः सदेहोऽहं विचरामि जगत्त्रयम् ।
इति चेज्जायते वाञ्छा योगिनस्तन्निबोध मे ॥ ४९७१ ॥
शरीरं न नयत्येव कालः कस्यापि कुत्रचित् ।
अतः शरीररक्षार्थं यत्नः कार्यस्तु योगिना ॥ ४९७२ ॥
योगिना सततं यत्नादरिष्टानां विचारणा ।
कर्तव्या येन कालोऽसौ ज्ञातो हन्ति छलान्न तम् ॥ ४९७३ ॥

ज्ञात्वा कालं च तं सम्यक् लयस्थानं समाश्रितः ।
युञ्जीत योगं कालोऽस्य यथासौ विफलो भवेत् ॥ ४६७४ ॥
मारुतं बंधयित्वा तु सूर्यं बोधयते यदि ।
अभ्यासाज्जीवते जीवं सूर्यकालेऽपि वंचिते ।
गगनात् स्रवते चन्द्रः कायपद्मानि सिंचयन् ॥ ४६७५ ॥
कर्मयोगसदाभ्यासैरमरः शशिसंस्रवात् ।
शशांकं चारयेद् रात्रौ दिवा चार्यो दिवाकरः ॥ ४६७६ ॥
इत्यभ्यासरतो यस्तु स भवेत् कालवंचकः ।
बद्ध्वा सिद्धासनं देहं पूरयेत् प्राणवायुना ॥ ४६७७ ॥
कृत्वा दण्डं स्थिरं बुद्ध्या शब्दद्वाराणि रुंधयेत् ।
बंधयेत् खेचरीं मुद्रां ग्रीवाया च जलंधरम् ॥ ४६७८ ॥
अपाने मूलबंधं च उड्डीयानं तथोदरे ।
उत्थाप्य भुजगीं शक्तिं मूलोद्घातैरधःस्थिताम् ॥ ४६७९ ॥
सुषुम्णान्तर्गतां पंच चक्राणां भेदिनीं शिवाम् ।
जीवं हृदाश्रयं नीत्वा यान्तीं बुद्धिं मनोयुताम् ॥ ४६८० ॥
सहस्रदलपद्मस्थशिवे लीनां सुधामये ।
पीत्वा सुधाकरोद्भूतममृतं तेन मूलतः ॥ ४६८१ ॥
सिंचंतीं सकलं देहं प्लावयन्तीं विचिन्तयेत् ।
तया सार्धं गतो योगी शिवेनैकात्मतां व्रजेत् ॥ ४६८२ ॥
परानंदमयो भूत्वा चिद्वृत्तिमपि संत्यजेत् ।
ततो लक्षमनाभासमहंभावविवर्जितः ॥ ४६८३ ॥
सर्वांगकल्पनाहीनं कथं कालो निहंति तम् ।
स एव कालः स शिवः स सर्वं नापि किंचन ॥ ४६८४ ॥
कः केन हन्यते तत्र म्रियते नापि कश्चन ।
ततो व्यतीते समये कालस्य भ्रांतिरूपिणः ॥ ४६८५ ॥
योगी सुप्तोत्थित इव प्रबोधं याति बोधितः ।
एवं सिद्धो भवेद् योगी वंचयित्वा विधानतः ॥ ४६८६ ॥

कालं कलितसंसारं पौरुषेणाद्भुतेन हि ।
ततस्त्रिभुवने योगी विचरत्येक एव सः ॥ ४६८७ ॥
पश्यन् संसारवैचित्र्यं स्वेच्छया निरहंकृतिः ।
यथार्करश्मिसंयोगादर्ककांतो हुताशनम् ॥ ४६८८ ॥
आविष्करोति नैकः सन् दृष्टान्तः स तु योगिनः ।
मृद्देहिकाल्पदेहेऽपि मुखाग्रेनोत्फणी यथा ॥ ४६८९ ॥
करोति मृद्भारचयमुपदेशः स योगिनः ।
पिंगला कुररः सर्पसारंगान्वेषकस्तथा ।
इषुकारः कुमारी च षडैते गुरवो मताः ॥ ४६९० ॥ इति ।

अथ योगांगभूतं कर्माष्टकं हठाभ्यासिनां शरीरशोधकं लिखामः :—

आदौ नाडीविशुद्ध्यर्थमष्टांगानि समभ्यसेत् ।
शोधकानि शरीरस्य प्रोक्तान्यष्टौ महात्मभिः ॥ ४६९१ ॥
चक्रिर्नौलिर्धौतिनेती वस्तिश्च गजकारिणी ।
त्राटकं मस्तकभ्रांतिरिति कर्माष्टकं स्मृतम् ॥ ४६९२ ॥

यच्च हठदीपिकायाम् —

कर्माष्टकमिदं विद्धि घटशोधनकारकम् ।
कस्यचिन्न च वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ४६९३ ॥

अथ चक्रिः—

पायुनाले प्रसार्योर्ध्वमंगुलीं भ्रामयेदभि ।
यावद् गुदविकाशः स्याच्चक्रिकर्म निगद्यते ॥ ४६९४ ॥
मूलव्याधि गुल्मरोगो नश्यत्यत्र महोदरः ।
मलशुद्धि र्दीपनं च जायते चक्रिकर्मणा ॥ ४६९५ ॥ इति ।

अथ नौलिः—

सा च नौलिर्द्विधा प्रोक्ता भारी चैकान्तराभिधा ।
भारी स्याद् बाह्यरूपेण जायतेऽन्तोऽन्तराभिधा ॥ ४६९६ ॥

अथ आद्या—

अमंदावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयत्येषा नौलिर्गौडैः प्रशस्यते ।। ४९९७ ।।
तुन्दाग्निसंदीपनपाचनाति संदीपिकानंदकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ।। ४९९८ ।।

अथ द्वितीयान्तरा—

इडयावर्तवेगेन तथा पिंगलया पुनः ।
उभाभ्यां भ्रामयेच्चैव ह्यन्तरा कीर्तिता मया ।। ४९९९ ।। इति ।।

अथ धौतिः—

विंशद् हस्तप्रमाणेन धौतेर्वस्त्रं सुदीर्घकम् ।
चतुरंगुलविस्तारं सिक्तं चैव शनैर्ग्रसेत् ।। ५००० ।।
ततः प्रत्याहरेच्चैतदुत्खातं धौतिरुच्यते ।
दिने दिने ततः कुर्याज्जठराग्निविवर्धनम् ।। ५००१ ।।
कासश्वासप्लीहकुष्ठकफरोगांश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण धुनोत्येव न संशयः ।। ५००२ ।।

अथ नेतिकर्म—

आखुपुच्छाकारनिभं सूत्रं तु स्निग्धनिर्मितम् ।
षड्वितस्तिमितं सूत्रं नेतिसूत्रस्य लक्षणम् ।। ५००३ ।।
नासानाले प्रवेश्यैनं मुखान् निर्गमयेत् क्रमात् ।
सूत्रस्यान्तं प्रबद्ध्वा तु भ्रामयेन्नासनालयोः ।। ५००४ ।।
मथनं च ततः कुर्यान्नेतिसिद्धैर्निगद्यते ।
कपालशोधनकरी दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगघ्नी जायते नेतिरुच्यते ।। ५००५ ।।

अथ वस्तिः—

वस्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता जलवायू प्रभेदयेत् ।
चक्रिं कृत्वा यथाशक्त्या जलवस्तिमथो ब्रुवे ।। ५००६ ।।

नाभिदघ्नजले स्थित्वा पायुनाले स्थितांगुलिः ।
चक्रिमार्गेण जठरं पायुनालेन पूरयेत् ।
विचित्रकरणीं कृत्वा निर्भीतो रेचयेज्जलम् ॥ ५००७ ॥
यावद् बलं प्रपूर्यैव क्षणं स्थित्वा विरेचयेत् ।
घटीत्रयं न भोक्तव्यं वस्तिमभ्यसतो ध्रुवम् ।
निर्वातभूमौ संतिष्ठेद् वशी हितमिताशनः ॥ ५००८ ॥
गुल्मप्लीहोदरं वापि वातपित्तकफादिकम् ।
वस्तिकर्मप्रभावेण धवत्येव न संशयः ॥ ५००९ ॥
धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ ५०१० ॥

अथ गजकरणी—

उदरगतपदार्थमुद्वहन्तो पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ।
क्रमपरिचयतस्तु वायुमार्गे गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥५०११॥
पीत्वाकण्ठमतिगुडजलं नालिकेरोदकं वा
वायुं मार्गे पवनजलयुतः कुंभयेद् वाथ शक्त्या ।
निःशेषं शोधयेद् वा परिभवपवनो वस्तिवायुप्रकाशात्
कुंभांभः कण्ठनाले गुरुगजकरणी प्रोच्यते या हठज्ञैः ॥ ५०१२ ॥
यथैव गजयूथानां राजते राजकुंजरः ।
तथेयं गजकरणीति प्रोच्यते हठयोगके ॥ ५०१३ ॥

अथ त्राटनम्—

निरीक्षेन् निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्षं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं मतम् ॥ ५०१४ ॥
स्फोटनं नेत्ररोगाणां मंत्रादीनां कपाटकम् ।
प्रयत्नात् त्राटनं गोप्यं यथा रत्नसुपेटकम् ॥ ५०१५ ॥

अथ कपालभ्रांतिः—

भस्त्रीवल्लोहकाराणां रेचपूरकसंभ्रमौ ।
कपालभ्रांतिर्विख्याता सर्वरोगविशोषिणी ॥ ५०१६ ॥

यद्वा—

कपालं भ्रामयेत् सव्यमपसव्यं तु वेगतः ।
रेचपूरकयोगेन कापालभ्रांतिरुच्यते ॥ ५०१७ ॥
कफदोषं निहंत्येव पित्तदोषं जलोद्भवम् ।
कपालशोधनेनापि ब्रह्मचक्रं विशुद्धचति ॥ ४०१८ ॥

इत्यष्टकर्म ।

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने च निर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठयोगके कृते ॥ ५०१९ ॥
कर्माष्टभि र्गतस्थौल्यकफमेदोमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति ॥ ५०२० ॥
षट्चक्रशोधनं सम्यक् प्राणायामस्य कारणम् ।
नाशनं सर्वरोगाणां मोक्षमार्गस्य साधनम् ॥ ५०२१ ॥
देहारोग्यं च लभते ह्यष्टकर्मप्रभावतः ।
इतीत्थं पटलैरष्टाविंशैः पूर्वार्धकं गतम् ।
सदागम रहस्यैतद्गुरूणां प्रीतिदायकम् ॥ ५०२२ ॥
सदागमरहस्याब्धिसमुद्भूतमणिस्रजा ।
भूषिता करुणामूर्तिररुणा वितनोतु शम् ॥ ५०२३ ॥
यत्कृपालेशमालंब्य भक्ता भवमया भवे ।
भवीयन्ति भवं सर्वं नुमस्तां भवनाशिनीम् ॥ ५०२४ ॥
श्रीमद्गुरुपदांभोजमकरंदमधुव्रताः ।
देशिकाः सन्तु सन्तुष्टा दृष्ट्वागमरहस्यकम् ॥ ५०२५ ॥
शिवयोः प्रीतिदं भूयात् पूर्वापरविभागतः ।
पूर्वार्द्धे श्रीशिवः तुष्येदुत्तरार्द्धे तथाम्बिका ॥ ५०२६ ॥
श्रीनाथदृष्टिपूतानां भक्तानां तद्गतात्मनाम् ।
अभेदज्ञानिनां हेतोरर्द्धं तदपि लक्षये ॥ ५०२७ ॥

ते कृतार्थाः स्वयं सन्तः स्वात्मलाभैकमानसाः ।
तथापि तुष्टिमायान्तु मत्कृतैः साहसैरलम् ।। ५०२८ ।।
शिष्टा यदपि सर्वज्ञास्तथापि शिशुलीलया ।
मुदमादधते चित्ते यदानंदमया हि ते ।। ५०२९ ।।
गुरुणा लक्षितं यच्च दृष्टं यच्चागमादिषु ।
तत्रत्यं सारभूतं यदुत्तरार्धे लिखाम्यहम् ।। ५०३० ।।
आत्मानंदप्रबोधाय विनोदाय महात्मनाम् ।
सरस्वत्यानन्दनाथो दुर्गानन्दपदाश्रितः ।। ५०३१ ।।

इतिश्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे द्विवेदिवंशोद्भवसाकेतपुर-
प्रान्तस्थायि सरयूप्रसादविरचिते योगाङ्गकथनं
नामाष्टाविंशः पटलः । समाप्तः पूर्वार्द्धः ।
वर्षे सम्वत् १९३७ का लिपिकृतं नानूराम
ब्राह्मण दायमा ।। श्रीरस्तु ।



संपादकीया—विज्ञप्तिः

१— आगमविदां वरेण्यः तपःप्रभावप्रशस्तयशशाली ।
आयोध्यको य आसीत् सुमनाः सरयूप्रसादसुधीः ॥

२— नानातन्त्रनिबन्धान् प्रज्ञालोके विविच्य संवीक्ष्य ।
आगमरहस्यसंज्ञः संकलितस्तेन सन्दर्भः ॥

३— प्रपितामहस्य तममुं सन्दर्भं भावनाभव्याः ।
विज्ञा विमृशन्तु मुदा लोकद्वयसाध्यसिद्धिकरम् ॥

४— गुरुमुखतोऽधिगतं यत् तन्नरहस्यं परम्परायातम् ।
तदिहानुसृत्य सकलं श्रमेण संपादितो ग्रन्थः ॥

५— गङ्गाधरद्विवेदो जयपुरनगरे 'सरस्वती—पीठे' ।
नवभूविंशति (२०१९) संख्ये विक्रमवर्षेऽनयत् पूर्तिम् ।

× × × ×

विमर्शानन्दनाथेन श्रीगुर्वाम्नायवेदिना ।
निध्यातियं कृतिः पूर्णा स्वान्तःकरणशुद्धये ॥

इति शिवम् ।



अथ

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतं

आगमरहस्यम्

गजाननं विघ्नहरं गणार्चितपदांबुजम् ।
सेवितं सिद्धिबुद्धिभ्यामनिशं श्रेयसे श्रये ॥१॥
नित्यामनन्तां प्रकृतिं पुराणीं चिदीश्वरीं सर्वजगन्निवासाम् ।
शिवार्धदेहामगुणां गुणाढ्यां वर्णार्थरूपां प्रणमामि देवीम् ॥२॥
श्रीगुरून् करुणापूर्णानज्ञानध्वान्तभास्करान् ।
विद्याविलसितानन्दान् प्रणौमि निखिलार्थदान् ॥३॥

❀ ॐ नमः शिवाय ❀

मितभाषिणी

यत्कारुण्यसुधापूरैः प्लावितं भुवनोदरम् ।
तमानन्दकलोल्लासं सेवे स्वात्ममहेश्वरम् ॥ १ ॥
श्रीकण्ठस्य मुखाल्लोकेऽवतीर्णः सद्भिराश्रितः ।
आगमः स हि लोकानां भुक्तिमुक्तिश्रियां पदम् ॥ २ ॥
यथाशास्त्रं सेव्यमानो गुरुदर्शितवर्त्मना ।
फलत्यसौ कल्पशाखी चिन्तामणिरिवापरः ॥ ३ ॥
निबन्धनिचयैः प्राचां सारमादाय संचितम् ।
यदाचार्येण संरम्भात् तदागमरहस्यकम् ॥ ४ ॥
प्रमेयविस्तरं दृष्ट्वा यदत्र विहितः श्रमः ।
तन्त्रार्णवं सन्तरितुं सेतुबन्धोऽयमिष्यताम् ॥ ५ ॥
तदस्मिन्नर्थबहुले सन्दर्भे बहुधादृते ।
गंगाधरो वितनुते विवृतिं मितभाषिणीम् ॥ ६ ॥
यथा संगतिवैधुर्यमनाश्वासश्च नो भवेत् ।
सतां मनीषिणामत्र तदर्थोऽयमुपक्रमः ॥ ७ ॥

अथाचार्यः आगमरहस्यं प्रारिप्सुः 'मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति (सांख्यद० ५ । १) प्रमाणयन् प्रथमं गणपतिस्मरणमुखेन मङ्गलमाचरति- **गजाननमिति** । गजस्य हस्तिन आननमिव आननमस्येति मध्यमपदलोपिसमासः । गजाननावतारकथा यथा स्कान्दे—

'एवमेवावतीर्णोऽसि हीनमूर्ध्ना कथं प्रभो ! ।
अथवा बालरूपस्य छिन्नं ते केन तच्छिरः ।।
एतन्मे संशयं छिन्धि कृपया परमेश्वर ।' इत्यादिना

देवर्षिनारदप्रश्ने—

'सिन्दूरः कोऽपि दैत्यो मे वायुरूपधरोऽच्छिनत् ।
अष्टमे मासि सम्पूर्णे प्रविश्योमोदरं शिरः ।।
तमिदानीं हनिष्येऽहं गजास्यं साम्प्रतं द्विज ! । इति ।

तथा—

'अकिञ्चिज्ज्ञा वयं देव योजनेऽस्य मुखस्य ते ।
त्वमेव च स्वभावेन मुखमेतन्नियोजय ।।' इत्येवं

प्रक्रम्य—

'वदतीत्थं मुनिर्यावत् तावत् स ददृशेऽखिलैः ।
सर्वावयवसम्पूर्णो गजानन उमासुतः ।।
किरीटकुण्डलधरो युगबाहुः सुलोचनः ।
वामदक्षिणभागे च सिद्धिबुद्धिविराजितः ।।
दृष्ट्वा विनायकं स्कन्द ! तथाभूतं निजेच्छया ।
हर्षेणोत्फुल्लनयना देवाः सर्वे तदाब्रुवन् ।।
गजानन इति ख्यातो भवितायं जगत्त्रये ।
एवं भाद्रचतुर्थ्यां स अवतीर्णो गजाननः ।'

(स्कन्दपु० गणेशखण्ड, अ० ११)

इति शिवप्रतिवचनादवगन्तव्या । यत्तु ब्रह्मवैवर्त्तादिषु—
'शनिदृष्टया शिरश्छेदाद् गजवक्त्रेण योजितम् ।
गजाननः शिशुस्तेन नियतिः केन वार्यते ।।'

इत्यादि प्रस्तूयते तदनाकरत्वात् विसंवादाच्चानादेयमेत्र । गणैः विघ्नहर्तृ-देवविशेषैः अर्चितं पदाम्बुजं यस्य, तम् । श्रेयसे श्रेयःफलावाप्तये, श्रये शरणत्वेन आश्रये ।। १ ।।

इदानीं सर्वागमाधिष्ठात्रीं परदेवतां परामृशन्, जगदुपास्यतया तस्यै प्रणति-मावेदयन् उपास्यप्राधान्यमुपश्लोकयति-**नित्येति** । नित्यां कालत्रयेऽप्यनवच्छिन्नचिद्रूपां अबाध्यामिति यावत् । 'अविनाशी अरेऽयमात्मेति श्रुतेः । अतएव न विद्यते अन्तो यस्याः सा, ताम् । प्रकृतिं जगतः सर्गे प्रकृतिस्वरूपेण अनुस्यूताम् । तथा च आचार्यैः **प्रपञ्चसारे**—

प्रकृतिः पुरुषश्चैव नित्यौ ।' इत्यादिना निर्दिष्टरूपा । एवं भगवद्गीतायामपि-

'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ।।' इति ।

तथा—

इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।'

(भगवद्गी० अ० ७ श्लो० ४, ५, अ० १३, श्लो० १)

इत्यादिना चोपदिष्टा । पुराणीं जगन्मूलकारणतया प्राक्तनीम् । चिदीश्वरीम् चितः अविद्यापरिपन्थिनो ज्ञानरूपस्य ईश्वरीं स्वामिनीम् । सर्वजगन्निवासाम्-सर्वस्य स्थूलसूक्ष्मरूपस्य जगतः सृष्टिप्रपञ्चस्य निवासां आश्रयभूताम् । शिवार्धदेहाम् शिवस्य अर्धं देहो यस्याः सा, ताम् । शिवाभिन्नार्धशरीरशालिनीमित्यर्थः । अतएव वृहदारण्यकोपनिषदि—

'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति उपक्रम्य 'स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतामिति' इत्यनेन एकस्यैव द्व्यात्मकत्वं श्रूयते । अगुणां अनिर्वचनीयस्वरूपाम् । गुणाढ्याम्-गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः आढ्यां उत्कर्षभासुराम् । त्रिगुणात्मकेनावस्थानेन स्फुरद्रूपामित्यर्थः । वर्णार्थरूपाम्—वर्णार्थौ रूपं यस्याः सा, तथाभूताम् । परापश्यन्त्यादिक्रमेण पञ्चाशद्वर्णात्मना वेदादिसमस्तव्यवहारप्रयोजिकाम् । शब्दार्थसृष्टिस्वरूपिणीमिति भावः । वर्णानामेकपञ्चाशत्त्वेऽपि पञ्चाशदित्युक्तिः क्षकारस्य क ष संयोगात्मकत्वात् । अथवा मातृकान्यासे मूलाधारादि आज्ञांतषट्चक्रेषु पञ्चाशद्वर्णानामेवावस्थानात् तथारूढोऽयं व्यवहार इत्यवधेयम् । शास्त्रे शब्दसृष्टेरिव अर्थसृष्टेरपि कुण्डलिन्या एवोत्पत्त्यभिधानात् अर्थरूपत्वमप्यस्याः स्वयमेव पर्यवस्यति । यत अर्थोऽपि शब्दविवर्तभूत एवानुभूयते । अतएव भगवान् भर्तृहरिः—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। इति ।

अपि च, तद्धीदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् । तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इति नामरूपात्मकस्य प्रपञ्चस्य एकस्मात्तत्त्वादेव आविर्भावश्रवणात् ।

ततश्चायमत्र रहस्यार्थ :—'अर्थसृष्टिशब्दसृष्ट्योर्युगपदंकुरतच्छाययोरिव परस्परसंपृक्तयोरेवोत्पत्तिः । पदार्थमात्रस्य शब्दानुविद्धत्वात् । अतएव 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' इत्यभियुक्तोक्तिः । ततश्च सृष्टिकारणे ब्रह्मणि शिवशक्तिरूपेऽर्थत्ववच्छब्दत्वमप्यस्तीति निर्विवादम् ।

देवीम्—दीव्यतीति देवः, तस्य इयं देवी, ताम् । स्वप्रकाशैकतनोर्महादेवस्य सर्वान्तरात्मनः स्वभावभूताम् । अथवा विश्वसर्ग-स्थापनसंहरणतिरोधानानुग्रहस्वरूपैः पञ्चकृत्यैः स्वात्मन्येव विहरति इति वा देवी ताम् । इह दीव्यतेरर्थाः चमत्कारमाविष्कुर्वन्तीति यथावासनमनुसन्धेयाः । प्रणमामि—प्रह्वीभावेन तदभेदमाकलयामीत्यर्थः ।। २ ।।

इदानीं परमकारुणिकस्य आगमगुरोर्महिमानमावेदयन् तस्य प्रणतिमाचरति-श्रीगुरूनिति । पूजार्थं बहुवचनेन निर्देशः । अथवा श्रीनाथादिगुरुत्रयमित्याद्युक्त्या

आगमप्रस्तावे गुरुपरम्पराक्रमस्य महत्त्वमुपदर्शयता गुरु–परमगुरु–परमेष्ठिनोऽपीह–प्रणतिभाज इत्याविष्कृतम् । श्रीविद्यादेशिकस्य तन्त्रेषु शिवाभिन्नत्वं स्मर्यते—

'मनुष्यचर्मणा नद्धः शिव एव गुरुर्मतः ।' इति ।

वामकेश्वरादौ च—

'सम्प्रदायो महाबोधरूपो गुरुमुखे स्थितः ।
विश्वाकारप्रथायास्तु महत्त्वं च यदाश्रयम् ॥' इति ।

करुणापूर्णान्—करुणया नैसर्गिकेण अनुकम्पामृतपूरेण, पूर्णान् उच्छलिताशयान् । एतेन स्वनाथचरणानां आत्मन्यनुग्रहातिशयः कश्चिदुन्मीलितः । श्रूयते चापि–

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' इति ।

अज्ञानध्वान्तभास्करान्—अज्ञानं आणव–मायीय–कार्मणं मलमेव स्वरूपावरकत्वात् ध्वान्त तिमिरम् । तथा च पठ्यते—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।' इति ।

तस्य उच्छेदे भास्करान् भास्करवद् भासमानान् । भास्करशब्दो 'दिवाविभानिशाप्रभाभास्कर' (पा० सू० ३-२-२१) इत्यादिना निपात्यते । सकलभुवनैकदीपोऽम्बरमणिर्भगवान् भास्करो यथा तमांस्युन्मूल्य प्रकाशैकात्मना भासते एवं गुरुभास्करोऽपि शिष्यसत्तमस्य आन्तरोपास्तौ सकलभुवनाध्वादिशोधनेन तमोरूपं मलं प्रक्षाल्य पूर्णाहन्ताप्रकाशक इति गुरोर्भास्कररूपणा सर्वतोभावेन सङ्गच्छते । तदेवं 'सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ।' इत्यभियुक्तोक्त्या तेजस्तिमिरयोर्युगपदेकत्र अवस्थानासंभवात् प्रकाशैकमात्रविश्रान्ते धर्मिणि जीवन्मुक्ततालाभं ध्वनयता आगमगुरोः कश्चन महिमातिशयः प्रकाशितः । विद्याविलसितानन्दान्–विद्यया कूटत्रय्या विलसितः स्फारीभूतः आनन्दः शिवशक्तिसामरस्यात्मा निरतिशयः उल्लासो यस्य सः, तान् । निखिलार्थदान्–निखिलाः समस्ताः ऐहिकामुष्मिकाः ये अर्थाः फलसंपत्तयः तान् ददाति वितरति इति तथाभूतः तान् । प्रणौमि–अनुग्रहोल्लासविस्फारितान्तरः प्रणतिमाचरामि ॥३॥

जीयात् जयपुराधीश रामसिंहाभिधो नृपः ।
यद्भुजच्छायमाश्रित्य शान्तो मे भूभ्रमक्लमः ॥४॥
दानी रिपुचयध्वंसी नीतिज्ञः कुशलः शुचिः ।
विद्याविचारसन्तुष्टो हृष्टः सल्लोकलोचनः ॥५॥
दयालुर्गुरुदेवार्चारतः शुभकथः कृती ।
दृढप्रज्ञो दृढाज्ञस्य येनेयं भूषिता मही ॥६॥

अथ '**जीयादि**त्यारभ्य **भूषिता मही**' इत्यन्तेन श्लोकत्रयेण जयपुरमहीमहेन्द्रमाशिषा संयोजयन् राजधर्मानुगुणं तच्छासनमुपश्लोकयति—

जयपुरधराधीश्वरो महाराजश्रीरामसिंहदेवः जीयात्—कमनीयकीर्त्या चिरं चकास्तु। यस्य गुणैकपक्षपातिनो विद्वन्धोः, भुजच्छायं पाणिपल्लवस्निग्धां छायां आश्रित्य अभ्युपेत्य। भुजयोः छाया भुजच्छायमिति तत्पुरुषः समासः। 'छाया बाहुल्ये' (पा० सू० २-४-२२) इति नपुंसकत्वम्। 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इति रघुप्रयोगस्तु आङ् प्रश्लेषादुपपद्यते। मे मम विद्याव्यासङ्गवतः परमेश्वराराधकस्य। भूभ्रमक्लमः भुवो भ्रमणे देशाटनप्रसङ्गे यः क्लमः शारीरो मानसश्च खेदः सः शान्तः तिरोभूतः। एतेन राज्ञः संमानलाभोत्तरं देशाटनखेदस्य प्रत्यादेशः, लोकोपकारधिया आगमादि-शास्त्रप्रधानं ग्रन्थप्रणयनमासूत्रितम्। उत्तरश्लोकाभ्यां विशिष्य राज्ञो गुणग्राहिताशंसनम्। तथा च लोकमर्यादां पुरस्कृत्य मन्वादिसंमतां तदीयां शासनसरणिं प्रबन्धपाटवं चाभिदधता समकालभवेषु राजसु उच्चावचानां राजधर्माणामस्मिन् यथायथं सन्निवेशात् सुवर्णे सौरभमिव कश्चन राजधर्मातिशयः समुन्मीलितः। तदित्थं सकलगुणनिलयो राजचर्याविचक्षणः, जयपुरनगरीनाथो भारतभुवः सौभाग्यभूषायित इवाभूदिति तात्पर्यतः प्रकाशितम्। प्रतिपदव्याख्यानं तु सुगमत्वान्मन्दफलम्॥ ४—६॥

अथागमान् समालोक्य संप्रदायत्रयाश्रयात्।
तदागमरहस्यं यत् तन्यते बालबोधकम्॥७॥
सन्तीह सुनिबंधौघा बहवः सुगमा अपि।
तथापि मम यत्नोऽयं भवेत् सज्जनतोषकृत्॥८॥

अथागमानिति—अतः परं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां आत्मकृतेरितिकर्तव्यतां विनिर्दिशन् तत्स्वरूपपरिचयं प्रस्तौति—अत्रेदमवधेयम्—

अधिकारिभेदात् अनेकधा व्यवहारभूमिमवतीर्णस्य विविधैर्भेदोपभेदैर्विततस्य चागमग्रन्थराशेरियत्तया परिच्छेदः कर्तुं न शक्यते। अत एव च चित्तशुद्धेस्तारतम्येन देशकालशक्त्यादिविभागेन च भूमिकाभेदात् चतुर्विधपुरुषार्थोपलब्ध्यै उपासनावतारे नानाविधानामागमपद्धतीनामाविर्भावः। इदमुद्दिश्यैव सौन्दर्यलहर्या आचार्य-भगवत्पादैरुक्तम्—

'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमभिसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रः पशुपतिः।' इति।

आगमस्य च वेदमूलकत्वेन ग्राह्यताप्रसङ्गे कतिपयानां प्रामाण्यव्यवस्थापि शास्त्रकारैर्विवेचिता हृदयग्राहिणी कल्प्यत इत्यादिकं यदिह वक्तव्यं तत् सकलं यथाप्रसङ्गमुपरिष्टाद् वक्ष्यते। प्रकृते तु भेद-भेदाभेद-अभेदप्रतिपादकं शिव-रुद्र-भैरवाख्यं त्रिधैवेदं शास्त्रमुद्भूतमिति सिद्धान्तमनुसृत्य तदिदमागमशास्त्रं प्रवृत्तमिति मूलव्यवस्थापनधियैव इह प्रकाशितार्था महद्भिर्विभावनीया इति तात्पर्यम्। अत्रेदमागममार्गानुग्राहकं प्रमाणवचनम्—

'तन्त्रं जज्ञं रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा ।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ॥' इति ।

आगमप्रामाण्यवादमुद्दिश्य भङ्ग्यन्तरेण तन्त्रालोके—

'प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः ।
विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमविगानतः ।
प्रसिद्धिरवगीता हि सत्या वागीश्वरी मता ।
तथा यत्र यथा सिद्धं तद् ग्राह्यमविशङ्कितैः ॥'

इति पुरस्क्रियमाणं वचनमपि वस्तुस्थापनधिया प्रवृत्तं गुरुपरम्परागतस्य संप्रदायक्रमस्यैव सर्वतो वलवत्तरत्वं प्रमाणयति । गुरुपरम्पराया एव आगमप्रवृत्तौ नियामकत्वस्य अभ्युपगमात् । तदित्थमुपासनामार्गे आत्मनो गुरुनाथस्यैव पारम्पर्यक्रमः साधकैः शरणीकरणीय इति व्यक्तम् । यतो गुरुमुखस्थित-संप्रदायमन्तरा नान्यदिह शरणं भवितुमर्हति । अतएव 'तन्त्राणां बहुरूपत्वात् कर्तव्यं गुरुसंमतम् ।' इति व्यवस्थापि सङ्गच्छत इति सर्वं समञ्जसम् । प्रकृतश्लोकस्त्वेवं योजनीयः—अथ आगमान्, शैव-शाक्त-सौर-गाणेशवैष्णवभेदैः पञ्चधा विभक्तान् । संप्रदायत्रयाश्रयात्—संप्रदायो नाम गुरुपरम्पराक्रमः । स च मुख्यतया गौड केरल-काश्मीरेति सञ्ज्ञां दधत् देशविशेषसमयाचारेण त्रिधा विभागमुपगतः, इदानीमप्यविच्छिन्नतया भारते वर्षे प्रथत इत्येषामेव क्रममनुरुध्य प्रवृत्तान् उपासनाप्रक्रियाविवेचकान् प्राचो निबन्धान्, समालोक्य ससङ्गतिकं विविच्य, बालबोधकम्—प्रायेण बहुशो विप्रकीर्णप्रमेयानां दुर्लभानाञ्च आगमप्रबन्धानां दुरूहतामाकलयता 'कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्' इत्याभाणकन्यायेन एकस्मिन्नेव सन्दर्भग्रन्थे यावदपेक्षित-प्रमेयप्रपञ्चस्य सारभूतोऽर्थः निष्कृष्य विन्यस्त इत्यलसानां अल्पधियाञ्चापि समानभावेनेदं श्रद्धास्पदीभवेत्-इति हितौपयिकतया सुगमसोपानीकृते चास्मिन् मदीये प्रबन्धे सर्वेषामपि सुखेन आरोहः सुलभ इत्यस्य बालबोधकत्वमुपचर्यते । व्युत्पन्नमतयो बाला यथा अनायासेन पदार्थजातं बुध्यन्ते, एवमिहोक्तानपि आगमार्थाननुशीलयन्त आगमानुरागिणः स्वल्पेनायासेन शास्त्ररहस्यं बुध्येरन्निति तथा यत्नोऽत्र आस्थित इत्याशयः । एवंविधञ्चेदं सकलागमसारभूतं आगमरहस्य नाम सन्दर्भः तन्यते समासव्यासाभ्यां विस्तार्यते ।

सत्सु च अनेकविधेषु आगमप्रबन्धेषु नूतनग्रन्थनिर्माणे कोऽयमभिनिवेश इति न भविमनायितव्यं यतोऽयमस्मत्प्रबन्धः कैरपि विशिष्टैः संकलनायोगैः पूर्वभवान् प्राचः प्रबन्धानतिशेत इति गुणानुषङ्गेण सज्जनानां तोषकृत् हृदयावर्जकम् भवेत् । ततश्च प्राज्ञंमन्यान् दुर्विदग्धप्रकृतीन् कामं मम प्रयासो न सुखयेत्, किन्तु तारतम्यपरीक्षणेन वस्तुसारान्वेषणप्रवृत्तान् स्वभावशुद्धान् सुधियस्तु संतोषयेदेवेति भावः ।

इत्युपोद्घातप्रकरणम् ।

(१) मन्त्रशोधने कुलाकुल-चक्रम् । आग. रह. पटल १९ पृ० २८६

अ	आ	ए	क	च	ट	त	प	य	ष	मारुताः
इ	ई	ऐ	ख	छ	ठ	थ	फ	र	क्ष	आग्नेयाः
उ	ऊ	ओ	ग	ज	ड	द	ब	ल	ळ	पार्थिवाः
ऋ	ॠ	औ	घ	झ	ढ	ध	भ	व	श	वारुणाः
ऌ	ॡ	अं	ङ	ञ	ण	न	म	स	ह	नाभसाः

(२) राशिचक्रम्, आग. रह. पटल १९ पृ. सं. २८७

मेषः	वृषः	मिथुनम्	कर्कटः	सिंहः	कन्यका:
अ आ इ ई	उ ऊ ऋ	ॠ ऌ ॡ	ए ऐ	ओ औ	अं अः श ष स ह ल क्ष
तुला क ख ग घ ङ	वृश्चिकः च छ ज झ ञ	धनुः ट ठ ड ढ ण	मकरः त थ द ध न	कुम्भः प फ ब भ म	मीनः य र ल व

(३) नक्षत्रचक्रम् । आग० रह० पटल १६ पृ० सं० २८८

अ	भ	कृ	रो	मृ	आ	पुनर्वसु	पुष्य	आश्ले.	म.	पू.फा.	उ.फा.	ह.	चि.
अश्व	हस्ती	मेष	सर्प	सर्प	श्वान	मार्जार	मेष	बिडाल	मूषक	मूषक	गौ	महिषी	व्याघ्र
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४

स्वा.	वि.	अनु.	ज्ये.	मू.	पू षा.	उ. षा.	अभि.	श्र.	ध.	श.	पू. भा.	उ. भा.	रे.
महिषी	व्याघ्र	मृग	मृग	श्वान	वानर	नकुल	नकुल	वानर	सिंह	अश्व	सिंह	गौ	हस्ती
१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८

(४) अकथहचक्रम् । आग० रह० पटल १६ पृ० सं० २८९

अ क थ: ह	उ ङ प	आ ख द	ऊ च फ
ओ ड व	लृ ऊ म	औ ढ श	ॡ ञ य
ई घ न	ऋ ज भ	इ ग ध	ॠ छ व
अ: त स	ऐ ठ ल	अं ण ष	ए ट र

(५) अकडमचक्रम् आग. रह. पटल १६ पृ० सं० २६३

अः ठ भ अं ट च	अ क ड म	आ ख ढ य इ ग ण र
ओ ज फ		ई घ त ल
ओ र प न ह स ऐ ज	ए छ ध ष	इ ङ थ ऊ व द श

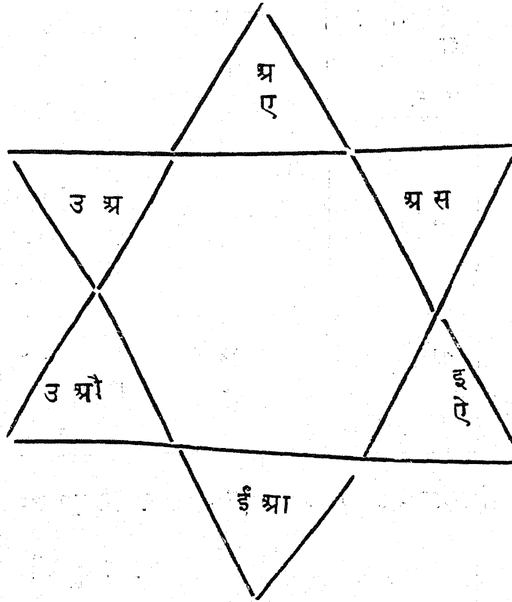
(६) मंत्राशकचक्रम्। आग० रह० पटल १६ पृ० सं० २६३

अ उ लृ ओकङ र ड थ प म ब ह	आ ऊ लॄ औ ख च ञ ढ द फ झ प श
ई ॠ ऐ अः घ ज ठ त न भ ल स	इ ऋ ए अं ग छ ट ण ध व र ष

(७) ऋणधनशोधनचक्रम्। आग० रह० पटल १६ पृ० सं० २६४

१४	२७	२	१२	१५	६	४	३	५	८	६
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अ:
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट
ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ
ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह
१०	१	७	४	८	३	७	५	४	६	३

(८) प्रकारांतरेण मंत्रशोधनचक्रम् । आग. रह० पटल १९ पृ० सं० २९५



(९) पृथिव्यादिपञ्चभूतानुगतं वर्णविभाग चक्रम् । आग. पट. २५. पृ. सं. ३९१

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः चंद्र-वर्णाः
अ	आ	ए	क	च	ट	त	प	य	ष	वा	य	वः			
इ	ई	ऐ	ख	छ	ठ	थ	फ	र	क्ष	आ	ग्ने	याः			
उ	ऊ	ओ	ग	ज	ड	द	ब	ल	ज़	पा	र्थि	वाः			
ऋ	ॠ	औ	घ	झ	ढ	ध	भ	व	ल	वा	रु	णाः			
ऌ	ल	अं	ङ	ञ	ण	न	म	श	ह	ना	भ	साः			

आगमरहस्य में उल्लिखित तन्त्रग्रन्थों की अकारादि-क्रमसूची

(अ)

१. अद्भुत रामायग
२. अग्निपुराण
३. अगस्त्यसंहिता
४. अध्यात्मविवेक
५. आदित्यपुराण
६. आगमकल्पद्रुम

(इ)

७. इन्द्रसंहिता
८. ईशानसंहिता
९. ईशशिव
१०. एकवीराकल्प

(क)

११. कादिमत
१२. कालिकापुराण
१३. कालीकुलसर्वस्व
१४. कुलप्रकाशतंत्र
१५. कूर्मपुराण
१६. क्रियासार
१७. कपिलपंचरात्र
१८. कालोत्तर
१९. कुलार्णव
२०. कुलचूडामणि
२१. कुंडसिद्धि
२२. क्रमदीपिका

(ग)

२३. गणेश्वरविमर्शिनी
२४. गांधर्व
२५. गुप्तदीक्षा तंत्र
२६. गोपालतापिनी

(च)

२७. चामुंडातंत्र
२८. चिदंबरतंत्र

(ज)

२९. जयद्रथयामल

(त)

३०. तत्त्वसार
३१. तत्त्वसागरसंहिता
३२. तंत्रसार
३३. तंत्रशेखर

(द)

३४. देवीभागवत
३५. देवीमत

(न)

३६. नवरत्नेश्वर
३७. नीलतंत्र

(प)

३८. पद्मवाहिनी
३९. परातंत्र
४०. पिंगलामत
४१. प्रपंचसार
४२ प्रयोगसार
४३ प्रतिष्ठा तंत्रराज

(फ)

४४. फेत्कारिणी तंत्र

(भ)

४५. भूतशुद्धि
४६. भैरवतंत्र

(म)

४७. मत्स्यसूक्त
४८. महिषमर्दिनी-तंत्र

४९. माला निबंध
५०. मार्कण्डेयप्रराण
५१. मालिनीविजय
५२. मातृकाहृदय
५३. मायातंत्र
५४. मुण्डमालातन्त्र
५५. मंत्रमहोदधि
५६. मंत्रतंत्रप्रकाश
५७. मंत्रमुक्तावली
५८. मंत्रदर्पण

(य)

५९. योगतत्त्व
६०. योगार्णव
६१. योगरत्नावली
६२. योगिनीहृदय
६३. योगिनीतंत्र

(र)

६४. राजनिघंटु
६५. रामतापिनी
६६. रुद्रयामल

(ल)

६७. ललिताविलास
६८. लक्षसागर
६९. लक्षसंग्रह
७०. लिंगपुराण

(व)

७१. वह्वृच
७२. वायवीयसंहिता
७३. वाग्भट
७४. वाराही तंत्र
७५. विष्णुयामल
७६. विशुद्धेश्वर
७७. विश्वसार
७८. वीरागम
७९. ब्रह्मयामल
८०. वृहत् तेतिलातंत्र

(ष)

८१. षडन्वयमहारत्न

(श)

८२. शक्तिसंगमतंत्र
८३. शक्तियामल
८४. शारदातिलक
८५. शिवधर्मोत्तर
८६. शिवयोगपद्धति
८७. श्रीयामल
८८. श्रीक्रम
८९. श्रीकण्ठाचार्य

(स)

९०. सनत्कुमार संहिता
९१. सारस्वतमत
९२. सारसंग्रह
९३. सिद्धान्तशेखर
९४. सिद्धसारस्वत
९५. सोमशम्भुः
९६. सौभाग्यसुभगोदय
९७. सौत्रामणीय
९८. संकेतपद्धति
९९. संमोहनतंत्र
१००. स्वच्छन्दतंत्र
१०१. स्वच्छन्दमाहेश्वर

(ह)

१०२. हठयोग
१०३. हयग्रीवपंचरात्र
१०४. हंसपारमेश्वर

(त्र)

१०५. त्रिकांडमण्डन
१०६. त्रिशती

(ज्ञ)

१०७. ज्ञानमाला
१०८. ज्ञानार्णव